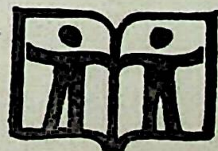
काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन

लेखक
डॉ० शोभाकान्त मिश्र



बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
पटना-३

काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन



अंतर्राष्ट्रीय पुस्तक वर्ष १९७२

काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन

लेखक
डॉ० शोभाकान्त मिश्र



बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
पटना-३

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत भारत-सरकार (शिक्षा एवं समाज-कल्याण-मंत्रालय) के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

प्रकाशन संख्या—२९

प्रथम संस्करण : मई, १९७२
३००० प्रतियाँ

मूल्य : बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना
संशोधित मूल्य रू०- Rs 32=00

प्रकाशक :
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
सम्मेलन भवन, कदमकुआँ,
पटना-३

मुद्रक :
नवयुग प्रिंटिंग प्रेस, पटना-४

प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत-सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य-सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदी-भाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य-सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत-सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ 'काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन' डॉ० शोभाकान्त मिश्र की मौलिक कृति है, जो भारत-सरकार के शिक्षा एवं समाज-कल्याण मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी-द्वारा प्रकाशित की जा रही है। यह ग्रंथ विद्यार्थियों के लिए महत्त्वपूर्ण है।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

पटना-३

दिनांक २३-५-७२

अध्यक्ष, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रंथ 'काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन' पटना कालेज के प्राध्यापक डॉ० शोभाकान्त मिश्र की मौलिक कृति है। प्रो० मिश्र हिंदी और संस्कृत के अनुभवी विद्वान हैं और उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र का अच्छा मंथन किया है। उनकी प्रस्तुत पुस्तक विश्वविद्यालय के इस विषय के छात्रों के लिए अत्यंत रोचक सिद्ध होगी, ऐसी आशा है।

यह पुस्तक नवयुग प्रिंटिंग प्रेस, पटना—४ में मुद्रित हुई है। इसके आवरण शिल्पी हैं श्री बी० के० सेन तथा प्रूफ संशोधक हैं श्री व्रजभूषण मिश्र। ये सभी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

शिवचन्द्र प्रसाद

पटना-३

दिनांक ५ जून, १९७२

निदेशक, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

समर्पण—

पूज्य गुरुदेव

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा

को

सादर

—शोभाकान्त मिश्र

भूमिका

प्रस्तुत ग्रंथ में संस्कृत तथा हिंदी काव्यशास्त्र के मनीषियों की काव्य-गुण-धारणा का ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। गुण-दोष-विवरणात्मक शास्त्रीय समीक्षा में काव्य-सौन्दर्य के प्रमुख उपादान-भूत काव्यगुणों की स्वरूप-मीमांसा की उपादेयता अपरिहार्य है। तत्त्व-निरूपणार्थ सैद्धान्तिक ऊहापोह में भारतीय मनीषा की नव-नव उद्भावनाओं से सम्भूत गुण-विषयक मान्यताओं की विविधता का परीक्षण कर निष्कर्ष-रूप में एक मान्य सिद्धान्त की स्थापना की उपयोगिता भी असन्दिग्ध है।

गुण-धारणा के विकास का ऐतिहासिक अध्ययन करने में आचार्यों के काल-क्रम को ही आधार नहीं मानकर गुण-विषयक समान विचार-सरणि में आने वाले आचार्यों के सिद्धान्तों का पौर्वापर्य-क्रमानुसार विवेचन महत्त्वपूर्ण माना गया है। अतएव, गुण को रस-धर्म मानने वाले आनन्दवर्धन के बाद मम्मट और विश्वनाथ का सीधा क्रम रखा गया है। भरत से भोज तक के ऐतिहासिक क्रम का औचित्य शब्दार्थगत गुणों का विवेचन करने वाले आचार्यों की धारणा के एकत्र अध्ययन की दृष्टि से ही है। काव्यशास्त्र में गुण-विवेचन की दृष्टि से गौण स्थान रखनेवाले आचार्यों की गुण-विषयक मान्यताओं का एकत्र अध्ययन सुविधाजनक समझा गया है।

आचार्यों के काल-निर्णय को प्रकृत विषय नहीं समझ कर संस्कृत-आचार्यों के काल-निर्णय में डॉ० सुशील कुमार डे को तथा हिंदी के रीति-आचार्यों के काल-निर्णय में डॉ० भगीरथ मिश्र को प्रमाण माना गया है। यत्र-तत्र संस्कृत आचार्यों के काल-निर्णय में डॉ० काणे की पुस्तक भी सहायक हुई है।

ग्रंथ के प्रथम अध्याय में संस्कृत तथा हिंदी काव्यशास्त्र में गुण-धारणा के विकास का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। कवियों की कला-सधना में काव्यगुणों का स्थान-निरूपण तथा काव्य के अन्य तत्त्वों के साथ उनके सापेक्ष महत्त्व का निर्धारण द्वितीय अध्याय का विषय है। इस उद्देश्य से काव्य के अलङ्कार, रीति, रस तथा लक्षण के साथ गुण के सम्बन्ध का विवेचन किया गया है। तृतीय अध्याय में विभिन्न आचार्यों के गुण-वर्गीकरण के आधारों की परीक्षा कर समन्वित रूप से मान्य आधारों पर गुणों का वर्गीकरण किया गया है। काव्य में स्वीकार्य गुणों में से प्रत्येक गुण के

सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के मत का समीक्षात्मक अध्ययन करते हुए विशेष गुणों का विकास चतुर्थ अध्याय में विवेचित है। पञ्चम अध्याय में काव्य-गुणो की उचित संख्या का निर्धारण, उनका लक्षण-निरूपण तथा उदाहरण-दिग्दर्शन है।

भारतीय वाङ्मय में काव्यशास्त्रीय चिन्तन के आरम्भिक काल से लेकर हिंदी रीति-साहित्य के विकास-काल तक के सुदीर्घ काल में होनेवाली काव्य-गुण-मीमांसा का सुव्यस्थित रूप में ऐतिहासिक एवं विश्लेपणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का यह प्रथम प्रयास है।

प्रस्तुत ग्रंथ के निर्माण में जिन मनीषियों की रचनाओं से सहायता मिली है, लेखक उनका चिर-कृतज्ञ है। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के स्नेहपूर्ण मार्ग-निर्देश से ग्रंथ की रचना सम्भव हुई है। सुहृद्वर डॉ० काशीनाथ मिश्र तथा डॉ० अनन्त चौधरी से मुझे अनेक उपयोगी सुझाव मिले हैं।

ग्रंथ के प्रकाशन के लिए विहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के अधिकारियों का अभारी हूँ।

हिंदी विभाग
पटना कॉलेज
पटना विश्वविद्यालय
१९७२

—शोभाकान्त मिश्र

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन

अध्याय १

गुणविवेचन का इतिहास

आचार्य भरत :

काव्यगुणों पर काव्यशास्त्रीय दृष्टि से सर्वप्रथम विचार आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है। नाट्याचार्य भरत ने अपने पूर्ववर्ती जिन आचार्यों का नामोल्लेख किया है[1] तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी में भरतपूर्व जिन आचार्यों का निर्देश पाया जाता है[2], उनकी रचना उपलब्ध नहीं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि भरत के पूर्व काव्यगुणों पर विचार हुआ था या नहीं। अन्य प्रमाण के अभाव में भरत की गुण-धारणा को ही काव्यशास्त्र की प्रथम गुण-धारणा मानना युक्तिसङ्गत होगा।

भरत ने दस काव्यगुणों का उल्लेख किया है। दस काव्यदोषों के वर्णन के उपरान्त भरत ने उनके विपर्यय को काव्यगुण कहा है।[3] विपर्यय के अर्थ के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। कुछ आचार्य इसका अर्थ 'अभाव' मानते हैं, कुछ 'अन्यथाभाव' तथा अन्य आचार्य 'वैपरीत्य'। अभिनवगुप्त के अनुसार विपर्यय का अर्थ अभाव है। अतः, भरत दोष के अभाव को गुण मानते हैं। भरत के गुणों के स्वरूप के विवेचन से सभी गुण दोषाभावात्मक-मात्र नहीं जान पड़ते। उदारता, ओज, सुकुमारता आदि भावात्मक गुण हैं, दोषाभाव-मात्र नहीं। भरत के प्रत्येक गुण को उनके प्रत्येक दोष का विपरीतधर्मा कहना भी उचित नहीं। डॉ० नगेन्द्र ने इस विवाद का युक्तिसङ्गत निदान यह निकाला है कि भरत ने गुण को दोष का वैपरीत्य ही माना है....। किन्तु, यह वैपरीत्य सामान्य है, विशिष्ट नहीं।[4] नाट्यशास्त्र के काव्यमाला संस्करण के अनुसार भरत ने

---

१. नाट्यशास्त्र में कोहल, दत्तिल आदि आचार्यों के नाम का उल्लेख हुआ है।
—ना० शा० १, २६ पृ० ३

२. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः। — पाणिनि, अष्टाध्यायी ४, ३, ११०

३. एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिताः।
'एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।)
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः॥ भरत, ना० शा० १६, ९५
—(काशी-संस्करण)

४. डा० नगेन्द्र, हि० काव्यालङ्कार सूत्र की भूमिका, पृ० ५९।

गुणों को नाट्यगुण कहा है। ये नाट्याश्रित दस दोषों के विपर्यय हैं।[1] काव्य-माला-संस्करण में भी 'गुणाः काव्येषु कीर्तिताः' पाठान्तर स्वीकार कर नाट्याश्रित दोष के विपर्यय को काव्यगुण माना गया है। नाट्यशास्त्र के प्रतिपाद्य मुख्यतः नाटक के ही विभिन्न तत्त्व हैं; किन्तु उनके प्रतिपादन की पद्धति इतनी व्यापक है कि काव्य की नाटकेतर विधाओं के विवेचन में भी उनका महत्त्व कम नहीं। भरत के नाट्य-रस को जिस प्रकार परवर्ती आचार्यों ने व्यापक रूप से काव्य-रस के रूप में स्वीकार कर लिया, उसी प्रकार उनके नाट्यदोष एवं नाट्यगुण भी काव्यदोष एवं काव्य-गुण के रूप में स्वीकार कर लिये गये। गुणों को भरत ने नाट्यगुण कहा हो या काव्यगुण, उनके उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

भरत ने जिन दस काव्यदोषों का उल्लेख किया है, उनका विपर्यय दस गुणों को मानना कठिन है। उनके दस दोष हैं—गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत, विषम, विसन्धि और शब्दच्युत।[2]

गुणों की परिभाषा में कहीं भी दोषाभाव का उल्लेख भरत ने नहीं किया है। अभिनवभारती में अभिनवगुप्त ने सभी गुणों को दोष-विपर्ययात्मक न मानकर केवल माधुर्य और औदार्य में दोषों का अभाव माना है।[3] माधुर्य एवं औदार्य-गुणों के जो लक्षण नाट्यशास्त्र में दिये गये हैं, उनपर विचार करने से यह स्पष्ट है कि वहाँ किसी दोष का अभाव गुण-लक्षण का अनिवार्य अङ्ग नहीं माना गया है। इसलिए, माधुर्य एवं औदार्य को भावात्मक गुण न मानकर दोषाभावरूप गुण मानने के पक्ष में कोई प्रबल युक्ति नहीं। आनन्दवर्धन एवं उनके अनुयायी ध्वनिवादी आचार्यों ने माधुर्य, ओज एवं प्रसाद-गुणों की भावात्मक सत्ता मानकर दोषाभावात्मक गुणों की सत्ता अस्वीकार कर दी

---

१. एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः।
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः॥
—भरत ना० शा०, काव्यमाला-संस्करण, १६, ९६, पृ० २६५

२. गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसंधि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः॥
—वही, १६, ८९, पृ० २६५

३. अथ गुणेषु प्रतिजानीते—एषां विपर्ययाद्गुणा भवन्ति, एतद्दोषविघात एव गुणो भवतीत्यर्थः। किमविशेषेण नेत्याह माधुर्यौदार्यलक्षणमङ्गो येषाम्। एतदुक्तं भवति—एतद्दोषविहीनं श्रुतिसुखं दीप्तरसं च यदि भवति तावता गुणान्तरैरलङ्कारैश्च हीनमपि काव्यं लक्षणयोगाव्यभिचारीत्युक्तम्।
ना० शा०, अ० भा० १६, पृ० ३३३-३४

है ।[२] वामन ने अपने काव्यालङ्कार में सभी गुणों को भावात्मक और गुणाभाव को दोष माना है ।[३] भरत के द्वारा गुणों को दोषाभाव कहे जाने का कारण ढूँढ़ते हुए डॉ० सुशीलकुमार डे ने जैकोबी (Jacobi) का मत उद्धृत कर यह प्रतिपादित किया है कि गुण की अपेक्षा दोष जनसामान्य की समझ में शीघ्र आ जाते हैं । अतः, सुबोध दोषों के माध्यम से अपेक्षाकृत दुर्बोध गुणों को समझाने के लिए ही भरत ने गुणों को दोषविपर्ययात्मा कह दिया होगा ।[४]

भरत ने दस गुणों का उल्लेख इस प्रकार किया है :—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति ।[५] भरत के उत्तरवर्ती आचार्य वामन ने भरत के दस गुणों को स्वीकार कर शब्दगत एवं अर्थगत-भेद से गुण के बीस प्रकार माने हैं। भरत ने गुणों का शब्दगत एवं अर्थगत-भेद नहीं किया है ; किन्तु उनकी गुण-परिभाषाओं में यह स्पष्ट है कि कुछ गुण शब्दगत हैं एवं कुछ अर्थगत । उदाहरणार्थ, 'अर्थव्यक्ति' जिसमें प्रसिद्ध धातु के प्रयोग से वस्तुस्वभाव का यथारूप वर्णन हुआ करता है, अर्थगत गुण है । इसीलिए उसके नामकरण में अर्थ की अभिव्यक्ति पर बल दिया गया है । 'सौकुमार्य' को पदसौकुमार्य कहकर उसका शब्दगत होना स्वीकार किया गया है । प्रसाद में ऐसे बोधगम्य शब्दों का प्रयोग हुआ करता है, जिससे अनुक्त अर्थ की भी प्रतीति सहृदय को हो जाती है। प्रसन्न पदों के प्रयोग पर बल होने के कारण 'प्रसाद' शब्दगत गुण है । यह अर्थ गुण 'अर्थव्यक्ति' के समकक्ष है । शब्द-गुण 'प्रसाद' एवं अर्थ-गुण 'अर्थव्यक्ति' साथ रहा करते हैं । कुछ गुणों की परिभाषा में उन्हें शब्द एवं अर्थ उभयगत माना गया है । उदाहरणतः, सौकुमार्य को यद्यपि 'पदसौकुमार्य' कहकर शब्दगत स्वीकार किया गया है तथापि उसकी परिभाषा में 'सुकुमारार्थसंयुक्तम्' कह कर उसे अर्थगत भी मान लिया गया है । इसी प्रकार 'कान्ति' की परिभाषा में

---

१. केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे श्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ।। —मम्मट, काव्यप्र० ८,७२
पृ० १९३

२. पूर्वे नित्याः ।—वामन, काव्यालं, ३,१,३ और
पूर्वे गुणा नित्याः । तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः । —वही, वृत्ति पृ० ७१,

३. डा० सुशीलकुमार डे, —History of Sanskrit Poetics, Vol II, पृ० १२

४. श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ।।
—ना शा०, १६, ९६

मन एवं श्रोत्र के लिए आह्लादजनक कहकर उसे शब्दगुण भी माना गया है और 'लीलाद्यर्थोपपन्न' कहकर उसका अर्थगुणत्व भी स्वीकार किया गया है। इस प्रकार भरत के दस गुणों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। कुछ केवल शब्द-गत हैं, कुछ केवल अर्थगत हैं तथा कुछ शब्द एवं अर्थ-उभयगत हैं। शब्दगत गुण के वर्ग में 'प्रसाद', 'माधुर्य', 'ओज' और 'समता'—ये चार गुण आते हैं। अर्थ-गुण-वर्ग में 'अर्थव्यक्ति', 'उदारता' एवं 'समाधि गुणों की गणना की जा सकती है तथा शब्दार्थयुगलगत गुणवर्ग में 'सौकुमार्य', 'कान्ति' और 'श्लेष' को रखा जा सकता है। हम इन्हीं वर्गों में भरत की गुण-परिभाषाओं का अध्ययन करेंगे। नाट्यशास्त्र की 'अभिनवभारती'-टीका में अभिनव ने केवल शब्दगत एवं केवल अर्थगत गुणों को न मानकर सभी गुणों को शब्दार्थयुगलगत सिद्ध करने का प्रयास किया है। कारण यह है कि अभिनवगुप्ताचार्य गुण-धारणा में वामन के अनुयायी हैं, जिन्होंने भरत के दस गुणों के शब्दगत तथा अर्थगत-भेद स्वीकार किये हैं। फलतः, अभिनव ने भरत के गुण-लक्षणों की व्याख्या वामन के मतानुसार की है। कहीं-कहीं वामन की गुण-परिभाषा में प्रयुक्त पदावली को भरत के गुण-लक्षण में मिला दिया गया है आर ऐसा अर्थ कर दिया गया है, जो सम्भवतः भरत को अभिप्रेत नहीं था। भरत के प्रसाद माधुर्य, ओज और समता-गुणों को हम शब्द-गुण मानते हैं। हम पहले इन्हीं गुणों पर विचार करेंगे।

प्रसाद—भरत ने प्रसाद गुण वहाँ माना है, जहाँ शब्दों का ऐसा प्रयोग हो, जिससे अनुक्त अर्थ की भी प्रतीति सहृदयों को होने लगे। यह सुबोध शब्द और अर्थ के संयोग के कारण होता है।[1] हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में भरत के गुण-लक्षण की व्याख्या की है। उनके अनुसार भरत की मान्यता है है कि अलग-अलग स्फुट रूप से रहने वाले शब्द-अर्थ के योग से जहाँ अकथित शब्दार्थ की भी प्रतिपत्ति हो जाती हो, वहाँ प्रसाद गुण माना जाता है। पद से ही उसके अर्थ की अवगति होती है। इसलिए लक्षण में शब्द और अर्थ का

---

१. अथानुक्तो बुधैर्यत्र शब्दादर्थः प्रतीयते।
मुखशब्दार्थसंयोगात्प्रसादः परिकीर्त्यते ॥—ना० शा० काव्यमाला १६, १००
पृ० २६६ काशी-संस्करण में पाठ इस रूप में पाया जाता है—
अप्यनुक्तो बुधैर्यत्र शब्दोऽर्थो वा प्रतीयते।
सुखशब्दार्थसंयोगात्प्रसादः परिकीर्त्यते ॥ ना० शा०, काशी-संस्करण १६,९९

ग्रहण हुआ है।[१] अभिनवगुप्त ने भरत के प्रसाद-लक्षण के विवेचन में वामन की गुण-परिभाषा में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया है। वामन ने बन्ध-शैथिल्य को शब्द-गुण प्रसाद माना है।[२] अभिनव यह मानते हैं कि जहाँ शब्दों में सन्धि की अल्पता के कारण शैथिल्य हो, वहाँ भरत के अनुसार शब्द-गुण प्रसाद होता है।[३] वामन की अर्थ-प्रसाद-सम्बन्धी धारणा को भी अभिनव ने भरत की गुण-परिभाषा में मिला कर अर्थ-गुण प्रसाद की कल्पना कर ली है। वामन अर्थवैमल्य को अर्थगत प्रसाद-गुण मानते हैं।[४] भरत के प्रसाद-लक्षण पर टिप्पणी देते हुए अभिनव ने कहा है कि जहाँ किसी अर्थ का कथन न होने पर भी विना किसी कष्टकल्पना के वह अर्थ सिद्ध हो जाय, वह अर्थ की विमलता अर्थगत प्रसाद है। ऐसे स्थल पर अनुपयोगी अर्थ के त्याग से काव्य में वैसी ही विमलता रहा करती है, जैसी विमलता धूलि-रहित जल में रहती है। अतः, अर्थगत विमलता अर्थ प्रसाद है।[५] भरत ने अपनी परिभाषा में अर्थवैमल्य का उल्लेख नहीं किया है। वामन के अर्थ-गुण प्रसाद को ध्यान में रख कर अभिनव ने भरत के प्रसाद-लक्षण का यह अर्थ कर दिया है।

भरत के उक्त गुण-लक्षण में ऐसे शब्द-प्रयोग को वाञ्छनीय माना गया है, जो सङ्केत से अनुक्त अर्थ की भी प्रतीति करा दें।

माधुर्य—माधुर्य गुण वहाँ माना जाता है, जहाँ वाक्य बार-बार सुने जाने पर या बार-बार उच्चारण किये जाने पर भी मन को उद्विग्न नहीं करता।[६] हेमचन्द्र ने इसका स्पष्टीकरण इस रूप में किया है कि जहाँ अनेक बार अभि-

---

१. विभक्तवाच्यवाचकयोगादनुक्तयोरपि शब्दार्थयोः प्रतिपत्तिः प्रसाद इति भरतः। पदपूर्विका तदर्थावगतिरिति शब्दार्थयोर्ग्रहणम्। —हेम० काव्यानु० व्याख्या० पृ० २३४

२. शैथिल्यं प्रसादः। —वामन, काव्यालं ३,१,६

३. सुख इति न प्रयत्नमपेक्षते। यः शब्दार्थो यः संयोगः शब्दविषय इत्यर्थः, कलामात्ररूप एव यत्र सन्धिः अतएव शैथिल्यात्मा स शब्दगुणः प्रसादः। प्रसन्नता स्फुटत्वं लक्षणीयविभागता पदानाम्। —ना० शा० अ० भा० पृ० ३३५-३६

४. अर्थवैमल्यं प्रसादः। वामन काव्यालं० ३,२,३,

५. यत्रार्थे अनुक्तेऽपि बुधैः कष्टकल्पनया अव्याखतोऽप्यर्थः प्रयोजनं स्वयं जायते सोऽर्थो वैमल्याश्रयोऽपि वैमल्यमुपचारात् सोऽर्थो वा काव्यस्य वैमल्यं स्वयं जानंश्चानुपयोगिपरिवर्जनात्। वैमल्यशब्दवाच्याज्जलस्येव पांसुभिरसंपर्काद्भवतीति वैमल्यमर्थस्य प्रसादः। —ना० शा० अ० भा० पृ० ३३५

६. बहुशो यच्छ्रुतं वाक्यमुक्तं वापि पुनः पुनः।
नोद्वेजयति यस्माद्धि तन्माधुर्यमिति स्मृतम्। —ना० शा० १६,१०४

हित वाक्य मन का उद्वेजक नहीं होता वहाँ भरत माधुर्यगुण मानते हैं।[1] स्पष्टतः भरत ने माधुर्य को शब्दगत गुण माना है। इस गुण-परिभाषा की व्याख्या करते हुए अभिनव ने श्रुत का अर्थ संशय और विपर्ययहीनता माना है। दीर्घ-समास-रचना संशयास्पद और विपर्ययास्पद होती है। अतः, दीर्घ-समास-रहित रचना में ही माधुर्य गुण रहता है। यह शब्द-माधुर्य है।[2] अभिनव का कहना है कि जहाँ वचन-वैचित्र्य से एक ही अर्थ का पुनः-पुनः कथन होने पर भी, अर्थ में नीरसता नहीं आती, वहाँ अर्थगुण माधुर्य होता है। एक ही अर्थ का अनेक बार वचनान्तर से कथन होने पर वह अर्थ वैचित्र्यपूर्ण हो जाता है।[3] भरत की परिभाषा में वचन वैचित्र्यात्मक अर्थ-माधुर्य का उल्लेख नहीं हुआ है। वामन ने अर्थगत माधुर्य-गुण की परिभाषा देते हुए उसे उक्ति-वैचित्र्य माना है।[4] उसी मान्यता से प्रभावित अभिनव ने भरत के माधुर्य-लक्षण में वचन वैचित्र्यमय अर्थ-माधुर्य की कल्पना को मिला दिया है। भरत माधुर्य गुण के के लिए मधुर या कोमल कान्त पदावली की योजना को ही आवश्यक मानते थे।

ओज– नाट्य-शास्त्र के दो पाठों में ओज के अलग-अलग लक्षण मिलते हैं। एक पाठ के अनुसार जिस रचना में बहुत ही समस्त एवं विचित्र पदों का प्रयोग हो, जहाँ परस्पर सापेक्ष वर्णों वाले पदों की एवं उदार पदों की योजना हो, वहाँ ओज गुण होता है।[5] अभिनवगुप्त ने ओज की इसी परिभाषा की व्याख्या की है। भरत ने ओज गुण में समास-युक्त, विचित्र, सानुराग एवं उदार पदों की योजना को आवश्यक माना है। यह आवश्यक नहीं कि चारों प्रकार के पदों की योजना एक साथ हो ही। अभिनव ने अपने एक उदाहरण

---

१. बहुशो यच्छ्रुतमभिहितम् वाक्यमनुद्वेजकं मनसस्तन्मधुरमिति भरतः।
—हेम०, काव्यानु० व्याख्या पृ० २३७

२. यदिति यस्माद्धेतोर्वाक्यं श्रुतं संशयविपर्ययोरास्पदं न भवतीति तन्माधुर्यम्। द्राघीयसि समासे तावदवश्यं भवत इति तद्विरह एव माधुर्यं शब्दगुण इत्युक्तं भवति। —ना० शा० अ० भा० पृ० ३३९

३. पुनः पुनरप्युक्तमर्थजातं यस्माद्धेतोरपनीतमवगाहनेन वैरस्येन तद्वचन-वैचित्र्यात्मकं माधुर्यमर्थगुणः वचनान्तराभिधेयतया हि स एवार्थो विचित्रो भवति। —वही पृ० ३४०

४. उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्। —वामन काव्या० ३,२, ११

५. समासवद्भिर्बहुभिर्विचित्रैश्च पदैर्युतम्।
सानुरागैरुदारैश्च तदोजः परिकीर्त्यते॥ —ना० शा० १६, १०५

में समस्त एवं यमक-युक्त पदों की रचना में ओज-गुण दिखाया है। सानुराग पद का अर्थ अभिनव के अनुसार ऐसा पद है, जिसमें एक वर्ण वर्णान्तर की अपेक्षा रखता हो।[१] सानुराग विशेषण से ओज में विशेष प्रकार की ध्वनि-योजना को आवश्यक माना गया है। नाट्य-शास्त्र के काव्यमाला-संस्करण में 'सानुरागैः' के स्थान पर 'सा तु स्वरैः' पाठ आया है।[२] यह विशिष्ट स्वर-योजना भी ध्वनि से उत्पन्न होने वाले प्रभाव की ओर ही सङ्केत करती है। 'सानुराग' पाठ से व्यञ्जन की योजना का महत्व भी ओजस्वी प्रभाव की व्यञ्जना के लिए स्वीकार कर लिया गया है। वर्णों के विशेष प्रकार के संघटन से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उसमें श्रोता की मनोदशा को विशेष प्रकार से प्रभावित करने की शक्ति आ जाती है। अभिनव की मान्यता है कि सानुराग वर्णों के प्रयोग से वाक्य में कसाव आ जाता है। समस्त एवं सानुराग पद संक्षेप में बहुत अर्थ को प्रकट कर सकते हैं। अतः ऐसे स्थल पर संक्षेपात्मक अर्थ-गुण ओज माना जाना चाहिए। कहीं-कहीं एक अर्थ के कथन के लिए अनेक उदार पदों से भी ओजस्वी रचना होती है। अतः, अर्थ-गुण ओज विस्तारात्मक भी होता है।[३] भरत की उक्त परिभाषा में, ओज में पदों के गुम्फन एवं वैचित्र्य, उनकी उदारता तथा ध्वनि-सङ्गीत का होना आवश्यक माना गया है। पदगत गाढता में अर्थ-गुण मानना अभिनव की कल्पना है।

नाट्यशास्त्र के दूसरे पाठ में ओज गुण में शब्द एवं अर्थ दोनों की सम्पदा की स्वीकृति है। इस पाठ के अनुसार जहाँ गर्हित या हीन वस्तु भी शब्द एवं अर्थ की सम्पत्ति से उदात्त बन जाती है, उसे ओज कहते हैं।[४] अभिनवगुप्त ने इस लक्षण की व्याख्या नहीं की है। ओज का अर्थगतत्व सिद्ध करने में यह ओज-लक्षण अधिक सहायक होता। हेमचन्द्र ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि जहाँ कवि अपने शब्दार्थ के वैभव से कुत्सित एवं तुच्छ वस्तुओं में भी उदात्तता

१. सानुरागैर्यत्र वर्णो वर्णान्तरमपेक्षते तत्र सानुरागत्वम् —अ० भा० पृ० ३४०
२. दे० ना० शा० काव्यमाला-संस्करण पृ० २६६
३. स तदेव गाढत्वमुच्यते निविडावयवतैव समासेन संक्षेपेण युक्तानि पदानि यत्रार्थं भूयानिति संक्षेपो नामार्थ-गुण ओजः। ओजस्वी किमतोऽपि भूयः समाक्षिपति, तथा एकमपि वस्तु उदारैर्बहुभिः पदैरुपनिबध्यते विस्तारात्मकत्वमप्योजोऽर्थगुणः। —अ० भा० पृ० ३४१
४. अवगीतोऽपि हीनोऽपि स्यादुदात्तावभासकः।
यत्र शब्दार्थसंपत्त्या तदोजः परिकीर्तितम्॥ —ना० शा० १६, १०६

का आधान कर देते हैं, वहाँ भरत ओज गुण मानते हैं।[1] हेमचन्द्र ने इस सन्दर्भ में मङ्गल का मत उद्धृत किया है। मङ्गल की मान्यता है कि यदि कवि के द्वारा अवगीत और हीन वस्तु में शब्दार्थ-महिमा से उदात्तता का आधान ओज है तो जहाँ कवि अनवगीत और अहीन वस्तु में शब्दार्थसम्पदा से अनुदात्तता का आधान करते हैं वहाँ 'अनोज' होगा।[2]

समता—समता गुण पर भी नाट्यशास्त्र के दोनों पाठों में भिन्न-भिन्न लक्षण प्राप्त होते हैं। एक पाठ के अनुसार समता गुण वहाँ होता है जहाँ अत्यन्त 'चूर्ण-पद' नहीं हो तथा आवश्यक और दुर्बोध पदों का अभाव हो।[3] प्रस्तुत परिभाषा में 'चूर्णपद' इस पारिभाषिक शब्द का प्रयोग किया गया है। चूर्णपद विशेष प्रकार की रचना है, जिसमें अनिबद्ध पद रहते हैं, अक्षर अनियत रहते हैं तथा अर्थानुरूप अक्षर-ग्रन्थन रहता है।[4] विभक्त्यन्त पद को भरत ने निबद्ध कहा है।[5] विभक्त्यन्त पद का अभाव अनिबद्ध पद कहा जाता है। वामन में चूर्णपद का अर्थ अधिक स्पष्ट है। उन्होंने चूर्ण उस गद्य-बन्ध रचना को माना है, जिसमें दीर्घसमास नहीं होते।[6] अपनी वृत्ति में चूर्ण के लिए अदीर्घ समास तथा अनुद्धत पद को उन्होंने आवश्यक माना है।[7] वामन के मत को स्पष्ट करते हुए टीकाकार गोपेन्द्र तिप्पभूपाल ने लिखा है कि 'चूर्ण पद' से उपचार से असमस्त पदों का समाहार लक्षित होता है। अतः, असमस्त पद-

---

१. अवगीतस्य हीनस्य वा वस्तुनः शब्दार्थसंपदा यदुदात्तत्वं निषिञ्चन्ति कवयस्तदोजः इति भरतः। —हेम० काव्यानु० व्या० पृ० २३३

२. अनवगीतस्य अहीनस्य वा वस्तुनः शब्दार्थयोः (अर्थ) सम्पदा यदनुदात्तत्वं निषिञ्चन्ति कवयः तर्हि तदनोजः स्यादिति मङ्गलः। —वही पृ० २३३

३. नातिचर्णपदैर्युक्ता न च व्यर्थाभिधायिभिः।
दुर्बोधनैश्च न कृता समत्वात् समता मता॥ — ना० शा० १६, १००
काव्यमाला-संस्करण में तृतीय चरण का पाठ। 'न दुर्बोधा तैश्च कृता' है। (दे० १६, १०१ पृ० २६६) इस पाठ का अर्थ होगा—जो उन पदों से दुर्बोध नहीं हो, वहाँ समता गुण माना जाता है।

४. अनिबद्धपदच्छन्दस्तथा चानियताक्षरम्।
अर्थापेक्षाक्षरस्यूतं ज्ञेयं चूर्णपदं बुधैः॥ – ना० शा० काव्यमाला-सं० १८,५२

५. विभक्तयन्तं पदं ज्ञेयं निबद्धं चूर्णमेव च। – ना० शा० काव्यमाला १८, ५१

६. अनाविद्धललितपदं चूर्णम्। — वामन, काव्यालं० १, ३, २४

७. अनाविद्धान्यदीर्घसमासानि ललितान्यनुद्धतानि पदानि यस्मिंस्तदनाविद्धललितपदं चर्णमिति। —वही० वृत्ति पृ० ३५

बहुल रचना चूर्ण कही जाती है।[१] भरत समता गुण के लिए असमस्त पदों के अतिशय प्रयोग को अवाञ्छनीय मानते हैं। अभिनवगुप्त ने भरत की परिभाषा के स्पष्टीकरण के क्रम में यह माना है कि शब्दों के समत्व में ही समता गुण होता है।[२] समता गुण की अभिनव-कृत व्याख्या पर वामन की शब्द-समता-सम्बन्धी धारणा का प्रभाव है। भरत की परिभाषा में समता के लिए पदों पर ही विचार हुआ है। अतः, उसे शब्दगुण मानना युक्ति-सङ्गत है। अभिनवगुप्त ने समता का अर्थगत-भेद भी स्वीकार किया है। उनका कहना है कि भरत ने प्रयोजनहीन अर्थ का अभिधान करने वाले पदों का अभाव इस गुण में माना है। अतः. अर्थ की समता स्वीकार की गयी है और समता नामक अर्थगुण माना गया है।[३] यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि अनावश्यक अर्थ का अभिधान करने वाले पद का अभाव मान कर वैमल्य को स्वीकार किया गया है और इसलिए यह प्रसाद गुण से अभिन्न है। प्रसाद में अर्थ की विमलता-मात्र अपेक्षित होती है।.अतः, वहाँ निष्प्रयोजन अर्थ का त्याग ही पर्याप्त होता है पर समता में केवल निष्प्रयोजनता का ही नहीं, दुर्बोधता का त्याग भी आवश्यक होता है।[४]

दूसरे पाठ के अनुसार जहाँ गुण और अलङ्कार में पारस्परिक सादृश्य हो तथा एक दूसरे को आभूषित करता हो, वहाँ समता गुण होता है।[५] हेमचन्द्र ने समता गुण पर भरत की धारणा का उल्लेख किया है। उनके अनुसार जहाँ गुण और अलङ्कार-समूह परस्पर विभूषण होते हैं, वहाँ भरत समता गुण मानते हैं।[६] भरत की इस धारणा का दण्डी ने खण्डन किया है। इस पर दण्डी की समता-गुण-धारणा के विवेचन-क्रम में विचार किया जायगा। भरत ने गुण

---

१. चर्णपदेन उपचारात् व्यस्त-पद-समाहारो लक्ष्यते, तेन व्यस्तपदबहुलं चूर्णम्।
—वामन, काव्या० टीका पृ० ३४

२. शब्दानां समत्वात्समः। —अ० भा० पृ० ३३६

३. अर्थोऽपि समत्वात् किं तत्समत्वं आह व्यर्थाभिधायिभिरिति निष्प्रयोजनमर्थेऽभिदधति। —अ० भा० पृ० ३३६

४. ....न त्वेतद्वैमल्यमिति प्रसादेन निरस्तम्। नैतत्, नहि सर्वथा निष्प्रयोजनता, अपि तु सदपि प्रयोजनं दुर्बोधं, तदाह दुर्बोधनैरिति। — वही पृ०३३७

५. अन्योन्यसदृशा यत्र तथाह्यन्योन्यभूषणः।
अलंकारा गुणश्चैव समाः स्युः समतामताः ॥—ना० शा० १६, १०१

६. परस्परविभूषणो गुणालंकारग्रामः समम् इति भरतः—हेम० काव्यानु० व्याख्या० पृ० २३५

एवं अलङ्कार के आश्रय में भेद नहीं माना है। इसीलिए गुण और अलङ्कार का परस्पर विभूषणत्व स्वीकार किया गया है। जहाँ गुण और अलङ्कार की योजना इस रूप में होती है कि एक दूसरे का आभूषण बन जाय, वहाँ दोनों में वैषम्य के अभाव के कारण समता गुण माना जाता है। समता गुण की यह धारणा बहुत व्यापक है। इसमें वे सभी रचनाएँ आ जाती हैं। जिनमें गुण एवं अलङ्कार की अविषम योजना रहती है। अतः समता गुण के निर्धारण के लिए गुणों के साथ अलङ्कार-योजना का परीक्षण भी अपेक्षित होता है।

अर्थ-गुण-वर्ग

अर्थव्यक्ति—नाट्यशास्त्र के एक पाठ के अनुसार जहाँ सुप्रसिद्ध धातु-प्रयोग से लोक के वस्तु-स्वभाव का यथारूप वर्णन होता है, वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है।[1] यहाँ आचार्य भरत ने लोकप्रसिद्ध अर्थ के स्पष्ट वर्णन पर बल दिया है। उसका साधन सुप्रसिद्ध धातुओं के प्रयोग को माना गया है। जिन धातुओं से लोगों का अधिक परिचय रहता है, उन धातुओं में अर्थबोध कराने की अधिक शक्ति आ जाती है। अतः, अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रसिद्ध धातुओं का प्रयोग आवश्यक माना गया है। अर्थ की व्यक्ति पर बल होने के कारण इसे अर्थ-गुण मानना युक्तिसङ्गत है। भरत इसे अर्थगत गुण मानते थे, यह इसके नामकरण से ही स्पष्ट है। उन्होंने व्यक्ति के साथ अर्थ शब्द का प्रयोग नामकरण में किया है। अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या करते हुए इसे शब्द और अर्थ—दोनों का गुण माना है। उनके अनुसार अर्थव्यक्ति गुण में अभिधान की प्रसिद्धि पर बल होने के कारण वह शब्द-गुण अर्थव्यक्ति है तथा प्रसिद्ध अर्थ का वर्णन होने से वह अर्थव्यक्ति अर्थगत-गुण भी है।[2] अर्थव्यक्ति को शब्द-गुण मानने में अभिनव पर वामन का प्रभाव स्पष्ट है। वामन अर्थ-व्यक्ति को शब्दगुण भी मानते हैं। उनके अनुसार अर्थव्यक्ति में अर्थ को तुरत व्यक्त कर देने वाले शब्दों का प्रयोग अपेक्षित होता है।[3] अतः, इसे शब्द-गुण भी माना गया है। वस्तुतः वामन की अर्थव्यक्ति के सम्बन्ध में यह धारणा

---

१. सुप्रसिद्धा धातुना तु लोककर्मव्यवस्थिता।
या क्रिया क्रियते काव्ये सार्थव्यक्तिः प्रकीर्त्यते॥—ना० शा० काव्य-माला १६, १०६

२. प्रसिद्धमभिधानमभिधाव्यापारो यस्यां काव्यक्रियायां सार्थव्यक्तिः शब्दगुणः। …विपर्ययेतु किरातादि….निदर्शनं यच्चार्थे वर्ण्यते स तथैव लोके प्रसिद्ध इत्यर्थस्य गुणोऽर्थव्यक्तिः। —अ० भा० पृ० ३४२

३. अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः। —वामन, काव्यालं ३, १, २४

अर्थव्यक्ति को प्रसाद गुण से मिला देती है, जिसमें प्रसन्न पद अपना अर्थ तुरत प्रकट कर देते हैं। अर्थव्यक्ति को, अर्थ को तुरत व्यक्त कर देने वाला शब्दगुण मानकर वामन स्वं एक उलझन में पड़ गये। इस गुण से प्रसाद-गुण की पृथक् सत्ता सिद्ध करने के लिए उन्हें प्रसाद के 'शैथिल्य', इस विलक्षण लक्षण की कल्पना करनी पड़ी। भरत के अर्थव्यक्ति गुण को अर्थगुण एवं उसके समकक्ष प्रसाद को शब्दगुण मान लेने पर यह समस्या सुलझ जाती है। नाट्यशास्त्र के इस पाठ में प्राप्त अर्थव्यक्ति-लक्षण सदोष जान पड़ता है। कहीं उसमें 'सुप्रसिद्धाभिधाना' पाठ है तो कहीं 'सुप्रसिद्धा धातुना'। अभिनवगुप्त ने 'सुप्रसिद्धाभिधाना' पाठ स्वीकार कर उसकी व्याख्या की है। हेमचन्द्र के अनुसार जहाँ अन्यथास्थित अर्थ भी तथास्थित-सा जान पड़े अर्थात् जो वस्तु जिस रूप में है उससे भिन्न रूप में भी उसकी प्रतीति होने लगे, वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है।[१] हेमचन्द्र ने भरत की धारणा में अपनी कल्पना का मिश्रण कर यह अर्थ निकाला है। भरत की यह गुण-धारणा, जिसमें लोक-धर्म का यथा-रूप वर्णन अर्थव्यक्ति गुण माना गया है, परवर्ती आचार्यों की जाति या स्वभावोक्ति अलङ्कार की धारणा से अभिन्न है। हेमचन्द ने काव्यानुशासन-व्याख्या में इस ओर इङ्गित किया है।[२] स्वभावोक्ति अलङ्कार में वस्तु क्रिया आदि का यथारूप वर्णन होता है।[३] इसीलिए मम्मट ने अर्थव्यक्ति का अन्तर्भाव स्वभावोक्ति अलङ्कार में माना है।[४] विश्वनाथ ने इस अर्थव्यक्ति गुण को प्रसाद-गुण में अन्तर्भूत कर दिया है।[५] वामन के द्वारा अर्थव्यक्ति को शब्दगुण के रूप में भी स्वीकृति मिल जाने पर विश्वनाथ के लिए उसका प्रसाद में अन्तर्भाव कर लेना सरल हो गया। वामन का अर्थव्यक्ति शब्द-गुण-

---

१ यस्मिन्नतथास्थितोऽपि तथास्थित पदार्थः प्रतिभाति सोऽर्थव्यक्तिर्गुण इति भरतः। —हेम० काव्यानु० पृ० २३८

२. जातिर्नामायमलङ्कार इति। —वही, २३९

३. स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्। —काव्य-प्रकाश, १०, १११ पृ० २६५

४. अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलंकारेण (रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याभ्यांच) वस्तु-स्वभाव-स्फुटत्व-रूपार्थव्यक्तिः (दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च) स्वीकृता। —मम्मट काव्यप्र० ८, पृ० १९५

५. अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः।
अर्थव्यक्तिः पदानां हि झटित्यर्थसमर्पणम्॥ —विश्वनाथ साहित्य-दर्पण परिच्छेद ८, ० ५.२

विश्वनाथ के प्रसाद गुण से अभिन्न हो गया। नाट्यशास्त्र के दूसरे पाठ में उपलब्ध परिभाषा के अनुसार अर्थव्यक्ति गुण वहाँ होता है, जहाँ एक अर्थ के बोध से अनन्तर प्रयोग की कल्पना मन से कर ली जाती है।[१]

उदारता—भरत में उदारता गुण की बड़ी व्यापक धारणा प्राप्त होती है। इसका सम्बन्ध काव्य में भाव-वर्णन से है। एक पाठ की परिभाषा के अनुसार उदारता गुण लोकोत्तर भाव से पूर्ण श्रृङ्गार तथा अद्भुत रसों से युक्त एवं अनेक भाव-सहित हुआ करता है।[२] अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि जहाँ मानवीय भाव का भी दिव्य भाव के रूप में चित्रण होता है तथा श्रृङ्गार और अद्भुत से भिन्न रसों के प्रसङ्ग में भी इनका मिश्रण कर वर्णन किया जाता है, वहाँ अर्थगुण औदार्य होता है।[३] वामन के अर्थगुण उदारता के लक्षण को ध्यान में रख कर अभिनवगुप्त ने कहा है कि भरत की इस उदारता को ही कुछ लोगों ने अग्राम्यत्व कहा है।[४] वामन ने अर्थ-गुण उदारता को अग्राम्यत्व कहा है।[५] वस्तुतः, भरत की प्रस्तुत गुण-धारणा से वामन की उदारता गुण-सम्बन्धी धारणा की अपेक्षा अर्थ-गुण कान्ति की धारणा अधिक मेल खाती है। भरत ने अपनी परिभाषा में उदारता में रस और भाव पर विशेष बल दिया है। वामन ने अर्थ-गुण कान्ति में रस को समेट लिया है।[६] भरत का यह रस-भाव-सापेक्ष गुण अर्थ-गत गुण ही है। वामन ने शब्दगत उदारता गुण की भी कल्पना की और उसे शब्दों का नृत्य कहा। इस मत का पूर्व-आग्रह लेकर अभिनव ने भरत की परिभाषा में भी शब्दगत उदारता गुण की स्वीकृति का सङ्केत ढूँढना चाहा है। उन्होंने भरतप्रदत्त

---

१. यस्यार्थानुप्रवेशेन मनसा परिकल्प्यते।
अनन्तरप्रयोगस्तु सार्थव्यक्तिरुदाहृता॥ —अ० भा० १६, १०९

२. दिव्यभावपरीतं यच्छृङ्गाराद्भुतयोजितम्।
अनेकभावसंयुक्तमुदारत्वं प्रकीर्तितम्॥—ना० शा० काव्यमाला, १६, १०७

३. यत्र मानुषोचितमपि दिव्यतया करुणादियुक्तमपि शृङ्गारेण विस्मयस्थानमप्यद्भुतेन युक्तं वर्ण्यते तद्गतैर्वा विभावानुभावादिभिः [तदुदीर्यं तत्रौदार्यमर्थगुणः। —ना० शा० अ० भा० पृ० ३४२

४. एतदेवाग्राम्यमित्यन्यैरुक्तम्। —अ० भा० पृ० ३४२

५. अग्राम्यत्वमुदारता। - वामन, काव्यालं० ३, २, १३

६. दीप्तरसत्वं कान्तिः। —वही ३, २, १५

७. विकटत्वमुदारता। —वही ३, १, २३

उदारता के लक्षण में अद्भुत का अर्थ वैचित्र्यपूर्ण शब्दयोजना लगाया है और उसे वामन के शब्दनृत्य के समीप खींच लाने का प्रयास किया है।[१] वस्तुतः भरत की परिभाषा में अद्भुत शब्द का प्रयोग जिस सन्दर्भ में हुआ है, उसमें उसका अर्थ अद्भुत रस ही है। नाट्यशास्त्र के दूसरे पाठ की परिभाषा के अनुसार उदार गुण में अनेकार्थ विशेषण सौष्ठवपूर्ण सूक्त (सूक्ष्म) तथा विचित्र अर्थों का योग रहा करता है।[२] हेमचन्द्र ने भरत की मान्यता को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि अनेक सूक्ष्म विशेषण से युक्त रचना को भरत उदार गुण-युक्त मानते हैं।[३]

समाधि :—समाधि गुण में अर्थ पर कुछ अपूर्वता का आधान हुआ करता है। विशिष्टता के सम्यक् आधान के कारण ही इसे समाधि संज्ञा से अभिहित किया गया है। नाट्यशास्त्र के एक पाठ के समाधि-लक्षण के अनुसार जहाँ प्रतिभासम्पन्न जन को कोई अपूर्व अर्थ परिलक्षित होता हो, उस अर्थ से युक्त रचना में समाधि-गुण माना जाता है।[४] अभिनवगुप्त ने वामन की समाधि-धारणा के अनुरूप भरत की उक्त परिभाषा की व्याख्या की है। वामन ने अवहित चित्त में ही अर्थ-दर्शन सम्भव माना है।[५] अभिनव ने इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए यह मान्यता प्रकट की है कि समाहित मन से अर्थ में

---

१. यत्राद्भुतेन यत्कृतोऽर्थः अनेकभावसंयुक्तमिति शब्दगुणस्य लक्षणम्, एकभापाचित्रत्वादनेकताचित्रत्वं पदान्तस्यैकस्यानेकव्यक्तिरक्षरसंख्यावैचित्र्यं सन्धानसाजात्यं च पिन्डीवन्धनृत्तसादृश्येन तत्र हि गुल्मजातशृङ्खलिकादिभेदेनेत्थंभूतो नर्त्तकीसंनिवेशो भरते तदुक्तं विकटत्वं नरीनृत्यमानत्वमिति पदानामौदार्यमिति।—अ० भा० पृ० ३४२-३४३

२. अनेकार्थविशेषैर्यत् सूक्तैः (सूक्ष्मैः) सौष्ठवसंयुतैः।
उपेतमतिचित्रार्थरुदात्तं तच्च कीर्त्यते।—ना० शा० अ० भा० (काशी० सं०) १६, १११
हेमचन्द्र की व्याख्या में सूक्तैः के स्थान पर सूक्ष्मैः पाठ माना गया है।

३. बहुभिः सूक्ष्मैः विशेषैस्समेतमुदारमिति भरतः।—हेम० काव्यानु० व्या० पृ० २३८

४. अभियुक्तैर्विशेषस्तु योऽर्थस्यैवोपलक्ष्यते।
तेन चार्थेन सम्पन्नः समाधिः परिकीर्त्यते।—ना० शा० काव्यमाला० १६, १०२

५. समाधिकारणत्वात् समाधिः। अवहितं हि चित्तम् अर्थान् पश्यतीति उक्तं पुरस्तात्।
—वामन काव्यालं० पृ० १५०

विशिष्टता का आधान होता है और वहाँ समाधि गुण माना जाता है।[१] यह व्याख्या वामन को अर्थ-गुण समाधि-धारणा के आधार पर की गयी है। भरत ने अपनी परिभाषा में अर्थ में वैशिष्ट्य के आधान को समाधि मान कर इसे अर्थगत गुण ही स्वीकार किया था। यद्यपि भरत ने अपने गुणों के शब्दगत एवं अर्थ-गत भेद का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं किया है तथापि जहाँ अर्थ पर बल दिया गया है, उसे भरत का अर्थगुण माना जाना चाहिए। हमचन्द्र ने संक्षेप में भरत का जो मत प्रस्तुत किया है उसके अनुसार भी समाधि को अर्थ-गुण मानना ही युक्ति-सङ्गत जान पड़ता है। हेमचन्द्र के अनुसार जहाँ अर्थ पर गुणान्तर का आधान होता है वहाँ भरत समाधि गुण मानते हैं।[२] वामन की शब्दगुण समाधि-धारणा को मान कर अभिनव ने भरत की परिभाषा में समाधि के शब्दगुणत्व की स्वीकृति दिखाने का प्रयास किया है। वामन ने (स्वर के) आरोह और अवरोह के क्रम को समाधि कहा है।[३] अभिनवगुप्त ने भरत की परिभाषा में 'परिकीर्त्यते' के स्थान पर 'परिकीर्तितः, पाठ मान कर यह व्याख्या की है कि समाधि शब्द का अर्थ है परिहार। उससे परिकीर्तित अर्थात् स्पष्ट रूप से उच्चारण-सम्पन्न होना शब्दगत समाधि गुण है।[४] इसे स्पष्ट करते हुए 'अभिनव ने परिहार का अर्थ आरोह-अवरोह का क्रम बताया है। आरोह और अवरोह से छन्द में गति की तुल्यता आती है।[५] स्पष्ट है कि वामन के 'आरोहावरोह-क्रम' को दृष्टि में रखते हुए ही भरत के समाधि-लक्षण की यह व्याख्या की गयी है एवं शब्द-गुण समाधि की कल्पना की गयी है। नाट्यशास्त्र के दूसरे पाठ में समाधि गुण के सम्बन्ध में यह धारणा प्रकट की गयी है कि जहाँ उपमा आदि अलङ्कारों की योजना से यत्नपूर्वक प्राप्त अर्थ का

---

१. यस्यार्थस्य द्वितीयार्थस्य अभियुक्तियुक्तैः प्रतिभातिशयवद्भिः विशेषो अपूर्वः स्वोल्लिखित उपपद्यते ससमाहितमनः संपाद्यविशेषत्वादर्थो विशिष्टः समाधि···।
—अ० भा० पृ० ३३७

२. अर्थस्य गुणान्तरसमाधानात्समाधिरिति भरतः।—हेम० काव्यानु० व्याख्या पृ० २३६

७. आरोहावरोहक्रमः समाधिः। —वामन, काव्यालं० ३, १, १२

८. समाधिशब्दस्य योऽर्थः परिहारलक्षणस्तेन यः परिकीर्तितः परितः समन्तादाक्रान्त्या उच्चारणे सम्पन्नः स च समाधिः। —अ० भा० पृ० ३३७-३८

९. आक्रान्त्या उच्चारणे आरोहावरोहक्रममेव आक्रमणेन गतितुल्यम्।—अ० भा० पृ० ३३८

संक्षेपतः वर्णन होता है, वहाँ समाधि गुण होता है।[1] यह परिभाषा भी समाधि में अर्थपक्ष पर ही बल देती है।

शब्दार्थ-युगल-गत गुण-वर्ग—

सौकुमार्य—जिस में सुख से प्रयोग में लाये जाने योग्य शब्दों की योजना होती है, जहाँ सुग्रथित सन्धियाँ होती हैं एवं जो सुकुमार अर्थ से युक्त होता है उसमें सौकुमार्य गुण माना जाता है।[2] इसके स्पष्टीकरण में अभिनव का कथन है कि कुछ पद तो स्वतः परुष होते हैं पर कहीं-कहीं अपरुष पदों की भी सन्धि होने पर उसमें परुषता आ जाती है। इन दोनों प्रकार के परुष पदों का त्याग सौकुमार्य में आवश्यक है। यह शब्द-पारुष्य से मुक्त गुण शब्दगत सौकुमार्य गुण है।[3] जहाँ अर्थ के परुष होने पर उसे छिपा कर उसके स्थान पर सुकुमार अर्थ का प्रयोग होता है, वहाँ अर्थगत माधुर्य गुण माना जाता है। एकाकी के लिए देवतासहाय, मरे हुए के लिए यशःशेष आदि का प्रयोग अर्थ-माधुर्य के उदाहरण हैं।[4] भरत ने सौकुमार्य गुण के लक्षण-श्लोक की प्रथम पङ्क्ति में सुकुमार शब्द-प्रयोग पर बल देकर सौकुमार्य का शब्दगत होना तथा द्वितीय पङ्क्ति में सुकुमार अर्थ-प्रयोग पर बल देकर उसका अर्थगत होना स्वीकार किया है। अतः भरत का सौकुमार्य शब्दार्थ-युगल-गत गुण है। अर्थ-सौकुमार्य मङ्गलभाषित है। इसमें अश्लीलत्व दोष का अभाव रहा करता है। हेमचन्द्र ने संक्षेप में भरत के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि सुखद शब्द और अर्थ को भरत सुकुमार गुण मानते हैं।[5] डॉ० राघवन का अनुमान है कि सुकुमार-अर्थ-संयुक्त से भरत का अभिप्राय सम्भवतः कैशिकी वृत्ति

---

१ उपमाद्युपदिष्टानामर्थानां यत्नतस्तथा।
प्राप्तानां चापि संक्षेपात्समाधिर्निर्णयो यतः॥—ना० शा० (काशी संस्करण) १६, १०३

२ सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्टसन्धिभिः।
सुकुमारार्थसंयुक्तं सौकुमार्यं तदुच्यते।—ना० शा० अ० भा० १६, १०७
अभिनव ने 'सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैः' के स्थान पर 'सुखप्रयोज्यैश्छन्दोभिः' पाठ स्वीकार किया है।

३. क्वचित्पदस्य स्वयं पारुष्यं भवति····क्वचित्संहिता ···तदुभयरहितत्वं सौकुमार्यं शब्दगुणः।—अ० भा० पृ० ३४१

४. परुषेऽपि चार्थे सुकुमारेणार्थेन या सम्पत्तिस्तदर्थगुणः सौकुमार्यमपारुष्यरूपम्, एकाकिनि देवतासहाय इति, मृते यशःशेष इति, जडे देवानां प्रिय इति।—वही, पृ० ३४१

५. सुखशब्दार्थं सुकुमारमिति भरतः।—हेम० काव्यानु० व्याख्या, पृ० २३७

नाटक से है।[१] कैशिकी वृत्ति में सुकुमार अर्थ-प्रयोग हुआ करता है। नृत्त-गीत-बहुल यह अपरुष प्रयोग है।[२] डॉ० राघवन ने सौकुमार्य गुण को वृत्ति से मिला दिया है। अभिनवगुप्त अमङ्गलव्यञ्जक अश्लील दोष के अभाव-स्थल में अर्थगत माधुर्य गुण की सत्ता स्वीकार करते हैं। विश्वनाथ ने भी अपने साहित्यदर्पण में अर्थगुण सौकुमार्य को अर्थगत अपारुष्य मान कर अमङ्गलरूप अश्लील दोष के अभाव-स्थल में इसकी सत्ता स्वीकार की है।[३] अतः डॉ० राघवन का सुकुमारार्थ को कैशिकी वृत्ति मानने वाला अनुमान किसी आचार्य की मान्यता से समर्थित नहीं होता।

कान्ति—जो मन और कर्णेन्द्रिय को आह्लादित करे, या जो लीला आदि चेष्टालङ्कार के अर्थ से युक्त हो, वह कान्ति गुण माना गया है।[४] कान्ति की इस परिभाषा में मन को आह्लादित करने वाली लीला आदि का वर्णन आवश्यक माने जाने से यह अर्थगुण है। लीला नायिका की विशेष चेष्टा है।[५] वह शृङ्गार रस का उद्दीपन विभाव है। शृङ्गार के आलम्बन की चेष्टा होने के कारण वह आश्रय के हृदय में रति स्थायीभाव को उद्दीप्त करती है। अतः लीला भाव-विधान की सामग्री है। भरत ने कान्ति गुण में लीला आदि भाव-सामग्री को समेट कर उसे व्यापक रूप दे दिया है। इस गुण को कर्णेन्द्रिय का आह्लादक मान कर इसका शब्द-गतत्व भी स्वीकार किया गया है। शब्द-गुण कान्ति शब्द-माधुर्य से बहुत भिन्न नहीं। शब्दमाधुर्य में भी अल्प-समास-रचना होती है, जिसे बार-बार पढ़ने या सुनने पर भी मन उद्विग्न नहीं होता। अभिनवगुप्त ने कान्ति की उक्त परिभाषा की व्याख्या करते हुए लिखा है कि शृङ्गार के विभाव-स्वरूप लीला

---

१. डॉ० राघवन, Bhoja's Sringara Prakasa, पृ० २७५

२. या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति।—ना० शा० २०, ४६

३. ····सौकुमार्यं—अपारुष्यं।····एषां पञ्चानामप्यर्थगुणानां यथाक्रममपुष्टार्थाधिकपदानवीकृतामंगलरूपाश्लीलग्राम्यानां निराकरणेनैवाङ्गीकारः।—विश्वनाथ, साहित्यद० ८, पृ० ५४५

४. यन्मनः श्रोत्रविषयमाह्लादयति हीन्दुवत्।
··लीलाद्यर्थोपपन्नां वा तां कान्तिं कवयो विदुः।—ना० शा० १६, १०८

५. वाग्वेषचेष्टितैः प्रियस्यानुकृतिर्लीला।—हेम० काव्यानु० ७ पृ० ३७३

आदि चेष्टा-अलङ्कार से रमणीय काव्य का जो अर्थ मन को आह्लादित करे वह कान्ति-गुण-युक्त होता है। इसी को दूसरे आचार्यों ने दीप्तरसत्व कहा है।[१] अभिनव ने यहाँ वामन के अर्थगुण कान्ति की ओर सङ्केत किया है। वामन ने अर्थ-कान्ति को दीप्त-रसत्व कहा है।[२] अभिनव के अनुसार जो काव्य श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होकर आह्लादित करे वह कान्ति-नामक शब्द-गुण है।[३] अभिनव ने इसे माधुर्य गुण से अभिन्न माना है।[४] हेमचन्द्र ने संक्षेपतः भरत के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कान और मन में आह्लाद उत्पन्न करने वाले गुण को भरत कान्त कहते हैं।[५] नाट्यशास्त्र के दूसरे पाठ में प्राप्त कान्ति गुण-लक्षण के अनुसार जो काव्य प्रयोग से मन और श्रोत्र के लिए प्रसाद-जनक हो उसे कान्त कहा जाता है।[६] डॉ० राघवन प्रयोग का अर्थ शब्द-प्रयोग या नाट्य-प्रयोग मानते हैं।[७]

श्लेष—श्लेष गुण पर नाट्यशास्त्र में दो श्लोक प्राप्त होते हैं। एक श्लोक में दिये हुए श्लेष-लक्षण के अनुसार कवि के अभीष्ट अर्थ से परस्पर सम्बद्ध पदों की श्लिष्टता को श्लेष कहा जाता है।[८] दूसरे श्लोक में कहा गया है कि जो प्रत्यक्षतः स्फुट जान पड़ता है, पर वस्तुतः गहन विचार से युक्त होता है, वह श्लिष्ट कहा जाता है।[९] इस गुण में कवि के अभीप्सित अर्थ के अनुरूप

---

१. यन्मनो विषयमाह्लादयति यथा शृङ्गारविभावरूपं लीलादिचेष्टालङ्कारसुन्दरं काव्यार्थरूपं तत्कान्तिगुणयुक्तं तदेव दीप्तरसत्वमित्युक्तमन्यैः।—अ० भा० पृ० ३४३

२. दीप्तरसत्वं कान्तिः।—वामन, का०यालं० ३, २, १५

३ श्रोत्रविषयीभूतमिव यदाह्लादि काव्यं तत्कान्तिर्नाम शब्दगुणः।—अ० भा० पृ० ३४४

४. तदेतल्लोके मधुरकाव्यमिति प्रसिद्धम्। माधुर्यमभ्यस्तपदत्वमुक्तम्।—वही, पृ० ३४४

५. श्रोत्रमनःप्रह्लादजननं कान्तं भरतः।—हेम० काव्या० व्याख्या पृ० २३९

६. यो मनः श्रोत्रविषयः प्रसादजनको भवेत्।
शब्दबन्धः प्रयोगेण स कान्त इति भण्यते।—ना० शा० (काशी सं०) पृ० ३४३

७. डॉ० राघवन, Bhoja's Sringara prakasa, पृ० २७५

८. ईप्सितेनार्थजातेन संबद्धानांपरस्परम्।
श्लिष्टता या पदानां स श्लेष इत्यभिधीयते।—ना० शा० १६, ९८

९. विचारगहनं यत्स्यात्स्फुटं चैव स्वभावतः।
स्वतः सुप्रतिबद्धं च श्लिष्टं तत्परिकीर्तितम्।—वही, १६, ९९

पदों का पारस्परिक सम्बन्ध रहा करता है; अर्थात् एक पद दूसरे पद के साथ इस प्रकार सम्बद्ध रहता है कि सभी पद मिल कर कवि के उद्दिष्ट अर्थ को व्यक्त कर सकें। श्लिष्ट रचना आपाततः स्पष्ट जान पड़ती है किन्तु उसमें विचार की गहनता हुआ करती है। अर्थ की गहनता को महत्त्व देकर श्लेष को अर्थ-गुण तथा पदों की अर्थानुरूप सुसम्बद्धता पर बल देकर शब्द-गुण माना गया है। अभिनव ने भरत की श्लेष-परिभाषा की व्याख्या करते हुए उसमें वामन की श्लेष-गुण-धारणा को मिला दिया है एवं इसके उदाहरण का विवेचन करते हुए वामन के श्लेष गुण में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने श्लेष पर भरत के प्रथम श्लोक की व्याख्या के क्रम में कहा है कि कविकल्पित परस्पर सम्बद्ध योजना से जो अभीप्सित अर्थजात सम्पन्न होता है वह अर्थ-गुण श्लेष है।[1] वामन ने अपने अर्थश्लेष के स्पष्टीकरण के लिए अमरुशतक का जो श्लोक उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है, वही श्लोक भरत के श्लेष गुण के विवेचन-क्रम में अभिनव द्वारा उद्धृत किया गया है। अभिनव का कहना है कि अमरु ने एक समय दो नायिकाओं के प्रति अनुराग-प्रदर्शन की असम्भावित घटना को भी इस प्रकार चित्रित किया है कि वह असम्भावित नहीं जान पड़ती। इसलिए यह कुटिल क्रम भी हृदय में उल्वणत्व नहीं प्राप्त करता और सभी के हृदय में पैठ जाता है।[2] वामन ने अर्थश्लेष को घटना कह कर उसकी व्याख्या में अनुल्वणत्व को घटना का एक लक्षण माना है।[3] अभिनवगुप्त ने वामन के अनुल्वणत्व को लेकर भरत के अर्थश्लेष का स्पष्टीकरण किया है। वामन की शब्दश्लेष-धारणा के अनुसार अभिनव ने भरत के लक्षण में श्लेष का शब्दगत होना प्रमाणित किया है। उनके अनुसार, जहाँ पदों की श्लिष्टता होती है, अर्थात् जहाँ अनेक पद सन्धि के बन्धन से एक पद-से प्रतीत होते हैं, वहाँ अर्थश्लेष गुण होता है। इसे ही

---

१. अर्थभागानां कविसमुत्प्रेक्षितया परस्परसम्बद्धया योजनया संपन्नं यदीप्सितमर्थजातं तेनोपलक्षितार्थस्योपपद्यमानस्योपपद्यमानतात्मा गुणश्लेषः। —अ० भा० पृ० ३३४

२. अत्र मनोरथातीतेऽप्येककालनायिकायुगलहृदयग्रहणलक्षणार्थस्तथोपपादितो येनासंभावनास्पदं न भवति तेन कुटिलोऽप्यर्थक्रमो न हृदये उल्वणत्वं भजते मज्जति हृदये यतः सर्वस्येति।—वही, पृ० ३३४

३. क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगो घटना। स श्लेषः। — वामन, काव्यालं० वृत्ति पृ० ८७

मसृणत्व कहा जाता है।[1] वामन ने भी शब्द-गत श्लेष को मसृणत्व या एक पदत्वभान कहा है।[2] अभिनवगुप्त की प्रस्तुत व्याख्या वामन की इसी मान्यता से प्रभावित है। भरत के श्लेप-लक्षण के द्वितीय श्लोक की ओर सङ्केत करते हुए अभिनव उसकी प्रथम पङ्क्ति में अर्थश्लेष तथा द्वितीय पङ्क्ति में शब्द श्लेष मानते हैं।[3] जहाँ प्रत्यक्षतः स्पष्ट लगने वाली रचना में भी विचार की गहनता हो, वह अर्थश्लेष तथा जहाँ सुग्रथित पद हों, वह शब्दश्लेप है। हेमचन्द्र ने संक्षेप में इस विचार को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि स्वभाव से स्फुट किन्तु गहन विचार वाली वाणी श्लिष्ट कही गयी है।[4]

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि गुणों का शब्द-गत एवं अर्थ-गत भेद न करने पर भी भरत ने उनके शब्द-गत, अर्थ-गत एवं शब्दार्थोभयगत होने का सङ्केत अपनी गुण-परिभाषाओं में कर दिया था। पीछे चलकर आचार्य वामन ने भरत के उक्त दस गुणों को स्वीकार कर प्रत्येक के शब्द-गत एवं अर्थगत होने की जो कल्पना कर ली उसका मार्ग भरत ने ही प्रशस्त कर दिया था। भरत के गुण-लक्षण के अनुरूप जो गुण केवल शब्दगत माने जा सकते हैं उनके अर्थ-गत भेद की, तथा जो गुण केवल अर्थगत माने जा सकते हैं, उनके शब्दगत भेद की कल्पना करने के समय उत्तरवर्ती आचार्यों ने स्वतन्त्र लक्षण का निर्माण किया है।

नाट्यशास्त्र में परिगणित दस गुणों के नाम परवर्ती आचार्यों के द्वारा भी स्वीकृत हुए। भोज के चौबीस गुणों में भरत के दस गुणों के नाम भी गृहीत हैं। ध्वनिवादी आचार्यों के तीन गुणों के नाम भी भरत के ही गुणों से लिये गये हैं। गुण-संज्ञा को परवर्ती आचार्यों की स्वीकृति मिलने पर भी उनके लक्षण में पर्याप्त अन्तर आ गया है। कहीं-कहीं तो भरत से असहमत होकर उत्तरवर्ती आचार्यों ने नवीन परिभाषा की सृष्टि की है; पर कहीं-कहीं एक गुण की भरत-प्रदत्त परिभाषा को दूसरे गुण के साथ सम्बद्ध कर दिया है।

---

१. अथ शब्दगुणमाह नित्यार्थे पदानां श्लिष्टता परस्परयोनिः सन्धिबन्धनतयानेकमेकपदमिव भाति तदेव मासृण्यमुच्यते। —अ० भा० पृ० ३३५

२. मसृणत्वं श्लेषः।—वामन, काव्यालं० सू० ३, १, ११

३. अन्ये पठन्ति—विचारगहनं यत्स्यात् स्फुटं चैव स्वभावतः। इत्यर्थश्लेषः वक्रघटमानं वेत्यर्थः सप्रतिबद्धश्च श्लेष इति पदश्लेषः।—अ० भा० पृ० ३३५

४. 'स्वभावस्पष्टं विचारगहनं वचः श्लिष्टम्' इति भरतः।—हेम काव्यानु० व्याख्या पृ० २३५

कुछ गुण-लक्षण अस्पष्ट रह गये हैं। उदाहरण के लिए अर्थव्यक्ति की एक परिभाषा में एक अर्थ के बोध से अनन्तर प्रयोग की कल्पना पर बल दिया गया है। वहाँ 'अनन्तर प्रयोग' का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाया है। एक गुण दूसरे गुण की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। इस प्रकार कुछ गुणों का दूसरे गुणों में अन्तर्भाव सम्भव है। उदाहरणतः, माधुर्य और शब्द-कान्ति में विशेष भेद नहीं। माधुर्य में भी अनुद्वेजक अर्थात् मधुर पदों का प्रयोग होता है और कान्ति में भी कर्णेन्द्रिय को आह्लादित करने वाले पदों का प्रयोग रहता है।

भरत ने काव्य में गुण का स्थान-निर्धारण नहीं किया। गुण, रीति, अलङ्कार आदि का पारस्परिक भेद एवं काव्य-शरीर में प्रत्येक का स्थान जिस रूप में ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा निर्धारित हुआ वैसा करने का प्रयास भरत ने नहीं किया था। उन्होंने समता गुण में अलङ्कार और गुण को 'अन्योन्यभूषण' कहा है। इसमें गुण एवं अलङ्कार के समानाश्रयत्व की स्पष्ट स्वीकृति है। पीछे चलकर जब गुण और अलङ्कार के आश्रय का भेद निरूपित हो गया और अलङ्कार के शताधिक भेदों की कल्पना की गयी तो भरत के कुछ गुण अलङ्कार के रूप में स्वीकृत हुए। उदाहरण के लिए उत्तरवर्ती आचार्यों की जाति या स्वभावोक्ति अलङ्कार की कल्पना भरत की अर्थव्यक्ति की धारणा से भिन्न नहीं।

कुछ गुणों के बड़े व्यापक स्वरूप की कल्पना भरत ने की है। उदारता गुण का विस्तार रस और भाव तक है। शृङ्गार और अद्भुत से युक्त मान कर उदारता को सम्पूर्ण वर्ण्य का गुण मान लिया गया है।

डॉ० राघवन की मान्यता है कि भरत के इन गुणों में से कुछ का सम्बन्ध नाटक से है, जो उनमें प्रयुक्त 'प्रयोग' शब्द से स्पष्ट है।[१] इसका अर्थ शब्द-प्रयोग भी हो सकता है। दस गुणों के स्वरूप का विस्तार से वर्णन करने पर भी भरत ने गुण की कोई सामान्य परिभाषा नहीं दी। दोष-विवेचन के उपरान्त उनके विपर्यय को गुण कह दिया गया। हम यह देख चुके हैं कि दोष के वैपरीत्य को गुण कहना भरत का अभिमत था। भरत ने वाचिक अभिनय को प्रभावशाली बनाने में ही गुण की सार्थकता स्वीकार की है। नाटक का मूल तत्त्व रस है। वाचिक अभिनय रस का साधन है। वह रस के अधीन है। अतः उसके चमत्कार का साधन गुण भी परम्परया रसाश्रित है। इस तथ्य के आधार पर डॉ० नगेन्द्र ने भरत के मतानुसार गुण की परिभाषा का निर्माण किया है। उनके गुण का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है—"दोषों के विपर्यय (वैपरीत्य)

१. डॉ० राघवन Bhoja's Sringara Prakasa पृ० २७८

रूप गुण काव्यशैली को समृद्ध करने वाले तत्त्व हैं जो परम्परा-सम्बन्ध से रस के आश्रित रहते हैं।"[१] नाटक का वाच्याभिनय, जिसको गुण प्रभावशाली बनाते हैं, काव्य-क्षेत्र की भाषा या शैली के समकक्ष है। रस नाटक का ही नहीं, कविता आदि समग्र काव्य-रूप का मूल तत्त्व है। नाटक के वाच्याभिनय को प्रभावशाली बनाकर रस का उपकारक गुण काव्य (श्रव्य काव्य) के क्षेत्र में भाषा-शैली को प्रभावोत्पादक बनाकर उसके प्राणभूत रस में उत्कर्ष का आधान करते हैं। डॉ० नगेन्द्र की उक्त परिभाषा भरत की गुण-सम्बन्धी धारणा को पूर्णतः व्यक्त करने में समर्थ है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

भरत ने इन पारिभाषिक काव्य-गुणों के अतिरिक्त नाटक के कुछ सामान्य गुणों का उल्लेख भी नाट्यशास्त्र में किया है। वे नाटक में कठोर पदों के प्रयोग को अवाञ्छनीय मानते थे। गूढ शब्द एवं गूढ अर्थ से हीन नाटक को भरत ने सुन्दर माना है। उन्होंने नाटक में मधुर शब्द के प्रयोग पर बल दिया है। उनके अनुसार कठोर पद व्याकरण-सम्मत होने पर भी त्याज्य हैं। 'चेक्रीडित' जैसे विकृत शब्द से युक्त ललित नाट्य-प्रयोग सुन्दर नहीं होता।[३] एक जगह भरत ने कहा है कि 'चेक्रीडित' आदि शब्द से होने वाली रचना कमण्डलुधारी द्विज के साथ रहने वाली वेश्या की तरह असुन्दर लगती है।[४] भरत ने मसृण या ललित प्रयोग को ध्यान में रखकर ही ये बातें कही हैं। उद्धत या आविध प्रयोग में कठोर शब्दों का प्रयोग अग्राह्य नहीं माना जा सकता। मसृण प्रयोग में उदार, मधुर, मृदु, ललित शब्दों के प्रयोग को वाञ्छनीय माना गया है।[५]

---

१. डा० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालं० सू० की भूमिका पृ० ५९

२. चेक्रीडितप्रभृतिभिर्विकृतैस्तु शब्दैर्युक्ता न भान्ति ललिता भरतप्रयोगाः।
—ना० शा० १६, १२७

३. चेक्रीडिताद्यैः शब्दैस्तु काव्यबन्धा भवन्ति ये।
वेश्या इव न शोभन्ते कमण्डलुधरैर्द्विजैः॥ — ना० शा० २१, १३२

४. उदारशब्दैर्मधुरैः कार्यास्तेऽर्थवशानुगः। —ना० शा० पृ० ३४५

× × ×

शब्दानुदारमधुरान्.... .... ।—वही पृ० ३४५

× × ×

मृदुललितपदार्थ........ ।—वही पृ० ३४७

× × ×

मृदुशब्दं सखार्थं च कविः कुर्यात्तु नाटकम् ।—ना० शा० २१, १३१
(काव्यमाला सं)

भामह :

भरत के नाट्यशास्त्र के बाद भामह के काव्यालङ्कार में गुण के स्वरूप का विवेचन मिलता है। काव्य-गुणों के सम्बन्ध में भामह की उद्भावना सर्वथा मौलिक है। उन्होंने भरत के दस गुणों को स्वीकार नहीं किया है। जिन तीन गुणों का उल्लेख भामह ने किया है उनके नाम भरत के दस गुणों से अवश्य गृहीत हैं, किन्तु, उनके स्वरूप का निर्धारण स्वतन्त्र रूप से किया गया है। काव्यालङ्कार में माधुर्य, ओज और प्रसाद; इन तीन काव्य-गुणों का उल्लेख हुआ है। इन गुणों का स्वरूप भरत के इन्हीं नामों से अभिहित गुणों के स्वरूप से अभिन्न नहीं है। भामह के उत्तरवर्ती ध्वनि-प्रस्थान के आचार्यों ने भी काव्य-गुण के माधुर्य, ओज एवं प्रसाद; ये तीन भेद ही माने हैं, किन्तु उन्होंने इन गुणों को रसाश्रित मान कर उनके स्वरूप की जो कल्पना की है, वह भामह-कल्पित गुण-स्वरूप से नितान्त भिन्न है। काव्यालङ्कार में माधुर्य, ओज और प्रसाद को कहीं भी गुण नहीं कहा गया है। इनका आधार पदों के समास को माना गया है। इस प्रकार उक्त तीन काव्य-गुणों को भामह ने सङ्घटनाश्रित मान लिया है। जो श्रुतिसुखद एवं दीर्घ-समास से रहित हो, वह काव्य 'मधुर' कहा जाता है।[1] यहाँ माधुर्य गुण के लिए रचना का श्रुति-मधुर होना एवं दीर्घ-समास-हीन होना आवश्यक माना गया है। भामह ने प्रसाद गुण उस रचना में माना है जो विद्वान से लेकर नारी और शिशु तक के लिए भी बोधगम्य हो।[2] इस प्रकार प्रसाद में अर्थ की सुगमता पर बल दिया गया है। अर्थ की सरलता के लिए पदों का असमस्त होना भामह की दृष्टि में आवश्यक माना गया है। पदों के समस्त होने पर अर्थ दुर्बोध हो जाता है। अतः प्रसाद गुण के लिए, जिसमें अर्थ-प्रतीति की सर्वसुलभता वाञ्छित है, भामह ने दीर्घ-समास-हीन पद-योजना को आवश्यक बताया है। माधुर्य में भी प्रसाद की ही तरह दीर्घ-समास की योजना वर्जित होती है।[3] इससे स्पष्ट है कि भामह ने प्रसाद और माधुर्य का सह-अस्तित्व स्वीकार किया है। दोनों में अल्प-समास रचना होती है। दोनों में भेद केवल इतना है कि माधुर्य में श्रुतिसुखद पदों की योजना प्रधान है तो प्रसाद में सुबोध पदों की योजना। ओज गुण में दीर्घ-समास पद-योजना हुआ

---

१. श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते।—भामह, काव्यालङ्कार, २, ३

२. आविद्वदंगनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत्।—वही २, ३

३. माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते॥—वही २, १

करती है। भामह ने कहा है कि ओज-गुण का अभिधान चाहने वाले कुछ लोग बहुत पदों का समास कर देते हैं।[1] उपरिलिखित गुणों को गुण न कह, भामह ने केवल भाविक को प्रबन्ध का गुण मान कर उसके लिए प्रबन्ध-गुण संज्ञा का उल्लेख किया है।[2] किन्तु, भाविक को गुण कहने पर भी उन्होंने उसका विवेचन माधुर्यादि गुण के विवेचन-रूप में नहीं किया है। इस गुण का उल्लेख अलङ्कार वर्णन के प्रसङ्ग में हुआ है। दण्डी ने भी भाविक गुण के वर्णन में यही पद्धति अपनायी है। भामह के अनुसार भाविक प्रबन्ध-गुण वहाँ होता है जहाँ अतीत और अनागत अर्थ प्रत्यक्षायमाण हो जाते हैं।[3] भामह ने भाविक गुण के हेतु के रूप में कई गुणों का उल्लेख किया है। ये गुण हैं—चित्र-अर्थत्व, उदात्त-अर्थत्व, अद्भुत-अर्थत्व, कथा की स्वभिनीतता तथा शब्दों की अनाकुलता। प्रबन्ध-गुण भाविक में इन सभी गुणों का मिश्रण रहा करता है। इन गुणों की कोई परिभाषा नहीं दी गयी है। भामह और दण्डी के परवर्ती आचार्य विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित आदि ने भी भूत एवं भावी अर्थ के प्रत्यक्षायमाणत्व को भाविक कहा है, किन्तु उसकी गणना उन्होंने काव्य-गुण में नहीं की है। वे भाविक को काव्य का अर्थ-गत अलङ्कार स्वीकार कर उसकी गणना काव्यालङ्कारों की श्रेणी में करते हैं। अप्पय्य दीक्षित के भाविक अलङ्कार का स्वरूप भामह के भाविक प्रबन्ध-गुण से अभिन्न है।[4] विश्वनाथ ने भी भाविक अलङ्कार की परिभाषा इससे मिलती-जुलती ही दी है। उनके अनुसार भूत या भावी अद्भुत पदार्थ का प्रत्यक्षायमाणत्व भाविक अलङ्कार है।[5] भामह और दण्डी का यह प्रबन्ध-गत गुण किस प्रकार उत्तर-काल में अलङ्कार के रूप में बदल गया इस पर विचार करने से लगता है कि स्वयं भामह और दण्डी ने इसे गुण कह कर भी अलङ्कार से बहुत भिन्न नहीं माना था। इसीलिए उन्होंने इसका उल्लेख गुण-विवेचन के क्रम में नहीं कर अलङ्कार-प्रसङ्ग में किया है।

काव्यालङ्कार में रीति-विवेचन-प्रसङ्ग में कुछ गुणों का नामोल्लेख हुआ है। उन गुणों पर ही किसी रीति का महत्त्व निर्भर रहा करता है। भामह वैदर्भी

---

१. केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।—भामह, काव्यालङ्कार २, २

२ भाविकत्वमितिप्राहुः प्रबन्धविषयम् गुणम्। वही ३, ५३

३. प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः। वही ३, ५३

४. भाविकं भूतभाव्यार्थसाक्षात्कारस्य वर्णनम्।—अप्पय्य. कुवलया० १६१ पृ० १७७

५. अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः।
यत् प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम्॥—विश्वनाथ, साहित्यद० १०, १२२ पृ० ७७७

और गौडी रीतियों में किसी एक को निरपेक्ष रूप से दूसरी रीति से श्रेष्ठ नहीं मानते। किसी रीति की श्रेष्ठता का कारण उसमें प्रसन्न, ऋजु, कोमल, श्रुति-पेशल, अग्राम्य और अनाकुल शब्दार्थ का होना ही है। इन गुणों के होने पर गौडी रीति भी सुन्दर होती है तथा इनके अभाव में वैदर्भी भी असुन्दर लगती है।[1] इस प्रकार इस सन्दर्भ में भामह ने प्रसाद, ऋजुता, कोमलत्व, श्रुति-पेशलत्व, अग्राम्यत्व एवं अनाकुलत्व; इन गुणों का उल्लेख किया है। काव्या-लङ्कार के परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि भामह ने माधुर्य आदि तीन ही गुणों के लक्षण दिये हैं, पर उन्होंने विभिन्न प्रसङ्गों में कई गुणों की ओर निर्देश किया है। ऊपर काव्यालङ्कार में भाविक-गुण विवेचन के प्रसङ्ग में तथा रीति-निरूपण के क्रम में निर्दिष्ट जिन गुणों का उल्लेख किया गया है, वे भामह की व्यापक गुण-दृष्टि के निदर्शन हैं। भामह के प्रबन्ध-गुण भाविक का हेतुभूत चित्रार्थत्व भरत के उदारता गुण के समकक्ष है। भरत ने उदारता के कई लक्षणों में उसका चित्र-अर्थ-युक्त होना भी एक लक्षण माना था। उन्होंने उसे 'उपेतमतिचित्रार्थैः' कहा था।[2] अद्‌भुत-अर्थत्व भी भरत के उदारता-गुण के लक्षणों में से एक है। भरत ने उसे 'अद्‌भुतयोजितम्' भी कहा है।[3] भामह द्वारा उल्लिखित प्रसन्न या प्रसाद अन्य आचार्यों का प्रसाद गुण है। उनका श्रुतिपेशलत्व भरत के माधुर्य के समीप है तथा कोमलत्व सौकुमार्य के मेल में है। भामह ने अग्राम्यत्व का उल्लेख किया है, जो दण्डी के काव्यादर्श में माधुर्य के एक भेद के रूप में स्वीकृत हुआ है।[4] अनाकुलत्व को दण्डी ने ओज का एक भेद माना है। अतः यह कहा जा सकता है कि भामह काव्यगुणों के स्वरूप की व्यापकता एवं विविधता से परिचित थे। यह ठीक है कि उन्होंने गुण को अपना प्रमुख विवेच्य नहीं बनाया। इसीलिए तीन गुणों की परिभाषा देकर अन्य कुछ काव्यगुणों की ओर सङ्केत-मात्र कर दिया।

भामह ने दोष-प्रकरण में काव्य-दोषों के स्वरूप के वर्णन के उपरान्त यह मत प्रकट किया है कि दुरुक्त आदि दोष विशेष स्थिति में काव्य के शोभा-

---

१. अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्॥
अलङ्कारवदग्राम्यम् अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयः वैदर्भमपि नान्यथा॥—भामह, का०यालं० १, ३४-३५

२. भरत, ना० शा० १६, १११

३. वही १६, ११०

४. दण्डी काव्यादर्श १, ६२–६८

घाथक हो जाते हैं ।[१] पुनरुक्त दोष के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि भय, शोक ईर्ष्या तथा हर्ष-विस्मय के प्रसङ्ग में यह दोष नहीं माना जाता ।[२] इन मनःस्थितियों में एक ही शब्द को दुहरा कर बोलना स्वाभाविक हुआ करता है। अतः, काव्य में यदि कोई पात्र भय, शोक आदि की दशा में शब्द की पुनरुक्ति करता है तो इसे दोष नहीं कहा जा सकता; प्रत्युत्, ऐसे पुनरुक्ति-प्रयोग पात्र की मनोदशा के उद्घाटन में सहायक होने के कारण काव्य की श्री-वृद्धि ही करते हैं और इसलिए उन्हें उस स्थिति में काव्य-गुण ही माना जाना चाहिए। भामह ने कुछ दोषों को आश्रय के सौन्दर्य के कारण भी सुन्दर माना है। जैसे किसी रमणी के सुन्दर नेत्र में लगा हुआ अञ्जन काला होने पर भी अपने अधिकरण की रमणीयता के कारण मनोज्ञ बन जाता है, उसी प्रकार काव्य के दोष भी कहीं-कहीं अपने आश्रय की सुन्दरता से सुन्दर बन जाते हैं।[३] भामह ने कुछ उदाहरण देकर 'गण्ड' तथा 'क्लिन्न' जैसे ग्राम्य एवं अश्लील प्रयोग का विशेष सन्दर्भ में साधुत्व सिद्ध किया है।[४]

काव्यदोषों का स्थिति विशेष में शोभाधायक बन जाने का भामह का यह सङ्केत भारतीय काव्यशास्त्र में गुण-धारणा के विकास में ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। उन्होंने ही सर्वप्रथम दोष-गुणों की चर्चा का श्रीगणेश किया। यद्यपि उन्होंने विशेष स्थिति में काव्यदोषों को शोभाधायक-मात्र कहा था, काव्यगुण नहीं, तथापि उत्तरवर्ती आचार्यों में जब इसी धारणा का विकास हुआ तो स्थिति-विशेष में काव्य-शोभाधायक दोषों को दोष-गुण या वैशेषिक गुण की संज्ञा प्राप्त हुई। भोज ने सरस्वती-कण्ठाभरण में काव्यगुणों के बाह्य, आभ्यन्तर एवं वैशेषिक; ये तीन विभाग किये हैं।[५] वैशेषिक गुण की परिभाषा में उन्होंने कहा है कि जो काव्य के दोष होने पर भी उनके गुण बन जाते हों उन्हें वैशेषिक गुण कहा जाता है।[६] इस विवेचन से यह निर्विवाद सिद्ध है कि दोष-गुणों की धारणा भामह की मौलिक उद्भावना थी।

---

१. सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।—भामह काव्यालं० १, ५४

२. भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।
···यथाह गच्छ-गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः॥—वही ४, १४

३. किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्त मलीमसमिवाञ्जनम्॥—वही०, १; ५५

४. दे०—भामह, काव्यालं० १, ५६-५७

५. त्रिविधाश्च गुणाः काव्ये भवन्ति कविसम्मताः।
बाह्याश्चाभ्यन्तराश्चैव ये च वैशेषिका इति॥— भोज, सर० कण्ठा० पृ० ४९-५०

६. वैशेषिकास्तु ते न्यूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः।—वही, पृ० ४९

डॉ० ए० बी० कीथ ने यह माना है कि गुणों की दस संख्या-सम्बन्धी दण्डी की मान्यता के खण्डन के लिए ही भामह ने उसकी संख्या तीन बतायी है।[1] कीथ का यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधृत है कि दण्डी भामह के पूर्ववर्ती थे। इस मत से सहमत होना कठिन है। आचार्यों का काल-निर्णय या उनका पौर्वापर्य-निर्धारण प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है। हमने डॉ० सुशील कुमार डे का यह सिद्धान्त मान कर विवेचन किया है कि भामह दण्डी से पूर्ववर्ती थे।[2] दण्डी को भामह से उत्तरवर्ती मान लेने पर कीथ की धारणा निराधार सिद्ध हो जाती है।

डॉ० राघवन ने माना है कि दण्डी के दस गुणों एवं भामह के तीन गुणों में जो संख्यागत भेद है वह प्राचीन काल से आती हुई गुण-सम्बन्धी दो विचार-धाराओं का प्रतिफलन है। काश्मीर सम्प्रदाय के आचार्य गुणों की संख्या तीन मानते थे और वैदर्भ सम्प्रदाय के आचार्य दस। वत्सभट्टि ने अपने काव्य ग्रन्थ में प्रसाद और माधुर्य गुणों का उल्लेख किया था। और उनका आधार पदयोजना को माना था। उसी विचार-सरणि में आने के कारण भामह ने पद-योजना के आधार पर गुणों के तीन भेद स्वीकार किये। दूसरी ओर माघ ने चित्तवृत्तियों और वर्णों को भी गुण का आधार माना था। इस विचार-परम्परा को मानने के कारण भरत, दण्डी आदि की रचनाओं में गुणों की संख्या का आधिक्य हो गया।

आचार्य दण्डी :

भामह के बाद दण्डी ने काव्यगुणों पर विस्तार से विचार किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से गुण पर विचार करने वाले आचार्यों में भामह, भरत और दण्डी के मध्यवर्ती हैं; किन्तु गुण-सम्बन्धी विचार-सरणि में दण्डी भरत के अव्यवहितोत्तरवर्ती हैं। भामह ने भरत की गुण-धारणा को नहीं मान कर उस क्षेत्र में नवीन उद्भावना की थी। दण्डी ने भरत की तरह गुणों की संख्या दस मानी और गुणों का भरत के द्वारा किया गया नामकरण भी स्वीकार किया। उनके अधिकांश गुणों के लक्षण भी भरत के गुण-लक्षण से मिलते-जुलते हैं। इतना होने पर भी उनके गुण-विवेचन में मौलिकता का अभाव नहीं। किसी-किसी गुण में जहाँ भरत ने शब्द पर बल दिया था वहाँ उन्होंने अर्थ पर बल दिया। फलतः भरत के कुछ शब्दगत गुण दण्डी में अर्थ-गत गुण बन गये। भरत के कुछ शब्दार्थ-युगल-गत गुण भी इसी प्रक्रिया से दण्डी में या तो केवल शब्दगुण

---

१. Dr. A. B. Keith, History of Sanskrit Literature पृ० ३८२

२. सुशील कुमार डे, History of Skt. poetics Vol. I पृ० ६६

बन गये हैं या केवल अर्थगुण। कुछ गुणों के स्वरूप ऐसे हैं कि उनके शब्दगतत्व अर्थगतत्व एवं शब्दार्थयुगलगतत्व के निर्णय में विद्वानों में मतभेद के लिए अवकाश सम्भव है। दण्डी-प्रतिपादित गुणों के स्वरूप-विश्लेषण-क्रम में हम इस पर विचार करेंगे।

आचार्य दण्डी ने विदर्भ एवं गौड प्रदेशों की काव्यशैलियों के, जिन्हें उन्होंने 'मार्ग' कहा है, वैशिष्ट्य-प्रदर्शन-क्रम में दस गुणों का उल्लेख किया है और उन्हें वैदर्भ मार्ग का प्राण कहा है।[1] गौड मार्ग में इन दस गुणों का प्रायः विपर्यय पाया जाता है।[2] अपनी कारिका में 'प्रायः' शब्द का प्रयोग कर दण्डी ने उसे अतिव्याप्ति दोष से बचा लिया है। वे यह जानते थे कि गौड मार्ग में उपरि निर्दिष्ट सभी गुणों का अनिवार्यतः अभाव होना या सभी गुणों के विपर्यय की अवश्यक सत्ता होना सम्भव नहीं है। उन्होंने स्वयं अपने कई गुणों की सत्ता वैदर्भी और गौडी; दोनों ही काव्य-शैलियों में स्वीकार की है। दोनों मार्गों को ग्राम्यत्व दोष से वचने को कहा गया है। ग्राम्यत्व दोष का स्वरूप बताने के उपरान्त दण्डी ने कहा है कि ऐसे ग्राम्य-प्रयोग वैदर्भ और गौड; दोनों मार्ग में निन्द्य होते हैं।[3] ग्राम्य दोष के अभाव-स्थल में अग्राम्यता-माधुर्य गुण की सत्ता मानी गयी है। अतः, गौड मार्ग में भी ग्राम्य दोष की वर्जना के इस आग्रह में अग्राम्यता-माधुर्य के शब्दगत एवं अर्थगत भेदों की सत्ता की स्वीकृति निहित है। अनुप्रास माधुर्य का अभाव गौड मार्ग में हो सकता है किन्तु अग्राम्यता माधुर्य वहाँ भी वाञ्छनीय है। नेयार्थ दोष का स्वरूप बताने के उपरान्त उसे दोनों मार्गों के लिए त्याज्य बताया गया है।[4] नेयार्थत्व का अभाव ही अर्थव्यक्ति गुण है। इस प्रकार अर्थव्यक्ति में गौडों की भी रुचि दिखायी गयी है। गौड मार्ग में अर्थव्यक्ति गुण का अभाव नहीं रहा करता। उदार गुण की सत्ता गौड मार्ग में भी स्वीकार की गयी है।[5] पण्डित रङ्गाचार्य ने काव्यादर्श की प्रभा टीका में 'प्रायः' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि दण्डी के 'प्रायः' शब्द के प्रयोग का आशय है कि कहीं-कहीं कुछ गुण गौड आर वैदर्भ दोनों मार्गों में

---

१. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।—दण्डी, काव्यादर्श १,४१-४२

२. एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥—वही १,४२

३. एवमादि न शंसन्ति मार्गयोरुभयोरपि।—वही १,६७

४. नेदृशं बहुमन्यन्ते मार्गयोरुभयोरपि।—वही १,७५

५. तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः।—वही १,७६

समान रूप से रहा करते हैं।[१] टीकाकार तरुणवाचस्पति ने 'प्रायः' शब्द से अर्थ-व्यक्ति, औदार्य और समाधि आदि को दोनों मार्गों का सामान्य धर्म माना है।[२] दण्डी ने श्लेष, प्रसाद आदि दसो गुणों को जो वैदर्भ मार्ग का प्राण कह दिया है, वह गुणों के स्वरूप के परीक्षण से युक्ति-सङ्गत नहीं जान पड़ता। उनके इस कथन के अनुरूप ओज गुण भी वैदर्भ मार्ग का प्राण मान लिया जाना चाहिए, किन्तु यह उन्हें स्वयं अभीष्ट नहीं। दण्डी का कहना है कि गौड पद्य में भी ओजस्विनी रचना पसन्द करते हैं। वैदर्भ मार्ग में पद्य में केवल हृद्य और अनाकुल ओज स्वीकृत होता है, समासभूयस्त्व ओज नहीं।[३] वैदर्भ पद्य में ओज को दोष ही मानते हैं। गद्य-बद्ध रचना में अवश्य ओज दोनों मार्गों में ग्राह्य है। इसी लिए ओज को गद्य का प्राण कहा गया है, वैदर्भ मार्ग का नहीं।[४] सिंहभूपाल ने कुछ आगे बढ़ कर ओज को गद्य-जीवित के स्थान पर वैदर्भ मार्ग का प्राण घोषित कर दिया है। उनके अनुसार समासभूयस्त्व ओज है और यह वैदर्भी का प्राण है।[५] वे यह मानते हैं कि औचित्य की दृष्टि से ही ओज वैदर्भी में स्वीकृत होता है।[६] यह दण्डी का मत नहीं था। वे समासभूयस्त्व ओज को वैदर्भ मार्ग की पद्य-बद्ध रचना में समादृत नहीं मानते थे। भट्ट नृसिंह ने सरस्वती-कण्ठाभरण की टीका में दण्डी की गुण-धारणा पर टिप्पणी देते हुए माना है कि दण्डी के सौकुमार्य और ओज; ये दो गुण असाधारण हैं तथा शेष सर्वसाधारण। सौकुमार्य गुण केवल वैदर्भी रीति में रहता है और यह वैदर्भी का प्रधान गुण है। इसी प्रकार ओज केवल गौडी रीति में रहता है और वही उसका प्रधान गुण है। अन्य सभी गुण दोनों मार्गों में सामान्य रूप से रह सकते हैं।[७] स्पष्टतः, भट्ट नृसिंह की इस व्याख्या में दण्डी की मान्यता की

१. प्राय इत्यनेन क्वचिदुभयोः साम्यमपि अस्तीति सूच्यते। यथा ग्राम्यत्वानेयत्वादि विषये उभयोरैकमत्यम्···।—काव्यादर्श, प्रभा टीका पृ० ४३

२. प्रायः शब्दः अर्थव्यक्त्यौदार्यसमाध्यादयो गुणाः उभयसाधारण इति दर्शयति।—वही, तरुण वाचस्पति की टीका पृ० २८

३. इति पद्येऽपि पौरस्त्या बध्नन्त्योजस्विनीर्गिरः।
अन्ये त्वनाकुलं हृद्यमिच्छन्त्योजो गिरां यथा॥—दण्डी, काव्यादर्श, १.८३

४. ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्॥—वही, १,८०

५. डॉ० राघवन, Bhoja's Sri. Pr. पृ० २८४

६. वही, पृ० २८४

७. वही पृ० २८९

अपेक्षा व्याख्याता की अपनी मान्यता अधिक व्यक्त है। दण्डी केवल सौकुमार्य को छोड़ कर अपने शेष नौ गुणों की सत्ता गौड मार्ग में भी स्वीकार करते थे, यह कहने का कोई ठोस आधार नहीं। हाँ, गुण-विवेचन के प्रसङ्ग में उन्होंने इतस्ततः जो सङ्केत दिये हैं, उनके आधार पर माधुर्य के अग्राम्यता भेद, अर्थव्यक्ति, औदार्य, समाधि, ओज आदि कुछ गुणों की सत्ता गौड मार्ग में भी स्वीकार की जा सकती है। दण्डी के दस गुणों के स्वरूप निम्नलिखित हैं :—

श्लेष :—पदावली के सुष्ठु ग्रथन को श्लेष माना गया है। इसमें पद-योजना में ढीलापन नहीं रहता। दण्डी ने श्लेष का लक्षण भावात्मक रूप में न देकर अभावात्मक रूप में दिया है। उनके अनुसार शैथिल्य-रहित रचना में श्लेष गुण रहता है। वे शैथिल्य उस रचना में मानते हैं, जहाँ संयुक्ताक्षर कम हों एवं अल्पप्राण वर्णों का बाहुल्य हो।[1] इससे निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वे महाप्राण वर्ण एवं संयुक्तवर्ण-युक्त रचना में, श्लेष गुण मानते थे। हेमचन्द्र ने संक्षेप में दण्डी की श्लेष-धारणा को उद्धृत करते हुए लिखा है कि अशिथिल रचना श्लिष्ट कही जाती है।[2] दण्डी ने भरत के श्लेप-लक्षण को स्वीकार नहीं किया है। भरत की श्लेष-गुण-परिभाषा में हम देख चुके हैं कि उन्होंने श्लेष के शब्दगत एवं अर्थगत; दोनों स्वरूप दिये हैं। दण्डी ने भरत के अर्थ-श्लेष को तो छोड़ ही दिया है, उनके शब्द-श्लेष से भी थोड़ा भिन्न स्वरूप अपने श्लेष गुण का माना है। भरत ने पदों की श्लिष्टता पर बल दिया था, पर दण्डी ने श्लेष में महाप्राण एवं संयुक्त वर्णों का प्रयोग आवश्यक मान लिया। दण्डी का श्लेष केवल शब्दगत है। इसका विपर्यय शैथिल्य है, जो गौड मार्ग में ग्राह्य है, पर वैदर्भ शैथिल्य को काव्य का दोष मानकर उसे सर्वथा त्याज्य समझते हैं। कुछ लोगों ने दण्डी के श्लेष को ओज-गुण का ही एक प्रकार मान लिया है।[3] किन्तु, ओज श्लेष से भिन्न है। ओज में पदों के समास पर बल दिया जाता है, पर श्लेष में संयुक्त और महाप्राण वर्णों की योजना पर। गौडों की ओज में रुचि रहती है, किन्तु श्लिष्ट रचना के स्थान पर वे शिथिल रचना पसन्द करते हैं। यदि श्लेष को ओज का प्रकार मान लिया जाय, तो दोनों के प्रति गौड मार्ग के कवियों के रुचिभेद का क्या कारण माना जायगा? भरत के ओज गुण-लक्षण में एक 'सानुराग' पद का

---

१. श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम्।—दण्डी, काव्यादर्श १.४३

२ अशिथिलं श्लिष्टमिति दण्डी।—हेम० काव्यानु० व्याख्या, पृ० २३५

३. सोऽयमोजः प्रकार एव।—वही, पृ० २३५

प्रयोग हुआ है। इसकी व्याख्या में अभिनव ने एक वर्ण का दूसरे वर्ण की अपेक्षा करना लिखा है। दण्डी ने वर्णों के संयोग को श्लेष के लिए महत्त्व-पूर्ण माना है। इस दृष्टि से दण्डी के श्लेष की भरत के ओज से कुछ समता दिखायी जा सकती है, पर इसे उससे अभिन्न नहीं कहा जा सकता। भरत ने कहीं भी महाप्राण वर्ण का प्रयोग ओज में आवश्यक नहीं माना है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दण्डी का श्लेष गुण भरत के श्लेष से स्वतन्त्र है और उसका भरत के किसी भी दूसरे गुण में अन्तर्भाव सम्भव नहीं। इसका स्वरूप दण्डी के ओज से भी भिन्न है।

प्रसाद—जहाँ सुनते ही अर्थ-बोध करा देने वाले शब्दों की योजना हो, वहाँ प्रसाद गुण माना गया है। प्रसिद्ध अर्थ वाले पदों का प्रयोग होने पर वाक्य का अर्थ-बोध अनायास हो जाता है। दण्डी ने कहा है कि प्रसिद्ध अर्थ वाला, अतः अर्थ-बोध में सुभग वाक्य प्रसाद गुण युक्त माना जाता है।[1] वैदर्भ मार्ग में ऐसे रूढ या प्रसिद्ध अर्थ वाले पदों का प्रयोग होता है। गौड व्युत्पन्न शब्द-प्रयोग करते हैं। अतः, अप्रसिद्ध अर्थ वाले शब्द भी व्युत्पत्तियुक्त हों तो उनका प्रयोग गौड मार्ग में होता है। टीकाकारों ने दण्डी के प्रसाद गुण को अर्थ-गत गुण माना है।[2] डॉ० सुशील कुमार डे की भी यही मान्यता है। इन लोगों की राय में प्रसाद गुण में अर्थ की स्पष्टता एवं स्वच्छता पर बल दिया गया है। अतः, इसे अर्थ-गुण माना जाना चाहिए। डॉ० वी० राघवन ने प्रसाद को शब्द-गुण माना है।[3] यद्यपि डॉ० राघवन ने अपने मत की पुष्टि में युक्तियाँ नहीं दी हैं, पर यह स्पष्ट है कि प्रसाद में उन शब्दों के प्रयोग पर बल दिया गया है जिनके अर्थ रूढ़ हों। प्रसाद में अर्थ-प्रतीति का आधार प्रसिद्धार्थ पदों का प्रयोग ही हुआ करता है। अतः, प्रसाद को शब्दगत मानने वाला डॉ० राघवन का मत अनुचित नहीं जान पड़ता।

समता—सम्पूर्ण रचना में एक रीति के निर्वाह को समता गुण माना गया है। इसमें रचना-शैली की एक-रूपता पर बल दिया गया है। जिस शैली में

१. प्रसादवत् प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति।
लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः ॥—दण्डी काव्यादर्श, १, ४५

२. अयञ्च प्रसादगुणः अर्थ-गत एव··· ।—काव्यादर्श, वी० रामस्वामी एण्ड सन्स, २९९ इस्प्लेनेड, मद्रास १९३० पृ० २३
प्रभा व्याख्या में रंगाचार्य ने भी इसे अर्थ-गुण कहा है (दे० काव्याद० पृ० ४३) डॉ० डे भी यही मानते हैं।

३. डॉ राघवन, Bhoja's sringara prakash, पृ० २८८

रचना आरब्ध हुई है वही शैली उसके अन्त तक अपनायी जानी चाहिए। रचना तीन प्रकार की मानी गई है—मृदु, स्फुट और मिश्र। यदि कोई रचना आरम्भ में मृदु है तो अन्त तक उसमें मृदु शैली का ही निर्वाह होना चाहिए। विकट और मध्य बन्ध के लिए भी यही ठीक है। वर्ण-विन्यास को दण्डी ने बन्ध की मृदुता विकटता आदि का कारण माना है।[1] शैली पर बल होने के कारण समता शब्दगत गुण है। हेमचन्द्र ने दण्डी के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि बन्ध में अवैषम्य ही दण्डी के अनुसार समता है। इसलिए जिस रीति में रचना आरम्भ हो उसका आसमाप्ति त्याग न होना ही समता का रूप है। यह मुक्तक और प्रबन्ध दोनों ही रचनाओं का गुण है।[2] किन्तु; सभी स्थितियों में आरब्ध रीति का निर्वाह गुण नहीं माना जा सकता। सम्पूर्ण प्रबन्ध की बात तो दूर रहे, जहाँ विभिन्न स्थितियों में परिवर्तित मनोभावों के चित्रण के लिए तदनुकूल कोमल, कठोर आदि रीतियों का प्रयोग ही काव्य का शोभादायक होता है, वहाँ मुक्तक में भी कभी-कभी परिवर्तित मनोदशा के चित्रण के क्रम में कवि उसके अनुरूप अपनी शैली में परिवर्त्तन कर लिया करते हैं। वैसी स्थिति में भी शैली-गत समता-निर्वाह का यदि आग्रह हो तो रचना प्रभावशाली नहीं होगी। मन के राग के चित्रण में जो शैली उपयोगी होगी वही उत्साह के चित्रण में उपयोगी नहीं हो सकती। एक रचना में ऐसे अनेक मनोभावों का चित्रण सम्भव है। अतः सर्वत्र समता का निर्वाह काव्य का गुण नहीं माना जाता। दण्डी ने भाव के साथ रीति और गुण का सम्बन्ध नहीं परखा था। उन्होंने देश के आधार पर रीति या मार्ग का विभाजन और उनके साथ गुणों के सम्बन्ध का परीक्षण किया था। इसीलिए समता से होने वाली भाव-चित्रण की त्रुटि को वे ध्यान में नहीं रख सके। हेमचन्द्र ने इस दिशा में सङ्केत किया है।[3] उनके अनुसार दण्डी ने भरत के समता-गुण-लक्षण को स्वीकार नहीं किया है। हेमचन्द्र ने यह दिखलाया है कि दण्डी ने भरत के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है कि गुण और अलङ्कार का परस्पर आभूषण होना समता है।

---

१. समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः।
बन्धा मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः॥ —दण्डी, काव्याद० १, ४७

२. तस्माद्बन्धेष्वविषमं समम्।··· तस्माद्येन रीतिविशेषेणोपक्रमस्तस्यापरित्याग आसमाप्तेरिति समतायाः रूपम्। तन्मुक्तके प्रबन्धे च-[।]—हेम० काव्यानु० व्याख्या पृ० २३५-३६

३. प्रयोग-मार्गं प्रतिवसन्तः प्रमाणम्। ते च न सर्वत्र समतां वैचित्र्याय संगिरन्ते। तथाहि—अज्ञानाद्यदि—इत्यादौ मसृणमार्गत्यागो गुणः।—वही पृ० २३६

दण्डी की मान्यता है कि गुण और अलङ्कार भिन्न-भिन्न आश्रय पर रहते हैं। इसलिए एक दूसरे का आभूषण नहीं बन सकता। यदि रचना में गुण और अलङ्कार दोनों रहें तब तो दोनों के परस्पर भूषण होने का प्रश्न भी उठ सकता है, किन्तु कभी-कभी तो ऐसा होता है कि किसी रचना में अलङ्कार रहते हैं किन्तु गुण का अभाव रहता है। श्लेष, यमक और चित्र अलङ्कार प्रायः गुण का तिरस्कार कर रहा करते हैं।[1] गुण और अलङ्कार एक दूसरे के आभूषण नहीं बन सकते। अतः, दोनों के परस्पर भूषणत्व में समता की कल्पना उचित नहीं।

माधर्य :—दण्डी ने माधुर्य गुण को बड़ा व्यापक स्वरूप प्रदान किया है। इसके क्षेत्र-विस्तार में रस भी अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। श्रुत्यनुप्रास, जो अन्य आचार्यों के शब्दालङ्कार की सीमा में परिगणित हुआ है, दण्डी के माधुर्य का एक भेद है। अन्य आचार्यों ने गुणों को रस का उपकारक धर्म अवश्य माना है, किन्तु दण्डी की यह विलक्षण धारणा है कि उन्होंने माधुर्य गुण को रस-स्वरूप मान लिया। दण्डी के अनुसार सरस वाक्य मधुर कहलाता है।[2] वे रसवत् वाक्य को माधुर्यगुणवत् कहेंगे। इस प्रकार विचार करने पर माधुर्य और रस पर्यायवाची शब्द बन जाते हैं। दण्डी ने माधुर्य को गुण भी माना है। रस की स्थिति वाक्य-योजना एवं प्रतिपाद्य अर्थ पर रहा करती है। विशेष प्रकार की पद-सङ्घटना विशेष रस की व्यञ्जना में सहायक होती है। यह माना जाता है कि समास-हीन या अल्प-समासा वैदर्भी रीति शृङ्गार, करुण तथा शान्त; इन कोमल रसों की व्यञ्जना में सहायक होती है, दीर्घ समास एवं विकट वर्णों से युक्त गौडी वीर, बीभत्स और रौद्र रसों की व्यञ्जक होती है तथा मध्यम-समास और मध्यम वर्ण वाली पाञ्चाली रीति हास्य, अद्भुत और भयानक रसों का उद्बोध करती है।[3] अतः जहाँ वाक्य में रसव्यञ्जक वर्णों की योजना हो तथा जो रसव्यञ्जक अर्थ (विभावादि) से युक्त हो उसमें दण्डी के अनुसार

---

१. भिन्नाधिकरणा हि गुणालङ्कारास्तत्कथमन्योन्यं भूषयेयुरिति दण्डी। श्लेषयमकचित्राणि हि प्रायेण गुणान्विगृह्य वर्त्तन्ते। अनुप्रासोऽपि प्रचुरं प्रयुक्तस्तद्वदेव।
—हेम० काव्यानु० व्याख्या पृ० २३५

२. मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः। —दण्डी, का०याद० १, ५१

३. वैदर्भीपाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद्यथौचित्यम्। —वही, १५, २०

माधुर्य गुण माना जायगा। यह माधुर्य दो प्रकार का माना गया है। एक प्रकार का माधुर्य अग्राम्यता है। दण्डी ने माना है कि यद्यपि सभी अलङ्कार अर्थ की रसव्यञ्जकता में उत्कर्ष का आधान करते हैं, फिर भी अग्राम्यता ही यह कार्य सबसे अधिक करती है।[1] यह रसावह अग्राम्यता माधुर्य अर्थगत गुण है। माधुर्य का दूसरा प्रकार श्रुत्यनुप्रास माधुर्य है। दण्डी के अनुसार जहाँ एक वर्ण के अव्यवहित उत्तर में आने वाला वर्ण पूर्व वर्ण से श्रुति में साम्य रखता हो वह श्रुत्यनुप्रास है। यह रसावह होने से माधुर्य गुण है।[2] श्रुति-साम्य का अभिप्राय है, दोनों का उच्चारण-स्थान समान होना। श्रुत्यनुप्रास माधुर्य विशेष प्रकार की वर्ण-योजना पर निर्भर रहता है। अतः, यह शब्दगत गुण है। अग्राम्यता माधुर्य को वस्तुरस कहा गया है तथा श्रुत्यनुप्रास माधुर्य को वाग्रस। अग्राम्यता माधुर्य का विपर्यय ग्राम्यत्व दोष है जिससे दोनों मार्गों के कवि बचते हैं। श्रुत्यनुप्रास माधुर्य का विपर्यास उल्बण वर्णों की आवृत्ति को माना जा सकता है। हेमचन्द्र ने दण्डी की माधुर्य गुण-धारणा को उपस्थित करते हुए लिखा है कि दण्डी के अनुसार रसवत् मधुर होता है।[3] श्रुत्यनुप्रास को माधुर्य गुण मानने के सिद्धान्त का हेमचन्द्र ने खण्डन किया है। उनके अनुसार अनुप्रास अलङ्कार है। अतः उसे गुण मानना उचित नहीं।[4] माधुर्य गुण के इस विवेचन से स्पष्ट है कि माधुर्य-सम्बन्धी दण्डी की धारणा सर्वथा नवीन है। उसमें परम्परागत माधुर्य-गुण-धारणा की स्वीकृति तो कुछ अंश में है, पर उसका स्वरूप बहुत विस्तृत हो गया है। उनके श्रुत्यनुप्रास-माधुर्य के स्वरूप पर भरत के बार-बार सुने जाने पर भी मन को उद्विग्न न करने वाले तथा भामह के अनतिदीर्घ समास एवं श्रव्य माधुर्य के स्वरूप का प्रभाव देखा जा सकता है, किन्तु अग्राम्यता-माधुर्य की उद्भावना सर्वथा मौलिक है। दण्डी की यह माधुर्य-गुण-धारणा परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार नहीं की। इसका कारण यह है कि दण्डी ने माधुर्य गुण में रस और अलङ्कार को मिलाकर गुण के स्वरूप को अस्पष्ट कर दिया है। अनुप्रास को गुण न मान कर अलङ्कार मानना

---

१. कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा।—दण्डी काव्याद० १, ६२

२. यया कयाचिच्छ्रुत्या यत् समानमनुभूयते।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा।—वही १, ५२

३. तस्माद्रसवन्मधुरम्।—हेम० काव्यानु० व्या० पृ० २३७

४. अनुप्रासोऽह्यलंकारः। कथं तस्य गुणत्वम्।—वही, पृ० २३७

ही उचित है। वर्णानुप्रास से श्रुत्यनुप्रास माधुर्य को भिन्न मानने में भी प्रबल युक्ति नहीं। दण्डी ने श्रुत्यनुप्रास से वर्णानुप्रास को एकान्त भिन्न मान कर यह कहा है कि वैदर्भ मार्ग के कवि श्रुत्यनुप्रास माधुर्य को रुचिकर समझते हैं पर गौड मार्ग के कवि इसका आदर नहीं करते, चूँकि उन्हें अनुप्रास (वर्णानुप्रास) प्रिय होता है।[1] श्रुत्यनुप्रास को भी अनुप्रास का ही भेद मानना युक्तिसङ्गत है। दण्डी के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने यही माना है। इस को माधुर्य गुण में समेट लेना भी उचित नहीं। दण्डी काव्य में रस का उचित महत्त्व नहीं समझ सके थे। इसीलिए उन्होंने रस को रसवदादि अलङ्कार मान कर उसे गौण बना दिया और गुण में भी अन्तर्भुक्त कर दिया।

सुकुमारता :—कोमल वर्णों के प्रयोग में सुकुमारता गुण माना गया है। दण्डी का कहना है कि जो अनिष्ठुर अक्षरों से युक्त हो उसे सुकुमार या सुकुमारता गुण-युक्त कहा जाता है। अत्यन्त कोमलता को भी उन्होंने त्याज्य माना है। जहाँ सभी वर्ण कोमल ही होते हैं, वहां वन्ध में शिथिलता आ जाती है, जो दोष है।[2] इसका विपर्यय निष्ठुर या दीप्त है। दीप्त का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि यह 'कृच्छ्रोद्य' है। गौड इसे गुण मान कर इसका निवन्धन अपनी रचना में करते हैं। गौडों की प्रवृत्ति कठोरता को ओर अधिक होती है, अतः वे कृच्छ्रोद्य पदावली की योजना करते हैं। कृच्छ्रोद्य पद का अर्थ है, ऐसा पद जिसका उच्चारण कठिन हो।[3] दण्डी के अनुसार यह दीप्तत्व व्यर्थ गुण है। वस्तुतः यह दोष ही है और इसका विपर्यय सौकुमार्य गुण है। स्पष्टतः, दण्डी ने इसे शब्द का गुण माना था। यह ध्वनिगत कोमलता है जिसका उच्चारण सरल होता है। काव्यादर्श के टीकाकर रङ्गाचार्य शास्त्री ने सुकुमारता गुण को शब्दगत माना है।[4] डॉ० सुशीलकुमार डे भी इससे सहमत हैं।[5] डॉ० व्ही० राघवन ने यह मान्यता प्रकट की है कि दण्डी के सुकुमारता के उदाहरण में अर्थगत सुकुमारता का भी उदाहरण है। उनकी धारणा है कि दण्डी ने अतिशयोक्तिहीन सुन्दर अभिव्यक्ति को अर्थगत सौकुमार्य माना है। उनके अनुसार दण्डी का सौकुमार्य-विपर्यय दीप्त शब्द-गत एवं अर्थ-गत

---

१. इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः।—दण्डी, काव्याद० १,५४

२. अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते।
वन्धशैथिल्यदोपोऽपि दर्शितः सर्वकोमले॥—वही, १,६९

३. दीप्तमित्यपरैर्भूम्ना कृच्छ्रोद्यमपि वध्यते।—वही, प्रभाटीका, पृ० ७५

४. आचार्य दण्डिना शब्दगुणत्वेन सौकुमार्यं स्वीकृतम्।—वही, पृ०, ७५

५. दे० – सुशीलकुमार डे History of sanskrit Poetics vol. II पृ० ८२

दोनों है। यह अर्थ-गत सौकुमार्य अर्थ-गुण कान्ति के समीप है। इसका विपर्यय अतिशय अलङ्कृत कथन होता है। डॉ० राघवन ने यहाँ तक मान लिया है कि दण्डी अर्थ-सौकुमार्य को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं।[1] एक ओर डॉ० डे तथा कुछ टीकाकार दण्डी के सौकुमार्य को केवल शब्दगत मानते हैं तो दूसरी ओर डॉ० राघवन उसे शब्दगत और अर्थगत दोनों मानकर उसके अर्थगत भेद को ही सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण मानते हैं। इस मतवैभिन्न्य के बीच किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए दण्डी के सौकुमार्य गुण के उदाहरण पर विचार करना आवश्यक है। उपरि-विवेचित सौकुमार्य गुण-लक्षण में उसके अर्थगत होने का कोई सङ्केत नहीं दिया गया है। उसके उदाहरण के आधार पर ही डॉ० राघवन उसे अर्थगत भी सिद्ध करना चाहते हैं। दण्डी के सौकुमार्य-उदाहरण का भाव इस प्रकार है:—'वर्षा काल में मयूर अपने पिच्छ को मण्डलाकार बना कर मधुरगीत-पूर्ण कण्ठ के साथ नृत्य कर रहे हैं।'[2] इस उदाहरण में सौकुमार्य दिखलाते हुए दण्डी ने कहा है कि यहाँ पर मयूर का नृत्य-रूप अर्थ रस-सम्पर्क-शून्य होने के कारण अनूर्जित अर्थात् निस्तेज ही है। इसका समासोक्ति अलङ्कार भी बहुत चमत्कारपूर्ण नहीं, फिर भी इसमें जो सहृदयों का मन रमता है उसका कारण सुकुमारता ही है।[3] यहाँ अनूर्जित अर्थ का अभिप्राय दीप्त-अर्थ-विपर्यय मानना उचित नहीं। अनूर्जित को अदीप्त या अकृत्रिम वर्णन समझ कर ही सम्भवतः डॉ० राघवन ने इससे सौकुमार्य के अर्थगत होने का अभिप्राय निकाला है। यदि सौकुमार्य का अर्थगतत्व भी दण्डी को अभिप्रेत होता तो वे अपने लक्षण में उस ओर इङ्गित अवश्य करते या कम-से-कम उसके विपर्यय की ओर निर्देश करते समय भी दीप्त के अर्थगत होने का उल्लेख करते। पर जैसा कि हम देख चुके हैं, सौकुमार्य-विपर्यय दीप्त को दण्डी कृच्छ्रोद्य या उच्चारण-दुःखद कह कर केवल शब्दगत मानते हैं। अतः डॉ० राघवन की कल्पना दूराकृष्ट जान पड़ती है।

भरत ने सुकुमारता के लक्षण में 'सुख-प्रयोज्यैः शब्दैः युक्तं' कहकर उसका शब्दगतत्व तथा 'सुकुमारार्थसंयुक्तं' कह कर अर्थ-गतत्व दोनों ही स्वीकार किया था। दण्डी सुख-प्रयोज्य शब्द में सुकुमारता मानने में भरत से सहमत हैं,

---

१. दे०—डॉ० वी० राघवन, Bhoja's sringara prakasa vol. I पृ० २८६

२ मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि॥—दण्डी, काव्याद १,७०

३. इत्यनूर्जित एवार्थो नालङ्कारोऽपि तादृशः।
सुकुमारतयैवैतदारोहति सतां मनः॥ वही १ ७१

किन्तु भरत की तरह दण्डी में सुकुमार-अर्थ-युक्त को सौकुमार्य गुण मानने की स्पष्ट स्वीकृति नहीं है। भरत के सौकुमार्य की तरह दण्डी के सौकुमार्य का भी अर्थ-गत स्वरूप सिद्ध करने का प्रयास डॉ० राघवन ने किया था पर दण्डी की सौकुमार्य-परिभाषा में उसका अर्थगत स्वरूप ढूंढना निष्फल है।

दण्डी के शब्द-माधुर्य में भी श्रुत्यनुप्रास पर बल देकर उसका श्रुतिमधुर होना आवश्यक माना गया है। सुकुमारता में भी अनिष्ठुर अर्थात् कोमल वर्णों का प्रयोग अनिवार्य माना गया है। परिणामतः दोनों श्रुतिमधुर गुण हैं। इस प्रकार के प्रभाव की दृष्टि से दोनों में विशेष भेद नहीं। दोनों में स्वरूप-गत भेद यह है कि माधुर्य में एक उच्चारण स्थान से उच्चरित होने वाली ध्वनियों की सह-स्थिति से श्रुतिमधुरता उत्पन्न होती है और सुकुमारता में कोमल वर्णों की योजना से। सुकुमारता गुण के लिए अनुप्रास की आवश्यकता नहीं, कोमल-पद-योजना-मात्र पर्याप्त है।

अर्थव्यक्ति :—अर्थव्यक्ति वैदर्भ और गौड; दोनों मार्गों का गुण है। दण्डी ने इसकी परिभाषा निषेध-मुखेन दी है। उनके अनुसार अर्थ में नेयत्व का जहाँ अभाव रहे वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है।[1] इस गुण के स्वरूप को समझने के लिए नेयत्व या नेयार्थत्व का स्वरूप समझना आवश्यक है। किसी अर्थ को पूर्णतः व्यक्त करने के लिए जितने शब्दों के प्रयोग की अपेक्षा होती है उतने से यदि कम शब्दों का प्रयोग कहीं होता है तो विवक्षित अर्थ को समझने के लिए आवश्यक अर्थान्तर के अध्याहार की कष्ट-कल्पना करनी पड़ती है। इसे ही नेयार्थत्व अथवा नेयत्व कहते हैं। इस प्रकार दण्डी ने अर्थव्यक्ति को अनेयत्व कह कर यह धारणा प्रकट की है कि जहाँ प्रयुक्त पदों से ही अर्थ की उपस्थिति हो वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है। इसे और स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि जितना अर्थ अपेक्षित हो उतने अर्थ का बोध कराने के लिए पर्याप्त पदों का प्रयोग अर्थव्यक्ति है। इसमें अर्थ की व्यक्ति एवं उसके लिए पर्याप्त पद-प्रयोग दोनों पर बल होने के कारण यह शब्दार्थयुगलगत गुण है। काव्यादर्श के टीकाकार रङ्गाचार्य शास्त्री ने इसे शब्दार्थोभय-गत माना है।[2] वामन ने अर्थ-गत अर्थव्यक्ति गुण की धारणा को अधिक स्पष्ट किया। वे अर्थ

---

१. अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य····।—दण्डी, काव्याद० १,७३

२. ····अतो यावदपेक्षितार्थस्य विन्यस्तपदेनैव भानादत्रार्थव्यक्तिः। अयं शब्दगुणः। ····अयमर्थगुणोऽपि। यत्र वस्तुस्वभावस्फुटीकरणरूपोऽर्थः सोऽर्थगुणः।—काव्याद० प्रभाटीका पृ० ७८-७९

की स्फुटता को अर्थगुण अर्थव्यक्ति मानते हैं।[1] दण्डी को अनेयार्थत्व में सम्भवतः यह अर्थ-स्फुटता भी अभीष्ट थी। इसलिए रङ्गाचार्य ने वामन की अर्थव्यक्ति धारणा के अनुरूप दण्डी के अर्थगत अर्थव्यक्ति गुण को वस्तुस्वभावस्फुटीकरण-रूप अर्थ माना है। डॉ० राघवन भी इसे शब्दार्थयुगल गत मानते हैं।[2] दण्डी का शब्दगत अर्थव्यक्ति गुण प्रसाद गुण से बहुत भिन्न नहीं है और अर्थगत अर्थव्यक्ति स्वभावोक्ति अलङ्कार से मिलते-जुलते स्वभाव का है। रङ्गाचार्य शाब्दी अर्थव्यक्ति को प्रसाद गुण में तथा आर्थी को स्वभावोक्ति में अन्तर्भूत मानते हैं।[3] विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में शब्दगुण अर्थव्यक्ति का अन्तर्भाव प्रसाद गुण में मान लिया है।[4] डॉ० सुशील कुमार डे अर्थव्यक्ति को केवल अर्थगत गुण मानते हैं।[5] यह उचित नहीं। इस गुण में पद-प्रयोग पर जो बल दण्डी ने दिया है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। डॉ० डे ने यह स्वीकार किया है कि दण्डी के गुणों का शब्दार्थ वर्ग में विभाजन केवल स्थूल रूप से ही हो सकता है।[6] अतः अर्थव्यक्ति को उभयगत गुण मानने में डॉ० डे को बहुत बड़ी आपत्ति नहीं होगी। दण्डी ने अर्थव्यक्ति के विपर्यय नेयार्थत्व का उदाहरण देकर उसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह नेयत्व वैदर्भ और गौड दोनों ही मार्गों में अग्राह्य माना जाता है।[7] इस प्रकार वे अर्थव्यक्ति को दोनों मार्गों में समान रूप से समादृत गुण स्वीकार करते हैं।

उदारत्व :—दण्डी ने उदारता गुण की व्यापक धारणा काव्यादर्श में प्रस्तुत की है और इसे उभय मार्ग का गुण माना है। उनके अनुसार जिस वाक्य के उच्चरित होने पर वर्ण्य में लोकोत्तर चमत्कार का आधान करने वाला कोई धर्म-विशेष प्रतीत हो, उसे उदार कहा जाता है। इस गुण से काव्य के सभी

---

१. वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः।—वामन, काव्यालं० ३,२, १४
२. डॉ वी० राघवन, Bhoja's Sringara prakasa पृ० २८८
३. तथा च शाब्दी अर्थव्यक्तिः प्रसादगुणेन आर्थी स्वभावोक्त्यलङ्कारेण गतार्था इति ज्ञेयम्।—दण्डी, काव्याद० प्रभाटीका, पृ० ८०
४. अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः।
अर्थव्यक्तिः पदानां हि झटित्यर्थसमर्पणम्॥—विश्वनाथ, साहित्यद० ८,१३ पृ० ५४२
५. दे०—सुशील कुमार डे, History of sanskrit Poetics, vol II पृ० ८२
६. वही, पृ० ८२
७. नेदृशं बहु मन्यन्ते मार्गयोरुभयोरपि।
नहि प्रतीतिः सुभगा शब्दन्यायविलङ्घिनी॥—दण्डी काव्याद० १.७५

मार्ग उत्कर्ष प्राप्त करते हैं।[१] उदारता की इस परिभाषा के अर्थ के सम्बन्ध में दो मतों का उल्लेख काव्यादर्श की 'प्रभा' टीका में हुआ है। कुछ लोग यह मानते हैं कि दण्डी की परिभाषा में प्रयुक्त उत्कर्षवान् का अभिप्राय यह है कि जहाँ वर्ण्य में उत्कर्ष का आधान करने वाला गुण प्रतीत होता है वहीं उदारता गुण होता है। जहाँ वर्ण्य में अपकर्ष की प्रतीति होती है वहाँ यह गुण नहीं होता। किन्तु, कुछ लोग यह मानते हैं कि जहाँ कवि वर्णन की भङ्गिमा से किसी वस्तु में गुण का अपकर्ष प्रतिपादित कर देता है वहाँ भी कवि की उक्ति में चमत्कार रहा ही करता है। अतः ऐसे स्थल पर वर्णन-शैली के चमत्कार के कारण उदारता गुण की सत्ता स्वीकार करनी ही चाहिए। इस प्रकार जहाँ किसी कवि ने समुद्र को लक्ष्य कर कहा है कि 'वाणी से तुम्हारी कितनी प्रशंसा की जाय ? तुम जैसा परोपकार का व्रत रखने वाला दूसरा कोई नहीं। क्योंकि, प्यासे पथिक के उपकार से विमुख रहने के कारण मरुभूमि को जो अयश का भार मिला है उसे वहन करने में तुम भी कृपापूर्वक उसकी सहायता करते हो;' वहाँ समुद्र में पथिकों के प्रति परोपकारहीनता दिखाकर उसमें गुणों का अपकर्ष प्रतिपादित किया गया है, किन्तु प्रशंसामुखेन यह गुण के अपकर्ष का आधान वर्णन-भङ्गी के चमत्कार से पूर्ण है। पहले मत के अनुयायी इसमें उदारता गुण नहीं मानेंगे, चूँकि वर्ण्य समुद्र के गुणों का उत्कर्ष यहाँ प्रतिपादित नहीं हुआ है, परन्तु दूसरे मत के अनुयायी इस वर्णन-चातुरी में उदारता गुण अवश्य मानेंगे।[२] वस्तुतः उदारता गुण का स्वरूप यहाँ बहुत स्पष्ट नहीं है। उत्कर्षवान गुण का कोई मानदण्ड दण्डी ने नहीं दिया है। यह सम्भव है कि एक ही काव्य में रुचि-भेद से कुछ पाठक को उत्कर्ष जान पड़े, कुछ को नहीं। अतः किसी कथन में औदार्य गुण का निर्णय सहज नहीं। यह अर्थ-गत गुण है। गुण के उत्कर्ष की व्यञ्जना वाक्य के अर्थ से ही हो सकती है।

---

१. उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा सर्वपद्धतिः (काव्यपद्धतिः)॥—दण्डी, काव्याद० १,७६

२. अत्रोत्कर्षवान् इत्यनेन वर्ण्योत्कर्षजनकगुणोपेद्यते नापकर्षजनकः। तेन—
हे हेलाजितबोधिसत्त्व वचसा किं विस्तरैस्तोयधे
नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः।
तृष्यत्पान्थजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो
भारप्रोद्वहने करोपि कृपया साहाय्यकं यन्मरोः॥ इत्यत्र नोदारतेति केचित्।
परे तु उत्कर्षवान् वर्णनभङ्गिविशेषेण चमत्कारजनको गुणः उत्कर्षापकर्षस्वरूपो वर्ण्यस्य धर्मः औदार्यमिति स्वीकुर्वन्ति। हे हेलाजितेत्यत्र औदार्यगुणं च मन्वते।
—काव्याद० प्रभा टीका पृ० ८२–८३

अन्य आचार्यों का मत उद्धृत करते हुए दण्डी ने उदारता का एक और लक्षण दिया है। इस लक्षण के अनुसार कुछ लोगों की मान्यता है कि जो वाक्य श्लाघ्य विशेषणों से युक्त हो वह उदारगुण-युक्त माना जाता है।[1] यह दण्डी की भी मान्यता है। प्रभा व्याख्या में रङ्गाचार्यशास्त्री ने इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द्र का मत उद्धृत कर उसका खण्डन किया है। प्रेमचन्द्र का कहना है कि दण्डी स्वयं आचार्यों की उदारता-गुण-सम्बन्धी इस धारणा से असहमत हैं। साभिप्राय विशेषण कुछ लोगों के अनुसार अपुष्टार्थ दोष का अभाव है, कुछ लोगों ने उसे परिकर अलङ्कार कहा है; इसलिए दण्डी उसे उदारता गुण नहीं मानना चाहते। स्पष्टतः, प्रेमचन्द्र ने दूसरे आचार्यों की मान्यता के आधार पर दण्डी के सिद्धान्त की परीक्षा करनी चाही है, जो उचित नहीं। दण्डी ने स्वतः न तो श्लाघ्य विशेषण को अपुष्टार्थ दोष का अभाव कहा है, न परिकर अलङ्कार ही।[2] उदारता गुण का यह भेद शब्द-गत है। इस प्रकार दण्डी ने उदारता को शब्द-गत एवं अर्थगत; दोनों माना है। डॉ० सुशील कुमार डे ने इसे केवल अर्थगत माना है।[3] वे सम्भवतः उदारता की इस द्वितीय परिभाषा में दण्डी की सहमति नहीं मानते। डॉ० राघवन ने इसे शब्दार्थ युगल-गत माना है।[4] प्रथम परिभाषा अर्थ-गत उदारता की है तथा द्वितीय शब्द-गत उदारता की।

उदारता गुण के स्वरूप-निर्धारण में दण्डी भरत के सिद्धान्त से प्रभावित हैं। भरत ने भी औदार्य की दो परिभाषाएँ दी हैं। उनके 'दिव्यभावपरीत', 'शृङ्गाराद्भुतयोजित' एवं 'अनेक भाव-संयुक्त' को ही दण्डी ने प्रकारान्तर से उत्कृष्टगुणवान् कहा है। भरत का 'अनेकार्थ-विशेष-युक्त' 'श्लाघ्य विशेषण' के रूप में स्वीकृत हुआ है। अर्थगुण औदार्य की तरह दण्डी के शब्दगुण औदार्य का स्वरूप भी अस्पष्ट रह गया है। रुचिभेद से श्लाघ्य विशेषण के निर्णय में मतभेद सम्भव है।

---

१. श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते।—दण्डी, काव्याद १,७९

२. अत्र कैश्चिदित्यनेन साभिप्रायविशेषणत्वस्यापुष्टार्थत्वदोषाभावरूपत्वादन्यैः परिकरालंकारेणोक्तत्वाच्च न गुणत्वमुचितमित्यस्मिन् कल्पे स्वस्यास्वरसः सूचितः इति-यत् प्रेमचन्द्रमहाशयैरुक्तं तन्न मनोहरम्। प्रकृतकविना अर्थालंकारे परिकरस्यापरिगणित-त्वात् दोषविचारेऽपि अपुष्टार्थत्वदोषस्यानुक्तत्वाच्चेति ज्ञेयम्।—काव्याद० प्रभा टीका पृ० ८६

३. दे० – डॉ० सुशीलकुमार डे History of sanskrit Poetics vol II पृ० २८

४. डॉ० वी० राघवन Bhoja's sringara Prakasa vol I पृ० २८८

दण्डी का उदार गुण उनके उदात्त अलङ्कार से बहुत भिन्न नहीं। उदात्त अलङ्कार में आशय का उत्कर्ष एवं वस्तूत्कर्ष या विभूति का होना आवश्यक है।[१] इस गुण का श्लाघ्य विशेषण भी विभूति का व्यञ्जक है।

ओज :—ओज गुण दोनों मार्गों के गद्य-काव्य के प्राण के रूप में स्वीकृत है। गौड अपने पद्य-काव्य में भी इस गुण का समादर करते हैं। उनकी रुचि काव्य के विकट बन्ध में रहती है। इसलिए वे काव्य की गद्य एवं पद्य; दोनों विधाओं में ओज गुण की योजना करते हैं। विदर्भ-देशवासियों की रुचि गौड प्रदेश के लोगों की रुचि से भिन्न होती है। वे गद्य में तो ओज को ग्राह्य मानते हैं, पर पद्य-रचना में इससे बचते हैं। दण्डी ने ओज की परिभाषा देते हुए लिखा है कि समस्त पदों की बहुलता ओज है, यह गद्य का प्राण है, पर गौड पद्य में भी इसी का अवलम्बन लेते हैं।[२] समास शब्दगत ही होता है। अतः, ओज शब्दगुण है। इसके अनेक भेद होते हैं। ओज गुण पदों के समास पर आधृत है। पद का निर्माण करने वाले दीर्घ एवं लघु वर्णों की बहुलता, अल्पता आदि के आधार पर ओज के कई भेद हो जाते हैं।[३] कहीं पद में अल्पप्राण वर्णों का महाप्राण वर्णों की अपेक्षा आधिक्य रह सकता है, कहीं इसके विपरीत महाप्राण वर्णों का बाहुल्य हो सकता है और कहीं अल्पप्राण एवं महाप्राण वर्णों का समान मिश्रग रह सकता है। ओज गुण के अनेक भेद मानने के ये ही आधार हैं। ओज के दोनों मार्गों का गुण होने पर भी वैदर्भ और गौड कवियों की रुचिगत विभिन्नता के कारण दोनों मार्गों में उसका स्वरूप कुछ भिन्न हो जाता है। गौड मार्ग के एक पद्य का उदाहरण देकर दण्डी ने कहा है कि गौड पद्य में भी समासबहुलता के कारण ओजस्विनी वाणी का निबन्धन करते हैं, किन्तु वैदर्भ विषम उच्चारण-हीन अनाकुल तथा पारुष्य, शैथिल्य आदि दोष के मार्जन से मनोहारी ओज को ही स्वीकार करते हैं।[४] इस प्रकार के हृद्य एवं अनाकुल ओज गुण से युक्त

---

१. आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तम् ।
उदात्तं नाम तं प्राहुरलंकारं मनीषिणः ।—दण्डी काव्याद० २,३०० पृ० २७६

२. ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम् ।
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम् ॥—वही, १,८०

३. तद्गुरूणां लघूनां च बाहुल्याल्पत्वमिश्रणैः ।
उच्चावचप्रकारं तद् दृश्यमाख्यायिकादिषु ॥—वही, १,८१

४. इति पद्येऽपि पौरस्त्या बध्नन्त्योजस्विनीर्गिरः ।
अन्ये त्वनाकुलं हृद्यमिच्छन्त्योजो गिरां यथा ॥—वही १,८३

वैदर्भ मार्ग के पद्य का उदाहरण देकर दण्डी ने यह स्वीकार किया है कि वैदर्भ भी पद्य में ओज को स्वीकार करते हैं, किन्तु वे विशेष प्रकार के ओज को ही स्वीकार करते हैं। अनाकुल एवं हृद्य ओज के अतिरिक्त समासबहुल ओज को वैदर्भ गद्य में तो ग्राह्य मानते हैं, पर पद्य में अग्राह्य। इस प्रकार काव्य में ओज गुण की स्थिति के सम्बन्ध में दण्डी की धारणा की परीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे ओज को दोनों मार्गों का गुण मानते थे। गौड काव्य के गद्य एवं पद्य; दोनों रूपों में इसका स्वागत करते हैं। वैदर्भ मार्ग में गद्य में यह अविशेष भाव से गृहीत होता है, पर वहाँ पद्य में इसका केवल अनाकुल और हृद्य भेद ही स्वीकृत होता है।

नाट्यशास्त्र में ओज-लक्षण के दो श्लोक मिलते हैं। एक के अनुसार अनेक समास-युक्त पद को ओजगुण-युक्त कहा गया है। दूसरे श्लोक में हीन या निन्द्य वस्तु में औदात्य के आधान में ओज गुण माना गया है। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में इस दूसरे श्लोक में व्यक्त विचार को ही उद्धृत किया है। इस प्रसङ्ग में हेमचन्द्र ने भरत की इस ओज गुण-धारणा से दण्डी की असहमति दिखायी है। उनके अनुसार दण्डी ने भरत के इस मत का खण्डन किया है। हीन वस्तु में उत्कर्ष का आधान काव्य का गुण नहीं माना जा सकता। उसका सम्बन्ध कवि के प्रतिपादन की प्रक्रिया से है। कवियों के बीच वस्तु-वर्णन की तीन सरणियाँ प्रचलित हैं। वे कभी तो तुच्छ वस्तु को उत्कृष्ट बना कर उसका वर्णन करते हैं, कभी इसके विपरीत उत्कृष्ट वस्तु को तुच्छ बना देते हैं और कभी यथार्थ वस्तु की स्थापना करते हैं। इसलिए तुच्छ वस्तु में उत्कर्ष का आधान गुण नहीं। इस गुण-लक्षण से असहमत होकर दण्डी ने समास-भूयस्त्व को ओज गुण माना।[१] दण्डी की इस ओज-धारणा पर भरत के एक श्लोक में कथित 'समासवद्भिर्बहुभिः' का प्रभाव है।

कान्ति :—दण्डी की कान्ति गुण-धारणा कुछ अस्पष्ट है। उनकी मान्यता है कि लोक-प्रसिद्धि के अनुरूप वस्तु का वर्णन होने पर वह सहृदय से लेकर बच्चे तक के लिए मनोहारी हो जाता है। ऐसे सम्पूर्ण लोक के लिए मनोज्ञ काव्य में कान्ति गुण माना जाता है। कान्ति गुण-युक्त वाक्य लौकिक उपचार-

---

१. कवीनामभिधेय प्रति त्रयः पन्थानः। एते न्यूनमुत्कर्षन्ति, अधिकमपकर्षन्ति, यथार्थं वस्तु स्थापयन्ति तत्कथमिवार्यं गुण इति दण्डी। तस्मात्समासभूयस्त्वमोजः— हेम० काव्यानु० व्याख्या, पृ० २३३

वचन में तथा प्रशंसा-वचन में पाये जाते हैं।[१] काव्य के अर्थबोध की सुगमता में ही उसकी रमणीयता निहित रहती है। अर्थबोध में कठिनाई होने पर काव्य के रस का आस्वादन सम्भव नहीं होता। जिस काव्य में लोकप्रसिद्ध अर्थ का वर्णन होता है वह सर्वजन-सुबोध होता है और इसीलिए सर्वजन-मनोहारी भी। जहाँ लौकिक प्रसिद्धि का त्याग कर वस्तु का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन होता है वह काव्य केवल व्युत्पन्न व्यक्तियों के लिए बोधगम्य होता है। दण्डी सर्वजन-मनोज्ञ काव्य में ही कान्ति-गुण मानते हैं। लोकप्रसिद्ध अर्थ के वर्णन में भी चमत्कार के होने पर ही कान्ति गुण की सत्ता मानी जाती है। प्रत्येक लोक-प्रसिद्ध वस्तु का वर्णन कान्त नहीं हो जाता।[२] दण्डी ने कान्ति को अर्थ-गत गुण माना है।

दण्डी ने कान्ति गुण का विपर्यय अत्युक्ति को माना है। जहाँ कवि लोकप्रसिद्धि का त्याग कर अपनी प्रतिभा के बल से वस्तु की कल्पना करते हैं, उस काव्य से केवल विदग्ध जन ही तुष्ट हो पाते हैं। गौडों की रुचि ऐसी ही अत्युक्तिपूर्ण रचना में रहती है।[३] हेमचन्द्र ने दण्डी की कान्ति गुण-धारणा को उद्धृत करते हुए लिखा है कि दण्डी लोकसीमा के अतिक्रमण नहीं होने में कान्ति गुण मानते हैं। वह कान्ति वार्तागत और वर्णनगत होने से दो प्रकार की होती है। उपचार-वचन को वार्ता कहा जाता है तथा प्रशंसा-वचन को वर्णन।[४] हेमचन्द्र की मान्यता है कि यह अतिशयोक्ति का अभाव-मात्र है, अतः इसे स्वतन्त्र गुण नहीं माना जाना चाहिए।[५] दण्डी के अनुसार यह केवल वैदर्भ मार्ग का गुण है, चूँकि गौड इसके विपर्यय अत्युक्ति में रुचि रखते हैं।[६]

---

१. कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्।
तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते ॥—दण्डी, काव्याद० १,८५

२. इति संभाव्यमेवैतद्विशेषाख्यानसंस्कृतम्।
कान्तं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्तिनः ॥—वही १,८८

३. लोकातीत इवात्यर्थमध्यारोप्य विवक्षितः।
योऽर्थस्तेनातितुष्यन्ति विदग्धा नेतरे जनाः ॥—वही १, ८९

४ तस्माल्लोकसीमानतिक्रमः कान्तिरिति दण्डी।—सा च द्विधा वार्तावर्णनयोः। तत्रोपचारवचनं वार्ता, प्रशंसावचनं वर्णना।—हेम० काव्यानु० व्याख्या पृ० २३९

५. सेयमतिशयोक्तेर्यन्त्रणा न पुनर्गुणान्तरमिति। वही पृ० २३९

६ …इदमत्युक्तिरित्युक्तमेतद्गौडोपलालितम्।—दण्डी, काव्याद० १९२

समाधि—समाधि साध्यवसाना लक्षणा पर आधृत काव्य-गुण है। साध्यवसाना लक्षणा में विषयी विषय का निगरण कर लेता है।[१] समाधि गुण की परिभाषा में भी दण्डी ने यह कहा है कि जहाँ लोकव्यवहार का पालन करने वाला कवि एक वस्तु के गुण, क्रिया आदि धर्म का दूसरी वस्तु पर आधान करता है, वहाँ समाधि गुण माना जाता है।[२] प्रभा टीका में दण्डी के समाधि-गुण-लक्षण की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने सम्यक् आधान को साध्यवसाना लक्षणा से अभिन्न मानकर समाधि को अन्वर्थ संज्ञा कहा है।[३] साध्यवसाना लक्षणा में विषय का उपादान नहीं होता। विषयी के धर्म के कथन से ही विषय के धर्म का बोध हो जाता है। अतः समाधि गुण में भी प्रस्तुत के धर्म का कथन न होकर केवल अप्रस्तुत के धर्म का कथन होना चाहिए। इस दृष्टि से समाधि-लक्षण को स्पष्ट करने के क्रम में टीकाकार प्रेमचन्द्र ने लिखा है कि जहाँ प्रस्तुत के धर्म का निगरण कर उसके सदृश अप्रस्तुत के धर्म का तादात्म्य-अध्यवसान हो वहाँ समाधि गुण होता है।[४] आपाततः दण्डी का प्रस्तुत गुण अतिशयोक्ति से अभिन्न प्रतीत होता है। अतिशयोक्ति अलङ्कार भी साध्यवसाना लक्षणा पर आधृत रहता है। उसमें भी प्रस्तुत का निगरण हुआ करता है और अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत का उसी रूप में अध्यवसान। मम्मट ने प्रस्तुत का निगरण करने वाले अप्रस्तुत के वर्णन में अतिशयोक्ति अलङ्कार माना है।[५] वस्तुतः, दण्डी के समाधि गुण का स्वरूप मम्मट आदि के इस अतिशयोक्ति अलङ्कार के स्वरूप से थोड़ा भिन्न है। अतिशयोक्ति में प्रस्तुत धर्मी का निगरण होता है पर दण्डी की समाधि में प्रस्तुत के धर्म का निगरण होता है। दण्डी ने अपने अतिशयोक्ति अलङ्कार के स्वरूप से इसका स्वरूप भिन्न करने के लिए अपने गुण-लक्षण में

---

१. विपय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका।—मम्मट; काव्यप्र० २, ११ पृ० १६

२ अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा॥—दण्डी; काव्याद० १,९३

३. यत्र यस्मिन् वाक्यार्थे। सम्यगाधीयते साध्यवसानलक्षणया उपचर्यते। स वाक्यार्थः। समाधिः समाधिगुणविशिष्टः। सम्यगाधीयते उपचर्यते स समाधिः इति अन्वर्थकी संज्ञा।—दण्डी, काव्याद० प्रभा टीका, पृ० ९८

४. इत्थं च प्रस्तुतस्य धर्मं निगीर्य तत्र सदृशतया अप्रस्तुतधर्मस्य तादात्म्याध्यवसानं समाधिरिति लक्षणम्।—काव्याद० प्रभा टी पृ० ९८

५. निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्। विज्ञेयातिशयोक्तिःसा।—मम्मट, काव्य प्र० १०, १००-१०१ पृ० २४९

लोकसीमा के भीतर ही अन्य धर्म का किसी धर्म पर आधान माना है। जह लोक-सीमा का अतिक्रमण कर एक धर्म पर दूसरे धर्म का आधान हो, वहाँ दण्डी समाधि गुण नहीं मानेंगे। इस प्रकार यह समाधि गुण दण्डी के अतिशयोक्ति अलङ्कार से, जिसमें प्रस्तुत वस्तुगत विशेष का लोक-मर्यादा का अतिक्रमण करने वाला वर्णन होता है[१], अभिन्न नहीं कहा जा सकता।

डॉ० ह्वी राघवन की मान्यता है कि दण्डी का समाधि गुण मानवीकरण आदि आलङ्कारिक प्रयोग के लिए है।[२] मानवीकरण में मानवेतर पदार्थों के धर्म पर मानव-धर्म का आरोप होता है। दण्डी भी समाधि में एक वस्तु के धर्म पर अन्य वस्तु-धर्म का आधान आवश्यक मानते हैं। अतः डॉ० राघवन की यह धारणा उचित ही है कि दण्डी का समाधि गुण मानवीकरण आदि आलङ्कारिक प्रयोग से बहुत भिन्न नहीं। डॉ० सुशील कुमार डे इसे रूपक अलङ्कार से अलग नहीं मानते। रूपक अलङ्कार में एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर तथा एक वस्तु धर्म का दूसरी वस्तु के धर्म पर आरोप होता है। जहाँ प्रस्तुत वस्तु पर अप्रस्तुत वस्तु का आरोप होगा वह रूपक दण्डी के समाधि गुण से भिन्न होगा। जिसमें वस्तु-धर्म पर अन्य वस्तु-धर्म का आरोप हो उस रूपक को समाधि के समकक्ष माना जा सकता है। इस भेद को स्वीकार करने पर भी डॉ० डे ने यह माना है कि लक्षणा पर आश्रित एक धर्म का दूसरे धर्म पर यह आधान आलङ्कारिक प्रयोग ही माना जाना चाहिए।[३] वामन ने इसे वक्रोक्ति अलङ्कार ही माना है। वामन के अनुसार जहाँ सादृश्य के आधार पर एक वस्तु-धर्म से दूसरा वस्तु-धर्म लक्षित होता है, वहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार माना जाता है।[४]

दण्डी का यह समाधि गुण अर्थ-गत है। काव्यादर्श में शब्दगत समाधि का भी निर्देश पाया जाता है। काव्य में कुछ ऐसे पदों का भी प्रयोग होता है जो गौणी लक्षणा वृत्ति का आश्रय लेकर प्रयुक्त होने पर मनोरम माने जाते हैं, किन्तु अभिधा वृत्ति के आश्रय से प्रयुक्त होने पर वे ग्राम्य दोष से दुष्ट होकर काव्य में

---

१. विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा ॥—दण्डी; काव्याद० २, २१४

२. दे...डॉ० राघवन, Bhoja's sringara Prakasa vol I पृ० २८९

३. दे...डॉ० सुशील कुमार डे, History of sanskrit Poetics vol II पृ० ८१

४. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।—वामन, काव्यालं, ४, ३, ८

अग्राह्य हो जाते हैं। निष्ठ्यूत, उद्गीर्ण, वान्त आदि ऐसे ही शब्द हैं।[१] इन शब्दों का समाधि गुण बन जाना भी लक्षणा वृत्ति पर निर्भर है। मुख्यार्थ को छोड़ कर लक्षणा वृत्ति से अन्य अर्थ का आधान होने पर ही उक्त शब्द गुण माने जाते हैं। अतः इसे भी शुद्ध शब्दगत गुण नहीं कहा जा सकता। उनके गुणत्व-निर्धारण के लिए अर्थ की अपेक्षा रहती ही है। अतः इसे परम्परया हो शब्द-गत कहा जा सकता है।[२] डॉ० व्ही० राघवन ने समाधि गुण का शब्दगत भेद भी स्वीकार किया है और यह माना है कि श्रुत्यनुप्रास पर आधृत समाधि या तो शब्दालङ्कार है या शब्दालङ्कार का फल।[३] डॉ० डे ने इसे केवल अर्थ-गत गुण स्वीकार किया है।[४] मुझे डॉ० डे का मत ही अधिक समीचीन जान पड़ता है।

दण्डी ने समाधि गुण को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। उसे 'काव्य-सर्वस्व' कह कर उन्होंने गुणों में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। यह गुण गौड एवं वैदर्भ; दोनों मार्गों के कवियों की रचना में समादृत होता है।[५] वामन ने आरोह-अवरोह के क्रम को समाधि गुण कहा है। हेमचन्द्र के अनुसार दण्डी आरोहावरोह-क्रम को गुण नहीं मानते। वहाँ गुरु एवं लघु वर्णों का क्रम-मात्र रहता है। अतः वह गुण नहीं। अन्य धर्म का अन्यत्र सम्यक् आधान ही समाधि है।[६]

दण्डी की गुण-धारणा के इस विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने अपने पूर्व-वर्ती आचार्य भरत की गुण-मीमांसा का अन्धानुसरण नहीं किया है। हम देख

---

१. निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम्।
अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते॥—दण्डी, काव्याद० १, ९५

२. ननु वान्तादिपदमतिसुन्दरमित्यनेन अयं समाधिगुणः शब्दस्य दर्शितो भवति। स तु पुनः अर्थगुणः अर्थस्यैवारोपादिति चेत् अत्र शब्दगतत्वं परम्परयेति बोध्यम्। —काव्याद० प्रभा० पृ० १०१

३. दे...डॉ व्ही राघवन, Bhoja's sringara Prakasa vol I पृ० २९०

४. दे...डॉ सुशील कुमार डे, History of sanskrit Poetics vol II पृ० ८१

५. तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।
कविसार्थः समग्रोऽपि तमेनमनुगच्छति।—दण्डी काव्याद १,१००

६. तदिदं गुरुलघु संचारयोरन्योन्यान्तरणमिति दण्डी। तस्मादन्यधर्मस्यान्यत्र समाधानात्समाधिः।—हेम काव्यानु० व्याख्या पृ० २३७

चुके हैं कि दण्डी के कुछ गुणों का स्वरूप भरत के उन्हीं नामों के गुणों से भिन्न है।

यद्यपि दण्डी ने अपने सभी गुणों को वैदर्भमार्ग का प्राण कहा है तथा गौड मार्ग में प्रायः इन सबों के विपर्यय की सत्ता स्वीकार की है, पर ओज गुण को वैदर्भ मार्ग की पद्यबद्ध रचना का प्राण उन्होंने स्वयं स्वीकार नहीं किया है। गौड मार्ग में भी दण्डी के अनुसार उदारता, समाधि आदि गुण पाये जाते हैं। इनका विपर्यय उस मार्ग में भी अग्राह्य माना गया है।

दण्डी ने सभी गुणों के विपर्यय का उल्लेख नहीं किया है। अधिकांश गुणों के विपर्यय का निर्णय उन गुणों के लक्षण के आधार पर किया जा सकता है। श्लेष का विपर्यय शैथिल्य, प्रसाद का विपर्यय नातिरूढ या व्युत्पन्न शब्द, तथा समता का विपर्यय वैषम्य है। माधुर्य गुण के दो भेद हैं—(क) श्रुत्यनुप्रास माधुर्य और अग्राम्यता माधुर्य। इनका विपर्यय क्रमशः उल्बण वर्णानुप्रास तथा ग्राम्यता है। सुकुमारता तथा अर्थव्यक्ति का विपर्यास क्रमशः दीप्तशब्दत्व एवं नेयार्थत्व को माना गया है। कान्ति का विपर्यय अत्युक्ति है। ओज के अनाकुल और हृद्य भेद को ही दण्डी ने वैदर्भ का प्राण माना है। इसके विपर्यय के रूप में आकुल और अहृद्य ओज की कल्पना की जा सकती है। उदारता और समाधि गुणों के विपर्यय का कथन नहीं हुआ है। ये दोनों ही मार्गों के सामान्य गुण हैं। अतः दण्डी ने इनके विपर्यय की कल्पना आवश्यक नहीं समझी।

वैदर्भ और गौड मार्गों के काव्य के स्वभाव का भेद स्पष्ट हो जाने पर भरत की तरह दोषाभाव को गुण तथा वामन की तरह गुणाभाव को दोष मानने की आवश्यकता दण्डी के गुण-सिद्धान्त के अनुरूप नहीं है। वैदर्भ मार्ग के गुणों का विपर्यय अधिकांशतः गौड मार्ग में गुण के रूप में ही स्वीकृत होता है। इस प्रकार एक मार्ग में जिसे दोष माना जाता है, वही दूसरे मार्ग में गुणरूप में गृहीत होता है। अतः दण्डी ने काव्यादर्श के चतुर्थ अध्याय में अपार्थ, व्यर्थ आदि बाह्य दस दोषों की भावात्मक सत्ता स्वीकार की है पर वैदर्भ मार्ग के गुण-विपर्ययात्मा दोष को गौड मार्ग का गुण कहा है। उक्त अपार्थ, व्यर्थ आदि भावात्मक दोष दोनों ही मार्गों में त्याज्य माने जाते हैं किन्तु गुण-विपर्यय वैदर्भ मार्ग में ही दोष माना जाता है। वह गौड मार्ग में गुण के रूप में ही स्वीकृत होता है। उदाहरणार्थ; श्लेष-विपर्यय शैथिल्य वैदर्भ मार्ग में दोष माना जायगा, किन्तु गौड अनुप्रास की योजना के लोभ से शिथिल रचना को भी सुन्दर मानेंगे। वस्तुतः वैदर्भ एवं गौड मार्गों में काव्य-रचना के भिन्न आदर्श स्वीकृत थे। एक मार्ग के काव्य का आदर्श दूसरे मार्ग के आदर्श

से प्रायः विपरीतधर्मा था। अतः, एक मार्ग में गुण-रूप में स्वीकृत श्लेष आदि के विपर्यय का दूसरे मार्ग में गुण-रूप में स्वीकृत होना स्वाभाविक ही था। यह देखा जा चुका है कि वैदर्भ मार्ग के सभी गुणों के विपर्यय गौड मार्ग में गुण नहीं माने जाते। समाधि आदि दोनों मार्गों के गुण हैं। इसीलिए, दण्डी ने यह कहा है कि वैदर्भ मार्ग के गुणों का विपर्यय गौड मार्ग में 'प्रायः' गुण माना जाता है।

गुण-धारणा के इतिहास में दण्डी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने काव्य में गुण को जितना गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया, उतना किसी दूसरे आचार्य ने नहीं। काव्य में गुण के स्थान के सम्बन्ध में दण्डी की मान्यता पर हम द्वितीय अध्याय में विस्तार से विचार करेंगे।

वामन

हम देख चुके हैं कि नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने गुणों को दोषाभाव-रूप माना था।[1] वामन ने इस सिद्धान्त के विपरीत गुणों की भावात्मक सत्ता स्वीकार की और दोषों को गुणाभावस्वरूप माना।[2] उन्होंने काव्य में गुण को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। गुण को उत्कृष्ट काव्य का आवश्यक धर्म माना गया है।[3] गुण काव्य की आत्मा रीति में वैशिष्ट्य का आधान करने वाला धर्म है।[4] गुणों के भाव एवं अभाव के आधार पर ही वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियों के स्वरूप का निर्णय वामन ने किया है। वैदर्भी रीति को वे उत्कृष्ट इसीलिए मानते हैं कि उसमें सभी गुण विद्यमान रहते हैं।[5] गौडी और पाञ्चाली रीतियों में कुछ ही गुण रहते हैं, इसलिए वे हेय मानी गयी हैं।[6] विद्याधर ने एकावली में वामन की इस गुण-धारणा का खण्डन किया है। उनकी युक्ति है कि वामन काव्य में गुण के स्थान का उचित निर्णय नहीं कर पाये। उन्होंने गुण को काव्य का प्रधान तत्त्व मान कर उसे उपस्कार्य भी मान लिया और काव्य का उपस्कारक धर्म भी। जो स्वयं अलङ्कार्य है उसे अलङ्कार कहना उचित नहीं। वामन की इस धारणा में स्वतोविरोध है।[7] काव्यालङ्कार-सूत्र की कामधेनु

१. एते दोषा हि काव्यस्य मया सम्यक् प्रकीर्तिताः।
गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः॥—भरत, ना० शा० १६,९५
२. गुण विपर्ययात्मनो दोषाः अर्थतस्तदवगमः।—वामन काव्यालं० २,१,१
३. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।—वही ३,१,१
४. विशेषो गुणात्मा।—वही १,२,८
५. तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात्।—वही १,२,१४
६. न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात्।—वही १,२,१५
७. विद्याधर, एकावली, तरला टीका, पृ० ५१

टीका में टीकाकार ने विद्यानाथ के इस आक्षेप का युक्तिपूर्ण निराकरण किया है। उसके अनुसार गुण वस्तुतः रीतियों से ही सम्बद्ध हैं। उन्हें काव्य का धर्म कहना औपचारिक प्रयोग-मात्र है।[१] यह नहीं कहा जा सकता कि गुणों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं। गुण सहृदय-संवेद्य है। अतः उनकी सत्ता का परिहार सम्भव नहीं। असहृदय पाठकों की दृष्टि में गुण की सत्ता नहीं, वह भ्रम-मात्र है और यदा-कदा काव्य में आ जाता है। वामन ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया है।[२]

जिस प्रकार दण्डी ने अपने सभी गुणों को वैदर्भ मार्ग के प्राण के रूप में स्वीकार किया था, उसी प्रकार वामन ने भी समग्र काव्यगुणों का अस्तित्व वैदर्भी रीति में मान लिया।[३] वैदर्भी में सभी गुणों की सत्ता सिद्ध करने के लिए वामन ने कुछ गुणों के परम्परागत स्वरूप में पर्याप्त परिवर्त्तन कर दिया है। उदाहरणार्थ, उन्हें वैदर्भी में समासबाहुल्य इष्ट नहीं, और ओज गुण का अस्तित्व अभीष्ट है। इसलिए, उन्होंने ओज के 'समासभूयस्त्व' लक्षण को स्वीकार नहीं किया है। इतना होने पर भी सभी गुणों की एकत्र स्थिति की कल्पना दूरारूढ़ कल्पना ही मानी जायगी।

भरत और दण्डी के दस गुणों को स्वीकार करने पर भी वामन ने वस्तुतः गुणों की संख्या बीस कर दी। वे दस गुण शब्दगत भी माने गये और अर्थगत भी। इस प्रकार शब्द एवं अर्थ-भेद से परम्परागत दस गुण के बीस भेद हो गये। वामन ने सभी शब्दगत एवं अर्थगत गुणों के अलग-अलग स्वरूप का प्रतिपादन कर अपनी गुण-धारणा को उस अस्पष्टता से बचा लिया, जिससे भरत और दण्डी की गुण-धारणा मुक्त नहीं हो सकी थी। भरत और दण्डी के गुण-स्वरूप के विश्लेषण में हम देख चुके हैं कि उन्हें कुछ गुणों के शब्दगत एवं अर्थगत, दोनों भेद अभीष्ट थे; किन्तु उन्होंने दोनों के स्वरूप को अलग-अलग स्पष्ट नहीं किया। उनके उन शब्दार्थयुगलगत गुणों का स्वरूप वामन में अधिक स्पष्ट है। भरत और दण्डी के कुछ गुण केवल शब्दगत थे तथा कुछ केवल अर्थगत। वामन में प्रत्येक गुण के शब्दगत एवं अर्थगत—दो भेदों की

---

१. गुणा वस्तुतो रीतिनिष्ठा अपि, उपचाराच्छब्दधर्मा इत्युक्तम।

—वामन काव्यालं० कामधेनु-टीका, पृ० ६९

२. नासन्तः संवेद्यत्वात्। न भ्रान्ता निष्कम्पत्वात्। न पाठधर्मा सर्वत्र अदृष्टेः।
—वामन काव्यालं० ३,१,२६-२८। सहृदयसंवेदनस्य विषयत्वात्।

—कामधेनु, पृ० ८२

३ समग्रगुणा वैदर्भी।—वही १,२,११

कल्पना का आग्रह है। कहीं-कहीं वामन ने भरत और दण्डी के एक गुण के लक्षण में आये हुए अनेक वैशिष्ट्यों के आधार पर एकाधिक गुणों की कल्पना कर ली है; कहीं-कहीं किसी एक ही गुण की भरत और दण्डी के द्वारा दी हुई भिन्न परिभाषाओं में से वामन ने दो गुणों के लक्षण प्राप्त कर लिये हैं और कुछ गुणों के स्वरूप की कल्पना उन्होंने सर्वथा स्वतन्त्र रूप से की है। नीचे वामन के गुण-लक्षण का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है :—

ओज :—शब्दगत ओज वामन के अनुसार पद-रचना की गाढता है।[1] वामन ने शब्दगत सभी गुणों को बन्ध या पद-रचना का गुण माना है।[2] इसलिए पदगत ओज को बन्ध की गाढता कहा गया है। कामधेनु टीका में हर भूपाल ने बन्ध की गाढता को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार स्वर्ण-शलाका को सघनता से गूँथ कर घना जाल-सा बना लिया जाता है, उसी प्रकार पदों की सुग्रथित सघन रचना ओज में होती है। पद-रचना में निविडता संयुक्ताक्षरों के आधिक्य, रेफवर्णों के निरन्तर प्रयोग तथा समास आदि के कारण आती है।[3] वामन ने इसे वैदर्भी, गौडी एवं पाञ्चाली; तीनों रीतियों का सामान्य गुण माना है। दण्डी ने भी ओज को सभी मार्गों के गद्य का प्राण माना था; किन्तु पद्य में वे केवल गौड मार्ग में इसे ग्राह्य मानते थे। हेमचन्द्र ने दण्डी की इस मान्यता से वामन की असहमति दिखायी है। उनके अनुसार वामन यह मानते हैं कि ओज तीनों रीतियों के गद्य-पद्य का साधारण गुण है। अतः, उसे गौड मार्ग का ही गुण मानना उचित नहीं।[4] सभी रीतियों का साधारण धर्म मानने के लिए ही वामन ने ओज के भामह एवं दण्डी-प्रदत्त 'समासभूयस्त्व' लक्षण को अस्वीकार कर दिया। भरत के ओज गुण के स्वरूप की व्याख्या अभिनव गुप्त ने 'गाढ-बन्धत्व' के रूप में ही की है। वामन की यह शब्द-ओज-धारणा दण्डी की श्लेष-गुण-धारणा से प्रभावित है। दण्डी ने शैथिल्य के अभाव को श्लेष माना है।

---

१. गाढबन्धत्वमोजः।—वामन काव्यालं० सू० ३,१,५

२. ओजःप्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारताऽर्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः वही—३, १. ४

३. बन्धस्य पदरचनाया गाढत्वं कनकशलाकावयवघटनावन्निबिडत्वम्। तत्र हेतवः—संयुक्ताक्षरत्वं निरन्तररेफशिरस्कैर्वर्गाणां प्रथमद्वितीयैस्तृतीयचतुर्थैः प्रथमैस्तृतीयैश्च संयोगा विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया, गुर्वन्तता समासाश्चेत्येवमादयस्तरतमभावेनावस्थिताः।—वामन काव्यालं० कामधेनु-टीका पृ० ७२

४ रीतित्रयेऽप्योजसः साधारणत्वाद् गौडीयानिर्देशो न युक्तमानिति वामनो मङ्गलश्च—हेमचन्द्र, काव्यानु० व्या० पृ० २३३

वामन के गाढबन्धत्व में भी पदबन्ध की शिथिलता का अभाव माना जा सकता है।

अर्थगत ओज गुण की परिभाषा देते हुए वामन ने उसे अर्थ की प्रौढता कहा है।[१] यह प्रौढि पाँच प्रकार की मानी गयी है—(क) पदार्थे वाक्यरचना, (ख) वाक्यार्थे पदाभिधा, (ग) व्यास, (घ) समास तथा (ङ) साभिप्रायत्व।[२] जहाँ एक पद से ही व्यक्त हो सकने वाले अर्थ के बोध के लिए पूरे वाक्य की योजना होती है वहाँ पदार्थ में वाक्यरचना प्रौढ़ि-भेद माना जाता है। ठीक इसके विपरीत पूरे वाक्य के अर्थ का बोध जहाँ केवल एक पद से हो जाता है, उसे 'वाक्यार्थ में पद-रचना' कहते हैं। किसी अर्थ का विस्तार से वर्णन व्यास है तथा संक्षेप में वर्णन समास। जहाँ किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए कवि किसी अर्थ का साभिप्राय वर्णन करता है, उसे 'साभिप्रायत्व अर्थगत प्रौढि' कहा गया है। हेमचन्द्र ने वामन की अर्थ-ओज-धारणा के खण्डन का प्रयास किया है। वे अर्थगत प्रौढि को केवल वैचित्र्य मानते हैं। साभिप्रायत्व ओज हेमचन्द्र की दृष्टि में अपुष्टार्थ दोष है, उसे गुण मानना उचित नहीं। उनकी युक्ति है कि अर्थ जड़ होता है, फिर उसका अभिप्राय कैसा? यदि वह साभिप्रायत्व वक्ता या श्रोता-गत है तो उसे काव्य का गुण क्यों माना जाय? यदि किसी अन्य वस्तु का आक्षेप कर उसका बोध करा देना साभिप्रायत्व गुण हो, तो वह कवि-व्यापार से वक्ता के अभिप्राय का आक्षेप ही माना जाना चाहिए। अतः, साभिप्रायत्व प्रौढि वस्तुतः वक्तागत होती है। वह उपचार से अर्थगत कही जाती है।[३] हेमचन्द्र की यह कल्पना सबल युक्ति पर आधृत नहीं है। साभिप्रायत्व को अपुष्टार्थ दोष कहना भ्रान्ति है। मुख्यार्थ का उपकार न करने पर अपुष्टार्थ दोष माना जाता है।[४] वामन

१. अर्थस्य प्रौढिरोजः।—वामन, काव्यालं० ३,१,६

२. पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमेव च॥—वही ३, २, २

३. इति या प्रौढिरोजसस्तद्वैचित्र्यमात्रम्। साभिप्रायत्वरूपं चौजोऽपुष्टार्थत्वदोष-मात्रं न गुणः। किं च। भोः सहृदया अर्थो जडस्तस्याभिप्राय इति केयं भाषा। वक्तृश्रोत्रोः स इति चेत्तद्गतोऽर्थस्य गुण इति कथम्? अथ वस्त्वन्तराक्षेपकत्वमेव तस्य गुण इत्युच्यते। तद्वस्त्वन्तरमाक्षेप्यं वक्त्रभिप्रायरूपमेवमाक्षेपकत्वमपि कविव्यापार-बलादेव तथा विनिवेशनाप्रकारयोगे तथाभावात्। अतएव प्रौढिर्वस्तुतो वक्तृगतैव, सात्वर्थे काममुपचर्यतामित्यलं बहुना।—हेम० काव्यानु० व्याख्या, पृ० २३४

४. अत्रापुष्टत्वं मुख्यानुपकारित्वम्।—विश्वनाथ साहित्य दर्पण, ७ पृ० ४८०

ने साभिप्रायत्व को मुख्यार्थ का उपकारी ही माना है। अतः, यह मानने का सबल आधार है कि हेमचन्द्र का पाठ अशुद्ध है। वे साभिप्रायत्व को अपुष्टार्थ दोष का अभाव-मात्र कहना चाहते हैं। किन्तु, यह मान लेने पर भी सभी समस्याओं का समाधान नहीं हो जाता। वक्ता का अभिप्राय होने से उसे काव्यगुण की सीमा से बहिष्कृत करना युक्तिसङ्गत नहीं। वक्ता के अभिप्राय की विशेष रूप से काव्यात्मक अभिव्यक्ति को गुण मानने की अपेक्षा ध्वनि मानना अधिक युक्तिसङ्गत होगा।

प्रसाद—ओज गुण के विपर्यय के रूप में शब्दगत प्रसाद गुण की कल्पना वामन ने की है। गुण-विपर्ययात्मक गुण की यह कल्पना विलक्षण है। सामान्यतः, गुण का विपर्यय दोष माना जाता है; किन्तु वामन ने प्रसाद गुण की धारणा में यह माना है कि विशेष स्थिति में वह गुण भी होता है। वामन के अनुसार बन्ध का शैथिल्य प्रसाद है।[1] शैथिल्य स्वतः एक दोष है; किन्तु ओज के साथ रहने पर वह गुण बन जाता है। बन्ध का गाढत्व और शैथिल्य—दोनों साथ-साथ रहा करते हैं। यदि प्रसाद ओज से अलग रहे तो वह दोष ही माना जायगा। प्रश्न यह है कि ओज और प्रसाद परस्पर विरोधी स्वभाव के हैं, फिर दोनों का साथ रहना कैसे सम्भव है? इसका उत्तर देते हुए वामन ने कहा है कि दो परस्पर विरोधी वस्तुओं की सह-स्थिति सिद्ध करने के लिए किसी बाह्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं, सहृदय व्यक्तियों का अनुभव ही इसमें प्रमाण है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है—किसी नाटक में करुण दृश्य को देख कर प्रेक्षक जब रस-मग्न होता है, उस समय उसकी अनुभूति में एक साथ सुखात्मक एवं दुःखात्मक भावों का मिश्रण रहा करता है। जिस प्रकार सुखात्मक तथा दुःखात्मक भावों के परस्पर विरोधी होने पर भी दोनों का सह-अस्तित्व सम्भव है, उसी प्रकार बन्ध के गाढत्व एवं शैथिल्य का सह-अस्तित्व भी सम्भव है।[2] दण्डी ने शैथिल्य को श्लेष-विपर्यय मानकर वैदर्भ मार्ग का दोष

---

१. शैथिल्यं प्रसादः।—वामन काव्यालं० ३, १, ६

२. नन्वयमोजोविपर्ययात्मा दोषः तत्कथं गुण इत्यत आह—गुणः संप्लवात्। गुणः प्रसादः ओजसा सह संप्लवात्। शुद्धस्तु दोष एवेति। ननु विरुद्धयोरोजः प्रसादयोः कथं संप्लव इत्यत आह—स त्वनुभवसिद्धः। स तु संप्लवस्तु अनुभवसिद्धः तद्विदां रत्नादिविशेषवत्। अत्र श्लोकः—

करुणप्रेक्षणीयेषु संप्लवः सुखदुःखयोः।
यथानुभवतः सिद्धः तथैवोजःप्रसादयोः॥—वामन, काव्यालं० सू० पृ० १२१-२२

तथा गौड मार्ग का गुण माना था। वामन ने उसे ओज-विपर्यय मानकर भी ओज के साथ रहने पर वैदर्भी रीति का गुण मान लिया। वामन ने भरत के प्रसाद गुण-लक्षण को स्वीकार नहीं किया। हेमचन्द्र ने वामन का मत उद्धृत कर यह दिखाया है कि वामन ने भरत के प्रसाद को केवल विशेषणमुखेन विशेष्य का कथन माना है। वह गुण नहीं हो सकता।[१]

वामन ने जिन युक्तियों से उक्त विरोधी स्वभाव वाले गुणों की सह-स्थिति प्रमाणित करने का प्रयास किया था, उनका परवर्ती आचार्यों ने खण्डन किया है। उन आचार्यों के सिद्धान्त का सार हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में उद्धृत है। हेमचन्द्र की युक्ति है कि पद-रचना के गाढत्व और शैथिल्य—दोनों को गुण नहीं माना जा सकता। ओज का विपर्यय प्रसाद गुण नहीं माना जाना चाहिए। करुण रस की अनुभूति में सुखात्मक एवं दुःखात्मक भावों की सह-स्थिति के दृष्टान्त से परस्पर विरोधी भावों की एकत्र स्थिति को वामन ने अनुभव-सिद्ध बताया है। हेमचन्द्र का तर्क है कि करुण रस की अनुभूति की दशा में सुख-दुःखात्मक भावानुभूति को गाढत्व और शैथिल्य की सह-स्थिति का उपयुक्त दृष्टान्त नहीं माना जा सकता। करुण रस-प्रधान नाटक में प्रेक्षक पहले दुःखात्मक भाव का अनुभव करता है, फिर रसमग्न होकर सुख की अनुभूति करता है; किन्तु ओज और प्रसाद का एक ही साथ रहना माना गया है। विचार करने पर तत्त्वतः सभी रस सुखात्मक ही सिद्ध होते हैं। करुण रस भी केवल सुखात्मक है। इस प्रकार दो विरोधी भावों की युगपत् सत्ता सिद्ध करने के लिए वामन द्वारा दिया हुआ दृष्टान्त ही असिद्ध है। अतः, उस दृष्टान्त के आधार पर प्रतिष्ठित सिद्धान्त निराधार प्रमाणित होता है।[२] वस्तुतः, रसानुभूति की दशा में चाहे वह करुण रस की अनुभूति ही क्यों न हो, दो विरोधी मनोभावों का अस्तित्व मानना उचित नहीं। उस दशा में

---

१. सेयं विशेषणाधारा विशेष्यानामुक्तिरिति वामनीयाः।—हेम० काव्यानु० व्या० पृ० २३४

२ परस्परविरोधित्वाद्गाढत्वशैथिल्ययोः कथमेकत्र सन्निवेशः सम्भवतीति। अनुभवादेव विरोध-प्रतिषेध इति (चेत्) यदाह—करुणप्रेक्षणीयेषु··· । अयं दृष्टान्तस्यैव तावदसिद्धिः। दृष्टान्तविघातश्च दार्ष्टान्तिकमपि प्रतिहन्ति तथा हि—सामाजिक जनो नाट्यकर्मणि करुणरसवासितचेताः प्रथमं दुःख्यति पात्र (दुःखार्तिमात्र) प्रयोगवैशारद्येन च पश्चात्सुख्यति। ओजःप्रसादयोः पुनर्युगपदेवानुभवप्रतिज्ञा। यदि च तत्त्वं विवेच्यते तदा सर्वेषामपि रसानां प्रतीतिश्चमत्कारसारत्वात्सुखरूपैवेति दृष्टान्त एव न संगच्छते।
—हेम० काव्यानु० व्याख्या०, पृ० २३४

जब रजस् और तमस् के दब जाने पर सत्त्व का उद्रेक होता है तब सहृदय अपने हृदयस्थ अखण्ड आनन्द की अनुभूति करने लगता है।[१] अतः, रस आनन्दमय है। उसमें दुःखात्मक भाव के अस्तित्व की कल्पना उचित नहीं। किन्तु, वामन के दृष्टान्त के खण्डित हो जाने से उनकी गुण-धारणा निराधार हो जाती है, यह नहीं कहा जा सकता। लौकिक उदाहरण में भी सुख-दुख की सहस्थिति पायी जा सकती है। प्रसव-पीड़ा का अनुभव करती हुई माता जब पुत्र को जन्म देती है तब एक साथ सुख और दुःख का अनुभव उसे होता है। दो विरोधी गुणों की एक आश्रय में एक ही समय किस प्रकार स्थिति रहती है, इसे सांख्य-दर्शन की गुण-मीमांसा में स्पष्ट किया गया है। सांख्य-मत के अनुसार सत्त्व और तम गुण परस्पर विरोधी स्वभाव के हैं; किन्तु दोनों साथ-साथ रहा करते हैं। काव्यशास्त्र में कुट्टमित नामक नायिका-अलङ्कार में सुख दुःख की युगपत् अनुभूति की कल्पना की गयी है। आचार्यों के अनुसार प्रिय के द्वारा अधर, केश आदि के ग्रहण के समय दुःख में भी हर्ष 'कुट्टमित' है।[२] अतः, एक रचना में ओज और प्रसाद की सह-स्थिति असम्भावित नहीं मानी जानी चाहिए। वामन ने ओज और प्रसाद के उत्कर्ष-अपकर्ष के आधार पर प्रसाद के तीन भेद माने हैं। कहीं ओज की अपेक्षा प्रसाद उत्कृष्ट हो सकता है; कहीं इसके विपरीत ओज उत्कृष्ट हो सकता है और कहीं दोनों समान रह सकते हैं।[३]

वामन के अनुसार अर्थगत प्रसाद अर्थ की विमलता है।[४] अनुपयोगी अर्थ का त्याग कर कवि के विवक्षित अर्थ-मात्र का वर्णन अर्थवैमल्य कहलाता है।[५] इस गुण में उतने ही पदों का प्रयोग वाञ्छनीय माना जाता है, जितने से कवि का वाञ्छित अर्थ व्यक्त हो जाय। आवश्यकता से अधिक पदों का प्रयोग होने पर अप्रयोजक-पदत्व दोष हो जाता है, जो प्रसाद का विपर्यय है। भामह ने अप्रयोजक पद का उल्लेख किया है। भोज अप्रयोजक को शब्ददोष मानते हैं। राजशेखर ने अप्रयोजक पद का प्रयोग करने वाले कवि को रचना-कवि कहा

---

१. सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥—विश्वनाथ, साहित्यद० ३ पृ० ६५

२ अधरादिग्रहाद्दुःखेऽपि हर्षः कुट्टमितम्।—हेम० काव्यानु० ७ पृ० ३.५

३. वामन, काव्यालं० वृत्ति पृ० १२२

४. अर्थवैमल्यं प्रसादः।—वामन, काव्यालं० ३, २, ३

५. अर्थस्य वैमल्यं प्रयोजकमात्रपरिग्रहः प्रसादः।—वामन, काव्यालं० सू० ३ २, ३ की वृत्ति

है। Stevansion इसे Cheville कहते हैं और गद्य-लेखक को इससे बचने को कहते हैं। विवक्षित अर्थ-मात्र देने वाले पद-प्रयोग को अर्थ प्रौढि के पञ्चम भेद साभिप्रायत्व से अभिन्न मानने की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। कामधेनु टीका में दो उदाहरण देकर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अर्थवैमल्य तथा साभिप्रायत्व में भेद है और उनमें 'अविनाभाव-सम्बन्ध' भी नहीं है। यह हो सकता है कि कहीं अर्थवैमल्य हो; किन्तु साभिप्रायत्व नहीं हो और यह भी सम्भव है कि कहीं साभिप्रायत्व के रहने पर भी अर्थवैमल्य नहीं रहे।[1] अर्थगत प्रसाद गुण का विपर्यय अपुष्टार्थ तथा अनर्थक दोष माना जाता है। भरत ने अपने समता गुण-लक्षण की कई विशेषताओं में 'व्यर्थ अभिधान करने वाले पदों का अभाव' भी एक माना है। वामन की अर्थगत प्रसाद गुण-धारणा भरत की समता-धारणा से साम्य रखती है। हेमचन्द्र वामन के अर्थ-प्रसाद को अधिक-पदत्व दोष का अभाव-मात्र मानते हैं।[2] यह मान्यता वामन की गुण-धारणा के अनुकूल नहीं है। हम देख चुके हैं कि वामन गुण को दोषाभाव-रूप नहीं मानते। वे गुण की भावात्मक सत्ता मानते हैं और दोष को गुण का अभाव स्वीकार करते हैं।

श्लेष :—वामन ने मसृणत्व को शब्दश्लेष कहा है।[3] जहाँ बहुत पदों के होने पर भी एकपदता का भान हो, उसे मसृणत्व कहते हैं।[4] श्लेष में बहुत-से पदों का समास नहीं होता। वे वस्तुतः व्यस्त रहते हैं; किन्तु उनके समस्त होने का आभास मिलता है।[5] वाक्य में एक पद का दूसरे पद के साथ ऐसा सम्बन्ध, जिससे दोनों एक साथ जुड़े-से जान पड़ें, श्लेष गुण है। अभिनव गुप्त ने श्लेष की व्याख्या करते हुए नाट्यशास्त्र की अभिनव भारती टीका में यही

---

१. न च पञ्चमप्रौढिप्रसादयोः को भेद इति वाच्यम्। तयोः परस्पर-परिहारेण दर्शनात्। यथा—'रतिविगलितबन्धे केशहस्ते' इत्यादौ 'कृशाङ्ग्या' इति पाठे वैमल्येऽपि न साभिप्रायत्वम्। 'अवन्ध्यकोपस्य निहन्तुरापदाम्' इत्यादौ साभिप्रायत्वेऽपि नार्थवैमल्यम्। —वामन काव्यालं० सू० कामधेनु-टीका, पृ० ८६

२. तच्चाधिकपदत्वदोषनिराकरणात्स्वीकृतमेव।—हेम० काव्यानु० व्याख्या, पृ० २३५

३. मसृणत्वं श्लेषः। —वामन, काव्यालं० ३,१,११

४. मसृणत्वं नाम यस्मिन् सति बहून्यपि पदान्येकपदवद्भासन्ते।—वही, वृत्ति, पृ० ७५

५. यत्र हि व्यासेऽपि समासवदवभासः स श्लेषः।—काव्यालं० कामधेनु-टीका पृ० ८५

मत प्रकट किया है।[१] वामन के शब्दगत ओज एवं शब्दगत श्लेष में इतना भेद है कि ओज में पदों का सुसम्बद्ध ग्रथन होता है और श्लेप में पदों में एकपदत्व का भान। शब्दश्लेष का विपर्यय विसन्धि वाक्य-दोप का विश्लेपात्मा भेद है।

अर्थश्लेष को वामन ने घटना कहा है।[२] उन्होंने घटना की व्याख्या 'क्रम-कौटिल्य अनुल्बणत्व और उपपत्तियोग' के रूप में की है।[३] क्रम का अभिप्राय विपयवस्तु का क्रम है; अर्थात्, विपयवस्तु का निश्चित क्रम में वर्णन 'क्रम' कहा जाता है। भोज ने सरस्वती-कण्ठाभरण में इसे गुण नहीं मान कर अलङ्कार माना है और इसे 'क्रमकृतगुम्फना' की संज्ञा दी है। उनके अनुसार यह शब्दालङ्कार है। कौटिल्य घटना-वक्रता से भिन्न नहीं। यह घटना-गत कुटिलता वक्रोक्ति, व्याजोक्ति, चाटु आदि अलङ्कारों में पायी जाती है। अनुल्बणत्व दण्डी के कान्ति गुण से साम्य रखता है, जो लौकिक अर्थ का त्याग न करने के कारण सर्वजन-मनोज्ञ होता है। रत्नेश्वर ने इसे अतिमात्रतया प्रतिभास का अभाव कहा है। अर्थ की अनुपपत्ति का समाधान उपपत्ति कहा गया है। कामधेनु टीका में 'क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्ति-घटना' को एक मान कर सम्पूर्ण पद की व्याख्या की गयी है। भोज ने सरस्वती-कण्ठाभरण में वामन के अर्थश्लेष-लक्षण को ही शब्दभेद से अपने अर्थश्लेप की स्वरूप-मीमांसा के लिए स्वीकार किया है। रत्नेश्वर ने उस पर टीका करते हुए घटना का अर्थ स्पष्ट किया है। रत्नेश्वर की उस व्याख्या के आलोक में वामन की धारणा भी स्पष्ट हो जाती है। रत्नेश्वर के अनुसार, सामान्यतः वाक्य का जो अर्थ घटित होता नहीं जान पड़े, उस अर्थ को बुद्धि-चातुरी से घटित कर देना 'घटना' है।[४] हेमचन्द्र ने वामन की अर्थश्लेष-धारणा की समीक्षा करते हुए लिखा है कि यह रचना का वैचित्र्य-मात्र है। इसे गुण

---

१. नित्यार्थे पदानां श्लिष्टता परस्परं योनिः सन्धिबन्धानतयानेकमेकपदमिव भाति तदेव मासृण्यमुच्यते। अतश्च पदान्तरपाठस्यावश्यापेक्षतायां यथा ब्रह्मसूत्रमिति। उक्तं चैतच्छन्दोऽध्याये। तथा सन्धीयमानयोस्तथासन्धेः साजात्यं सावर्ण्यं च सम्पद्यते वस्त्रखण्डयोरिव सूत्रस्येव च।—ना० शा० अ० भा० पृ० ३३५

२. घटना श्लेपः।—वामन, काव्यालं० ३,२,४

३. क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगो घटना।—वही वृत्ति पृ० ८१

४. अघटमानस्येव वाक्यार्थस्य बुद्धिचातुर्येण घटनमिति वाक्यार्थः।—भोज० सर० क० आ० रत्नेश्वर की टीका० पृ० ७३

नहीं माना जाना चाहिए।[१] हेमचन्द्र की यह समीक्षा ध्वनिप्रस्थान के आचार्यों की मान्यता पर आधृत है, जो गुण को रस का धर्म मानते हैं—रचना का नहीं। वामन ने काव्यगुण को बन्ध या पद-रचना का गुण माना है। अतः, रचनावैचित्र्यात्मक अर्थश्लेष को वामन के गुणों से अलग नहीं किया जा सकता।

समता :—मार्गाभेद को वामन ने शब्दगत समता गुण माना है।[२] यह काव्य की शैलीगत एकरूपता है। जिस शैली में काव्य-रचना का आरम्भ हो, उसी शैली का आसमाप्ति निर्वाह समता गुण है। यह गुण सम्पूर्ण प्रबन्ध का भी हो सकता है और मुक्तक का भी। यदि सम्पूर्ण प्रबन्ध की रचना एक ही शैली में हो तो वहाँ प्रबन्धगत समता गुण माना जायगा। एक मुक्तक छन्द में भी यदि आद्यन्त एक रीति का निर्वाह हो, तो वहाँ समता को मुक्तक का शब्द-गुण माना जायगा। गुण को पद-रचना-मात्र पर आश्रित मानने के कारण वामन ने दूसरे दृष्टिकोण से इस पर विचार नहीं किया। दण्डी की समता गुण-धारणा के परीक्षण-क्रम में हम देख चुके हैं कि मनोभाव की परिवर्तित दशा के चित्रण के लिए शैली में परिवर्त्तन वाञ्छनीय होता है। अतः, ऐसे स्थल पर आरब्ध मार्ग के आसमाप्ति निर्वाह का आग्रह काव्य में दोष का ही आधान करेगा, गुण का नहीं। वैसे स्थल पर मार्ग भेद ही गुण हो जाता है। जिस काव्य में एक ही रस हो उसमें शैलीगत एकरूपता को अवश्य गुण माना जायगा। प्रबन्ध में एक ही रस का वर्णन दोष माना जाता है। वहाँ नाना सुख-दुःखात्मक भावों का वर्णन अपेक्षित होता है। अतः, सम्पूर्ण प्रबन्ध में एक रीति का निर्वाह गुण नहीं माना जा सकता। मुक्तक में बहुधा एक ही भाव की अभिव्यक्ति होती है। अतः, मुक्तक में वामन के समता गुण का आदर होना ही चाहिए। एकाधिक मनोभावों का चित्रण करने वाले मुक्त-छन्द बहुत कम होते हैं। उनके आधार पर सर्वत्र वामन की मार्गाभेद समता के गुणत्व का खण्डन उचित नहीं। हेमचन्द्र ने वामन के समता गुण के खण्डन के लिए जो युक्ति दी है, उसे आंशिक रूप से ही स्वीकार किया जा सकता है। एक भाव के वर्णन में समान रीति का निर्वाह ध्वनिवादी आचार्यों को भी रुचिकर ही लगेगा। वामन की समता गुण-धारणा दण्डी की समता-धारणा से प्रभावित है।

---

१. संविधानक्रमभवं वैचित्र्यमात्रमिदं न गुणः।—हेम० काव्यानु० व्याख्या, पृ० २३५

२. मार्गाभेदः समता।—वामन, काव्यालं० ३, १, १२

अर्थ के क्रम का भङ्ग न होने में वामन ने अर्थगत समता गुण माना है। अतः, यह प्रक्रमभङ्ग-दोष का राहित्य है। अर्थ-समता के दो लक्षण काव्यालङ्कार-सूत्र में वामन ने दिये हैं। एक में उसे अवैषम्य या प्रक्रमाभेद कहा गया है।[1] दूसरे लक्षण में उसे सुगमता कहा गया है।[2] इस प्रकार प्रथम लक्षण प्रक्रमाभेद का विपर्यय अपक्रम दोष होगा तथा द्वितीय सुगमत्व का विपर्यय क्लिष्टत्व। वामन का प्रक्रमाभेद समता गुण उनके श्लेष के क्रम-घटना भेद से भिन्न नहीं। क्रम-घटना श्लेष में इसका अन्तर्भाव हो सकता है। हेमचन्द्र ने इसे प्रक्रमभेद दोष का अभाव-मात्र माना है, गुण नहीं।[3]

समाधि—वामन ने शब्द-समाधि को आरोह और अवरोह का क्रम कहा है।[4] समाधि का शाब्दिक अर्थ है परिहार। आरोह होने पर अवरोह का परिहार हो जाता है तथा अवरोह होने पर आरोह का। इस प्रकार समाधि गुण में चढाव-उतार का निश्चित क्रम रहा करता है, जिससे दोनों के बीच सामञ्जस्य का निर्वाह सम्भव होता है। आरोह का अभिप्राय दीर्घ आदि गुरु अक्षरों की प्रचुरता से है, जिसमें प्राणवायु की ऊर्ध्व गति होती है। लघु आदि शिथिल अक्षर-प्रयोग को अवरोह माना गया है।[5] यह आरोह का विपर्यय है। यह शङ्का हो सकती है कि वामन का ओज आरोह-स्वरूप है तथा प्रसाद अवरोह-स्वरूप। अतः, समाधि गुण की ओज और प्रसाद से भिन्न सत्ता स्वीकार करना उचित नहीं। उसका अन्तर्भाव इन्हीं दो गुणों में हो जाता है।[6] वामन ने इस शङ्का के समाधान के लिए दो युक्तियाँ दी हैं। उनकी प्रथम युक्ति यह है कि ओज और प्रसाद सदा एक साथ रहा करते हैं; पर आरोह और अवरोह विपरीत स्वभाव के हैं और अलग-अलग रहते हैं। अतः, समाधि गुण ओज और प्रसाद से अभिन्न नहीं है।[7] दूसरी युक्ति यह है कि ओज में आरोह का

---

१. अवैषम्यं समता।—वामन, काव्यालं० ३, २, ५ और
अवैषम्यं प्रक्रमाभेदः समता। क्वचित्क्रमोऽपि भिद्यते।—वही, वृत्ति, पृ० ८८
२. सुगमत्वं वाऽवैषम्यमिति।—वही, ३, २, ६ की वृत्ति, पृ० ८९
३. ततश्चापदोषत्वमेतन्न गुण इति।—हेम० काव्यानु० व्याख्या, पृ० २३६
४. आरोहावरोहक्रमः समाधिः।—वामन, काव्यालं० ३,१,१२
५. दीर्घादि गुर्वक्षरप्राचुर्ये आरोहः। लघ्वादि शिथिलप्रायत्वे चावरोह इति द्रष्टव्यम्।
—वही कामधेनु० पृ० ७५
६. न पृथक् समाधिर्गुणः। आरोहावरोहयोरोजःप्रसादरूपत्वात्। ओजोरूपश्चारोहः प्रसादरूपश्चावरोह इति।—वही वृत्ति, पृ० ७७
७. नसम्पृक्तत्वात्।—वामन, काव्यालं० ३, १, १९

और प्रसाद में अवरोह का होना भी सार्वत्रिक नियम नहीं।[१] आरोह के न होने पर भी ओज गुण की सत्ता तथा अवरोह के अभाव में भी प्रसाद गुण की सत्ता के उदाहरण देकर वामन ने यह सिद्ध कर दिया है कि समाधि की ओज और प्रसाद से स्वतन्त्र सत्ता है। उनके अनुसार केवल तीव्र ओज और तीव्र प्रसाद ही आरोह और अवरोह-स्वभाव के हैं तथा तीव्रत्व का कारण समाधि है। यह मान लेने पर भी कि जहाँ ओज हो, वहाँ आरोह का होना नियत नहीं तथा प्रसाद के साथ सर्वत्र अवरोह की सत्ता भी आवश्यक नहीं—यह कहा जा सकता है कि जहाँ आरोह हो, वहाँ ओज की सत्ता तथा जहाँ अवरोह हो, वहाँ प्रसाद की सत्ता दुर्निवार है। अतः, समाधि गुण में प्रसाद का अन्तर्भाव न होने पर भी प्रसाद में समाधि अन्तर्भूत हो जाती है। उसकी अलग सत्ता स्वीकार करना उचित नहीं। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वामन ने कहा है कि दोनों गुणों का यह पृथक्करण क्रम-विधान के लिए आवश्यक है। समाधि में आरोह और अवरोह का पारस्परिक क्रम नहीं होता; अर्थात् दोनों एक साथ नहीं रहते। वहाँ क्रम से आरोहण और क्रम से अवरोहण होता है, जब कि प्रसाद गुण में ओज और प्रसाद का या आरोह और अवरोह का मिश्रण रहता है।[२] अभिनव गुप्त ने भरत की समाधि-परिभाषा की वामन-मतानुसारी व्याख्या करने के क्रम में कहा है कि सहज-प्रतिभा-सम्पन्न कवि की वाणी में आरोह-अवरोह-क्रम का निर्वाह होता है। प्रतिभा की दृष्टि के अभाव में अन्धे के पद-निक्षेप की तरह कवि की पद-योजना में भी क्रम नहीं रहा करता।[३] यह नहीं कहा जा सकता कि समाधि गुण में (स्वर के) आरोह-अवरोह से पाठ में सुगमता हो सकती है, श्रोता की दृष्टि से इससे कोई लाभ नहीं। काव्य के आस्वादन के समय पाठक और श्रोता का हृदय कवि के साथ एकतान हो जाता है। परुष वर्ण के उच्चारण में यदि पाठक को क्लेश होता है तो श्रोता भी क्लेश का अनुभव करता है।[४] अतः, आरोह-अवरोह का क्रम केवल पाठ का गुण नहीं, वह काव्य का गुण है।

---

१. अनैकान्त्याच्च।—वामन, काव्यालं० ३, १, १६

२. क्रमविधानार्थत्वाद्वा।—वही ३, १, २०

३. तेन स्वभावप्रतिभादर्शनानुविद्धा भगवती वाणी स्वरसोपनिपतिता स्वरसंभार प्रभावानुरोधेनैवारोहावरोहक्रमं भजते। प्रतिभादृष्टिशून्यत्वात् अन्धपदवदारोहादि न भजत्।—ना० शा० अ० भा० पृ० ३३९

४. नन्वियता पाठसौकर्यं स्यात्, श्रोतुस्तु किमायातम्, अनभिज्ञो देवानां प्रियः यथा हि कर्कशशर्करानिकरकण्टकिते देशे दुस्सञ्चरं सञ्चरज्जनं पश्यन्त्या अपि सकुमार-

वामन ने भरत की समाधि गुण-धारणा को स्वीकार नहीं किया। हेमचन्द्र के अनुसार वामन ने भरत के समाधि गुण को अतिशयोक्ति अलङ्कार का एक भेद-मात्र मान लिया।[1]

अर्थगुण समाधि के सम्बन्ध में वामन ने विलक्षण धारणा प्रकट की है। उन्होंने इसे अर्थदृष्टि या अर्थदर्शन कहा है।[2] इसमें समाहित चित्त से अर्थ का दर्शन किया जाता है; इसीलिए इसे समाधि कहते हैं।[3] अर्थ दो प्रकार के माने गये हैं—(१) अयोनि और (२) अन्यच्छायायोनि। जिस अर्थ का कोई अलग कारण न हो, केवल चित्त का अवधान ही जिस अर्थ के बोध का हेतु हो, वह अर्थ अयोनि कहा जाता है और अन्य काव्य की छाया से जो बोधगम्य हो वह अर्थ अन्यच्छायायोनि संज्ञा से अभिहित होता है। पुनः समाहित चित्त से बोधगम्य अर्थ दो वर्गों में विभाजित किये गये हैं—व्यक्त और सूक्ष्म। सूक्ष्म अर्थ के भी दो भेद होते हैं—भाव्य तथा वासनीय। भाव्य सूक्ष्म अर्थ का बोध चित्त के अवहित होने पर शीघ्र ही हो जाता है; किन्तु वासनीय अर्थ चित्त की एकाग्रता की प्रकर्षावस्था में ही बोधगम्य हो सकता है।[4]

वामन ने इस गुणधारणा में सम्पूर्ण काव्यार्थ की बोध-प्रक्रिया को समेट लिया है। इसे काव्यगुण न मान कर कवि-प्रतिभा का गुण मानना अधिक युक्ति-सङ्गत होता। अर्थबोध काव्य का आवश्यक धर्म है। ऐसे काव्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती, जिसमें अर्थबोध न होता हो। अर्थबोध के लिए पाठक के चित्त का समाहित होना भी आवश्यक होता है। एकाग्रचित्त होकर श्रोता या दर्शक श्रव्य एवं दृश्य काव्य के अर्थ की अनुभूति करते हैं। जो कवि जितना अधिक प्रतिभाशाली होता है, उसकी रचना में पाठक के चित्त को मग्न करने की उतनी ही अधिक शक्ति रहती है। इस प्रकार किसी काव्य में चित्त के एकाग्र

हृदयायाः प्रमदायास्तदात्मानुप्रवेश इव जायमानं खेदमतितरामादत्ते प्रहारपातादौ वा, तथा सहृदयस्य स एव मार्गः, सकुमारता हि वैमल्यापरपर्याया सहृदयत्वं हृदयस्य हि कवि-हृदयतादात्म्यापत्तियोग्यतैव उत्कर्षः। —वही पृ० २३६

१. सोऽयमतिशयोक्तिविशेष इति वामनीयाः।—हेम, काव्यान० व्याख्या० पृ० २३६

२. अर्थदृष्टिः समाधिः।—वामन, काव्याल० ३, २, ७

३. अर्थस्य दर्शनं दृष्टिः। समाधिकारणत्वात् समाधिः। अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यतीत्युक्तं पुरस्तात्।—वही, वृत्ति, पृ० ८६

४. 'अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा'। 'अर्थो व्यक्तः सूक्ष्मश्च'। 'सूक्ष्मो भाव्यो वासनीयश्च'।—वही ३, २,८-१० पृ० ८९-९१

हो जाने से अर्थ का बोध कवि-प्रतिभा का ही गुण माना जाना चाहिए। मम्मट ने वामन की अर्थ-गुण समाधि-धारणा का खण्डन करते हुए लिखा है कि अयोनि और अन्यच्छायायोनि अर्थ जहाँ न हो, ऐसे काव्य की तो कल्पना ही नहीं हो सकती। अर्थ दर्शन-रूप समाधि को गुण नहीं माना जा सकता।[१] क्षेमेन्द्र ने कविकण्ठाभरण में तथा राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में अर्थबोध की इस प्रक्रिया को कवि का गुण मानकर इस पर विचार किया है।[२] हेमचन्द्र ने मम्मट के मत का अनुसरण करते हुए यह युक्ति दी है कि यदि अर्थदृष्टि को समाधि गुण माना जाय तो सभी सत्कवियों के काव्य का समग्र अर्थ समाधि ही मान लिया जायगा, जो उचित नहीं। अतः, अर्थ-गुण समाधि की कल्पना अनावश्यक है।[३] कामधेनु टीका में इस गुण का विपर्यय ग्राम्यत्व दोष माना गया है।[४] वामन की अर्थगुण समाधि-धारणा भरत और दण्डी की समाधि-धारणा से सर्वथा विलक्षण है।

माधुर्य—वामन ने शब्दगत माधुर्य को पृथक्पदता कहा है। इसमें दीर्घ समास का अभाव रहता है।[५] भरत की इस मान्यता को वामन ने स्वीकार नहीं किया कि जो वाक्य अनेक बार सुने जाने पर भी श्रोता को उद्विग्न न करे, वह माधुर्यगुण-युक्त होता है।' हेमचन्द्र ने इस सम्बन्ध में भरत के सिद्धान्त से वामन की असहमति का कारण निर्दिष्ट किया है। वामन की मान्यता है कि यदि भरत के कथनानुसार मन में उद्वेग उत्पन्न न करने वाले वाक्य को ही मधुर मान लिया जाय, तो कहीं-कहीं परुष अक्षर-युक्त वाक्य को भी मधुर मानना पड़ेगा, जो स्वयं भरत को भी इष्ट नहीं था। प्रिय व्यक्ति के रुखाई से कहे हुए वाक्य परुष अक्षरों से युक्त होने पर भी अनुद्वेजक होते हैं।

---

१. अर्थस्यायोनेरन्यच्छायायोनेर्वा यदि न भवति दर्शनं तत्कथं काव्यम्—इत्यर्थदृष्टिरूपः समाधिरपि न गुणः—मम्मट, काव्यप्र० ८ पृ० १९५-९६

२. राजशे० काव्यमी० ४ पृ० ११ तथा क्षेमेन्द्र, कविकण्ठाभरण, १२५ २६

३. अर्थस्ययोनेरन्यच्छायायोनेर्वा यदि न भवति दर्शनं तत्कथं काव्यम् स्यात्। ततश्च सकलसत्कविदृष्टः काव्यार्थः समाधिः स्यादिति नार्थगुणः समाधि।—हेम, काव्यानु० व्याख्या, पृ० २३७

४. अस्य गुणस्य विपर्ययो ग्राम्यत्वम्।—काव्यालं० कामधेनु पृ० ९२

५. पृथक्पदत्वं माधुर्यम्।—वही ३, १,२१" समासदैर्घ्यनिवृत्तिपरं चैतत्'। वही, वृत्ति पृ० ८९

अतः, वहाँ तक इस गुण-परिभाषा की अतिव्याप्ति हो जायगी।[1] इस अतिव्याप्ति दोष से दुष्ट होने के कारण ही वामन ने भरत की माधुर्य गुण-परिभाषा को अमान्य बताया। वामन के माधुर्य-गुण के इस पृथक्पदत्व लक्षण को अन्य आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया। दण्डी ने समास में भी माधुर्य की सत्ता मानी है।[2] गुण को रसाश्रित मानने वाले ध्वनिवादी आचार्यों के विचार से माधुर्य समस्त और असमस्त—दोनों प्रकार की पदावली में रह सकता है। भामह ने दीर्घ समास-रहित रचना को मधुर कहा था।[3] वामन की शब्द-माधुर्य-धारणा इसी सिद्धान्त से प्रभावित है।

अर्थगुण माधुर्य को 'उक्तिवैचित्र्य' कहा गया है।[4] वर्ण्य विषय के उत्कर्ष के प्रतिपादन के लिए जहाँ उसका कथन विशेष भङ्गी से होता है, उसे उक्ति-वैचित्र्यात्मक अर्थ-माधुर्य कहते हैं। इसका विपर्यय एकार्थत्व या कष्टत्व दोष होता है।[5] अलङ्कार-सम्प्रदाय में उक्तिवैचित्र्य को सभी प्रकार के आलङ्कारिक प्रयोग का मूल माना गया है। वामन ने उस उक्तिवैचित्र्य को गुण के रूप में स्वीकार किया है। कुन्तक ने तो वक्रोक्तिजीवित में वक्रोक्ति को काव्य का प्राण ही स्वीकार कर लिया था; पर पीछे ध्वनिप्रस्थान के आचार्यों ने उसे अलङ्कार का एक भेद-मात्र माना है।

सौकुमार्य:—श्रुतिसुखद पदावली की योजना को वामन ने शब्दगत सौकुमार्य गुण माना है। उनके अनुसार बन्ध की अजरठता या कोमलता सौकुमार्य है।[6] इसका विपर्यय श्रुतिकष्टत्व दोष है। शब्द-सौकुमार्य की धारणा में वामन दण्डी की सुकुमारता गुण-धारणा से प्रभावित हैं। दण्डी ने सुकुमारता को अनिष्ठुराक्षरप्राय माना है। वामन का 'अजरठत्व' दण्डी के 'अनिष्ठुराक्षरप्राय' से अभिन्न है। परवर्ती आचार्यों ने शब्दगत सौकुमार्य को श्रुतिकटुत्व दोष का अभाव-मात्र मान कर उसका गुणत्व अस्वीकार कर दिया है। हेमचन्द्र इसे दोषाभाव मानते हैं और गुण-रूप में भी माधुर्य का ही एक प्रकार स्वीकार

१. बहुशो यच्छ्रुतमभिहितं वाक्यमनुद्वेजकं मनसस्तन्मधुरमिति-भरतः। दयितजन रुक्षाक्षराक्षेपवचनेऽपि तत्समानमिति वामनीयाः।—हेम० काव्यानु० व्याख्या पृ० २३७

२ तदिदमनुभवविरुद्धमिति दण्डी। समासेऽपि माधुर्यस्य दर्शनात्।—वही पृ० २३७

३. श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते।—भामह, काव्यालं० २,३

४. उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्।—वामन, काव्यालं. ३,२,११

५. अस्य विपर्ययो—एकार्थत्वं कष्टत्वं वा।—काव्यालं० कामधेनु-टीका, पृ० ९२

६. अजरठत्वं सौकुमार्यम्।—वामन, काव्यालं० ३, १, २२

करते हैं।[1] माधुर्य में भी पृथक्पदता की कल्पना कर वामन ने उसे श्रुतिसुखद पदावली का ही गुण माना है। अतः, परिणाम में दोनों ही गुण श्रुतिसुखद होने के कारण समान प्रभाव उत्पन्न करने वाले हैं। दोनों में रूपगत थोड़ा भेद, वामन ने अवश्य माना है। माधुर्य समास-रहित पदावली के कारण श्रुतिमधुर होता है और सौकुमार्य कोमल पद-प्रयोग के कारण। अभिनव गुप्त ने दो प्रकार के परुष पदों की कल्पना की है। कुछ पद स्वतः परुष होते हैं और कुछ स्वतः कोमल होने पर भी समास के कारण परुष हो जाते हैं। माधुर्य में समासाभाव के कारण मधुरता रहती है। सौकुमार्य में दोनों प्रकार की परुषता का निषेध किया गया है। यह भेद वस्तुतः स्थूल भेद है।

'अर्थगत सौकुमार्य' अभिव्यक्ति की रमणीयता का गुण है। वामन ने इसे अपारुष्य कहा है।[2] परुष अर्थ की अपरुष अभिव्यक्ति सौकुमार्य गुण है। मरने को 'मरना' न कह कर 'यशश्शेष' आदि कहना इसके उदाहरण हैं। अमङ्गलसूचक या आतङ्कदायी अर्थ को भी लोग कुछ कोमलता के आवरण में व्यक्त करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में कटु अर्थ का बोध कराने की शक्ति वाले पद का प्रयोग न कर उसी अर्थ का बोध कराने वाले कोमल पद का प्रयोग लोग करते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए कामधेनु टीका में टीकाकार ने कहा है कि अमङ्गलसूचक एवं आतङ्कदायी अर्थ के वर्णन के लिए अपरुष पद का प्रयोग सौकुमार्य है। इसका विपर्यय अश्लीलत्व दोष है।[3] हेमचन्द्र ने इसे अमङ्गलव्यञ्जक अश्लीलत्व दोष का अभाव मान कर इसके गुणत्व का खण्डन किया है। उनके अनुसार इस अर्थ-सौकुमार्य को पर्यायोक्त अलङ्कार के अन्तर्गत भी माना जा सकता है।[4] पर्यायोक्त अलङ्कार में गम्य अर्थ का भङ्गीविशेष से अभिधान होता है। मरने के लिए यशश्शेष आदि कहना भी उक्तिविशेष है; अतः, पर्यायोक्त में अन्तर्भूत हो सकता है।

उदारता—शब्दगत उदारता गुण वामन के अनुसार शब्द-नृत्य है। उदारता गुण में सजातीय वर्णों का इस प्रकार गुम्फन होता है कि सभी वर्ण

---

१. सोऽयं श्रुतिकटुत्वदोषाभावो न गुणः। माधुर्यप्रकार एवायम्।—हेम० काव्यानु० व्याख्या, पृ० २३८

२. अपारुष्यं सौकुमार्यम्।—वामन, काव्यालं० ३,२,१२

३. परुषे अमङ्गलातङ्कदायिन्यर्थे वर्णनीये पदपारुष्यं तत् सौकुमार्यमिति लक्षणार्थः। अस्य गुणस्य विपर्ययोऽश्लीलत्वम्।—काव्यालं० कामधेनु टीका, पृ० ९३

४. सोऽयममङ्गलरूपाश्लीलत्वदोषाभावो न गुणः। यदि वा उक्तिविशेषः पर्यायोक्तालङ्कारविषय एवासौ।—हेम० काव्यानु० पृ० २३९

मिलकर नृत्य करते-से जान पड़ने लगते हैं। नर्त्तकियाँ जिस प्रकार एक साथ मिलकर एक ताल पर नृत्य करती हैं, उसी प्रकार पद के वर्ण भी जहाँ एक रूप में मिलकर नृत्य-से करते हों, वहाँ उदारता गुण होता है। अभिनव गुप्त ने अभिनव भारती में समाधि के शब्दनृत्त को पिण्डीवन्धनृत्त के सदृश कहा है।[१] वामन ने शब्दगत उदारता को 'विकटत्व' कहकर उसका स्पष्टीकरण शब्द के 'नृत्यत्प्रायत्व' या 'लीलायमानत्व' के रूप में किया है।[२] इस विकटत्व की धारणा को कामधेनु-टीका में अधिक स्पष्ट किया गया है। उसके अनुसार पद में क्रमशः वर्धमान वर्णों का होना तथा एक पद के प्रथम, द्वितीय आदि वर्णों का दूसरे पद के उसी क्रम से प्रथम, द्वितीय आदि वर्णों के साथ सादृश्य का होना विकटत्व है।[३] एक पद के प्रथम अक्षर का दूसरे पद के प्रथम अक्षर के सदृश होना तथा एक पद के द्वितीय अक्षर का दूसरे पद के द्वितीय अक्षर के सदृश होना अनुप्रास अलङ्कार से भिन्न नहीं। हेमचन्द्र ने इस अमसृण अनुप्रास को गुण नहीं माना है। वे इसे ओज का ही एक भेद मानते हैं।[४] वामन के उदारता गुण का स्वरूप भरत के उदारता गुण के स्वरूप से सर्वथा भिन्न है। भरत की उदारता को उल्लेख से अभिन्न माना गया है, गुण नहीं।[५]

वामन ने अर्थगुण उदारता को ग्राम्यत्व दोष का अभाव माना है। उनके अनुसार ग्राम्यत्व के प्रसङ्ग में भी ग्राम्यत्व का अभाव अर्थगत उदारता है।[६] वामन की यह उदारता-धारणा दण्डी की उदारता-धारणा से तो भिन्न है;

---

१. एकभाषा चित्रत्वादनेकताचित्रत्वं पदान्तरैकस्यानेकव्यक्तिरक्षरसंख्यावैचित्र्यं सन्धानसाजात्यं च पिण्डीवन्धनृत्तसादृश्येन, तत्र हि गुल्मजातसृङ्खलिकादिभेदेनेत्थंभूतो नर्त्तकीसंनिवेशो भरते तदुक्तं विकटत्वं नरीनृत्यमानत्वमिति पदानामौदार्यमिति। — ना० शा० अ० भा० पृ० ३५२-४३

२. बन्धस्य विकटत्वं यदसावुदारता। यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानीति जनस्य वर्णभावना भवति तद्विकटत्वम्। लीलायमानत्वमित्यर्थः।

—वामन, काव्यालं० वृत्ति, पृ० ८०

३. विकटत्वमिति। क्रमशो वर्धमानाक्षरपदत्वम्। पदप्रथमाद्यक्षराणां पदान्तरप्रथमाद्यक्षरैः सादृश्यं च। —वही, कामधेनु-टीका पृ० ९०

४. सोऽयमीषदमसृणोऽनुप्रासभावो न गुणः। ओजः प्रकार एव वायम्

—हेम, काव्यानु० व्याख्या पृ० २३८

५. उल्लेखवानयमर्थः कथं गुण इति वामनीयाः। —वही पृ० २३८

६. ग्राम्यत्वप्रसङ्गे अग्राम्यत्वमुदारता। — वामन, काव्यालं० वृत्ति पृ० ९३

किन्तु उनके माधुर्य गुण के अग्राम्यता-भेद से अभिन्न है। ध्वनिवादी आचार्य इस दोषाभाव को स्वतन्त्र गुण नहीं मानते।[1]

अर्थव्यक्ति—शब्दगत अर्थव्यक्ति में ऐसे पदों की योजना पर बल दिया गया है, जो तुरत अपने अर्थ को व्यक्त कर दें। अर्थ की व्यक्ति का हेतु ही अर्थव्यक्ति गुण है।[2] भरत की अर्थव्यक्ति-परिभाषा को, जिसमें अर्थ के तथास्थित न होने पर भी तथास्थित-सी प्रतीति को अर्थव्यक्ति कहा गया था, वामन ने स्वीकार नहीं किया। उसे वामन ने प्रसाद गुण से अभिन्न माना।[3] अपने शब्दगत अर्थव्यक्ति गुण को प्रसाद से भिन्न करने के लिए वामन ने प्रसाद को 'शैथिल्यात्मा' मान लिया और अर्थव्यक्ति को तुरत अर्थ प्रकट कर देने वाला गुण। यह शब्दगत अर्थव्यक्ति गुण की धारणा परम्परागत प्रसाद गुण की धारणा के मेल में है। हेमचन्द्र के अनुसार दण्डी वामन की इस अर्थव्यक्ति-धारणा को प्रसाद-धारणा का ही एक रूप मानते हैं।[4] इसका विपर्यय असाधुत्व, अप्रतीतत्व, अनर्थकत्व अन्यार्थत्व नेयार्थत्व, गूढार्थत्व, यतिभ्रष्ट, क्लिष्ट, सन्दिग्धत्व और अप्रयुक्तत्व दोष हैं।

अर्थगत अर्थव्यक्ति को वामन ने वस्तुस्वभाव की स्फुटता कहा है।[5] यह काव्य के शब्दचित्र का गुण है। चित्रकार के चित्र की भाँति काव्य में चित्रित अर्थ का एक-एक अवयव जहाँ स्फुट होकर प्रतीत होने लगता है वहाँ वामन अर्थगत अर्थव्यक्ति गुण मानते हैं।

कान्ति—भरत और दण्डी की कान्ति-परिभाषा से असहमत होकर वामन ने शब्दकान्ति के स्वतन्त्र स्वरूप की उद्भावना की। चित्रकला से परिचित होने के कारण वामन ने कान्ति गुण पर न केवल काव्यशास्त्रीय दृष्टि से विचार किया है; वरन् व्यापक सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से उन्होंने उसके स्वरूप का निर्धारण किया है। यह कान्ति केवल काव्य का गुण नहीं, चित्रकला का भी गुण है। वामन काव्य के सौन्दर्य को चित्रकला के सौन्दर्य से सर्वथा पृथक् कर नहीं देखते। वस्तुतः काव्यकला का चित्र, संगीत आदि कलाओं के साथ ऐसा अन्तःसम्बन्ध है कि सबको एक साथ मिलाकर देखने पर ही सौन्दर्य-

---

१. सोऽयं दोषाभावो न गुणः। —हेम० काव्यानु० व्याख्या पृ० २३८

२. यत्र झटित्यर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं स गुणोऽर्थव्यक्तिरिति।—वामन काव्यालं० वृत्ति पृ० ८१

३. सोऽयं प्रसादादभिन्न इति वामनीयाः। — हेम०, काव्यानु० व्याख्या पृ० २३८

४. सोऽयमुक्तस्यन्तराभिहितः प्रसाद एवेति दण्डी। —वही पृ० २३९

५. वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः। —वामन, काव्यालं० ३,२ १४

शास्त्रीय अध्ययन पूर्ण माना जा सकता है। पश्चिम के साहित्य में भी कुछ विचारकों ने काव्य को अन्य कलाओं से पृथक् मानकर उसके स्वतन्त्र अध्ययन पर बल दिया था। वे सौन्दर्य की दृष्टि से काव्य की तुलना में चित्र आदि कलाओं को हेय समझते थे।[१] पर, अधिकांश विद्वानों ने काव्य एवं अन्य कलाओं में अन्तःसम्बन्ध की स्थापना की और सबके एक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन पर बल दिया। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य को अन्य कलाओं से अलग रखकर उसपर सर्वथा स्वतन्त्र रूप से विचार होता रहा है। काव्य की सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्ता मानने के कारण ही भारतीय मनीषियों ने उसकी गणना कलाओं में नहीं की है। वामन ने भी अपने गुणों को बन्ध का गुण कहा है और अधिकांश गुणों पर एकान्त काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ही विचार किया है; किन्तु कान्तिगुण के स्वरूप-निर्धारण में उन्होंने व्यापक सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण रखा है। उनका कान्ति शब्दगुण चित्रकला से गृहीत है। उन्होंने शब्दकान्ति को औज्ज्वल्य कहा है। जब पद में कान्ति नहीं रहती तो वह पुराने चित्र के समान लगने लगता है।[१] यह पद की चमत्कृति का गुण है, जिसके बिना पद कान्ति-हीन पुराने चित्र के समान हो जाता है। कान्ति सुन्दर शब्द के प्रयोग से आती है। इसका विपर्यय पुराणच्छाया है। भरत के 'श्रोत्रमनःप्रह्लादजनक' कान्ति-गुण-स्वरूप को वामन ने माधुर्य गुण से अभिन्न मानकर अस्वीकार कर दिया।[२] दण्डी के मत को उद्धृत करते हुए हेमचन्द्र ने लिखा है कि यदि वामन के अनुसार औज्ज्वल्य को कान्ति मान लिया जाय तो कठिनाई यह होगी कि ओज भी औज्ज्वल्य के योग से कान्तिगुण में अन्तर्भूत हो जायगा। उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रह सकेगी।[३]

अर्थ-गुण कान्ति को वामन ने 'दीप्त-रसत्व' कहा है।[४] इस प्रकार वामन ने रस को कान्ति अर्थगुण मान लिया। दण्डी और भामह ने रस की गणना अलङ्कार में की थी। उन्होंने रस को अलङ्कार का एक भेद रसवत् मान

---

१. औज्ज्वल्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः।
पुराणचित्रस्थानीयं तेन वन्ध्यं कवेर्वचः॥—वामन, काव्यालं सू० वृत्ति पृ० ८२
२. श्रोत्रमनःप्रह्लादजननं कान्तिं भरतः।....तदिदं माधुर्यसाधारणमिति वामनीयाः।
—हेम० काव्यानु० व्याख्या, पृ० २३९.
३. ओजोऽप्यौज्ज्वल्ययोगात्तर्हि कान्तिः। तस्माल्लोकसीमानतिक्रमः
कान्तिरिति दण्डी। —वही पृ० २३९.
४. दीप्तरसत्वं कान्तिः।—वामन, काव्यालं० ३,२,१५

लिया था। भामह के अनुसार जहाँ शृङ्गार आदि रस स्पष्टता से दिखाये जाते हैं, वहाँ रसवत् अलङ्कार होता है।[१] दण्डी ने भी रसवत् अलङ्कार का यही स्वरूप प्रतिपादित किया है।[२] वामन ने रस को अलङ्कार की कोटि से उठा कर काव्य के आवश्यक धर्म गुण के धरातल पर लाकर प्रतिष्ठित किया। हेमचन्द्र ने वामन की दीप्तरसत्व कान्ति-धारणा के खण्डन का प्रयास किया है। उनकी युक्ति है कि रौद्र आदि दीप्तरस हैं। उनसे विपरीत स्वभाव वाले शृङ्गार आदि कोमल रस अदीप्त हैं। अतः, यदि दीप्त रस में कान्तिगुण की सत्ता स्वीकार की जायगी तो शृङ्गार आदि रसों को कान्तिहीन मानना पड़ेगा।[३] हेमचन्द्र का पक्ष सबल नहीं है। उन्होंने ध्वनिवादी आचार्यों के मत का अनुसरण करते हुए रौद्र आदि रसों को दीप्त कहा है। आनन्दवर्धन आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने चित्त की द्रुति, दीप्ति और विकास अवस्थाओं के आधार पर रसों का वर्गीकरण करते हुए रौद्र आदि रसों में चित्त की दीप्ति के गुण ओज की सत्ता स्वीकार की है। हेमचन्द्र ने इसी आधार पर वामन के 'दीप्तरसत्व' का अर्थ रौद्र आदि दीप्त रसयुक्त समझ लिया और यह कल्पना कर ली कि वामन का कान्ति गुण रौद्र आदि रसों का ही गुण है, शृङ्गार आदि रसों का नहीं। वामन के दीप्तरसत्व का अभिप्राय वस्तुतः सभी रसों की प्रकर्षावस्था से है। उन्होंने स्वयं अपनी वृत्ति में इसे स्पष्ट कर दिया है कि शृङ्गार आदि रस जहाँ दीप्त रहते हैं वहाँ कान्तिगुण होता है।[४] हेमचन्द्र वामन के इस विचार से परिचित थे।[५]

वामन ने कान्ति गुण के लक्षण में भरत के कान्ति गुण-लक्षण को स्वीकार नहीं किया है; किन्तु उनकी कान्ति गुण-धारणा भरत की उदारता-गुण-धारणा से अंशतः साम्य रखती है। भरत ने उदारता को शृङ्गार तथा अद्भुत रसों से युक्त और अनेक भाव-संयुक्त माना था। वामन कान्ति में रस की दीप्ति

---

१. रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादि रसं यथा।—भामह काव्यालङ्कार ३,६

२. दे० दण्डी काव्यादर्श २,२८०-८१.

३. रौद्रादयोदीप्ता रसास्तयोऽन्ये तु शृङ्गारादयस्तद्विपरीतास्तन्निबन्धनमकान्तिस्तर्हि स्यात्।   —हेम० काव्यानु० व्याख्या पृ० २४०

४. दीप्ता रसा शृङ्गारादयो यस्य स दीप्तरसः। तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः।
—वामन काव्यालं वृत्ति पृ० ९५

५. अथवा व्यङ्ग्यं रसादि स्वरूपणेनैव कान्तिः स्वीकृतेति।—हेमचन्द्र, काव्यानु० व्याख्या पृ० २४०

पर बल देते हैं। स्पष्टतः, वामन की कान्ति गुण-धारणा भरत की उदार गुण-धारणा से प्रभावित है।

वामन ने काव्यगुणों की सत्ता सिद्ध करने के लिए कई युक्तियाँ दी हैं। यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि ये गुण केवल कल्पना-सृष्ट हैं; उनकी वस्तुतः कोई सत्ता नहीं। वामन की युक्ति है कि काव्य में इन गुणों का अनुभव होता है। सहृदय-संवेद्य होने के कारण गुणों की सत्ता का परिहार नहीं हो सकता।[1] यह नहीं कहा जा सकता कि सर्वजनवेद्य न होने के कारण गुण कुछ लोगों की भ्रमात्मक प्रतीति-मात्र है। सार्वजनीन न होने पर भी इसका बाध सम्भव नहीं। अतः, निर्बाध होने के कारण इसे भ्रम नहीं कहा जा सकता।[2] कुछ व्यक्ति की वेदना का विषय न होने से ही किसी वस्तु की सत्ता असिद्ध नहीं हो जाती। अन्धा व्यक्ति किसी वस्तु को नहीं देख पाता; पर उसका न देखना सभी वस्तुओं की सत्ता को असिद्ध नहीं कर देता। उसी प्रकार यदि कुछ असहृदय व्यक्ति गुण का अनुभव नहीं कर पाते तो इससे गुण की सत्ता का परिहार नहीं हो सकता। किसी वस्तु की सत्ता का परिहार तभी हो सकता है जब उनके भाव के बाध का प्रमाण हो। गुण के बाध का कोई प्रमाण नहीं। अतः, उसकी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

कुछ लोगों ने गुणों को पाठ का धर्म माना था। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में पाँच गुणों को पाठधर्म मानने वाला मत उद्धृत किया है। उनके अनुसार कुछ लोगों की मान्यता है कि ओज, प्रसाद, माधुर्य, साम्य और औदार्य—ये पाँच गुण हैं। ये पाँचो पाठ के धर्म हैं।[3]

वामन ने गुणों के पाठधर्मत्व का खण्डन किया है। उनकी युक्ति यह है कि यदि गुण पाठ के धर्म होते तो उनकी सत्ता सर्वत्र पायी जाती। किसी भी वाक्य के पढ़ने के समय कोई-न-कोई गुण अवश्य आ जाता; किन्तु स्थिति वस्तुतः भिन्न हुआ करती है। सभी पद-रचना में गुण नहीं पाये जाते। इससे स्पष्ट है कि गुण पाठ के धर्म नहीं।[4]

---

१. नासन्तः संवेद्यत्वात्।—वामन, काव्यालं० ३,१,२६

२. न भ्रान्ता निष्कम्पत्वात्।—वही, ३,१,२७

३. ओजः प्रसादमधुरिमाणः साम्यमौदार्यं च पञ्चेत्यपरे। तथा हि यददर्शिविच्छेदं पठतामोजः, विच्छिद्य पदानि पठतां प्रसादः, आरोहावरोहतरङ्गिणि पाठे माधुर्यम्, ससौष्ठवमेव स्थानं पठतामौदार्यम्, अनुच्चनीचं पठतां साम्यमिति।
—हेम० काव्यानु० व्याख्या पृ० २४०

४. न पाठधर्माः सर्वत्रादृष्टेः।—वामन, काव्यालं० ३, १, २८

वामन की गुण-धारणा के इस विवेचन से स्पष्ट है कि भरत और दण्डी की कुछ गुण-परिभाषाओं को स्वीकार करनें पर भी वामन ने कुछ गुणों के स्वरूप की स्वतन्त्र उद्भावना की है। ओज और प्रसाद—इन विरोधी गुणों की सहस्थिति की कल्पना मौलिक है। कान्ति और उदारता गुण की परिभाषाएँ भी स्वतन्त्र रूप से कल्पित हुई हैं। वामन ने कहीं-कहीं किसी विशेष गुण के लक्षण-निरूपण के समय उसी नाम के भरत और दण्डी के गुण के लक्षण को अस्वीकार कर दिया है; किन्तु उनके दूसरे गुणों के लक्षण को वामन ने कुछ परिवर्त्तन के साथ स्वीकार कर लिया है। उदाहरणतः, उदारता की परिभाषा देते हुए वामन ने भरत की उदारता-गुण-परिभाषा को स्वीकार नहीं किया; किन्तु अर्थगुण कान्ति के लक्षण में उन्होंने भरत की उदारता-परिभाषा को को अंशतः स्वीकार कर लिया है। भरत और दण्डी के दस गुणों के शब्द एवं अर्थ-भेद से बीस प्रकार की कल्पना भी वामन की नवीनता है।

रुद्रट

रुद्रट ने काव्यगुण के स्वरूप पर विचार नहीं किया है। काव्यालङ्कार के द्वितीय अध्याय में सुन्दर वाक्य के कुछ लक्षण दिये गये हैं। टीकाकार नमिसाधु ने उन्हें वाक्य-गुण माना है। वे छह गुण हैं—(१) अन्यूनाधिकवाचकत्व, (२) सुक्रमत्व, (३) पुष्टार्थशब्दत्व, (४) चारुपदत्व, (५) क्षोदक्षमत्व और (६) अक्षुण्णत्व।[१]

अन्यूनाधिकवाचकत्व—न्यूनपदता और अधिकपदता को काव्यशास्त्र में दोष माना जाता है। प्रस्तुत वाक्यगुण उक्त दोनों दोषों का विपर्यय है। विवक्षित अर्थ के बोध के लिए जितने शब्द अपेक्षित हों, उतने ही शब्दों का वाक्य में प्रयोग अन्यूनाधिकवाचकत्व गुण है। यह दण्डी और वामन के अर्थव्यक्ति और प्रसाद शब्दगुण के समान है। इस गुण के अभाव में नमिसाधु के अनुसार वाक्य में न्यूनपदता के कारण दुष्ट अर्थ की प्रतीति या विवक्षित अर्थ की अप्रतिपत्ति होने लगती है और कहीं अधिकपदत्व के कारण कथित अर्थ की ही अन्य पद से उक्ति होने से पुनरुक्ति आदि दोष आ जाते हैं। नमिसाधु की मान्यता है कि इस गुण में पद की ऊनता का एकदम निषेध नहीं है। उसकी अतिशय न्यूनता का ही निषेध किया गया है। अतः, पद के थोड़ा न्यून रहने पर भी यदि असाधारण विशेषण या अनुरूप कारक के प्रयोग से

---

१. अथ वाक्यगुणानाह—

अन्यूनाधिकवाचक-सुक्रम-पुष्टार्थशब्दचारुपदम्।
क्षोदक्षममक्षुण्णं सुमतिर्वाक्यं प्रयुञ्जीत॥—रुद्रट, काव्यालं० २,८

विवक्षित अर्थ की प्रतीति हो जाती हो तो पद की ऊनता भी अदोष ही है।[१] अधिकपदत्व में भी पद की अतिशय अधिकता का ही निषेध नमिसाधु ने माना है।[२]

सुक्रमत्व—यह गुण वाक्य में पद के दुष्क्रमत्व का विपर्यास है। वाक्य में जो पद जिस पद के साथ सम्बद्ध रहता है उसे उसी के समीप निश्चित क्रम में रखना सुक्रमत्व गुण है।

पुष्टार्थत्व—यह गुण अपुष्टार्थत्व दोष का अभाव है। एक ही शब्द से प्रतिपादित किये जा सकने वाले अर्थ के लिए जहाँ अनेक शब्दों का प्रयोग होता है, वहाँ सभी शब्द अर्थ का पोषण नहीं करते; अतः अपुष्टार्थत्व दोष माना जाता है। पुष्टार्थत्व में अर्थ की पुष्टि करने वाले पदों का ही प्रयोग होता है। यह गुण अन्यूनाधिकवाचकत्व से बहुत भिन्न नहीं है। स्टेवेन्सन ने वाक्य की यौक्तिक सुसम्बद्धता को शैली का गुण माना है। इसे उन्होंने 'web' कहा है।[३] डॉ० व्ही राघवन ने रुद्रट के सुक्रमत्व और पुष्टार्थशब्दत्व को स्टेवेन्सन के 'web' के समान माना है[४] —यह उचित ही है।

चारुपदत्व—चारुपदत्व गुण दुःश्रवत्व दोष का अभाव है।

क्षोदक्षमत्व—क्षोदक्षमत्व गुण का अर्थ नामिसाधु ने गाम्भीर्य-युक्त माना है।[५]

अक्षूणत्व या अक्षुण्णत्व—सभी दोषों के त्याग और सकल गुणों के ग्रहण से सम्पन्न होने वाली वाक्य की परिपूर्णता को अक्षुण्णत्व गुण माना गया है।[६]

रुद्रट ने रचना की चारुता पर विशेष बल दिया है। पदों के सन्निवेश की चारुता में सभी गुण आ जाते हैं।[७]

---

१. निशब्दग्रहणाद्यत्र विनापि पदमसाधारणविशेषणोपादानात्तदनुरूपकारकप्रयोगाद्वा। विवक्षितपदार्थप्रतीतिस्तदूनमात्रं साध्वेव।
—रुद्रट, काव्यालं०, नमिसाधुकृत टीका, पृ० ११

२. निग्रहणादधिकमात्रं साध्वेव।—वही, टीका, पृ० ११

३. द्र०—R. L. Stevenisn, Essay's in the art of writings पृ० २४

४. द्रष्टव्य, डॉ० व्ही० राघवन, Bhoja's Sringara Pakasa, vol. I, पृ० ३०२

५. क्षोदक्षमं प्रेरणासहं वाक्यं प्रयुञ्जीत। गाम्भीर्ययुतमिति तात्पर्यार्थः।
—रुद्रट, काव्यालं० टीका, पृ० १२

६. ....अक्षूणमिति। समस्तदोषत्यागात् समस्तगुणसंग्रहाच्च परिपूर्णम्।
—वही, टीका, पृ० १२

७. रचयेत्तमेव शब्दं रचनायाः यः करोति चारुत्वम्।
सत्यमपि सकलयथोदितपदगुणसाम्येऽभिधानेषु॥
रचना चारुत्वे खलु शब्दगुणः संनिवेशचारुत्वम्॥—वही, २,९–१०

काव्यालङ्कार में एक और स्थान पर भी गुण शब्द का प्रयोग हुआ है; किन्तु गुण शब्द के सामान्य अर्थ में ही उसका प्रयोग हुआ है, पारिभाषिक अर्थ में नहीं।[१]

राजशेखर

राजशेखर की काव्य-मीमांसा का गुण-प्रकरण उपलब्ध नहीं है। काव्यमीमांसा के आरम्भ में राजशेखर ने एक अध्याय को 'गुणौपादानिक' कहा है।[२] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उन्होंने अपनी पुस्तक के एक अध्याय में काव्यगुणों पर विस्तार से विचार किया होगा; किन्तु पुस्तक के उस अंश के नष्ट हो जाने के कारण राजशेखर की गुण-धारणा के सम्बन्ध में निर्णयात्मक रूप से कुछ कहना कठिन है। डॉ० राघवन ने गुण-विचार में राजशेखर को आनन्दवर्धन का अनुयायी माना है।[३] उनकी यह मान्यता अनुमानाधारित है। उनके अनुमान का आधार हेमचन्द्र के काव्यानुशासन का गुणविचार है। हेमचन्द्र ने गुणों की दस एवं पाँच संख्या मानने वाले परम्परागत सिद्धान्त का खण्डन तथा ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन के तीन गुण के सिद्धान्त का मण्डन किया है।[४] काव्यमीमांसा के उपलब्ध अंश से काव्यानुशासन की कुछ समता देखकर डॉ० राघवन ने हेमचन्द्र को राजशेखर का अनुयायी मानकर यह निष्कर्ष निकाला है कि काव्यानुशासन का गुण-विचार राजशेखर के ही अनुकरण पर लिखा गया होगा।

डॉ० राघवन के इस अनुमान का आधार सशक्त नहीं है। वे काव्यानुशासन के गुण-वर्णन के प्रसङ्ग में प्रयुक्त 'इतिभरतः', 'इति वामनीयाः' आदि को राजशेखर की शैली का अनुकरण मानते हैं; किन्तु उक्त प्रयोगों को संस्कृत के किसी एक आचार्य की शैली का वैशिष्ट्य मानना उचित नहीं जान पड़ता। किसी आचार्य के मत को उद्धृत करने के क्रम में सामान्यतः सभी आचार्य न्यूनाधिक मात्रा में ऐसे प्रयोग किया करते हैं। अतः, किसी सबल

---

१. शब्दार्थयोरिति निरूप्य विभक्तरूपान्।
दोपान् गुणांश्च निपुणो विसृजन्नसारम्॥ –रुद्रट, काव्यालं० ११, ३६

२. द्रष्टव्य, राजशे० काव्य मीमांसा, पृ० १

३. डा० ह्वी० राघवन, Bhoja's Sr. Pra. Vol., I पृ० ३४५

४. माधुर्यौजः प्रसादाख्यो गुणः। त्रयो न तु पञ्च दश वा, लक्षणस्य व्यभिचारादुच्यमानगुणेष्वेवान्तर्भावात्, दोपपरिहारेण स्वीकृतत्वाच्च।
—हेम० काव्यानु० ४, पृ० २३२-३३

प्रमाण के अभाव में हेमचन्द्र की गुण-धारणा को राजशेखर की अप्राप्य गुण-धारणा का प्रतिनिधि मानना युक्तिसङ्गत नहीं।

'काव्यमीमांसा' के 'गुणौपादानिक' अध्याय के नष्ट हो जाने पर भी पाठ-गुण-विवेचन-क्रम में प्रसाद एवं ओज काव्यगुणों का उल्लेख पाया जाता है। राजशेखर की मान्यता है कि प्रसाद गुण-युक्त काव्य में मन्द तथा उसके विरोधी ओज गुण-युक्त काव्य में तार-स्वर-युक्त वाणी की योजना होनी चाहिए।[1] स्पष्टतः, राजशेखर के प्रसाद एवं ओज गुण रसाश्रित हैं। जिस प्रकार आनन्दवर्धन आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने रसाश्रित गुणों का व्यञ्जक अनुकूल पद-योजना को माना है, उसी प्रकार राजशेखर ने मन्द्र, तार वाणी को प्रसाद और ओज का उपकारक माना है। उनके अनुसार ललित, काकुयुक्त, उज्ज्वल अर्थात् अर्थगर्भ, अर्थानुरूप विभाग-युक्त तथा विविक्त वर्णों के कारण श्रुति-सुखद पाठ कवियों के द्वारा प्रशंसित होता है।[2] यहाँ 'श्रुतिसुखविविक्त वर्णम्' को आनन्दवर्धन के माधुर्यव्यञ्जक वर्णों के समकक्ष माना जा सकता है। अतः, इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि राजशेखर ध्वनिप्रस्थान के आचार्यों के माधुर्यादि तीन गुणों को काव्यगुण स्वीकार करते थे। इन गुणों के अतिरिक्त काव्यगुणों की भी कल्पना उन्होंने की या नहीं, इस सम्बन्ध में कुछ कहने का कोई आधार नहीं।

राजशेखर ने गम्भीरत्व, अवैस्वर्य अर्थात् स्वरभङ्ग दोष का अभाव तार एवं मन्द्र स्वर की निर्व्यूढि तथा संयुक्त वर्णों के लावण्य को पाठ-गुण माना है।[3]

काव्यमीमांसा में पाठ-गुण के विपरीत कुछ पाठ-दोषों का भी उल्लेख हुआ है। वे दोष हैं—अतितूर्ण, अतिविलम्बित, उल्बणनाद, नादहीन, अपदच्छिन्न, अनावृत, अतिमृदु तथा अतिपरुष।[4]

---

१. प्रसन्ने मन्द्रयेद्वाचं तारयेत्तद्विरोधिनि।
मन्द्रतारौ च रचयेन्निर्वाहिणि यथोत्तरम्।—राजशे० काव्यमी० ७ पृ० ३३

२. ललितं काकुसमन्वितमुज्ज्वलमर्थवशकृतपरिच्छेदम्।
श्रुतिसुखविविक्तवर्णं कवयः पाठं प्रशंसन्ति॥—वही, ७ पृ० ३३

३. गम्भीरत्वमवैस्वर्यं निर्व्यूढिस्तारमन्द्रयोः।
संयुक्तवर्णलावण्यमिति पाठगुणाः स्मृताः॥—वही, ७ पृ० ३३

४. अतितूर्णमतिविलम्बितमुल्बणनादं च नादहीनं च।
अपदच्छिन्नमनावृतमतिपरुषं च निन्दन्ति॥—वही, ७ पृ० ३३

आचार्य कुन्तक

हम देख चुके हैं कि भारतीय काव्य-शास्त्र में गुण-धारणा की मुख्य दो धाराएँ प्रचलित थीं। एक में शब्दार्थगत गुण के दस प्रकार माने जाते थे; दूसरी में रसाश्रित गुण के तीन भेद स्वीकृत थे। कुन्तक की विचार-धारा उक्त दोनों विचारधाराओं से स्वतन्त्र है। बन्ध की परिभाषा देने के क्रम में कुन्तक ने उसके सौभाग्य और लावण्य तत्त्वों को शब्दार्थ का गुण कहा है।[1] सुकुमार, विचित्र और मध्यम—इन तीन मार्गों का उल्लेख कर उनके गुणों का वर्णन वक्रोक्तिजीवित में किया गया है। प्रत्येक मार्ग के चार गुण उल्लिखित हैं। ये गुण हैं—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। इन चार गुणों के तीनों मार्गों में नाम्ना समान होने पर भी उन मार्गों के स्वभाव के अनुरूप उनकी प्रकृति में भेद है। सुकुमार मार्ग के माधुर्य की प्रकृति विचित्र मार्ग के माधुर्य की प्रकृति से भिन्न है। इसी प्रकार सुकुमार मार्ग के अन्य गुण भी विचित्र मार्ग के उन्हीं नाम के गुणों से भिन्न प्रकृति के हैं। मध्यम मार्ग में सुकुमार एवं विचित्र मार्गों की प्रकृति का मिश्रण रहता है। अतः, उस मार्ग के माधुर्य आदि गुणों में विचित्र एवं सुकुमार मार्गों के माधुर्य आदि गुणों के स्वभाव का मिश्रण रहता है। तीनों मार्गों के उक्त चार-चार गुणों का वर्णन कर कुन्तक ने उन मार्गों के दो साधारण गुणों का उल्लेख किया है। वे हैं—औचित्य और सौभाग्य। इन दो गुणों को पद, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध का गुण कहा गया है।[2] इस तरह सभी मार्गों के माधुर्यादि चार असाधारण एवं औचित्य तथा सौभाग्य, दो साधारण गुण माने गये हैं। कुन्तक के इन गुणों के स्वरूप का विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। पहले हम प्रत्येक मार्ग के असाधारण गुणों के स्वरूप की मीमांसा करेंगे; तदन्तर सभी मार्गों के साधारण गुणों के स्वरूप का परीक्षण किया जायगा।

सुकुमार मार्ग के गुण :

कुन्तक का सुकुमार मार्ग वैदर्भ मार्ग का ही दूसरा रूप है। इसमें कवि-प्रतिभा से समुद्भूत रमणीय शब्दार्थयुक्त अकृत्रिम एवं रसमय काव्य

---

१. वाच्यवाचकयोर्द्वयोरपि वाच्यस्य अभिधेयस्य, वाचकस्य च शब्दस्य वक्ष्यमाणं सौभाग्यलावण्यलक्षणं यद्गुणद्वयं, तस्य परिपोषकः, पुष्टतातिशयकारी।
—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० १,२२

२. अनन्तरोक्तस्य गुणद्वयस्य विषयं प्रदर्शयति।—
एतत् त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्त्तते॥—वही, १, ५७

की रचना होती है।[१] इस मार्ग के माधुर्य आदि गुणों की परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं :—

माधुर्य—माधुर्य को समास-रहित, मनोहारी तथा पद-रचना के वैचित्र्य से युक्त कहा गया है।[२] 'समास-रहित' विशेषण की व्याख्या करते हुए कुन्तक ने अपनी वृत्ति में उसे दीर्घ समास का अभाव कहा है।[३] 'असमस्त' में अल्पार्थक नञ् समास है। अतः, माधुर्य में छोटे-छोटे समास भी रह सकते हैं। 'मनोहारी' की व्याख्या करते हुए माधुर्य में दो तत्त्वों का निर्देश किया गया है—एक है उसका श्रुतिमधुर होना तथा दूसरा है उसका चारु अर्थ से पूर्ण होना। माधुर्य-लक्षण में दी गयी कारिका में 'पदविन्यास' का अर्थ है 'सुबन्त एवं तिङन्त-पदों के सन्निवेश का वैचित्र्य।'[४] इस प्रकार माधुर्य में अल्पसमासत्व, श्रुतिरम्यत्व या श्रव्यत्व, अर्थचारुत्व एवं पदविन्यासवैचित्र्य—ये चार तत्त्व वाञ्छनीय हैं। कुन्तक के माधुर्य का असमस्तत्व या अल्पसमासत्व वामन के पृथक्पदत्व रूप शब्दमाधुर्य के समान है। वामन ने भी अपनी वृत्ति में 'पृथक्पदत्व' की व्याख्या 'समासदैर्घ्यनिवृत्तिपरत्व' के रूप में की है। इस माधुर्य का श्रुति-रम्यत्व' भामह के माधुर्य के 'श्रव्यत्व' से अभिन्न है। यह श्रुतिकटुत्व दोष का अभाव है। दण्डी ने भी माधुर्य के एक भेद 'श्रुत्यनुप्रास माधुर्य' में ऐसी ही धारणा प्रकट की है। कुन्तक के माधुर्य का तीसरा अङ्ग अर्थचारुताजन्य रमणीयता है। डॉ० ह्वी राघवन ने वामन के उक्तिवैचित्र्य रूप अर्थमाधुर्य से इसे मिलाने के लिए कुन्तक के माधुर्य-लक्षण में अर्थचारुत्व का सम्बन्ध विन्यास-वैचित्र्य के साथ होना अधिक उपयुक्त माना है। उनकी मान्यता है कि असमस्तत्व और श्रुतिरम्यत्व को मिला देने से शब्दमाधुर्य; और अर्थचारुत्व तथा विन्यासवैचित्र्य को मिला देने से अर्थमाधुर्य की सृष्टि होती है।[५] अर्थरमणीयता का विन्यासवैचित्र्य के साथ अन्वय कर अर्थ करने पर वह वामन के उक्तिवैचित्र्यात्मक अर्थमाधुर्य के समीप पहुँच जाता है।

---

१. वही (कुन्तक, १, २५-२६

२. असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम्।
माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः॥—वही, १,३०

३. असमस्तशब्दोऽत्र प्राचुर्यार्थः, न स्वभावनियमार्थः।—वही, १,३०

४. ... मनोहारीणि हृदयाह्लादकानि श्रुतिरम्यत्वेनार्थरमणीयत्वेन च यानि पदानि सुप्तिङन्तानि तेषां विन्यासः सन्निवेशवैचित्र्यं, जीवितं सर्वस्वं यस्य तत्तथोक्तम्।
—वही, वृत्ति, पृ० ११४

५. द्रष्टव्य, डा० ह्वी० राघवन, Bhoja's Sringara Prakasa vol. I पृ० ३५१

वामन की अर्थमाधुर्य-परिभाषा को दृष्टि में रखते हुए उसके अनुरूप कुन्तक की माधुर्य परिभाषा से अर्थ निकालने का यह प्रयास पूर्वाग्रह-पूर्ण है। किसी आचार्य की मान्यता में पूर्वाग्रह के कारण कुछ अर्थ को जोड़ देना समालोचना की स्वस्थ पद्धति नहीं। कुन्तक ने माधुर्य-लक्षण-परक कारिका का अर्थ वृत्ति में इतना स्पष्ट कर दिया है कि पुनः उनकी कारिका से दूसरा अर्थ निकालने की दूराकृष्ट कल्पना की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। 'पदविन्यास' का अर्थ उन्होंने स्वयं 'सुबन्त-तिङन्त पदों का विचित्र सन्निवेश' किया है। डॉ० राघवन की इस मान्यता का, कि रमणीयत्व की व्याख्या विन्यासवैचित्र्य के रूप में की गयी है, कोई आधार नहीं। माधुर्य गुण के उदाहरण पर टिप्पणी देते हुए उसमें पदों का असमस्तत्व, शब्द और अर्थ की रमणीयता एवं विन्यास का वैचित्र्य दिखाया गया है।[१] इस 'विन्यासवैचित्र्य' का सम्बन्ध 'अर्थ-रमणीयत्व' के साथ किसी भी रूप में नहीं जोड़ा जा सकता। यह विन्यास-वैचित्र्य पदविन्यास की ही विचित्रता है। अतः, माधुर्य के तीन अङ्ग—दीर्घसमासहीनता, श्रुतिरमणीयत्व एवं पदविन्यासवैचित्र्य—उसका शब्दगतत्व होना निर्दिष्ट करते हैं। उसका अर्थरमणीयत्व उसके अर्थगत होने का निदर्शन है। माधुर्य की अर्थरमणीयता उसे दण्डी के अग्राम्यता माधुर्य के समीप ला देती है। पदवैचित्र्य को भरत ने ओज गुण का एक लक्षण माना था। कुन्तक के पदविन्यास का वैचित्र्य उसी से मिलता-जुलता है। कुन्तक ने इसे प्रधान गुण माना है।

प्रसाद—रस एवं वक्रोक्ति के विषय में अनायास अभिप्राय को व्यक्त कर देने वाला शीघ्र अर्थ का प्रतिपादन-रूप गुण प्रसाद संज्ञा से अभिहित किया है।[२] कुन्तक ने वृत्ति में कहा है कि प्रसाद गुण में पदों की समासहीनता, प्रसिद्धार्थ-प्रतिपादकता, अर्थ के साथ पद की व्यवधानरहित सम्बद्धता एवं समास रहने पर स्पष्टार्थक समासयुक्तता—ये चार वास्तविक रहस्य हैं।[३] समास का अभाव रहने पर या उसकी अल्पता रहने पर अर्थ-बोध सहज होता है। इसीलिए समासहीनता को प्रसाद का एक परमार्थ माना गया है। कुन्तक की यह

---

१ अत्र पदानामसमस्तत्वं शब्दार्थरमणीयता विन्यासवैचित्र्यं च त्रितयमपि चकास्ति। — कुन्तक, वक्रोक्तिजी० १ पृ० १०५

२. अक्लेशव्यञ्जिताकूतं झगित्यर्थसमर्पणम।
रसवक्रोक्तिविषयं यत् प्रसादः स कथ्यते॥—वही १, ३१

३. अत्र पदानामसमस्तत्वं प्रसिद्धाभिधानत्वं अव्यवहितसम्बन्धत्वं समाससद्भावेऽपि गमकसमासयुक्तता च परमार्थः।—वही वृ०पृ० ११६

धारणा भामह की प्रसाद-धारणा से प्रभावित है, जो प्रसाद और माधुर्य; दोनों गुणों में दीर्घ समास का अभाव अपेक्षित समझते थे। इसका दूसरा रहस्य 'प्रसिद्धार्थप्रतिपादकता' दण्डी के प्रसाद गुण के प्रसिद्धार्थपदत्व से अभिन्न है। रस के विषय में अभिप्रायगत सौन्दर्य को व्यक्त करने वाला तुरत अर्थ-समर्पण आनन्दवर्धन के प्रसाद गुण की सर्वरस के प्रति काव्य की समर्पकता के समान है। आनन्दवर्धन ने जहाँ प्रसाद गुण को गुणों में शीर्षण्य स्थान प्रदान किया था, वहाँ वह स्थान कुन्तक ने माधुर्य को दिया है।

लावण्य—कोमल वर्णविन्यास या कोमल शब्दालङ्कार की योजना के थोड़े से वैभव से सरलतापूर्वक काव्य के बन्ध में आ जाने वाला सौन्दर्य लावण्य गुण है।[1] रचना में लावण्य का आधान करने के लिए कवि को श्रम नहीं करना पड़ता। उसे कुन्तक ने 'नाति-निर्बन्ध-निर्मित' कहा है। इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि सुकुमार शब्द और अर्थ से सुन्दर रचना के सौष्ठव को लावण्य गुण कहा जाता है।[2] इस सन्निवेश-सौष्ठव का कथन सम्भव नहीं, उसकी केवल अनुभूति हो सकती है।[3] इस गुण से कुन्तक का अभिप्राय सम्भवतः छन्द के बाह्य सौन्दर्य से है, जिसके सुनने-मात्र से श्रोता का हृदय आनन्दमग्न हो जाता है। यद्यपि सुकुमार शब्द के साथ सुकुमार अर्थ के सौष्ठव में भी लावण्य गुण माना गया है; पर डॉ० व्ही० राघवन ने यह माना है कि कुन्तक ने श्रुतिरमणीयता पर ही विशेष बल दिया है।[4]

कुन्तक ने प्राचीन आचार्यों के सौकुमार्य गुण को स्वीकार नहीं किया है; किन्तु लावण्य गुण में सुकुमार शब्द और अर्थ को अपेक्षित माना है। इस प्रकार प्राचीनों की सौकुमार्य गुण-धारणा कुन्तक की लावण्य गुण-धारणा में अन्तर्भूत है। दण्डी के सुकुमारता गुण के आधार पर ही कुन्तक ने सुकुमार मार्ग की भी कल्पना की है और उन्होंने सुकुमार मार्ग के इस लावण्य में दण्डी के सुकुमार गुण को भी समेट लिया है।

आभिजात्य—सुनने में मधुर, चित्त को सुखद स्पर्श के समान लगने वाला तथा स्वभाव से कोमल छाया वाला बन्ध का सौन्दर्य आभिजात्य गुण कहा गया

---

१. वर्णविन्यासविच्छित्तिपदसन्धानसम्पदा ।
स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं लावण्यमभिधीयते ।। —कुन्तक, वक्रोक्तिजी० १,३१

२. तदयमत्रार्थः शब्दार्थसौकुमार्यसुभगः सन्निवेशमहिमा लावण्याख्यो गुणः कथ्यते । —वही वृत्ति पृ० ११८

३. ···अत्रसन्निवेशसौन्दर्यमहिमा सहृदयसंवेद्यो न व्यपदेष्टुं पार्यते ।
—वही, वृत्ति ११८

४. द्रष्टव्य—डा० व्ही० राघवन Bhoja's Sringara Prakasa, vol.I पृ० ३५१

है।[1] इस प्रकार इस गुण के तीन अङ्ग हैं—श्रुतिपेशलता, मसृण कान्तिमयता एवं चित्तस्पर्शयोग्यता। भरत ने अपने माधुर्य को अनुद्वेगकारी माना था। कुन्तक का माधुर्य भी उससे बहुत भिन्न नहीं। उनके माधुर्य का प्रभाव एवं आभिजात्य का प्रभाव समान ही है। डॉ० व्ही० राघवन ने उचित ही कहा है कि लावण्य और आभिजात्य माधुर्य गुण-सा ही प्रभाव उत्पन्न करने वाले गुण जान पड़ते हैं।[2] पं० बलदेव उपाध्याय दोनों में थोड़ा-सा अन्तर यह मानते हैं कि 'लावण्य से वर्णों की झङ्कार अभिप्रेत है और आभिजात्य से कदाचित् उसको स्निग्धता या मसृणता। एक में वर्ण परस्पर झनक कर क्वणन-सा करते हैं, दूसरे में परस्पर घुलते ढुलकते चले जाते हैं।[3]'

विचित्र मार्ग के गुण :

विचित्र मार्ग में अलङ्कृत रचना के प्राधान्य के कारण इस मार्ग के माधुर्य आदि गुण सुकुमार मार्ग के माधुर्य आदि गुणों से प्रकृत्या भिन्न हैं।

माधुर्य— विचित्र मार्ग में विदग्धता के प्रदर्शक माधुर्य गुण का निबन्धन होता है, जो शैथिल्यरहित बन्ध-सौन्दर्य का अङ्ग बन जाता है।[4] इसके स्पष्टीकरण के क्रम में कुन्तक ने कहा है कि विचित्र मार्ग में माधुर्य गुण, जो वैचित्र्य का सम्पादन करने वाला है, पदों में सन्निविष्ट किया जाता है। वह कोमल भाव का त्याग कर रचना के सौन्दर्य का उपकरण बन जाता है।[5] शैथिल्य-त्याग में दण्डी के ओज गुण के स्वरूप की छाया है।

प्रसाद—वक्रोक्तिजीवित में प्रसाद गुण के दो लक्षण प्राप्त होते हैं। एक में उसे कुछ ओजमिश्रित असमस्तपदता कहा गया है।[6] ओज गुण समास-

---

१. श्रुतिपेशलताशालि सुस्पर्शमिव चेतसा।
स्वभाव मसृणच्छायमाभिजात्यं प्रचक्षते ॥—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० १, ३३

२. द्रष्टव्य—डा० व्ही० राघवन, Bhoja's Sringara Prakasa, vol. I पृ०३५२

३. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित की भूमिका में नगेन्द्र द्वारा उद्धृत, पृ० १८१

४. वैदग्ध्यस्यन्दि माधुर्यं पदानामत्र बध्यते।
याति यत् त्यक्तशैथिल्यं बन्धबन्धुरताङ्गताम् ॥—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० १, ४४

५. —अत्रास्मिन्माधुर्यं वैदग्ध्यस्यन्दि वैचित्र्यसमर्पकं पदानां बध्यते वाक्यैकदेशानां निवेश्यते। यत् त्यक्तशैथिल्यमुज्झितकोमलभावं भवद् बन्धबन्धुरताङ्गतां याति सन्निवेशसौन्दर्योपकरणतां गच्छति।—वही, पृ० १४५

६. असमस्तपदन्यासः प्रसिद्धः कविवर्त्मनि।
किञ्चिदोजः स्पृशन् प्रायः प्रसादोऽप्यत्र दृश्यते ॥—वही १, ४५

युक्त होता है। अतः, कुन्तक ने यह स्वीकार किया है कि विचित्र मार्ग में प्रसाद गुण में समासहीन रचना का प्राधान्य रहने पर भी उसमें कुछ समस्त पद-रचना का समावेश भी हो जाया करता है। कुन्तक की यह प्रसाद गुण-धारणा वामन की शब्दगत प्रसाद गुण-धारणा के समान है। वामन ने शब्दप्रसाद के गुणत्व के लिए उसमें ओज का मिश्रण आवश्यक माना है। इन विरोधी गुणों की सहस्थिति के प्रश्न पर हम वामन के शब्द प्रसाद गुण के विवेचन-क्रम में विचार कर चुके हैं। प्रसाद गुण के दूसरे लक्षण में यह मान्यता प्रकट की गयी है कि जहाँ वाक्य में परस्पर अन्वित पदों की तरह वाक्य में परस्पर अन्वित अन्य वाक्य ग्रथित हों, जो अन्य सुन्दर अर्थ के व्यञ्जक हों, वह प्रसाद का दूसरा प्रकार है।[१]

लावण्य—इसमें ऐसे पदों की योजना पर बल दिया गया है, जिनके अन्त में रहने वाले विसर्ग का लोप नहीं हुआ हो और जिनमें संयुक्त वर्ण के पूर्व रहने वाले लघु वर्ण से लावण्य की वृद्धि हो जाती है। इसमें एक पद दूसरे से संश्लिष्ट रहते हैं।[२] यह लावण्य-धारणा प्राचीन आचार्यों के श्लेष-गुण की धारणा से अभिन्न है। वामन ने अपने शब्दश्लेष मसृणत्व की व्याख्या में इसे स्पष्ट किया है कि जहाँ बहुत-से पदों के एक होने का भान होता है वहाँ श्लेष गुण माना जाता है। लावण्य के लक्षण में पदों के परस्पर प्रोत होने अर्थात् संश्लिष्ट होने का उल्लेख कर कुन्तक ने श्लेष गुण से उसका अभेद प्रतिपादित कर दिया है। लावण्य के अन्य अङ्ग के रूप में पदान्त विसर्ग के लुप्त न होने तथा संयुक्त वर्ण के पूर्व ह्रस्व वर्ण के होने का उल्लेख किया गया है।

आभिजात्य कविकौशल से सम्पादित बन्ध का वह गुण जिसमें न तो अत्यन्त कोमल कान्ति हो और न कठोरता हो, आभिजात्य गुण कहा जाता है।[३] अत्यन्त कोमल रचना मे बन्धगत शैथिल्य आ जाता है। दण्डी ने सर्वकोमल रचना का बन्धशैथिल्य दोष कह कर उल्लेख किया है।[४] कठोरत्व

१. गमकान्ति निबन्ध्यन्ते वाक्ये वाक्यान्तराण्यपि।
पदानीवात्र कोऽप्येष प्रसादस्यापरः क्रमः॥ कुन्तक, वक्रोक्तिजी० १,४६

२. अत्रालुप्तविसर्गान्तैः पदैः प्रोतैः परस्परम्।
ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च लावण्यमतिरिच्यते॥ वही १,४७

३. यन्नातिकोमलच्छायं नातिकाठिन्यमुद्वहत्।
आभिजात्यं मनोहारि तदत्र प्रौढिनिर्मितम्॥—वही १,४८

४ बन्धशैथिल्यदोषोऽपि दर्शितः सर्वकोमले।—दण्डी, काव्याद० १,६९

भी काव्य का दोष है। इन दोनों दोषों का अभाव आभिजात्य गुण में माना गया है।

इन दो मार्गों के गुणों के स्वरूप का उल्लेख कर कुन्तक ने यह कह दिया है कि मध्यम मार्ग के माधुर्य आदि गुणों में सुकुमार और विचित्र; दोनों ही मार्गों के माधुर्य आदि गुणों के स्वभाव का मिश्रण रहता है।[१] अतः, कुन्तक ने मध्य मार्ग के गुणों के लक्षण का उल्लेख नहीं कर केवल उदाहरण दिये हैं, जिनमें सुकुमार और विचित्र मार्गों के गुणों की विशेषताएँ दिखाई गयी हैं।

दण्डी ने वैदर्भ और गौड; दो परस्पर विरोधी मार्गों के गुणों की कल्पना की थी। गौड मार्ग का स्वभाव वैदर्भ मार्ग के स्वभाव से विपरीत है। अतः, वैदर्भ मार्ग के गुणों का विपर्यय, जो वैदर्भ मार्ग में त्याज्य समझा जाता है, गौड मार्ग में ग्राह्य माना जाता है। स्पष्ट है कि वैदर्भ मार्ग के गुणविपर्ययात्मक दोष गौड मार्ग में गुणरूप में गृहीत हैं। मार्ग की प्रकृति-भिन्नता के अनुरूप गुण के स्वरूप-भेद की कुन्तक की कल्पना का आधार दण्डी की धारणा ही है। भेद यह है कि जहाँ दण्डी के दो मार्गों में एक का गुण दूसरे में दोष माना जाता है, वहाँ कुन्तक के मार्गों के गुणों में मात्रा का ही भेद है। सुकुमार मार्ग के गुण ही विचित्र मार्ग में कुछ विशेष मात्रा में रहते हैं।[२] सुकुमार मार्ग में स्वाभाविक वर्णन की चारुता पर कवि का ध्यान रहता है। अतः, गुण-योजना पर वे विशेष ध्यान नहीं देते; पर विचित्र मार्ग में कलात्मकता पसन्द की जाती है। फलतः, उसमें गुण, अलङ्कार आदि का आधिक्य रहता है।

उक्त चार असाधारण गुणों का उल्लेख कर कुन्तक ने दो साधारण गुणों का स्वरूप-वर्णन किया है, जो तीनों मार्गों में सामान्य रूप में रहते हैं। कुन्तक के अनुसार औचित्य और सौभाग्य—दो साधारण गुण हैं।

औचित्य—जो स्पष्ट रूप से पदार्थ के उत्कर्ष का पोषण करता है वह उचित है अर्थात् स्वभावानुरूप वर्णन करने वाला गुण औचित्य कहा जाता है।[३] औचित्य का यही स्वरूप क्षेमेन्द्र ने भी माना है; किन्तु उन्होंने उसे काव्य का अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना है। भामह दण्डी आदि ने औचित्य को गुण

---

१. द्रष्टव्य—कुन्तक, वक्रोक्तिजी० १, ४९-५१

२. आभिजात्यप्रभृतयः पूर्वमार्गोदिता गुणाः।
अत्रातिशयमायान्ति जनिताहार्यसम्पदः। वही पृ० १५१

३. आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।—
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यान जीवितम्॥—वही, १, ५३,

तो नहीं माना है; पर गुण-दोष-निर्धारण का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व उसे माना गया है। इसीलिए अपार्थ आदि दोष उन्मत्त, मत्त और बच्चे की उक्ति में दोष नहीं माने जाते। वक्ता के स्वभाव के अनुकूल होने के कारण उसके दोषत्व का परिहार हो जाता है। अतः, यह मानना निराधार नहीं कि काव्य के किसी अङ्ग के रूप में औचित्य का उल्लेख नहीं करने पर भी वे प्राचीन आचार्य औचित्य के महत्त्व से परिचित थे। देशविरोध, कालविरोध आदि दोष औचित्य-त्याग के ही परिणाम हैं। औचित्य की दूसरी परिभाषा में कुन्तक ने कहा है कि जहाँ वक्ता और भावक के स्वभाव से प्रतिपाद्य वस्तु रमणीयता के साथ आच्छन्न कर ली जाय, वहाँ भी औचित्य गुण माना जाता है।[१]

सौभाग्य—अर्थगत सौन्दर्य को सौभाग्य गुण माना गया है। यह सम्पूर्ण प्रतिपाद्य की रमणीयता का गुण है। अर्थ को व्यक्त करना कवि का उद्देश्य होता है। उस अर्थ को अधिक-से-अधिक चमत्कारपूर्ण या प्रभावशाली बनाने के लिए वह सटीक शब्दों का चयन करता है। सभी शब्दों में भाव को समान रूप से प्रभावशाली बनाकर व्यक्त करने की क्षमता नहीं होती। अतः, कवि को शब्द-शोधन करना पड़ता है। कुन्तक ने सौभाग्य गुण के लक्षण में यह धारणा प्रकट की है कि जिस अर्थ को ग्रहण करने के लिए कवि की प्रतिभा शब्द आदि उपादेय वर्ग में सावधान भाव से यत्नशील होती है, उस अर्थ के सौन्दर्य-रूप गुण को सौभाग्य कहा जाता है।[२] इस गुण के बड़े व्यापक स्वरूप का वर्णन कुन्तक ने किया है। सभी काव्य-सामग्रियों के सुष्ठु प्रयोग से, जो काव्य में सम्मिलित लोकोत्तर सौन्दर्य की सृष्टि होती है, उसे कुन्तक ने इस गुण में समेट लिया है और इस गुण को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। सौभाग्य के दूसरे लक्षण में कुन्तक ने कहा है कि प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति आदि सकल सामग्रियों से काव्य के शब्दादि उपादेय पदार्थों में जो अकलुष छटा प्रस्फुटित होती है, उससे निष्पाद्य एवं सहृदयों को अलौकिक आनन्द प्रदान करने वाला यह सौभाग्य काव्य का प्राणभूत गुण है।[३] डॉ० नगेन्द्र ने

---

१. यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते॥—कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, १, ५४

२. इत्युपादेयवर्गेऽस्मिन् यदर्थं प्रतिभा कवेः।
सम्यक् संरभते तस्य गुणः सौभाग्यमुच्यते॥—वही १, ५५

३. सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम्।
अलौकिकचमत्कारकारि काव्यैकजीवितम्॥—वही १, ५६

उचित ही कहा है कि सौभाग्य से कुन्तक का अभिप्राय कल्पना-विलास अथवा काव्य-समृद्धि का है।[1] औचित्य और सौभाग्य गुणों के स्वरूप की स्थापना कर कुन्तक ने कहा है कि ये दोनों गुण सुकुमार, विचित्र एवं मध्यम—तीनों मार्गों के पद, वाक्य एवं प्रबन्ध में व्यापक रूप में रहते हैं।[2] औचित्य और सौभाग्य के स्वरूप की व्यापकता पर विचार करने से इन दोनों को गुण के भेद के रूप में स्वीकृत करना उचित नहीं जान पड़ता। सौभाग्य जब काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया तो उसे गुणों के आधार के रूप में स्वीकृत करना ही युक्तिसङ्गत होता, गुण के भेद के रूप में नहीं।

कुन्तक की गुण-धारणा के इस विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि प्राचीन आचार्यों के दस गुणों को उन्होंने अस्वीकार किया है तथापि उनमें से कई गुणों के लक्षणों को अपने गुणों के लक्षणों में ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार सुकुमार मार्ग के लावण्य गुण में दण्डी के सुकुमारता गुण के लक्षण को प्रकारान्तर से गृहीत कर लिया गया है। विचित्र मार्ग के लावण्य गुण में वामन के शब्द-श्लेष की परिभाषा की स्वीकृति है। विचित्र मार्ग के माधुर्य में दण्डी के 'अस्पृष्ट-शैथिल्य' ओज को स्वीकार किया गया है। विचित्र मार्ग के प्रसाद में वामन की शब्द-प्रसाद-धारणा को ही कुन्तक ने अपनाया है। सुकुमार मार्ग का माधुर्य गुण दण्डी और भामह के माधुर्य गुण के समान है। स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों की गुण-धारणा से असहमत होने पर भी कुन्तक उनकी गुण-धारणा के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं रह सके हैं।

क्षेमेन्द्र

क्षेमेन्द्र ने कविकण्ठाभरण में काव्य गुण पर विचार किया है। उनकी गुण-धारणा मौलिक है। क्षेमेन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य के काव्य-गुण के नाम को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने तीन गुणों का उल्लेख किया है। वे हैं—(क) शब्दवैमल्य, (ख) अर्थवैमल्य एवं (ग) रसवैमल्य।[3] इनके विपर्यय को क्षेमेन्द्र ने काव्य का दोष माना है। अतः, उनके अनुसार शब्द-कालुष्य, अर्थकालुष्य तथा रसकालुष्य—तीन काव्य के दोष हैं।[4] इन गुणों की

---

१. डा० नगेन्द्र, हिन्दी वक्रोक्तिजीवित की भूमिका, पृ० १८०

२. एतत्त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते॥—कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, १, ५७

३. तत्र शब्दवैमल्यमर्थवैमल्यं रसवैमल्यमिति त्रयः काव्यगुणाः।
—क्षेमेन्द्र, कविकण्ठाभरण, ४ पृ० १३१

४. शब्दकालुष्यं अर्थकालुष्यं रसकालुष्यमिति काव्यदोषाः। —वही, ४, पृ० १३१

परिभाषा कविकण्ठाभरण में नहीं दी गयी है। इन गुणों के नाम एवं क्षेमेन्द्र द्वारा दिये हुए इनके उदाहरणों के आधार पर इनके स्वरूप का परिचय मिल सकता है। अकलुप शब्द-योजना क्षेमेन्द्र के अनुसार शब्दवैमल्य गुण है। उन्होंने स्वरचित 'पद्य कादम्बरी' से शब्दवैमल्य का जो उदाहरण दिया है, उससे यह गुण प्राचीन आचार्यों के शब्दगत प्रसाद गुण के समकक्ष जान पड़ता है।

अर्थवैमल्य नाम से क्षेमेन्द्र ने स्वतन्त्र गुण की कल्पना की है। वामन ने अर्थ की विमलता को अर्थगत प्रसाद की संज्ञा दी है। क्षेमेन्द्र का अर्थवैमल्य वामन के अर्थ-प्रसाद से नाम्ना भिन्न होने पर भी प्रकृत्या अभिन्न है।

रसवैमल्य गुण के लिए क्षेमेन्द्र प्रकृत्यौचित्य को अनिवार्य मानते थे। प्रकृति के अनुरूप वर्णन न होने से रसकालुष्य दोष होता है, जो रसवैमल्य गुण का विपर्यास है। प्रकृत्यनौचित्य में रसकालुष्य दिखाने के लिए भट्टनारायण के वेणीसंहार की एक घटना का उदाहरण दिया गया है। नकुल जन्तु को स्वप्न में देखकर भानुमती के मन में नाम-साम्य से पाण्डव नकुल के साथ सम्भोग की भावना का जाग्रत होना राजमहिषी की प्रकृति के अनुरूप नहीं है। अतः, इस वर्णन में प्रकृत्यनौचित्य का वर्णन होने से रसकालुष्य दोष है।[१] क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रस का जीवितभूत माना है।[२] जो जिसके सदृश या अनुरूप होता है, वह उसके लिए उचित होता है।[३] रस में प्रकृत्यौचित्य का अभिप्राय है—आलम्बन, आश्रय आदि की प्रकृति के अनुरूप वर्णन होना। प्रकृति का उचित वर्णन होने पर रसवैमल्य गुण होता है, अन्यथा रसकालुष्य दोष माना जाता है। आनन्दवर्धन ने भी अनौचित्य को रस-भङ्ग का एकमात्र कारण माना है।[४] क्षेमेन्द्र आनन्दवर्धन के सिद्धान्त के अनुयायी थे। रसकालुष्य को दोष मानना आनन्दवर्धन की मान्यता के अनुरूप ही है। औचित्यविचार-चर्चा में औचित्य को रस की आत्मा मान लेने पर प्रकृति आदि के औचित्य से उत्पन्न रस की विमलता को गुण-मात्र मान लेना समीचीन नहीं जान पड़ता। रस की विमलता को काव्य में प्रधान तत्त्व के रूप में स्वीकृति मिलनी चाहिए।

---

१ रसकालुष्यं यथा भट्टनारायणस्य वेणीसंहारे भानुमत्या नकुलप्राणिस्वप्नदर्शने पाण्डवनकुलस्वैरसङ्गमेर्ष्यासद्भावः चक्रवर्तिमहिष्याः सामान्यनीचवनितावत्।
—क्षेमेन्द्र, कविकण्ठाभरण, पृ० १३३

२. औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।—क्षेमेन्द्र, औचित्यवि०च० ५

३: उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।—क्षेमेन्द्र, औचित्यवि० च० ७

४. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥—आनन्द० ध्वन्यापृ० ३, ० ०२

आनन्दवर्धन आदि ने गुण को रस में उत्कर्ष का आधान करने वाला धर्म-मात्र माना है; पर क्षेमेन्द्र ने रस के वैमल्य या उसके उत्कर्ष को ही रसगत गुण मान लिया है।

स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र ने जिन तीन नवीन गुणों के स्वरूप का विवेचन किया है, उनसे पूर्ववर्ती आचार्य अपरिचित नहीं थे। शब्दवैमल्य और अर्थवैमल्य को गुण के रूप में पहले भी स्वीकृति मिल चुकी थी, यद्यपि उनकी संज्ञा भिन्न थी। रसवैमल्य के महत्त्व पर भी ध्वन्यालोक में अन्य प्रसङ्ग में विस्तार से विचार हो चुका था। क्षेमेन्द्र ने उक्त तथ्य को नवीन नाम से गुण-वर्ग में रखकर उसपर विचार किया, यही उनकी नवीनता है।

भोज

भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में गुणों का वर्णन किया है। शृङ्गार-प्रकाश में उनकी गुण-धारणा का विकास हुआ है। सरस्वतीकण्ठाभरण में व्यक्त विचार ही भोज के शृङ्गार-प्रकाश में विकसित हुए हैं।[१] डॉ० ह्वी० राघवन ने अपने शोध-प्रबन्ध में भोज के शृङ्गार-प्रकाश का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। शृङ्गार-प्रकाश के मूल रूप में उपलब्ध न होने के कारण प्रस्तुत प्रबन्ध में डॉ० राघवन की पुस्तक से सहायता ली गयी है। भोज की गुण-धारणा पर हमारा विचार मुख्यतः सरस्वतीकण्ठाभरण पर आधृत है।

भोज ने गुणों को तीन वर्गों में विभक्त किया है—बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक। शब्दगत गुणों को बाह्य गुण माना गया है। मानव-शरीर के बाह्य अवयव-संस्थान के लावण्य की तरह शब्दगत गुण काव्य-शरीर के बाह्य गुण हैं। आभ्यन्तर गुण अर्थगत गुण हैं। व्यक्ति के शील वैदग्ध्य, सौभाग्य आदि की तरह अर्थगत गुण काव्य के आभ्यन्तर गुण हैं। वैशेषिक गुण दोष-गुण हैं। काव्य के कुछ दोष भी विशेष स्थिति में शोभाधायक गुण बन जाते हैं।[२] भामह, दण्डी आदि ने भी विशेष स्थिति में काव्य-दोषों

---

१. ह्वी० राघवन, Bhoja's Sringara Prakasa Vol. I पृ० ३०८

२. तत्र अन्ववायवयोरूपलावण्यादयो बाह्याः शीलवैदग्ध्यमाहाभाग्यसौभाग्यादयः आन्तराः। ये तु दोषा अपि आश्रयविशेषावस्थाविशेषाद्युपाधेः गुणत्वमाश्रयन्ते ते वैशेषिकाः। यथोच्यते—(छाया)

सामान्य-सुन्दरीणां विभ्रममावहत्यविनय एव।
धूमोच्चयः प्रज्वलितानां बहुमतः सुरभिदारूणाम्॥

—शृ० प्र० खण्ड २ पृ० २११-१८ से डॉ० राघवन द्वारा उद्धृत, द्रष्टव्य Bhoja's Sringara Prakasa पृ० ३१०

का शोभाधायकत्व स्वीकार किया था; पर भोज ने ही प्रथम बार उन दोष-गुणों को सुसम्बद्ध रूप में गुण के एक वर्ग में रखा। भरत और दण्डी ने गुण के शब्दगत एवं अर्थगत भेद नहीं किये थे, यद्यपि उनके गुण-लक्षण के आधार पर कुछ गुणों को शब्दगत, कुछ को अर्थगत एवं कुछ को उभयगत माना जा सकता है। वामन ने दसो गुणों के शब्दगत एवं अर्थगत—दो स्पष्ट भेद मान लिये। भोज ने शब्द-गुण-वर्ग एवं अर्थ-गुण-वर्ग के साथ एक नवीन वैशेषिक गुण-वर्ग की कल्पना कर ली। शब्दगत एवं अर्थगत गुणों को सामान्य गुण माना गया एवं दोष-गुणों को वैशेषिक।[१]

भोज ने शब्दगुणों के चौबीस प्रकार माने हैं और उन्हीं नाम से चौबीस अर्थगत गुणों की भी कल्पना की है। इन चौबीस गुणों में से प्रत्येक का एक भेद शाब्द है और दूसरा आर्थ। यहाँ भोज के बाह्य एवं आभ्यन्तर गुणों के स्वरूप पर विचार किया जाता है; तदुपरान्त उनके वैशेषिक गुणों पर विचार किया जायगा। उनके चौबीस गुण हैं:—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, कान्ति, उदारत्व, उदात्तता, ओज, और्जित्य प्रेयान्, सुशब्दता, समाधि, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तर, संक्षेप, सम्मितत्व, भाविकत्व, गति, रीति, उक्ति तथा प्रौढि।[२] प्रत्यक्षतः इन गुणों में भरत, दण्डी, वामन आदि के दस गुण भी समाहित हैं। उन गुणों के अतिरिक्त प्राचीन आचार्यों के प्रेय, भाविक आदि अलङ्कारों को भी भोज ने गुण में परिगणित कर लिया है। कहीं प्राचीन आचार्यों के दो नामों से अभिहित एक ही गुण से भोज ने दो गुणों की कल्पना कर ली है। उदाहरणार्थ, भरत ने दो श्लोकों में उदारता गुण के लक्षण देते हुए एक में उसे उदारत्व कहा था तथा दूसरे में

---

१. त्रिविधाश्च गुणाः काव्ये भवन्ति कविसम्मताः।
बाह्याश्चाभ्यन्तराश्चैव ये च वैशेपिका इति॥
बाह्याः शब्दगुणास्तेपु चान्तरास्त्वर्थसंश्रयाः।
वैशेपिकास्तु ते नूनं दोपत्वेऽपि हि ये गुणाः॥—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, १ पृ० ४९

२. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता॥
ओजस्तथान्यदौर्जित्यं प्रेयानथ सुशब्दता।
तद्वत् समाधिः सौक्ष्म्यञ्च गाम्भीर्यमथ विस्तरः॥
संक्षेपः सम्मितत्वञ्च भाविकत्वं गतिस्तथा।
रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढिरथैषां लक्ष्यलक्षणे॥—वही पृ० ५०

उदात्त। भोज ने उदारत्व एवं उदात्तत्व को अलग-अलग गुण स्वीकार किया। कहीं-कहीं एक ही गुण की विभिन्न आचार्यों द्वारा दी गयी विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर भोज ने एकाधिक गुण-लक्षण की सृष्टि कर ली है।

श्लेष :—भोज ने शब्दगत श्लेष को 'सुश्लिष्टपदता' कहा है।[१] जहाँ पदों के अलग-अलग रहने पर भी एकपदता का भान होता है, वहाँ श्लेष गुण माना गया है। अपने श्लेष-उदाहरण को स्पष्ट करते हुए भोज ने कहा है कि यहाँ पदों के भिन्न-भिन्न होने पर भी उनकी एकपदता के आभास के कारण सन्दर्भ में सुश्लिष्टता आ गयी है। अतः, यहाँ श्लेष गुण है।[२] भोज की शब्द-श्लेष धारणा वामन की 'मसृणत्वं श्लेषः' की धारणा से अभिन्न है। भोज ने श्लेष का विपर्यय शिथिल दोष माना है।[३] श्लेष-विपर्यय-शैथिल्य की यह धारणा दण्डी के 'अस्पृष्टशैथिल्य' श्लेष-लक्षण से प्रभावित है। भेद इतना है कि दण्डी ने शैथिल्य को वैदर्भ मार्ग का दोष माना था और गौड मार्ग का गुण; पर भोज ने शिथिल को 'गुणविपर्ययात्मक अरीतिमत्' दोष कहकर काव्य से सर्वथा बहिष्करणीय माना है।

अर्थगुण श्लेष को भोज ने 'संविधानगत सुसूत्रता' कहा है।[४] यह धारणा वामन की 'घटना श्लेषः' की धारणा से भिन्न नहीं। वामन के अर्थश्लेष-गुण के विवेचन-क्रम में हम देख चुके हैं कि घटना को क्रम, कौटिल्य, अनुल्वणत्व और उपपत्तियोग कहा गया है। सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकार रत्नेश्वर ने भोज की 'संविधान-सुसूत्रता' को घटना से अभिन्न बताया है।[५] इस प्रकार

---

१. गुणः सुश्लिष्टपदता श्लेष इत्यभिधीयते।—भोज, सरस्वतीकण्ठा० पृ० ५०

२. अत्र भिन्नानामपि पदानामेकपदताप्रतिभासहेतुत्वेन सन्दर्भस्य सुश्लिष्टत्वादयं श्लेषो नाम शब्दगुणः।—वही, वृत्ति पृ० ५१

३. विपर्ययेन श्लेषस्य सन्दर्भः शिथिलो भवेत्।—वही, पृ० २७

४. तेषां श्लेष इति प्रोक्तः संविधाने सुसूत्रता।—वही, १ पृ० ७३

५. 'घटना श्लेषः' इति सूत्रयित्वा क्रमकौटिल्य-अनुल्वणत्वोपपत्तियोगः घटनेति वामनेन व्याख्यातम्। अस्यार्थः—इदं कृत्वा इदं कर्त्तव्यमिति क्रमः। तत्रैव कौटिल्यं लोकातिगामिनी वक्रता। अवक्रयोः शब्दार्थयोः वचनमात्रत्वात्। अतिमात्रतया प्रतिभासाभावः अनुल्वणत्वम्। कथमेवमर्थः संगच्छत इत्यनुपपत्तिसमाधानौपयिकविशेषनिवेशनमुपपत्तिः। तथा च क्रमेण कौटिल्येन अनुल्वणतया उपपत्त्या योजनमर्थस्य श्लेष इति। तत्र संविधानक्रमानुल्वणत्वे (न) सूत्रशब्देनोपात्ते, स्वपदेन (सुपदेन ?) कौटिल्यमुक्तम्। अघटमानस्येव वाक्यार्थस्य बुद्धिचातुर्येण घटनेति वाक्यार्थः। —वही, रत्नेश्वर टीका० पृ० ७३

भोज संविधान में क्रम, काटिल्य, अनुल्वणत्व एवं उपपत्तियोग को श्लेष अर्थ-गुण मानते हैं। वामन के अर्थ-श्लेष के उदाहरण में उद्धृत अमरु का श्लोक ही भोज ने भी अर्थगुण-श्लेष के उदाहरण में उद्धृत किया है।

प्रसाद :—शब्दगत प्रसाद को भोज ने 'प्रसिद्धार्थपदत्व' कहा है।[1] इसमें जिस पद का जो अर्थ प्रसिद्ध रहता है, उस अर्थ में उसी पद का प्रयोग हुआ करता है। दण्डी ने भी प्रसाद गुण के सम्बन्ध में ठीक यही धारणा प्रकट की थी। उन्होंने 'प्रसिद्धार्थ' को प्रसादवत् कहा था। भोज की शब्दप्रसाद-धारणा दण्डी की प्रसाद-धारणा से ही गृहीत है।

अर्थगत-प्रसाद को 'अर्थ-प्राकट्य' कहा गया है।[2] इसके उदाहरण की व्याख्या करते हुए भोज ने कहा है कि यहाँ 'पद्मिनी को विकसित करने वाला'; 'कोक के शोक को दूर करने वाला'; 'तम का विनाश करने वाला' आदि कथन से सूर्य का कथन न होने पर भी सूर्य-रूप अर्थ प्रकट हो जाता है; अतः अर्थ-प्राकट्य-रूप अर्थगत-प्रसाद गुण है।[3] स्पष्ट है कि कुछ विशेषण आदि के प्रयोग से अनुक्त अर्थ की भी प्रतीति हो जाने में भोज अर्थगत प्रसाद गुण मानते हैं। डॉ० व्ही० राघवन ने इसे भोज का नवीन गुण माना है।[4] किन्तु, भोज की यह प्रसाद-गुण-धारणा वस्तुतः भरत के प्रसाद-गुण-लक्षण से प्रभावित है। भरत ने भी अनुक्त अर्थ की प्रतीति में प्रसाद गुण की सत्ता स्वीकार की है।[5] अतः, भोज की अर्थ-प्रसाद-धारणा को स्वतन्त्र उद्भावना मानना युक्ति-सङ्गत नहीं। भोज ने प्रसाद गुण के विपर्यय को अप्रसन्न दोष कहा है।[6]

समता :—मृदु, स्फुट एवं मिश्र बन्ध का अवैषम्य ही समता है।[7] जहाँ मृदु बन्ध हो, सम्पूर्ण रचना में मृदु बन्ध ही रहे, आरम्भ में यदि स्फुट बन्ध हो तो अन्त तक स्फुट बन्ध का ही निर्वाह हो या सम्पूर्ण रचना में केवल

---

१. प्रसिद्धार्थपदत्वं यत् स प्रसादो निगद्यते।—भोज, सरस्वतीकण्ठा० पृ० ५१

२. यत्तु प्राकट्यमर्थस्य प्रसादः सोऽभिधीयते।—वही, ६७ पृ० ७४

३. अत्र पद्मिनीविकाशकरणे उदयशैलावतरणे कोकशोकहरणे तमोविदारणे च अनुक्तोऽपि सूर्यलक्षणोऽर्थः प्रकटमुपलक्ष्यते।—वही, वृत्ति पृ० ७४

४. द्रष्टव्य—डॉ० राघवन, Bhoja's Srnigara Prakasa Vol I पृ० ३१५

५. अप्यनुक्तो बुधैर्यत्र शब्दार्थः प्रतीयते।
सुखशब्दार्थसंयोगात्प्रसादः स तु कीर्त्यते॥—भरत, ना० शा० १६,९९

६. अप्रसन्नं भवेद्वाक्यं प्रसादस्य विपर्ययात्।—भोज,० सरस्वतीकण्ठा० पृ० २९

७. यन्मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णबन्धविधिं प्रति।
अवैषम्येन भणनं समता साऽभिधीयते॥—वही, पृ० ५२

मिश्रबन्ध ही रहे तो वहाँ समता गुण माना जाता है। यह शैली की एकरूपता का गुण है। भोज ने शब्दगत समता गुण की यह धारणा दण्डी से ली है। दण्डी ने मृदु, स्फुट एवं मध्यम बन्ध के अवैषम्य को ही समता गुण माना है। समता का विपर्यास भोज ने विषम दोष माना है।[१]

अर्थगुण समता की धारणा में भोज ने वामन की अर्थ-समता-धारणा का अनुसरण किया है। अर्थ का जिस क्रम में वर्णन होना चाहिए, उस क्रम का भङ्ग न कर अविषम भाव से वर्णन समता गुण है।[२] वामन ने भी 'अवैषम्यं समता' कहकर अपनी वृत्ति में अवैषम्य का अर्थ 'प्रक्रमाभेद' अर्थात् 'अर्थ के क्रम का निर्वाह' माना था। इस प्रकार भोज ने शब्द-समता की धारणा में दण्डी की समता धारणा को, जिसे वामन ने भी स्वीकार किया था, ग्रहण किया और अर्थगत-समता गुण की धारणा में वामन की अर्थसमता-धारणा का अनुगमन किया।

माधुर्य :—भोज ने 'पृथक्पदता' को माधुर्य कहा है।[३] वाक्य में पदों का समस्त न होकर पृथक्-पृथक् रहना शब्दगत माधुर्य गुण है। भोज की शब्द-माधुर्य-धारणा वामन की शब्द-माधुर्य-धारणा से अभिन्न है। वामन ने शब्द-माधुर्य को 'पृथक्पदत्व' कहा है।

अर्थगत माधुर्य की परिभाषा देते हुए भोज ने कहा है कि जहाँ क्रोध आदि की दशा में भी तीव्रता का अभाव हो, उसे अर्थ-माधुर्य कहते हैं।[४] काव्यगुण की यह विलक्षण धारणा भोज ने प्रकट की है। क्रोध की अवस्था में भी चेष्टा में तीव्रता का न होना काव्यगुण की अपेक्षा व्यक्ति-धर्म अधिक है। भरत ने सामान्याभिनय-वर्णन के प्रसङ्ग में नायक-नायिका की चेष्टाओं का वर्णन किया है। चेष्टागत माधुर्य का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है कि जहाँ दीप्त और ललित; सभी अवस्थाओं में व्यवहार में उल्बणता नहीं हो, वहाँ माधुर्य गुण माना जाता है।[५] भोज ने भरत के नायक-नायिका-गत इस माधुर्य गुण को काव्यगुण मान लिया और वामन के अर्थमाधुर्य के 'उक्ति-

---

१. भवेत् स एव विषमः समताया विपर्ययात्।—भोज, सरस्वतीकण्ठा० पृ० २८

२. अवैषम्यं क्रमवतां समत्वमिति कीर्त्तितम्।—वही, पृ० ७४

३. या पृथक्पदता वाक्ये तन्माधुर्यमिति स्मृतम्।—वही, पृ० ५३

४. माधुर्यमुक्तमाचार्यैः क्रोधादावप्यतीव्रता।—वही, ९९ पृ० ७५

५. सर्वावस्थाविशेषेषु दीप्तेषु ललितेषु च।
अनुल्वणत्वं चेष्टायां माधुर्यमिति कीर्तितम्॥—भरत, ना० शा० १४,२७

वैचित्र्य, लक्षण को अस्वीकार कर दिया। भोज के अर्थगुण माधुर्य को काव्य-गुण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। माधुर्य गुण-विपर्यय को अनिर्व्यूढ कहा गया है, जो शब्दार्थोभयगत गुण-विपर्ययात्मक दोष है।[१]

सौकुमार्य :—अनिष्ठुर अक्षर से पूर्ण रचना को भोज ने सुकुमार या सौकुमार्य गुण-युक्त कहा है।[२] दण्डी की सौकुमार्य-परिभाषा को भोज ने यथावत् स्वीकार कर लिया है। निष्ठुर वर्णों के अभाव को सुकुमार रचना मानने में वामन भी दण्डी से सहमत हैं। उन्होंने अनिष्ठुरत्व को ही अजरठत्व कहा है। भोज ने दण्डी के सौकुमार्य-लक्षण की पदावली का ही कुछ परिवर्त्तन के साथ उल्लेख किया है और दण्डी के सौकुमार्य-गुण-उदाहरण को ही उद्धृत किया है। सौकुमार्य-विपर्यय कठोर दोष है।[3]

अर्थगत सौकुमार्य को भोज ने अनिष्ठुरत्व कहा है।[४] इस प्रकार किसी भी सुकुमार अर्थ के वर्णन में भोज अर्थगत-सौकुमार्य गुण स्वीकार करते हैं। डॉ० ह्वी० राघवन ने भोज की इस अर्थ-सौकुमार्य-धारणा को वामन की अर्थ-सौकुमार्य-धारणा से अभिन्न मान लिया है।[५] किन्तु, वामन और भोज की अर्थ-सौकुमार्य-धारणा के तुलनात्मक परीक्षण से डॉ० राघवन की मान्यता युक्तिसङ्गत नहीं जान पड़ती। वामन ने सौकुमार्य को अपारुष्य कहकर उसकी व्याख्या करते हुए परुष अर्थ के लिए अपरुष-प्रयोग को अर्थसौकुमार्य माना है। यह एक प्रकार से अमङ्गल-रूप अश्लील का विपर्यय है। मरने के लिए यशःशेष आदि प्रयोग वामन के अर्थसौकुमार्य के उदाहरण हैं। भोज के सौकुमार्य गुण के उदाहरण में अमङ्गल-परिहार का प्रयत्न नहीं है। "राम के साथ वन जाती हुई शिरीष-सुकुमारी सीता नगर से कुछ ही दूर जाने के बाद थककर बार-बार पूछने लगी कि अब और कितनी दूर जाना है और उसकी इस दशा को देख, जीवन में पहली बार राम की आँखों में आँसू भर आये।"[६]

---

१. माधुर्यव्यत्ययो यस्तु जायते रीतिखण्डनात्।
तदनिर्व्यूढमित्युक्तं काव्यसर्वस्ववेदिभिः ।।—भोज, सरस्वतीकण्ठा० पृ० ३२

२. अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिति स्मृतम्।—वही, ७६ पृ० ५५

३. सौकुमार्यविपर्यासात् कठोर उपजायते।—वही, पृ० २८

४. अनिष्ठुरत्वं यत्प्राहुः सौकुमार्यं तदुच्यते।—वही, १०० पृ० ७६

५. डा० ह्वी० राघवन Bhoja's Sringara Prakasa Vol I पृ० ३१६

६. सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी सीता जवात् त्रिचतुराणि पदानि गत्वा।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद् ब्रुवाणा रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ।।
—भोज, सरस्वतीकण्ठा० में उद्धृत पृ० ७६

इस उदाहरण में हृदय को करुणा से आर्द्र कर देने वाले कोमल अर्थ का वर्णन है। इसीलिए भोज ने यहाँ अर्थ-सौकुमार्य गुण माना है। स्पष्टतः, भोज का सौकुमार्य वामन के परुष अर्थ के लिए कोमल पद-प्रयोग से भिन्न है।

अर्थव्यक्ति :—अर्थव्यक्ति को 'सम्पूर्णवाक्यत्व' कहा गया है।[१] विवक्षित अर्थ को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त पद का प्रयोग सम्पूर्णवाक्यत्व है। अर्थव्यक्ति गुण में अपेक्षित पद-प्रयोग होने से अर्थ को पूर्णतः समझने के लिए अध्याहार की आवश्यकता नहीं रह जाती। भोज की यह शब्दगत अर्थव्यक्ति गुण-धारणा दण्डी की अर्थव्यक्ति-धारणा के समान है। दण्डी ने अर्थव्यक्ति को अनेयत्व या नेयार्थत्व दोष का अभाव कहा था। भोज ने भी सम्पूर्णवाक्यत्व कहकर अर्थव्यक्ति में नेयत्व का अभाव माना है। इसका विपर्यय नेयार्थ दोष माना गया है।[२]

भोज ने वस्तुस्वरूप के साक्षात् कथन में अर्थगत अर्थव्यक्ति गुण माना है।[३] किसी वस्तु का इस प्रकार वर्णन, कि उसका रूप स्पष्ट होकर साक्षात् प्रतीत होने लगे, अर्थव्यक्ति गुण है। भोज ने अर्थगत अर्थव्यक्ति गुण की यह धारणा वामन से ली है। वामन ने अर्थगत अर्थव्यक्ति को वस्तु-स्वभाव का स्फुटत्व कहा था। भोज ने अपनी धारणा को स्पष्ट करने के लिए वामन के अर्थव्यक्ति-उदाहरण को ही उद्धृत किया है।

कान्ति :—शब्दगत कान्ति भोज के अनुसार बन्ध की उज्ज्वलता है।[४] बन्ध की उज्ज्वलता का अभिप्राय रचना में सुन्दर शब्दों के प्रयोग से है। भोज की शब्दकान्ति-धारणा वामन की शब्दकान्ति-धारणा की अविकल अवतारणा है। वामन ने भी शब्दकान्ति को बन्ध का औज्ज्वल्य कहा था, जिसके अभाव में काव्य पुराने चित्र की तरह कान्ति-हीन लगने लगता है।

अर्थगुण कान्ति की धारणा भी वामन की अर्थकान्ति-धारणा से अभिन्न है। वामन की तरह भोज ने भी कान्ति-गुण को दीप्तरसत्व मान लिया है।[५] वामन रसवादी आचार्य नहीं थे। इसलिए उन्होंने रस को गुण में परिगणित कर लिया; किन्तु भोज काव्य में रस के महत्त्व को समझते थे। सरस्वतीकण्ठाभरण

---

१. यत्र सम्पूर्णवाक्यत्वमर्थव्यक्तिं वदन्ति ताम्।—भोज, सरस्वतीकण्ठा० पृ० ५६
२. वाक्यं भवति नेयार्थमर्थव्यक्तेर्विपर्ययात्। —वही, पृ० ३०
३. अर्थव्यक्तिः स्वरूपस्य साक्षात् कथनमुच्यते।—वही १०१ पृ० ७६
४. यदुज्ज्वलत्वं बन्धस्य काव्ये सा कान्तिरुच्यते।—वही ७७ पृ० ५५
५. कान्तिर्दीप्तरसत्वं स्यात्।—वही, १०२ पृ० ७७

एवं शृङ्गार-प्रकाश में रस के विवेचन से यह बात स्पष्ट है। फिर भी वामन के मत का अनुसरण करते हुए उन्होंने दीप्तरसत्व को कान्ति गुण मान लिया यह अद्भुत बात है। कान्ति-विपर्य्यय को भोज ने ग्राम्य दोष कहा है।[१]

उदारत्व :—शब्दगत उदारत्व की धारणा में भोज ने वामन के सिद्धान्त को अपनाया है। वामन की तरह भोज ने भी विकट अक्षर-बन्ध को उदार कहा है और वामन के मतानुसार ही विकटत्व के उदाहरण की व्याख्या करते हुए उसे नृत्य करते हुए-से पदों की वाक्य-रचना कहा है।[२]

अर्थगत उदारता गुण के स्वरूप-निर्धारण में भोज ने वामन की अर्थ-उदारता-धारणा को स्वीकार नहीं कर दण्डी के उदात्त अलङ्कार-लक्षण का सहारा लिया है। दण्डी के उदात्त अलङ्कार-लक्षण में दो बातों पर बल दिया गया है—(क) आशय का उत्कर्ष और (ख) भूति या समृद्धि का उत्कर्ष।[३] भोज ने इनमें से भूत्युत्कर्ष को अर्थगत उदारता गुण का लक्षण मान लिया है और आशय के उत्कर्ष के आधार पर उदात्त अर्थगुण की कल्पना कर ली है। इस प्रकार भोज ने प्राचीन आचार्यों के कुछ अलङ्कारों को भी गुण की सीमा में खींच लिया है। भोज के अनुसार भूति का उत्कर्ष उदारता अर्थ-गुण है।[४] उदारता का विपर्यय अनलङ्कार दोष माना गया है।[५] इस गुण के विपर्य्यय को अनलङ्कार मानने से यह बात स्पष्ट है कि भोज इस गुण के अलङ्कारत्व से परिचित थे। अलङ्कार का विपर्यय ही अनलङ्कार हो सकता है, गुण-विपर्य्यय नहीं। भोज ने एक ओर तो दण्डी के उदात्त अलङ्कार-लक्षण को अपने अर्थगत उदात्त गुण से मिला दिया, दूसरी ओर दण्डी के उदार गुण के लक्षणों का उपयोग भी उसके साथ ही करना चाहा है। दण्डी ने उदार गुण के दो लक्षणों में उसे 'श्लाघ्य विशेषणयुक्त' तथा 'उत्कर्षगुण-प्रतीतिजनक' कहा है। भोज ने

---

१. कान्तेर्विपर्य्ययाद्वाक्यं ग्राम्यमित्यपदिश्यते।—भोज, सरस्वतीकण्ठा० पृ० ३१

२. 'विकटाक्षरवन्धत्वमाद्यैरौदार्यमुच्यते।' यथा—आरोहत्यवनीरुहं....। अत्र विकटाक्षरवन्धत्वेन नृत्यद्भिरिवपदैः यद्वाक्यरचना सा उदारता।
—वही, पृ० ५६-५७

३. आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम्।
उदात्तं नाम तं प्राहुरलङ्कारं मनीषिणः॥—दण्डी, काव्यादर्श, २, ३००

४. भूत्युत्कर्षं उदारता।—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, १ पृ० ७७

५. यस्तु रीतेरनिर्वाहादौदार्य्यस्य विपर्य्ययः।
वाक्यं तदनलङ्कारमलङ्कारविदो विदुः॥—वही, पृ० ३२

उदार-विपर्य्यय अनलङ्कार के उदाहरण में श्लाघ्य विशेषण के अभाव के कारण उदार-विपर्य्यय दोष स्वीकार किया है।[१] इस प्रकार भोज ने दण्डी के उदात्त अलङ्कार और उदारता गुण की धारणा का मिश्रण अपनी उदारता-गुण-धारणा में कर दिया है। उदार और उदात्त मूलतः पर्यायवाची शब्द थे। भरत ने उदारता गुण के दो लक्षण देते हुए एक में उदारता शब्द का प्रयोग किया था और दूसरे में उसे ही उदात्तता कहा था।[२] दण्डी ने उदारता को गुण और उदात्तता को अलङ्कार माना था; पर भोज ने दोनों को अलग-अलग गुणों के रूप में कल्पित कर लिया।

उदात्तता :—शब्दगत उदात्तता भोज के अनुसार श्लाघ्य विशेषण का योग है।[३] यह धारणा दण्डी के उदार गुण की धारणा से अभिन्न है। दण्डी ने उदार गुण के दूसरे लक्षण में यह कहा था कि कुछ लोग श्लाघ्य विशेषण को उदार कहते हैं। दण्डी का यह श्लाघ्य विशेषण-योग रूप उदार ही भोज में उदात्त गुण बन गया है। वामन के शब्दगत उदार-गुण-लक्षण के आधार पर भोज ने उदार गुण का लक्षण दिया और दण्डी के उदार गुण-लक्षण के आधार पर उदात्त नामक अलग गुण की कल्पना कर ली। इस प्रकार पर्यायवाची शब्दों को दो गुणों के रूप में कल्पित करने पर भी वे दोनों का भेद बहुत स्पष्ट नहीं कर सके। दोनों में ऐक्य की जो परम्परागत भावना थी, उस प्रभाव से भोज सर्वथा मुक्त नहीं हो सके। यही कारण है कि उदारता को उदात्तत्व से भिन्न मानने पर भी उन्होंने उदार-विपर्य्यय को वस्तुतः उदात्त-विपर्य्यय बना दिया। उदार-विपर्य्यय अनलङ्कार के उदाहरण में भोज ने 'अनुत्कृष्ट विशेषण' को अनुदार या निरलङ्कार कहा है।[४] स्पष्ट है कि उदारत्व और उदात्तत्व का विपर्यय एक ही है। अतः, इन दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं।

भोज का अर्थगुण उदात्तत्व दण्डी के उदात्त अलङ्कार से अभिन्न है। भोज ने अर्थगत उदात्तता को आशय का उत्कर्ष कहा है।[५] 'आशयोत्कर्ष' दण्डी के

---

१. तदिदमपुष्टार्थत्वादनुत्कृष्टविशेषणमनुदारं निरलङ्कारमाचक्षते सोऽयमौदार्य-विपर्य्ययो नाम शब्दार्थप्रधानो गुणविपर्य्ययो दोषः ।– भोज, स०क० पृ० ३४

२. द्रष्टव्य—भरत, नाट्यशास्त्र १६, १०७,

३. श्लाघ्यैर्विशेषणैर्योगो यस्तु सा स्यादुदात्तता ।—भोज, सरस्वतीकण्ठा० पृ० ५७

४. तदिदमपुष्टार्थत्वादनुत्कृष्टविशेषणमनुदारं निरलङ्कारमाचक्षते सोऽयमौदार्य-विपर्य्ययो नाम शब्दार्थप्रधानो गुणविपर्य्ययो दोषः । यदाह
श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं वाक्यमिष्यते ।—वही, वृत्ति पृ० ३४

५. आशयस्य य उत्कर्षस्तदुदात्तत्वमिष्यते ।—वही, पृ० ७८

उदात्त अलङ्कार का एक भेद है। दण्डी के उदात्त अलङ्कार का एक भेद 'भूत्युत्कर्ष' वामन का अर्थगुण उदारत्व बन गया तथा दूसरा भेद 'आशयोत्कर्ष' अर्थगत उदात्तता गुण।

ओज :—शब्द-ओज को भोज ने समासभूयस्त्व' कहा है।[१] यह दण्डी की ओज-धारणा से अभिन्न है। इसके विपर्यय को भोज ने असमस्त दोष माना है।[२] असमस्तपदत्व का उदाहरण देकर उसे स्पष्ट करते हुए भोज ने लिखा है कि उसमें श्लेष आदि गुणों का अभाव है। उसके अभाव में वहाँ समग्रगुणा वैदर्भी रीति नहीं और न गौडी रीति ही है। अतः, असमस्त-पद-प्रयोग से रीति का खण्डन होता है और यह दोष है।[३] असमस्त दोष दिखाने के लिए भोज ने दण्डी के शैथिल्य-उदाहरण को उद्धृत किया है। दण्डी ने शैथिल्य को वैदर्भ मार्ग का दोष माना था; किन्तु गौड मार्ग में उसे ग्राह्य बताया था। भोज का असमस्त दोष दण्डी के शैथिल्य से भिन्न नहीं माना जा सकता। भोज ने इसे सभी रीतियों का दोष मान लिया है। उन्होंने दण्डी की ही तरह श्लेष-विपर्यय को शैथिल्य दोष कहा है और ओज-विपर्यय के रूप में शैथिल्य से मिलते-जुलते असमस्त दोष की कल्पना कर ली है; और, दण्डी के शैथिल्य-उदाहरण को ही इसके उदाहरण के रूप में उद्धृत कर दिया है। किन्तु, असमस्त को दोष मानना युक्तिसङ्गत नहीं। यदि पदों का असमस्त होना दोष है तो भोज के शब्द-माधुर्य गुण की क्या स्थिति होगी ? पृथक्पदत्व और असमस्तपदत्व में कोई तात्त्विक भेद नहीं। भोज ने पृथक्पदत्व को तो माधुर्य गुण कह दिया; पर असमस्त को दोष मान लिया। यह उनकी आत्मघाती युक्ति है। दण्डी ने पृथक्पदत्व को कहीं गुण नहीं माना है। इसलिए समासभूयस्त्व ओज के विपर्यय रूप असमस्त-पदता का विरोध उनके किसी गुण से नहीं होता। दूसरी बात यह है कि

---

१. ओजः समासभूयस्त्वम्।—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ५६

२. वाक्ये यः खण्डयन् रीतिं भवत्योजोविपर्ययः।
असमस्तमिति प्राहुर्दोषं तमिह तद्विदः ॥—वही, पृ० ३१

३. अत्र सत्यसमस्तपदाभिधाने सत्यपि च अर्थस्य सौकुमार्ये श्लेषादिगुणसामग्र्य-भावान्न वैदर्भी रीतिः। नापि यथोक्तलक्षणाभावात् गौडीयादय इति। खण्डितरीतित्वादयमोजोविपर्ययः शब्दार्थप्रधानो गुणविपर्ययो दोषो भवति। यदाह—

इत्यादि बन्धपारुष्यं शैथिल्यञ्च नियच्छति।
अतो नैनमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुञ्जते।—वही, ४५ पृ० ३२

दण्डी का गुण-विपर्यय सर्वथा दोष ही नहीं होता। वैदर्भ मार्ग का गुण-विपर्यय गौड मार्ग का गुण बन जाता है। किन्तु, भोज की धारणा इससे भिन्न थी। उनके अनुसार श्लेष आदि नौ गुणों का विपर्यय अरीतिमत् दोष है जो काव्य में सर्वथा त्याज्य है। ऐसी स्थिति में दण्डी के सिद्धान्त का अनुसरण करते समय भोज को दण्डी के सिद्धान्त से अपने सिद्धान्त की तात्त्विक भिन्नता का ध्यान रखना चाहिए था। दण्डी के उदाहरण को अपने असमस्त दोष का उदाहरण बनाते समय वे यह भूल गये कि दण्डी ने उसे केवल वैदर्भ मार्ग का दोष माना है, समग्र काव्य का नहीं। ओज-विपर्यय असमस्त दोष की कल्पना असङ्गत है। यह माधुर्य गुण है। उक्त उदाहरण में असमास पद-रचना से श्लेषादि गुण के अभाव के कारण वैदर्भी रीति का खण्डन माना गया है और इसलिए असमस्त-पदत्व को दोष कहा गया है। वैदर्भी में समग्र गुणों की सत्ता होनी चाहिए। असमस्त में कुछ गुणों का अभाव हो जाता है; इसलिए वह दोष है। किन्तु, हम देख चुके हैं कि वैदर्भी में समग्र गुणों की एक साथ सत्ता कल्पना-मात्र है। पृथक्पदत्व और समासभूयस्त्व की एकत्र सत्ता की कल्पना आलोक-तिमिर की सहस्थिति की कल्पना के समान होगी। वामन ने गाढबन्धत्व और शैथिल्य; इन दो विरोधी स्वभाव के गुणों की सहस्थिति प्रमाणित की है; किन्तु भोज की स्थिति इससे भिन्न है। वामन ने शैथिल्यात्मा प्रसाद को ओज के साथ रहने पर गुण माना है और अलग रहने पर दोष। इस प्रकार प्रसाद के गुणत्व और दोषत्व के लिए भिन्न स्थितियों की कल्पना उन्होंने कर ली है। भोज समान स्थिति में ही समासभूयस्त्व के विपर्यय—असमस्त को दोष मानते हैं और पृथक्पदत्व माधुर्य को गुण। अतः भोज की मान्यता अन्तर्विरोध से मुक्त नहीं मानी जा सकती।

अर्थ-ओज भोज के अनुसार वर्णन में वक्ता की निश्चयात्मकता का प्रतिपादन है।[1] डॉ० व्ही० राघवन के अनुसार भोज के शृङ्गार प्रकाश में भी अर्थगत ओज गुण की धारणा अस्पष्ट ही है।[2] भोज ने अर्थगत ओज के स्वरूप की कल्पना सर्वथा स्वतन्त्र भाव से की है।

और्जित्यः—दण्डी के ओज गुण-लक्षण के आधार पर शब्द-ओज का स्वरूप-निर्धारण कर भोज ने वामन के शब्द-गुण ओज की परिभाषा को लेकर और्जित्य-

१. ओजः स्वाध्यवसायस्य विशेषोऽर्थेषु यो भवेत्।—वही, १०५ पृ० ३८

२. द्रष्टव्य—डॉ व्ही०राघवन Bhoja's Sringara Prakasa, Vol I पृ० ३१६

नामक नवीन गुण की सृष्टि कर ली है। शब्दगत और्जित्य उनके अनुसार बन्ध की गाढता है।[१] यह वामन के गाढबन्धत्व ओज से अभिन्न है। बन्ध की गाढता की व्याख्या वामन के शब्द-गुण ओज के विवेचन-क्रम में हो चुकी है।

अर्थगत और्जित्य को भोज ने 'रूढाहङ्कारता' कहा है।[२] जहाँ किसी के प्रौढ़ अहं की व्यञ्जना होती है, वहाँ भोज और्जित्य गुण मानते हैं। अर्थगुण और्जित्य के इस लक्षण की कल्पना भोज ने दण्डी के ऊर्जस्वी अलङ्कार के लक्षण के आधार पर की है। दण्डी ने रूढाहङ्कारत्व को ऊर्जस्वी अलङ्कार माना है।[३] इस प्रकार और्जित्य-नामक नवीन गुण का शब्दगत भेद वामन के शब्द-ओज गुण से अभिन्न है तो उसका अर्थगत भेद दण्डी के ऊर्जस्वी अलङ्कार से अभिन्न है।

प्रेय :—प्रीति-प्रकाशक शब्दों के प्रयोग में भोज ने शब्दगत प्रेय गुण माना है। यह गुण चाटूक्तियों में रहता है।[४] चाटु-कथन में प्रिय लगने वाले शब्दों का प्रयोग हुआ करता है। अतः, वहाँ भोज प्रेय गुण मानते हैं। भोज की शब्दगत प्रेय गुण धारणा दण्डी की प्रेय अलङ्कार धारणा से अभिन्न है। दण्डी के अनुसार प्रिय लगने वाली उक्ति प्रेय अलङ्कार है।[५]

अर्थगत प्रेय गुण की धारणा नवीन है। अर्थ की अभीष्टता को भोज ने प्रेय अर्थ-गुण कहा है।[६] किसी वस्तु का अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक अभीप्सित होने का वर्णन जहाँ होता है, वहाँ अर्थगत प्रेय गुण होता है।

सुशब्दता :—भोज ने 'सुप्तिङ् व्युत्पत्ति' को सुशब्दता कहा है और इसे शब्दगत गुण के रूप में स्वीकार किया है।[७] यह व्याकरण-सम्बन्धी शब्द-संस्कार का गुण है। व्याकरण-सम्मत शुद्ध शब्द-प्रयोग में सुशब्दता गुण माना गया है। सुप् विभक्ति एवं तिङ् प्रत्यय की व्युत्पत्ति को भोज ने ही प्रथम बार गुण के रूप में स्वीकार किया है। सुप्-तिङ्-संस्कार की चर्चा भोज के पूर्व भी हुई थी; किन्तु गुण के रूप में उसे ग्रहण नहीं किया गया था। गुण की

---

१. और्जित्यं गाढबन्धता।—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण १, पृ० ५९
२. रूढाहङ्कारमौर्जित्यम्।—वही, १ पृ० ७९
३. ऊर्जस्वि रूढाहङ्कारं ····।—दण्डी, काव्यादर्श, २,२७५
४. प्रेयः प्रियतराख्यानं चाटूक्तौ यद्विधीयते। भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० ६०
५. प्रेयः प्रियतराख्यानम् ····।—दण्डी, काव्यादर्श, २,२७५
६. प्रेयस्त्वर्थेऽभीष्टता।—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण १ पृ० ७९
७. व्युत्पत्तिः सुप तिङां या तु प्रोच्यते सा सुशब्दता।—वही,१ पृ० ६१

स्फुटता के फलभूत काव्य-पाक की चर्चा के क्रम में वामन ने सुप्तिङ् संस्कार का उल्लेख किया है ।[1] प्राचीन आचार्यों की सुप्तिङ्-संस्कार-सम्बन्धी इस धारणा को लेकर भोज ने सुशब्दता नामक नवीन गुण की कल्पना कर ली है ।

अर्थगुण सुशब्दता दारुण अर्थ वाले शब्द के अदारुणार्थ पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग में माना गया है ।[2] उदाहरणार्थ, जहाँ 'मरना' इस दारुणार्थ शब्द का प्रयोग न कर उसके पर्य्यायवाची अदारुणार्थ या सुन्दर शब्द 'चिरनिद्रा प्राप्त करना' या 'यशःशेष होना' आदि का प्रयोग किया जाय, वहाँ भोज के अनुसार सुशब्दता अर्थगुण माना जायगा। भोज का यह अर्थगत सुशब्दता गुण वामन के अर्थगत अपारुष्य-रूप सौकुमार्य गुण से अभिन्न है। वामन के अर्थ-सौकुमार्य की तरह भोज का अर्थगत सुशब्दता गुण अमङ्गल-अश्लील का विपर्यय है। भोज ने अपनी अर्थ-सौकुमार्य-परिभाषा में वामन के अर्थ-सौकुमार्य-लक्षण को स्वीकार नहीं किया; पर उसका उपयोग उन्होंने अर्थगत सुशब्दता-धारणा में कर लिया है।

समाधि :—किसी वस्तु के धर्म को दूसरी वस्तु के धर्म पर आरोप को भोज ने शब्दगत समाधि-गुण कहा है ।[3] यह समाधि-गुण-धारणा दण्डी की समाधि-धारणा से अभिन्न है। दण्डी के समाधि गुण-लक्षण को वामन ने अपने समाधि शब्दगुण-लक्षण में अस्वीकार कर दिया था; पर भोज ने शब्द-समाधि में दण्डी की धारणा को ही अपनाया है।

अर्थगुण-समाधि के स्वरूप में भोज ने वामन की 'अर्थदृष्टि' परिभाषा को नहीं अपनाकर स्वतन्त्र लक्षण की कल्पना की है। भोज के अनुसार व्याज का अवलम्बन अर्थगत समाधि गुण है ।[4] उन्होंने इसके उदाहरण में 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का श्लोक उद्धृत किया है जिसमें दुष्यन्त को मुड़कर देखने के लिए शकुन्तला का कुश के काँटे से चरण के क्षत होने तथा अपने वल्कल के वृक्ष की टहनियों में उलझ जाने का बहाना बनाना वर्णित है ।[5] किन्तु यह

---

१. सुप्तिङ्संस्कारसारं यत् क्लिष्टवस्तुगुण भवेत् ।
काव्यं वृन्ताकपाकं स्याज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः ।—वामन, काव्यालं० वृत्ति, पृ० ९५

२. अदारुणार्थपर्यायो दारुणेषु सुशब्दता ।—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ८०

३. समाधिः सोऽन्यधर्माणां यदन्यत्राधिरोपणम् ।—वही, पृ० ६३

४. व्याजावलम्बनं यत्तु स समाधिरिति स्मृतः ।—वही, १ पृ ८०

५. दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ।
—वही, १, पृ० ८०, अभिज्ञान शाकुन्तलम् से उद्धृत.

व्याज का अवलम्बन वाक्यार्थ का गुण नहीं माना जा सकता। यह वस्तुतः व्यक्ति का गुण है।

सौक्ष्म्य :—भोज की शब्दगत सौक्ष्म्य-गुण-धारणा सर्वथा नवीन है। उन्होंने शब्दों के 'अन्तस्सञ्जल्प' को सौक्ष्म्य गुण कहा है।[1] इस गुण में ऊपर से शब्द का कुछ और ही अर्थ जान पड़ता है; पर भीतर कुछ और अर्थ छिपा रहता है। प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले अर्थ से भिन्न अर्थ को छिपाये रहने वाले शब्द को सूक्ष्म कहने का कारण स्पष्ट करने के लिए सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकार रत्नेश्वर ने मूर्तिकला का एक दृष्टान्त दिया है। शिल्पी जब पत्थर से हाथी आदि की मूर्त्तियों का निर्माण करता है तब वह पत्थर सूक्ष्मावस्था में रहता है। उसी पत्थर से हाथी आदि का बोध होने लगता है। उसी प्रकार सौक्ष्म्य गुण में शब्द सूक्ष्मावस्था में रहते हैं और उनसे उनके बाह्य अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ की प्रतीति होने लगती है।[2] इसमें सहृदय को विशेष प्रकार की अर्थ-विच्छित्ति का बोध कराने वाले शब्दों का प्रयोग होता है।

किसी वर्णन में सूक्ष्म अर्थ का रहना अर्थगत सौक्ष्म्य गुण माना गया है।[3] शब्दगत सौक्ष्म्य में किसी शब्द के प्रत्यक्ष अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ का बोध होता है और अर्थगत सौक्ष्म्य में किसी वर्णित अर्थ में उससे भिन्न सूक्ष्म अर्थ की प्रतीति होती है। इस गुण को भोज ने वस्तु या रसादि ध्वनि के समीप ला दिया है। वस्तु आदि के वर्णन में वस्तु या रसादि का ध्वनित होना ध्वनिवादी आचार्यों के द्वारा गुण, अलङ्कार आदि से भिन्न ध्वनि की कोटि में रखा गया है और उसे काव्य में शीर्षण्य स्थान प्रदान किया गया है। भोज ने सौक्ष्म्य गुण की धारणा में ध्वनित होने वाले अर्थ पर ही बल दिया है। अर्थगत सौक्ष्म्य के उदाहरण में नायिका की चेष्टाओं से अनुराग की व्यञ्जना दिखायी गयी है। चेष्टा-वर्णन से मनोभाव की अभिव्यक्ति को कुछ आचार्यों ने सूक्ष्म अलङ्कार माना है।[4] इस प्रकार अन्य आचार्यों का सूक्ष्म अलङ्कार, जिसमें वर्णित अर्थ से अन्य अर्थ भी परिलक्षित होता है, भोज के द्वारा गुण-रूप में स्वीकृत हुआ है।

---

१ अन्तस्सञ्जल्परूपत्वं शब्दानां सौक्ष्म्यमुच्यते।—सरस्वतीकण्ठा० १ पृ ६३

२. यथा करितुरगादिरूपकाणां पाषाणशिलादौ अभिव्यक्तमवस्थितौ सूक्ष्मरूपता तथा शब्दानां श्रूयमाणानामपि, कथमन्यथा वाक्यार्थभावनदशायां शेषनिश्मेन उन्मेषः।

—वही० टीका, पृ ६३

३. सौक्ष्म्यमित्युच्यते तत्तु यत् सूक्ष्मार्थाभिदर्शनम्। —वही० १ पृ० ८०

गाम्भीर्य :—भोज की शब्दगत गाम्भीर्य गुण-धारणा अनोखी है। उन्होंने शब्द की ध्वनिमत्ता को गाम्भीर्य गुण मान लिया है।[१] भारतीय काव्य-शास्त्र के ध्वनिप्रस्थान में जो महत्त्व ध्वनि को मिला है, वह महत्त्व भोज उसे नहीं देना चाहते। इसलिए उन्होंने ध्वनि को शब्दगत गुण मात्र के रूप में स्वीकार किया है। रत्नेश्वर ने भोज की शब्द-ध्वनि एवं अर्थध्वनि की चर्चा की है।[२] भोज के पूर्व ही आनन्दवर्धन काव्य में ध्वनि की महत्ता की स्थापना कर चुके थे; पर भोज ने उसे स्वीकार नहीं कर गुण के एक प्रकार में ध्वनि को समाविष्ट कर दिया। ध्वनि का गुण में समावेश उचित नहीं।

अर्थगत गाम्भीर्य गुण शास्त्रसम्मत अर्थ के प्रतिपादन में माना गया है।[३] शास्त्रीय अर्थ का वर्णन स्वभावतः ही गम्भीर हुआ करता है। अतः, काव्य में जब शास्त्रीय गम्भीर अर्थ का वर्णन होता है तो वहाँ भोज के अनुसार गाम्भीर्य अर्थ-गुण माना जाता है। भरत ने विचार-गहन उक्ति में श्लेष गुण माना था। उससे भोज की गाम्भीर्य-धारणा कुछ मिलती-जुलती है।

विस्तर :—भोज ने व्यास उक्ति में विस्तर गुण माना है।[४] जहाँ कथ्य के अल्प होने पर भी उसका वर्णन विस्तार से किया जाता हो, वहाँ विस्तर गुण होता है। इसमें पदों के पल्लवन के कारण चमत्कार रहता है। इसीलिए इसे शब्दगत गुण माना गया है। भोज में विस्तर नामक गुण के नवीन होने पर भी इसके शब्दगत-भेद का स्वरूप सर्वथा नूतन नहीं है। इसके लक्षण की कल्पना में भोज ने वामन के अर्थगत-ओज गुण के लक्षण को अंशतः ग्रहण किया है। वामन ने अर्थ ओज को प्रौढि कहकर प्रौढि के पाँच भेदों का उल्लेख किया है। उनमें से 'पदार्थे वाक्यरचना' से भोज का शब्द-गुण विस्तर अभिन्न है। 'पदार्थे वाक्यरचना' में भी एक पद से व्यक्त हो सकने वाले अर्थ के वर्णन के लिए पदों को पल्लवित कर पूरे वाक्य की रचना होती है। भोज ने शब्द-विस्तर में पद-पल्लवन की यही धारणा प्रकट की है। टीकाकार रत्नेश्वर के अनुसार इसे पल्लव भी कहा जाता है।[५] अतः, यह

---

१. ध्वनिमत्ता तु गाम्भीर्यम्।—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० ६४

२. द्रष्टव्य डॉ० वी० राघवन Bhoja's Sringara Prakasa Vol I

३. शास्त्रार्थसव्यपेक्षत्वं गाम्भीर्यमभिधीयते।—भोज, सरस्वती, कण्ठा० पृ० ८१

४. व्यासेनोक्तिस्तु विस्तरः।—वही १ पृ, ६६

५. व्यासेनेति यत्र स्तोकेऽपि वाच्ये वचनपल्लवः चमत्कारकारी तत्र स एव गुण-कक्षाधिरोहणक्षम इति ×××। —वही, पृ० ६५

भोज के शब्दालङ्कार 'रचना' के पदकृत भेद से भिन्न नहीं है। रचना अलङ्कार की व्याख्या के क्रम में भी रत्नेश्वर ने 'पल्लव' का उल्लेख किया है।[१] स्पष्ट है कि भोज की इस गुण-धारणा और रचना अलङ्कार-धारणा में भेद करना कठिन है।

अर्थगत विस्तर गुण को भोज ने अर्थ का विकास कहा है।[२] अर्थ को बहुधा विकसित कर उसका वर्णन करना विस्तर गुण है। भोज की यह अर्थ गुण-धारणा भी वामन के अर्थ ओज प्रौढि के एक भेद 'व्यास' के समान है। अर्थ-प्रौढि के व्यास भेद में अर्थ के विस्तृत वर्णन की धारणा व्यक्त की गयी है। इस प्रकार भोज ने वामन के अर्थगत ओज गुण के ही अनेक भेदों के आधार पर एकाधिक गुणों की कल्पना कर ली है।

संक्षेप—शब्दगत संक्षेप गुण शब्द-गुण विस्तर के विपरीत-स्वभाव का है। भोज ने इसे समास-कथन माना है।[३] विस्तृत अर्थ का जहाँ कम शब्दों में प्रतिपादन हो जाता है, वहाँ संक्षेप गुण होता है। यह गुण भी वामन के अर्थओज प्रौढि के ही एक भेद 'वाक्यार्थे पदाभिधा' के आधार पर कल्पित है। इस प्रौढि में वामन ने सम्पूर्ण वाक्य में वर्णित होने योग्य अर्थ का एक पद में वर्णन होना माना है। यह व्यास-शैली के विपरीत समास-शैली है। भामह के काव्यालङ्कार में भी भोज के संक्षेप से मिलती-जुलती धारणा मिलती है। किन्तु, भामह ने उसकी गणना गुण में नहीं की है।[४] उसे सामान्य अर्थ में ही गुण कहा गया है। विस्तर और संक्षेप गुणों से स्पष्ट है कि एक गुण का विपर्यय सदा दोष ही नहीं हुआ करता। वर्णन की समास एवं व्यास—दोनों शैलियाँ चमत्कारपूर्ण होती हैं। अतः, दोनों गुण-रूप में स्वीकृत हैं।

अर्थगत संक्षेप गुण को भोज ने अर्थ की संवृत्ति कहा है।[५] जिस अर्थ का विस्तार से वर्णन हुआ हो उसे संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत कर देने को भोज ने अर्थ-संक्षेप या अर्थ-संवृत्ति कहा है। इसके उदाहरण की विवृति में उन्होंने

---

१. न वा तामन्तरेण लाक्लादीनामभिमतास्ते ते विशेषाः प्रतीयन्त इति पल्लवप्रतिष्ठा एव हि सरस्वतीसहृदयानावर्जयतीति। वाक्यप्रतीतिमात्रार्थमुपात्तेषु परेषु यः। उपस्कारः पदैरन्यैः पल्लवं तं प्रचक्षते। —वही टीका पृ० १८४

२. विस्तरोऽर्थविकाशः स्यात्। —भोज, सरस्वती कण्ठा० पृ० ८२

३. समासेनाभिधानं यत् स संक्षेप उदाहृतः। —वहीं पृ० ६६

४. कथमेकपदेनैव व्यज्येरन्नस्य ते गुणाः। इति प्रयुञ्जते सन्तः केचिद्विस्तरभीरवः। —भामह. काव्यालं० पृ० ५, १०

५. संक्षेपस्त्वस्य संवृत्तिः। —भोज सरस्वती कण्ठा०, पृ० ८२

कहा है कि शास्त्र में विस्तार से प्रतिपादित धर्म का आधे श्लोक में ही कथन होने से यहाँ अर्थ-संक्षेप है।[१] यह संक्षेप वामन की अर्थ प्रौढि के 'समास'-भेद के समान है।

सम्मितत्व—सम्मितत्व गुण भोज की नवीन कल्पना है। शब्दगुण सम्मितत्व विस्तर और संक्षेप गुणों का मध्यवर्ती है। इसमें न तो विस्तर की तरह थोड़े अर्थ के लिए विस्तृत पदावली की योजना होती है और न इसके विपरीत संक्षेप की तरह विस्तृत अर्थ का संक्षिप्त पदों के द्वारा अभिधान। इसमें अर्थ के समान अनुपात में पद-प्रयोग होता है। भोज ने इसकी परिभाषा में कहा है कि जितना अर्थ हो उतने ही पदों का प्रयोग शब्दगत सम्मितत्व गुण है।[२] इस प्रकार इस गुण में नेयत्व और अधिकपदत्व—दोनों दोषों का अभाव रहा करता है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए भोज ने कहा है कि इसमें शब्द और अर्थ इस प्रकार समान मात्रा में रहते हैं कि लगता है, जैसे कवि ने दोनों को तराजू पर तौलकर दोनों का बराबर-बराबर प्रयोग किया है।[३] इस गुण में 'शब्दार्थ-साहित्य', 'वागर्थ-प्रतिपत्ति', 'शब्दार्थ-सौभ्रात्र', 'शब्दार्थ-सौहार्द' आदि की व्यापक धारणा प्रकट की गयी है।

अर्थ का उचित विभाग कर यथास्थान अभिनिवेश अर्थगत सम्मितत्व गुण माना गया है। इसकी परिभाषा में भोज ने कहा है कि जहाँ शब्द के अर्थ तुल्य रहें, वहाँ अर्थगत सम्मितत्व गुण होता है।[४] इसके उदाहरण में दिखाया गया है कि 'पार्वती के वक्ष पर पड़ा हुआ नखपद एवं शिव के मस्तक पर स्थित अर्धचन्द्र; दोनों मिलकर 'ॐ' बन रहे हैं', इस वर्णन में 'ॐ' का उचित विभाग कर उसके दोनों भागों का उचित स्थान पर विनिवेश हुआ है। अतः, यहाँ अर्थगत सम्मितत्व गुण है।[५]

भाविकत्व—भोज का यह प्रथम वाक्य-गुण भाव एवं रस से सम्बद्ध है। रस के आधार पर ही इसके गुणत्व का निर्णय हो सकता है। गुण को प्राचीन आचार्यों ने बन्ध या पद-रचना का धर्म माना था। ध्वनिवादी आचार्यों ने उसे

---

१. अत्र शास्त्र विस्तरप्रतिपादितस्य धर्मस्य श्लोकार्द्धेनोक्तत्वादयमर्थसंकोचः संक्षेपः। —वही पृ० ८३

२. यावदर्थपदत्वं च संमितत्वमुदाहृतम्। —वही पृ० ६७

३. अत्रार्थस्य पदानां च तुलाविधृतवत्तुल्यत्वेन सम्मितत्वम्। —वही पृ० ६७

४. शब्दार्थौ यत्र तुल्यौ स्तः सम्मितत्वं तदुच्यते। —वही पृ० ८१

५. इन्दुर्मूर्ध्नि शिवस्य शैलदुहितुर्वक्षो नखाङ्कः स्तने .. । अत्र प्रणवलक्षणस्यार्थस्य तुल्यत्वेन यथावद्विभज्य विनिवेशन सम्मितत्वम्। —वही पृ० ८३

रसाश्रित सिद्ध किया। भोज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में गुण को शब्दार्थगत ही कहा है; किन्तु इस भाविक शब्दगुण की परिभाषा में उसे भावाश्रित या रसाश्रित माना गया है। भोज के अनुसार जहाँ भाव के कारण वाक्य निष्पन्न होता है, वहाँ भाविक गुण होता है।[१] रत्नेश्वर ने अपनी टीका में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि हर्ष आदि भाव में जब चित्त मग्न हो जाता है तब अनेक प्रकार के उक्तिभेद स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने लगते हैं;[२] यह मनोवैज्ञानिक स्थिति है। भावावेश में मनुष्य जो कुछ बोलता है उसमें कभी-कभी क्रम का अभाव दिखाई पड़ जाता है। उसके एक कथन से दूसरे कथन में भेद हो जाया करता है। भावदशा में होने वाले इसी उक्ति-भेद को भोज ने भाविक गुण माना है। इसके उदाहरण में दशरथ के स्नेहातिरेक को चित्रित करने वाले एक श्लोक को उद्धृत किया गया है, जिसमें दशरथ कहते हैं कि 'आओ आओ वत्स रघुनन्दन, मैं तुम्हारे मस्तक को चूमूँ, तुम्हें हृदय से लगाऊँ या तुम्हारे चरणकमल की ही वन्दना करूँ।" भोज ने यह दिखाया है कि यद्यपि पिता का पुत्र के चरण की वन्दना करने का उद्गार अनुचित है तथापि जिस हर्ष के आवेग में यह कहा गया है उसमें यह गुण बन गया है।[३]

भोज के अनुसार जहाँ साभिप्राय कथन का विन्यास होता है, वहाँ अर्थगत भाविक गुण होता है।[४] इसका जो उदाहरण भोज ने दिया है, उसमें अभिसार में जाने वाली नायिका अपने शरीर पर सम्भावित नखक्षत आदि को छिपाने के लिए पहले से ही बहाना बनाती हुई अपनी पड़ोसिन से कहती है कि "हे प्रतिवेशिनि! जरा मेरे घर पर भी नजर रखना। मेरे इस बच्चे का पिता कुएँ का नीरस पानी नहीं पीता; अतः मैं अकेली भी उसके लिए नदी से पानी लाने जाती हूँ। रास्ते में नल नामक घास की नोक की खरोंच मुझे लगे तो लगे।" भोज ने इस उदाहरण में अपने भाविक गुण-लक्षण को घटित करते हुए दिखाया है कि तमाल-वन से आवृत नदी-तट पर अभिसार करने वाली कुलटा

---

१. भावतो वाक्यवृत्तिर्या भाविकं तदुदाहृतम्।—भोज सरस्वती कण्ठाभरण ९१ पृ० ९७

२ हर्षादिभावितचेतसो हि वीचिप्राया उक्तिभेदाः प्रादुर्भवन्ति x x x।

वहीं, रत्नेश्वर की टीका, पृ० ९८

३. एह्येहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र चुम्बामि मूर्धनि चिरञ्च परिष्वजे त्वाम्।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते।

अत्र हर्षवशादनौचित्येनापि वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयमित्यादीनामुक्तत्वाद् भाविकत्वम् —भोज स० कण्ठा पृ० ९७, ९८

४ साभिप्रायोक्तिविन्यासो भाविकत्वं निगद्यते। —वही पृ० ८६

की अपने शरीर पर सम्भावित नखक्षत को छिपाने के लिए यह साभिप्राय उचित है। अतः, यहाँ भाविक अर्थगुण है। वामन ने साभिप्राय कथन को प्रौढ़ि रूप ओज का एक रूप माना था। यह धारणा उससे मिलती-जुलती है।

गति—भोज के अनुसार शब्द गुण गति स्वर के चढ़ाव-उतार का क्रम है।[२] टीकाकार रत्नेश्वर का मत है कि प्रस्तुत गुण छन्द पर आश्रित है; अतः, इसे स्वरगत मानना चाहिए। इस गुण का स्वरूप बताना कठिन है। लोग इसका अनुभव-मात्र कर सकते हैं। इसलिए, रत्नेश्वर ने इसे आनुभविक गुण कहा है।[३] भोज ने गति गुण के उदाहरण के स्पष्टीकरण के क्रम में इसे स्वरगत आरोह और अवरोह का गुण बताया है[४] यह गुण वामन के शब्द-समाधि गुण से अभिन्न है। वामन ने स्वर के आरोहावरोह-क्रम को समाधि गुण कहा और उसे शब्दगुण वर्ग में रखा है। भोज ने शब्दगत समाधि गुण की धारणा में वामन की शब्द-समाधि-धारणा को अस्वीकार कर दण्डी की समाधि-परिभाषा को स्वीकार किया और वामन की शब्द-समाधि-धारणा को लेकर शब्दगत-गति गुण की कल्पना कर ली।

अर्थगत गति गुण के स्वरूप-विश्लेषण में भोज ने कहा है कि जहाँ एक अर्थ से दूसरे अर्थ का अवगमन हो जाता है, वहाँ अर्थगत गति गुण होता है।[५] यह वस्तुतः गुण का स्वरूप न होकर ध्वनि का स्वरूप है। वस्तु, अलङ्कार आदि के आधार पर वस्तु, अलङ्कार तथा रसादि का ध्वनित होना ध्वनि के क्षेत्र में माना जाता है। भोज ने इस ध्वनि-व्यापार को गुण के एक भेद के भीतर रख लिया, यह उचित नहीं। रत्नेश्वर ने इस गुण की व्याख्या करते हुए

---

१. दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति।
एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः॥
अत्र तमालमालावलयितसरित्तीरकृतसङ्केतायाः कुलटायाः स्वतनौ भाविनां परपुरुष नखक्षतानां नलग्रन्थ्यालेखव्याजगोपनेन साभिप्रायभणनं भाविकम्।
— वही, १३५. पृ० ८४

२. गतिर्नाम क्रमो यः स्यादिहारोहावरोहयोः। भोज, सरस्वती कण्ठाभरण, १ पृ, ६८

३. इयं वृत्तौचिती वक्ष्यते। x x x सोऽयमानुभविको गुणः श्लोकार्द्धश्लोका पादश्लोकांश क्रमेण नरसिंहवद्भवति। —वही टीका पृ० ६८-६९

४. अत्र पूर्वार्द्धे स्वरस्यारोहात् उत्तरार्द्धे चावरोहात् गतिः। — वही ६२ पृ० ६९

५. गतिस्सा स्यादवगमो योऽर्थादर्थान्तरस्य तु। —वही, पृ० ८४

इसकी तुलना 'अनुस्वान ध्वनि' से की है।[1] इससे स्पष्ट है कि भोज का यह गतिगुण गुण न होकर ध्वनि का स्वरूप है।

रीति—शब्दगत रीति गुण उपक्रम का निर्वाह है।[2] इसका अभाव प्रक्रम-भङ्ग कहलाता है। भोज ने वामन की तरह शब्दगत एवं अर्थगत समता गुण में भी प्रक्रमनिर्वाह पर बल दिया है; किन्तु समता से रीति का स्वरूप थोड़ा भिन्न है। यद्यपि इस भेद की ओर रीति की परिभाषा में इङ्गित नहीं किया गया है, तथापि रीति के उदाहरण एवं उसपर व्यक्त भोज के विचार के परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्दगत रीति गुण शब्द-समता से अभिन्न नहीं है। शब्द-समता में किसी एक बन्ध या एक मार्ग का रचना में आद्यन्त निर्वाह अपेक्षित होता है; पर शब्दगत रीति गुण में पदविन्यास की एकरूपता की अपेक्षा रहती है। इसके उदाहरण को लक्ष्य कर भोज ने कहा है कि इसमें प्रत्येक पद में नञ् समास का विनिवेश हुआ है। इस क्रम का भेद न होने से यहाँ रीति गुण है।[3] स्पष्ट है कि यहाँ नञ् समास वाले पदों की एकरूपता के कारण रीति गुण माना गया है। इसे एक निश्चित सीमा में ही गुण माना जाता है। इसके बार-बार प्रयोग में आने पर अरुचि उत्पन्न होने लगती है। इसलिए इस गुण का अत्यन्त निर्वाह वाञ्छनीय नहीं माना गया है।[4]

अर्थगत रीति गुण एक प्रकार का क्रम है। जहाँ अर्थ के वर्णन में उसकी उत्पत्ति से उसके विकास का क्रम से वर्णन किया जाता है, वहाँ अर्थगत रीति गुण होता है। भोज ने उत्पत्ति आदि क्रिया के क्रम को ही रीति कहा है।[5] इसके उदाहरण में चन्द्रमा के उदय से लेकर उसकी क्रिया का यथा-क्रम वर्णन दिखाया गया है।

उक्ति—शब्दगत उक्ति गुण की परिभाषा में भोज ने उसे मनोरम काव्यात्मक अभिव्यक्ति का व्यापक गुण बना दिया है। भोज ने इसे विशिष्ट भणिति कहा है।[6] भोज की इस धारणा को और भी व्यापक स्वरूप प्रदान

---

१ तेन यत्र सहृदयहृदयङ्गमात् अर्थात् कांस्यतालानुस्वानन्यायेन तादृशमर्थान्तरमवगम्यते स गतिरिति लक्षणार्थः। वही टीका पृ० ८४

२. उपक्रमस्य निर्वाहो रीतिरित्यभिधीयते। - भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ७०

३. अत्र प्रत्येकपदान्तरं नञो विनिवेशात् क्रमाभेदो रीतिः। —वही पृ० ७०

४ क्वचिद् विशेषशोभावहो भवति। अत एवात्र नात्यन्तनिर्वाहोऽभिमतः। वही, टीका पृ० ६०

५. रीतिः सा यस्त्विह थ.नामुत्पत्त्यादिक्रियाक्रमः।

६ विशिष्टा भणितिर्या स्यादुक्तिं तां कवयो विदुः। —वही, पृ० ७०

करते हुए टीकाकार रत्नेश्वर ने कहा है कि लोक-प्रचलित भणिति-प्रकार का अतिक्रमण कर कवि-प्रतिभा से जिस विशेष प्रकार की उक्ति की सृष्टि होती है, वह लोकोत्तर उक्ति ही उक्ति गुण है। वैसी उक्ति से कवि और सहृदय ही परिचित रहते हैं। वह लोकोत्तर भणिति काव्य का शब्दगत गुण है।[१] इस प्रकार काव्य की समग्र चमत्कारपूर्ण उक्तियों को उक्ति गुण मान लिया गया है।

भङ्गी-भणिति को भोज ने अर्थगुण उक्ति माना है।[२] यह उक्ति की वक्रता या वैचित्र्य है। कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में उक्तिगत वक्रता को काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया था।[३] ध्वनि एवं रस-सम्प्रदाय में सीमित अर्थ में वक्रोक्ति को अलङ्कार-मात्र माना गया है। विश्वनाथ ने वक्रोक्ति को अलङ्कार में गिनकर उसके श्लेष एवं काकु; दो प्रकारों का उल्लेख किया है।[४] भोज ने उस उक्तिवैचित्र्य या वक्रोक्ति को गुण बना दिया है।

प्रौढ़ि—भोज ने पाक को प्रौढि गुण माना है।[५] इसके उदाहरण का विवेचन करते हुए उन्होंने इसे 'नालिकेरी पाक', 'मृद्वीका पाक', 'सहकार पाक' आदि बना दिया है।[६] 'पाक' का अभिप्राय वाक्य में शब्दों के ऐसे सटीक प्रयोग से है कि एक भी शब्द को हटाकर किसी शब्द से उस स्थान की पूर्ति सम्भव नहीं हो सके। कवि अपने विवक्षित अर्थ को व्यक्त करने के लिए ऐसे शब्दों का चयन करता है, जो उस अर्थ को व्यक्त करने में सर्वाधिक समर्थ होते हैं। अतः, सफल कवि के द्वारा प्रयुक्त शब्दों में से एक शब्द का भी परिवर्त्तन विना भाव को क्षति पहुँचाये सम्भव नहीं होता। सभी पर्यायवाची शब्द भी एक

---

१. लोकोत्तरास्सन्ति हि भणितिप्रकाराः लोकप्रसिद्धाः। x x x एतत्प्रसिद्धिव्यतिक्रमेण तु या काचित् कविप्रतिभया भणितिराकृष्यते सा भवति लोकोत्तरा x x x कवि-सहृदयानामेव तादृशोक्तिपरिचयसम्भवात्। —वही रत्नेश्वर-टीका, पृ० ७०
२. उक्तिर्नाम यदि स्वार्थो भङ्ग्या भव्योऽभिधीयते। —वही पृ० ८५
३. कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, पृ० १७
४. द्रष्टव्य—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण १०, पृ० ५८१
५. उक्तेः प्रौढः परीपाकः प्रोच्यते प्रौढिसंज्ञया।—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ७०
६. अत्र प्रकृतिस्थ कोमलकठोरेभ्यो नागरोपनागरग्राम्येभ्यो वा पदेभ्योऽभ्युद्धृतादीनां ग्राम्यादीनामुभयेषां वा पादानामावापोद्धापाभ्यां सन्निवेशचारुत्वेन योऽयमाभ्यासिको नालिकेरीपाको मृद्वीकापाक इत्यादिर्वाक्यपरिपाकः सा प्रौढिः इति उच्यते। तथा च एतद्वाक्यं नालिकेरीपाक इत्युच्यते। एवं सहकारपाक-मृद्वीकापाके अपि उदाहरणीये इति। – वही, पृ० ९२

समान ही व्यञ्जक नहीं होते। ऐसे सभी शब्दों के अर्थ के समान होने पर भी सन्दर्भ-विशेष में कोई विशेष शब्द अन्य शब्दों की अपेक्षा अधिक भावाभिव्यञ्जक हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसके किसी भी पर्यायवाची शब्द के प्रयोग से भावाभिव्यक्ति निर्बल पड़ जाती है। भोज के काव्य-पाक में ऐसे ही शब्दों के प्रयोग को अभीष्ट माना गया है, जो सर्वाधिक भावाभिव्यञ्जक हों और जिनके स्थान पर उनके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग भी विना अर्थ को हानि पहुँचाये सम्भव नहीं हो।[1] भवभूति ने प्रौढि गुण का उल्लेख किया है।[2] वामन ने प्रौढि नामक गुण का तो उल्लेख नहीं किया है; पर अर्थगत ओज गुण को उन्होंने अर्थ की प्रौढि कहा है।

अर्थगत प्रौढि गुण को भोज ने 'विवक्षित अर्थ का निर्वाह' कहा है।[3] रत्नेश्वर के अनुसार, कवि के अभीष्ट प्रभूत अर्थ का जहाँ स्वल्प वाक्य से प्रतिपादन होता है वहाँ प्रौढि नामक अर्थगुण होता है।[4]

भोज के आभ्यन्तर एवं बाह्य गुणों के स्वरूप के इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि चौबीस शाब्द एवं उतने ही आर्थ गुणों की कल्पना करने पर भी भोज ने परम्परागत दस गुणों को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व प्रदान किया है। उन दस गुणों में से समाधि को छोड़कर शेष नौ गुणों के विपर्य्यय को भोज ने 'अरीतिमत् दोष' कहा है।[5] उनकी मान्यता को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने यह युक्ति दी है कि श्लेष, प्रसाद, समता, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, माधुर्य, कान्ति, उदारता और ओज—इन नौ गुणों के योग से वाक्य में वक्रता आती है और वह काव्य कहलाने का अधिकारी होता है। इन गुणों का भङ्ग होने पर

---

१. उक्तिर्वाक्यं तस्यायं पाकः सा प्रौढिः। शब्दानां पर्यायपरिवर्तासहत्वं पाकः। यदाह—यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्। तं शब्दन्यायनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते इति। —भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, रत्नेश्वर टीका, पृ० ९२
भवति हि सहृदयानामेवमन्यत्पदं नास्तीति व्यवहारः। —वही पृ० ९२

२. भवभूति, मालतीमाधव, १ पृ० १६

३. विवक्षितार्थनिर्वाहः काव्ये प्रौढिरिति स्मृता। —भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ८५

४. कवेरभिमतस्य भूयसोऽप्यर्थस्य स्वल्पेनैव वाक्येन प्रतिपादनं प्रौढिः।
—वही, रत्नेश्वर टीका पृ० ८१

५. गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः।
अरीतिमदिति प्राहुस्तत्त्रिधैव प्रचक्षते॥ —भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० २७

वाक्य काव्याभास-मात्र बन जाता है। अतः, इन गुणों का विपर्यय दोष है।[१] दण्डी की गुण-धारणा के विवेचनक्रम में हम देख चुके हैं कि उन्होंने समाधिगुण को काव्य-सर्वस्व कहकर उसे गुणों में शीर्षण्य स्थान प्रदान किया है; किन्तु भोज ने समाधि-विपर्यय दोष का उल्लेख नहीं कर उसके महत्त्व की उपेक्षा कर दी है।

भोज की गुण-धारणा के परीक्षण से यह भी सिद्ध है कि उनके सभी गुणों का स्वरूप उनकी मौलिक उद्भावना नहीं है। परम्परागत दस गुणों के अतिरिक्त जिन चौदह नवीन गुणों की कल्पना की गयी है, उनमें से कुछ गुणों का स्वरूप प्राचीन आचार्यों के दस गुणों के लक्षण के आधार पर ही कल्पित है। उदाहरणार्थ, भोज का शब्द-और्जित्य वामन का शब्दगुण ओज है। भोज ने शब्दगत ओज की परिभाषा दण्डी से लेकर वामन के शब्द-ओज के आधार पर और्जित्य-नामक नवीन गुण की कल्पना कर ली है। भोज का शब्दगत गति नामक नवीन गुण वामन के शब्द-समाधि गुण से अभिन्न है। भोज ने अन्य आचार्यों के गुण-विवेचन में प्रयुक्त पर्यायवाची शब्दों को दो गुणों के रूप में मान लिया है और एक ही गुण की विभिन्न आचार्यों की भिन्न-भिन्न परिभाषाओं के आधार पर एकाधिक गुणों की कल्पना कर ली है। उदाहरणतः, भरत ने उदारता और उदात्तता शब्दों का प्रयोग पर्याय के रूप में किया है। उदारता की ही दो परिभाषाओं में भरत ने एक जगह उसे उदारत्व और दूसरी जगह उदात्त कहा है। भोज ने उन दो शब्दों के आधार पर उदारता के अतिरिक्त उदात्तता-नामक एक नवीन गुण की कल्पना कर ली है। अन्य आचार्यों के कुछ अलङ्कार को भी भोज ने गुण बना दिया है। भोज का नवीन गुण प्रेय दण्डी के प्रेयोऽलङ्कार से भिन्न नहीं है। कहीं-कहीं भोज ने ध्वनि आदि को भी नवीन गुण के रूप में कल्पित कर लिया है। अर्थगत गति काव्य का ध्वनि-व्यापार है। भोज के कुछ नवीन गुणों को वस्तुतः गुण नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ, क्रोध-दशा में भी चेष्टा में उग्रता के अभाव को जो अर्थगत माधुर्य कहा गया है तथा व्याजावलम्बन को जो अर्थगत समाधि गुण के रूप में कल्पित किया गया है, वह युक्तिसङ्गत नहीं। इनका सम्बन्ध व्यक्ति के व्यवहार से

---

१. श्लेषादीनामिति श्लेषप्रसादसमतासौकुमार्यार्थव्यक्तिमाधुर्यकान्त्युदारतौजसाम्। एतद्योगाद्वाक्यं वक्ररूपतामासाद्य काव्यव्यपदेशं लभते तेषां गुणानां भङ्गः काव्याभासत्वपर्यवसायी दोषः। —सर० कण्ठा० टीका, पृ० २७

है। इन्हें वाक्य-गुण नहीं माना जा सकता। इतना होने पर भी कुछ गुणों की उद्भावना अवश्य मौलिक मानी जायगी। सम्मितत्व आदि गुण की कल्पना में भोज की मौलिकता स्पष्ट है।

भोज का वैशेषिक-गुण

भोज ने दोष-गुणों को वैशेषिक गुण कहा है।[1] काव्य के कुछ दोष भी विशेष अवस्था में गुण बन जाते हैं। काव्य-दोषों का गुणत्व औचित्य के कारण सम्भव होता है। भामह के गुण-सिद्धान्त-विवेचन के क्रम में हम इसपर विचार कर चुके हैं कि उन्होंने सन्निवेश-वैशिष्ट्य, आश्रय-सौन्दर्य आदि के कारण काव्य-दोषों का गुणत्व दिखाया है। काला अञ्जन भी जैसे रमणी की सुन्दर आँख का आश्रय पाकर सुन्दर लगने लगता है, उसी प्रकार आश्रय के सौन्दर्य से काव्य का दोष भी सौन्दर्याधायक हो जाता है।[2] दण्डी ने भी विशेष स्थिति में काव्य दोषों का गुणत्व स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है कि कवि-कौशल से सभी दोष गुण बन जाते हैं। रुद्रट ने भी दोषों के सम्बन्ध में यही धारणा प्रकट की है।[3] ध्वनिवादी आचार्यों ने श्रुतिदुष्ट आदि दोषों को अनित्य माना है। वे केवल ध्वन्यात्मा शृङ्गार में ही दोष मानते हैं।[4] भोज का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने इस दोष-गुण-धारणा या वैशेषिक गुण-धारणा को सुव्यवस्थित रूप दिया है। उन्होंने चौबीस काव्य-दोषों का गुणत्व दिखाया है। इस प्रकार भोज के अनुसार काव्य के चौबीस वैशेषिक गुण हैं। यहाँ इन गुणों के स्वरूप पर विचार किया जायगा। भोज ने वैशेषिक गुणों को पदगत, वाक्यगत एवं वाक्यार्थगत तीन वर्गों में विभक्त किया है।

पदगत दोष-गुण

असाधुत्व - 'क्लिष्ट', म्लेच्छित' आदि शब्दों का प्रयोग सामान्यतः दोष माना गया है; किन्तु अनुकरण में वह गुण बन जाता है। भोज की मान्यता है

१. वैशेषिकास्तु ते नूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः। —भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० ४९

२ विरोधस्सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥—दण्डी काव्या० ३, १७९

३. अनुकरणभावमविकलमसमर्थादि स्वरूपतो गच्छन्।
न भवति दुष्टमतादृक् विपरीतक्लिष्टवर्णं च ॥—रुद्रट, काव्यालं० ६, ४७

४ श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥—आनन्द० ध्वन्या० २, ३४

कि 'म्लिष्ट', म्लेच्छित', आदि शब्दों का प्रयोग भी जो असाधु माना जाता है, अनुकरण में गुण बन जाता है।[१]

अप्रयुक्तत्व—भोज के अनुसार अप्रयुक्तत्व दोष भी अनुकरण में गुण बन जाता है।[२]

श्रुतिकष्टत्व—कान को अरुचिकर लगने वाला श्रुतिकष्टत्व दोष भी दुर्वचक योग में तथा रौद्र आदि दीप्त रसों में गुण बन जाता है।[३] दुर्वचक चौंसठ कलाओं में से एक है, जिसमें कठिन उक्ति की अर्थ-योजना अपेक्षित होती है। इसे स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने कहा है कि इस लक्षण में आदि पद से रौद्र आदि रस का ग्रहण होता है। श्रुति को कष्ट देने वाले कठोर पदों का प्रयोग शृङ्गार आदि कोमल रसों में ही हेय माना जाता है। दीप्त रसों में वैसे पदों का प्रयोग गुण बन जाता है।[४] ध्वनि-सम्प्रदाय में भी श्रुतिकष्टत्व दोष को शृङ्गार आदि कोमल रसों में ही दोष माना गया है।

अनर्थक—जहाँ पादपूर्त्यर्थ किसी पद का प्रयोग होता है, वहाँ अनर्थक दोष माना जाता है किन्तु यमक आदि अलङ्कार की योजना के लिए यदि अनर्थक पद का प्रयोग होता है तो वह गुण माना जाता है।[५] कोई पद अगर अर्थ को व्यक्त करने में सहायक न भी हो; पर यदि उससे यमक आदि अलङ्कार के निर्वाह में योग मिलता हो तो भोज उसे गुण मानेंगे।

अन्यार्थ—जो शब्द जिस अर्थ में रूढ नहीं हो उसका उस अर्थ में प्रयोग अन्यार्थ दोष माना जाता है; पर प्रहेलिका आदि चित्रकाव्य के भेद में वह दोष नहीं होकर गुण बन जाता है।[६] प्रहेलिका की रचना में कवि का उद्देश्य

---

१. या म्लिष्टम्लेच्छितादीनां पददोषेष्वसाधुता।
निरूपितानुकरणे गुणत्वं सा प्रपद्यते॥—भोज, सरस्वतीकण्ठा० पृ० ८६-८७

२ गुणत्वमप्रयुक्तस्य तथाऽनुकरणे भवेत्।—वही, पृ० ८७

३ यच्छ्रुतेर्विरसं कष्टं तस्य दुर्वचकादिषु।
गुणत्वमनुमन्यन्ते सानुणसस्य सूरयः॥—वही० पृ० ८८

४. आदिपदेन रौद्रादिरसानुप्रवेशः। यदाह —शषौ सरेफसंयोगौ टवर्गश्चापि भूयसा। विरोधिनः स्युः शृङ्गारे तेन वर्णाः रसच्युतः त एव विनिवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा। तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णा रस-युतः, इति।—वही, टीका पृ० ८८

५. यत्पादपूरणाद्यर्थमनर्थकमुदाहृतम्।
गुणत्वमनुमन्यन्ते तस्यापि यमकादिषु॥—भोज०, सरस्वतीकण्ठा० पृ० ८८

६. यत्तु रूढिच्युतत्वेन प्रोक्तमन्यार्थसंज्ञितम्।
प्रहेलिकादिषु प्रायो गुणत्वं तस्य युज्यते॥—वही पृ० ८९

वैचित्र्य का आधान कर पाठक को चमत्कृत करना रहता है। अतः, वह रूढार्थ शब्द का प्रयोग न कर वैचित्र्य लाने वाले पद का प्रयोग करता है। ऐसी स्थिति में कवि के उद्देश्य में योग देने के कारण अन्यार्थपदत्व गुण माना गया है। दण्डी ने प्रहेलिका के प्रमुपिता भेद में रूढि-रहित दुर्बोध अर्थ वाली पदावली का प्रयोग वाञ्छनीय माना है।[1]

अपुष्टार्थ—जहाँ अर्थ की पुष्टि नहीं करने वाले पद होते हैं, वहाँ अपुष्टार्थ दोष माना जाता है। भोज ने इसे ही 'तुच्छवाच्यता' कहा है। उनकी मान्यता है कि तुच्छ वाच्य को अपुष्टार्थ दोष माना गया है; किन्तु कहीं-कहीं छन्द के अनुरोध से वह गुण बन जाता है।[2] भोज की इस मान्यता से सहमत होना कठिन है। छन्द के अनुरोध से अपुष्टार्थ दोष को क्षम्य तो माना जा सकता है; किन्तु वह गुण बन जाता है, यह कहना युक्तिसङ्गत नहीं जान पड़ता।

असमर्थ या अवाचक—यह काव्य-दोष सीत्कार आदि में गुण बन जाता है।[3]

अप्रतीतत्व—जहाँ केवल शास्त्र में प्रसिद्ध पद का प्रयोग होता है, वहाँ अप्रतीतत्व दोष माना जाता है; क्योंकि उस शास्त्र-मात्र में प्रसिद्ध पद की प्रतीति सर्वजनसुलभ नहीं हो पाती; किन्तु शास्त्रवेत्ताओं के सम्भाषण में वैसे पदों का प्रयोग अधिक स्वाभाविक होने के कारण गुण बन जाता है।[4] अप्रतीतत्व दोष वक्ता के औचित्य के कारण गुण के पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है।

क्लिष्टत्व—जहाँ अर्थप्रतीति में व्यवधान होता है, वहाँ क्लिष्टत्व दोष माना जाता है। भोज के अनुसार अर्थ की तुरत प्रतीति हो जाने से क्लिष्टत्व दोष गुण बन जाता है।[5] क्लिष्ट पदों का प्रयोग होने पर भी पदान्तर के सन्निधान

---

१. सा स्यात् प्रमुपिता यस्यां दुर्बोधार्था पदावली। दण्डी, काव्यादर्श ३,९९

२. तुच्छवाच्यमपुष्टार्थमिति यत् प्राक् प्रकाशितम्।
तस्य छन्दोऽनुरोधादौ गुणत्वमवधार्यते ॥—भोज, सरस्वतीकण्ठा०, पृ० ६०

३. प्रतिपादितमादौ यदसमर्थमवाचकम्।
तस्यापि खलु मन्यन्ते गुणत्वं सीत्कृतादिषु ॥— भोज, सरस्वतीकण्ठा०, पृ० ६०

४. शास्त्रमात्रप्रतीतत्वादप्रतीतं तदुच्यते।
गुणत्वं तस्य तद्विद्यसम्भाषादौ विदुर्बुधाः ॥—भोज, सर० कण्ठा०, पृ० ६१

५. अर्थप्रतीतिकृद्दूरे क्लिष्टं नाम यदुच्यते।
झटित्यर्थप्रतीतौ तद्गुणत्वमनुगच्छति ॥— वही पृ० ६१

से, प्रकरण के अनुरोध से या प्रसिद्धि के अनुरोध से उनका अर्थ झट से प्रकट हो जाय तो क्लिष्ट दोष गुण बन जाता है। वस्तुतः जहाँ अर्थ की झट से प्रतीति हो जाय, वहाँ क्लिष्टत्व का अभाव ही माना जायगा। वहाँ क्लिष्टत्व दोष गुण नहीं बनता, वरन् क्लिष्टत्व के अभाव से काव्य सुभग होता है।

गूढार्थत्व—जहाँ पद का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग होता है उसे भोज ने गूढार्थ दोष कहा है। उनका मत है कि व्याख्यान आदि में यह गूढार्थत्व गुण हो जाता है।[1]

नेयार्थ—नेयार्थ दोष प्रहेलिका आदि चित्रकाव्य-भेद में गुण माना गया है।[2] प्रहेलिका आदि में दूरारूढ कल्पना इष्ट होती है। अतः, उसमें नेयार्थ को दोष नहीं, गुण माना जाता है।

सन्दिग्ध—ऐसे शब्दों का प्रयोग, जिनके अर्थ का निर्णय तुरत नहीं हो सके, सन्दिग्ध दोष कहा गया है; किन्तु सन्दर्भ आदि के कारण यदि वैसे अनिश्चयार्थक पद-प्रयोग से कुछ वैशिष्ट्य आ जाय तो वह सन्दिग्ध दोष काव्य का शोभाकारक गुण बन जाता है।[3] दण्डी ने ससंशय दोष को स्थिति-विशेष में अलङ्कार माना था। उनके अनुसार जहाँ संशय के लिए ही वैसे सन्दिग्ध अर्थ वाले पदों का प्रयोग होता है, वहाँ ससंशय अलङ्कार ही होता है, दोष नहीं।[4] भामह ने भी निश्चित अर्थ के इष्ट होने पर ही संशयोत्पत्ति को दोष माना है, अन्यत्र नहीं।[5]

विरुद्धमतिकृत्—जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है, जो कवि के विवक्षित अर्थ से विरुद्ध अर्थ की प्रतीति पाठक के मन में कराने लगते हैं, वहाँ विरुद्ध दोष माना जाता है; परन्तु यदि काव्य में चमत्कार लाने के लिए कवि जान-

---

१. अप्रसिद्धार्थसम्बन्धं यद् गूढार्थमिति स्मृतम्।
तद्व्याख्यानादिषु प्रायो गुणत्वेन तदिष्यते ॥—भोज, सर० कण्ठा०, पृ० ९२

२. नेयार्थं यत्स्वसङ्केतक्लृप्तवाच्यं तदीरितम्।
प्रहेलिकादिषु प्रायः स्तद्गुणत्वेन गम्यते ॥—वही, पृ० ९३

३. यदनिश्चयकृत् प्रोक्तं सन्दिग्धं तद्गुणीभवेत्।
भवेद्विशेषावगमो यदि प्रकरणादिभिः ॥—वही, पृ० ९४

४. ईदृशं संशयायैव यदि जातु प्रयुज्यते ॥
स्यादलङ्कार एवासौ न दोषस्तत्र तद्यथा ॥—दण्डी, काव्यादर्श ३,१४१

५. ससंशयमिति प्राहुस्ततस्तज्जननं वचः।
इष्टं निश्चितये वाक्यं न वेलायेति (वेलायति ?) तद्यथा।—भामह, काव्यालङ्कार, ४,१८

बूझकर विरुद्धार्थ-प्रतीति-जनक शब्दों का प्रयोग करता है तो वह प्रयोग काव्य का शोभाधायक गुण बन जाता है।[१]

अप्रयोजकपदत्व—जिस पद-प्रयोग से अर्थ में किसी प्रकार का वैशिष्टय नहीं आता उसे अप्रयोजक पद कहते हैं। यह काव्य का दोष है; किन्तु जहाँ वैशिष्ट्य अभीष्ट नहीं हो, केवल वस्तु के स्वरूप की विवक्षा हो, वहाँ अप्रयोजकपदत्व भी गुण बन जाता है।[२] वस्तुतः, यह अदोष-मात्र माना जा सकता है, भावात्मक गुण नहीं।

देश्य—अव्युत्पत्तिमत् अर्थात् व्याकरण के नियम से अव्युत्पन्न, शब्द को देश्य दोष कहा गया है। वह दोष भी महाकवियों के कौशल से गुण बन जाता है।[३]

ग्राम्यत्व—ग्राम्यत्व के तीन प्रकार होते हैं; घृणावत्, अश्लीलत्व एवं अमङ्गलार्थत्व। ये दोष भी संवीत अर्थ में, वस्तु माहात्म्य से गुप्त अर्थ में तथा लक्ष्य अर्थमें दोष नहीं माने जाते।[४] यह दोष-परिहार मनोवैज्ञानिक आधार पर आधृत है। भावना के आधार पर ही अश्लीलता आदि दोष का निर्णय होता है। ईश्वर के साथ सम्बद्ध होने के कारण ही शिव-लिङ्ग के प्रति किसी के मन में असभ्य भावना नहीं उत्पन्न होती। इसी प्रकार भगिनी, भगवती आदि शब्दों के साथ मनुष्य की जो पवित्र भावना जुड़ी हुई है उसके कारण भकार आदि वर्ण में भी असभ्य भाव का आभास उत्पन्न नहीं होने पाता। अर्थ के लक्षित होने पर उसमें ग्राम्यत्व, अश्लीलत्व एवं अमङ्गलत्व का बोध नहीं होता। भोज ने अपनी वृत्ति में इस ओर निर्देश किया है।[५] उक्त तीनों दोषों में से प्रत्येक संवीत, गुप्त एवं लक्ष्य अर्थ के भेद से तीन प्रकार का दोष-गुण बन जाता है

---

१. यत्तद्विरुद्धमित्युक्तं विपरीतप्रकल्पनम।
तथाभूताभिधानेन गुणत्वं प्रतिपद्यते ।। — भोज, सरस्वतीकण्ठा० पृ० ९५

२. अप्रयोजकमित्युक्तमविशेषविधायकम् ।
स्वरूपमात्रे वक्तव्ये तस्यापि गुणतेष्यते ।। — वही, पृ० ९६

३. यदव्युत्पत्तिमद्देश्यमिति पूर्वं निरूपितम् ।
महाकविनिबद्धं सत्दप्यत्र गुणीभवेत् ।। —वही, पृ० ९७

४. ग्राम्यं घृणावदश्लीलामङ्गलार्थं यदीरितम् ।
तत् संवीतेषु गुप्तेषु लक्षितेषु न दुष्यति ।। —वही पृ० ९७

५. यदाह—संवीतस्य हि लोकेषु न दोषान्वेषणं क्षमम् ।
शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्ववासना ।। और—
वस्तुमाहात्म्यगुप्तस्य पदार्थस्य विभावनात् ।
भगिनीभगवत्यादि नासभ्यत्वेन भाव्यते ।। — वही, वृत्ति, पृ० ९८,९९

और इनकी संख्या नौ हो जाती है। इनके अतिरिक्त पन्द्रह पदगत दोष-गुणों का विवेचन ऊपर हो चुका है। इस प्रकार पदगत वैशेषिक गुण चौबीस प्रकार के माने गये हैं।

वाक्यगत वैशेषिक गुण

भोज ने चौबीस वाक्यगत दोषों का गुणत्व दिखाकर चौबीस प्रकार के वाक्यगत वैशेषिक गुणों की कल्पना की है। यहाँ उनके वाक्यगत वैशेषिक गुणों का आलोचनात्मक परिचय दिया जाता है—

शब्दहीन—शब्दहीन दोष असाधु शब्द का प्रयोग है। भोज ने यह मान्यता प्रकट की है कि यदि कवि की विवक्षा के कारण कहीं स्वभाव-सुन्दर असाधु शब्द का भी प्रयोग होता है तो वह शोभावह गुण हो जाता है।[1] दण्डी ने भी शिष्टजनों के इष्ट होने पर 'अनालक्ष्यलक्ष्यलक्षण-रूप' शब्दहीन को दोष नहीं माना था।[2]

अपक्रम—अपक्रम के दोषाभाव के सम्बन्ध में दण्डी के ही विचार को भोज ने यथा-रूप उद्धृत कर दिया है। दण्डी की धारणा है कि जहाँ कवि अन्वय-सम्बन्ध के अवबोध के लिए सायास क्रम का तिरस्कार कर वर्णन करता है, वहाँ क्रम का उल्लङ्घन दोष नहीं माना जाता। भोज ने दण्डी के इस कथन को तथा उनके द्वारा प्रदत्त इसके उदाहरण को अक्षरशः स्वीकार कर लिया है।[3]

विसन्धि या विरूपसन्धि—भोज ने इन दोनों दोषों के सम्बन्ध में कहा है कि ये दुर्वाचक एवं प्रगृह्य आदि में दोष नहीं माने जाते।[4] इसका कारण यह है कि स्त्री, बच्चे तथा मूर्खों को सिखाने के लिए सन्धि-हीन पदावली का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। गोष्ठी में हास्य आदि के लिए भी दुर्वाचक का प्रयोग विहित है। इन स्थितियों में जहाँ दुर्वाचक के प्रयोग का विधान है, वहाँ विसन्धि

---

१. तत्र शब्दविहीनस्य विवक्षावशतः क्वचित्।
निसर्गसुन्दरत्वेन गुणत्वं परिकल्प्यते ॥—भोज, सरस्वतीकण्ठा०, पृ० १०२

२. शब्दहीनमनालक्ष्यलक्ष्यलक्षणपद्धतिः।
पदप्रयोगोऽशिष्टेष्टः शिष्टेष्टस्तु न दुष्यति ॥ दण्डी, काव्यादर्श, ३,१४८

३. यत्नः सम्बन्धविज्ञानहेतुः कोऽपि कृतो यदि।
क्रमलङ्घनमप्याहुर्न दोषं सूरयो यथा ॥-वही ३,१४६ और भोज, सरस्वती-कण्ठा०, पृ० १०४

४. विरूपसन्धि यत्पूर्वं विसन्धि च निरूपितम्।
न च दुर्वचके प्रायः प्रगृह्यादौ च दुष्यति ॥ भोज, सरस्वती-कण्ठा०, पृ० १०५

को दोष नहीं माना जा सकता।[1] प्रगृह्य में तो सन्धि का न होना व्याकरण-सम्मत है। अतः, प्रगृह्य की स्थिति में विसन्धि शास्त्र-सम्मत होने के कारण दोष नहीं। पाणिनि के अनुसार, प्लुत स्वर और प्रगृह्यसंज्ञक पद के परे स्वर आने पर प्रकृतिवद्भाव हो जाता है, सन्धि नहीं होती।[2] 'प्रगृह्य' व्याकरण का पारिभाषिक शब्द है; अतः यहाँ उसका स्पष्टीकरण अपेक्षित होगा। पाणिनि ने द्विवचन के उन शब्द-रूपों को, जिनके अन्त में 'ई', 'ऊ' या 'ए' आते हैं, प्रगृह्य संज्ञा दी है।[3] दण्डी ने भी प्रगृह्य आदि के कारण होने वाली विसन्धि को छोड़कर स्वेच्छा से किये जाने वाले विसन्धि-पद-प्रयोग को ही दोष कहा था।[4] भोज की धारणा दण्डी की धारणा से प्रभावित है। उन्होंने अपनी वृत्ति में दण्डी की इस धारणा की ओर निर्देश भी किया है।

पुनरुक्त—पुनरुक्त दोष का गुणत्व दिखाने के लिए भोज ने दण्डी की ही तत्सम्बन्धी धारणा को उद्धृत कर लिया है। दण्डी का मत है कि जहाँ अतिशय अनुकम्पा आदि की विवक्षा हो, वहाँ पुनरुक्त दोष नहीं होता, वरन् अलङ्कार हो जाता है। भोज ने भी सरस्वतीकण्ठाभरण में यही कहा है।[5] इस कथन में दोषाभाव को अलङ्कार कहकर अलङ्कार को गुण का पर्याय बना दिया गया है। इसके उदाहरण का स्पष्टीकरण करते हुए भोज ने अलङ्कार के स्थान पर गुण शब्द का प्रयोग किया है।[6] लक्षण में जिस अर्थ में अलङ्क्रिया शब्द का प्रयोग हुआ है, ठीक उसी अर्थ में वृत्ति में गुण शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार भोज ने गुण और अलङ्कार का प्रयोग यहाँ पर्यायवाची शब्द के रूप में किया है।[7]

---

१. यदाह —शुकस्त्रीबालमूर्खाणां मुखसंस्कारसिद्धये।
प्रहासाय च गोष्ठीषु वाच्या दुर्वाचकादयः॥—भोज, सर० कण्ठा० पृ० १०६

२. प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्।— पाणिनि, अष्टाध्यायी, ६,१,१२५

३. ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्।—वही १,१,११

४. न संहितां विवक्षामीत्यनुसन्धानं पदेषु यत्।
तद्विसंधीति निर्दिष्टं न प्रगृह्यादिहेतुकम्॥—दण्डी, काव्यादर्श, ३,१५९

५. द्रष्टव्य —भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, वृत्ति, पृ० १०६

६ अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद्विवक्ष्यते।
न दोषः पुनरुक्तोपि प्रत्युतेयमलंक्रिया॥—दण्डी, काव्यादर्श, ३,१३७ तथा
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० १०७

७ तदुभयं अनुकम्पाद्यतिशयविवक्षायामदोष इति गुणत्वम्।
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० १०७

व्याकीर्ण—पदों के व्युत्क्रम को अर्थात् वाक्य में पद के उचित विन्यास के अभाव को भोज ने व्याकीर्ण दोष कहा है। वह व्याकीर्ण दोष भी स्थिति-विशेष में गुण बन जाता है।[1]

सङ्कीर्ण—एक वाक्य के पदार्थ का दूसरे वाक्य के पदार्थ के साथ परस्पर प्रवेश सङ्कीर्ण दोष है; पर प्रश्नोत्तर में यदि क्रम से दोनों वाक्य सङ्कीर्ण होते हैं तो वह सङ्कीर्ण दोष नहीं माना जाता।[2]

अपद—भाषा-चित्र में, जहाँ कई भाषाओं के मिश्रण से चित्र-काव्य का निर्माण होता है, अपद दोष नहीं होता।[3]

वाक्यगर्भितम्—एक वाक्य में वाक्यान्तर का प्रविष्ट हो जाना वाक्य-गर्भित दोष है; पर जहाँ प्रकृत-रस के साथ रहने वाले रसान्तर से दोष का तिरस्कार हो जाय, वहाँ वह दोष नहीं होता।[4]

उपमा-दोष

भिन्नलिङ्गत्व एवं भिन्नवचनत्व—काव्यशास्त्र में उपमा से सम्बद्ध कई दोषों की चर्चा हुई है। भोज ने कुछ उपमा-दोषों का गुणत्व प्रतिपादित किया है। भिन्नलिङ्ग और भिन्नवचन उपमा के दोष हैं। उपमान और उपमेय में समान लिङ्ग और समान वचन का प्रयोग अपेक्षित होता है। जहाँ दोनों में भिन्न-लिङ्ग का प्रयोग होता है, वहाँ भिन्नलिङ्ग दोष होता है। इसी प्रकार यदि दोनों में भिन्न वचन का प्रयोग होता है तो उसे उपमा का भिन्नवचन दोष माना जाता है। भोज की मान्यता है कि यदि भिन्नवचन एवं भिन्नलिङ्ग का प्रयोग भी विद्वानों के मन में उद्वेग उत्पन्न न करता हो तो उसे दोष नहीं माना जाता।[5]

---

१. पदानां व्युत्क्रमो यत्र क्रमेण व्युत्क्रमेण वा।
तद्व्याकीर्णं विदुस्तस्य न दोषः क्वापि तद् यथा॥
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० १०७

२. पर्यायेण द्वयोर्यत्र वाक्यं प्रश्नोत्तरादिषु।
संकीर्णं तन्न दोषाय वाक्ये वाक्यविदो विदुः॥—वही, पृ० १०८

३. प्रकृतिस्थादिभेदेन ग्राम्यादिभिरथापि वा।
अपदं तस्य चानुज्ञा भाषाचित्रं विधीयते॥—वही, पृ० १०९

४. वाक्यान्तरस्यगर्भं यद् वक्यं तद्वाक्यगर्भितम्।
रसान्तरतिरस्कारे तदिष्टं नेष्टमन्यथा॥—वही, पृ० ११३

५. यद्भिन्नलिङ्गमित्युक्तं विभिन्नवचनं च यत्।
उपमादूषणं तन्न यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥—वही पृ० ११४-१५

हीनोपम —जहाँ उपमान का धर्म उपमेय के धर्म के समान नहीं होता, वहाँ हीनोपम उपमा-दोष माना जाता है। प्रस्तुत वस्तु के धर्म के प्रभाव को बढ़ाने के लिए ही अप्रस्तुत की योजना होती है। उपमा अलङ्कार में सामान्यतः उपमान और उपमेय के धर्म में सादृश्य रहता है। इसीलिए उपमान-धर्म का उपमेय-धर्म के समान न होकर उससे हीन होना दोष माना गया है। भोज के अनुसार, प्रसिद्धि के कारण इस दोष का परिहार हो जाता है। हीन धर्म वाला उपमान भी यदि कवि-परम्परा में प्रसिद्ध हो जाता है तो उस उपमान की योजना को दोष नहीं माना जाता।[1]

अधिकोपम—उपमेय की अपेक्षा उपमान के न्यूनता-रूप हीनोपम के विपरीत उपमान की अधिकता को अधिकोपम दोष माना गया है। भोज ने यह माना है कि हीनोपम की ही तरह अधिकोपम भी स्थिति-विशेष में दोष नहीं माना जाता।[2] उक्त उपमान-दोषों के गुणत्व की धारणा, भोज को दण्डी से मिली है। दण्डी ने यह माना है कि लिङ्गभिन्न, वचनभिन्न, हीनोपम और अधिकोपम उपमा-दोष वहीं दोष माने जाते हैं, जहाँ उनसे अर्थप्रतीति में व्याघात होने से सहृदयों के चित्त में उद्वेग उत्पन्न होता है। जहाँ वे सहृदय के चित्त को उद्विग्न न करें, वहाँ वे दूषण नहीं होते।[3] विशेष स्थिति में उनके दोषत्व के अभाव को ही भोज ने गुण मान लिया है। दण्डी ने विद्वन्मानस-विक्षोभकारी न होने पर उनकी अदोषता स्वीकार की थी। भोज ने भी अपने लक्षण में प्रसिद्धि आदि की स्थितियों में उनके दोष का राहित्य ही प्रतिपादित किया है। अतः, इन उपमा-दोषों के अभाव को गुण मानकर वैशेषिक गुण-वर्ग में रखना उचित नहीं। दोषाभाव के स्थल में दो स्थितियाँ सम्भव हैं :— कुछ दोष ऐसे हैं, जिनके अभाव में कुछ गुणों की भावात्मक सत्ता अनिवार्यतः रहा करती है, पर कुछ दोषों के अभाव में गुणों की भावात्मक स्थिति आवश्यक नहीं। मम्मट ने वक्ता आदि के औचित्य से दोष का कहीं गुणत्व माना है और

१. यत्रोपमानधर्माः स्युर्नोपमेयेन सम्मिताः।
तद्धीनोपममित्याहुस्तत्प्रसिद्धौ न दुष्यति ॥—भोज, सर० कण्ठा० पृ० ११८

२. क्रमेणानेन कृतिभिरेष्टव्यमधिकोपमम्।
विशेषस्तूपमेयाङ्गमनुमानात् प्रतीयते ॥—वही, पृ० ११९

३ न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमा दूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ।—दण्डी, काव्यादर्श २, ५१

कहीं उसका दोष-गुण-राहित्य-मात्र।[१] पाठक के मन में उद्वेग उत्पन्न न करने के कारण उन्हें दोषाभाव तो माना जा सकता है किन्तु वे सहृदय के मन में आह्लाद उत्पन्न करते हों, यह नहीं कहा जा सकता; और, इसीलिए उन्हें भावात्मक गुण मानने में कोई युक्ति नहीं।

छन्द-दोष

छन्दोभङ्ग :—छन्द में वर्णों की संख्या तथा गुरु-लघु मात्राओं के प्रयोग का छन्द-शास्त्र में विधान है। जिस छन्द में जितने वर्णों का प्रयोग अपेक्षित हो तथा जिस स्थान में गुरु या लघु वर्ण के प्रयोग का विधान हो, वहाँ उतने वर्णों या गुरु-लघु मात्राओं का यथा-नियम प्रयोग न होने पर छन्दोभङ्ग दोष माना जाता है। भोज का मत है कि जहाँ संयुक्त वर्ण के पूर्व का वर्ण यत्नपूर्वक अगुरु बना दिया जाय, वहाँ छन्दभङ्ग दोष नहीं होता है।[२] छन्दशास्त्र में संयुक्त वर्ण के पूर्व की मात्रा गुरु मानी जाती है।[३] उसके लघु कर देने पर मात्रा-नियम में व्याघात होने पर भी छन्द-भङ्ग दोष नहीं माना जाता। दण्डी ने इस दोष को सुनिन्दित कहकर सर्वथा त्याज्य माना था। भोज ने विशेष स्थिति में उसका भी गुणत्व मान लिया।

यतिभङ्ग :— छन्द में अस्थान विराम को यतिभङ्ग दोष कहा जाता है। छन्द के पाठ में विराम को यति कहते हैं। यति का स्थान छन्द में निर्धारित रहता है। जितने वर्णों के बाद यति का विधान रहता है, उतने वर्णों के बाद ही यदि शब्द समाप्त नहीं होता तो पद के बीच में ही यति पड़ जाती है। इस प्रकार यति के लिए शब्द को तोड़ना पड़ता है या शब्द आरम्भ होने के पूर्व या उसके समाप्त होने के बाद विराम लिया जाता है। दोनों ही स्थितियों में यति के लिए वर्णों की संख्या का नियम उपेक्षित हो जाता है। अतः, इसे यतिभङ्ग दोष माना जाता है। भोज ने कुछ स्थितियों में इसके गुणत्व की कल्पना की है। पद के अन्तिम अवयव का लोप हो जाने पर जो शेष भाग बच रहता है, वहाँ यति रह सकती है। सन्धि होने पर जो विकार होता है, वहाँ भी यति का पड़ना दोष नहीं माना जाता। भोज ने अपनी वृत्ति में ऐसी कई

---

१ वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित्क्वचिन्नोभौ।
— मम्मट, काव्यप्र० ७ पृ० १६७

२. यदा तीव्रप्रयत्नेन संयोगादेरगौरवम्।
न छन्दोभङ्गमप्याहुस्तदा दोषाय सूरयः—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० १२०

३. संयोगाद्यं दीर्घम ····। —श्रुतबोध श्लोक २

स्थितियो का उल्लेख किया है, जिनमें यतिभङ्ग दोष नहीं होता।[१] वृत्ति में दण्डी के एक श्लोक को उद्धृत किया गया है, जिसमें उन्होंने लुप्तपदान्त आदि में यतिभङ्ग को अदोष माना है।[२]

अशरीर—क्रियाहीनता में अशरीर दोष माना जाता है; किन्तु जहाँ क्रिया की अपेक्षा नहीं रहती, वहाँ वाक्य में क्रिया-पद का अभाव क्रिया-हीन दोष नहीं माना जाता।[३] इसके अतिरिक्त श्लेष आदि गुणो के विपर्ययभूत अरीतिमत् दोष के नौ भेदों से भी निम्नलिखित नौ वैशेषिक गुण बनते हैं—

१. शैथिल्य—श्लिष्ट गुण का विपर्यय शिथिल दोष है; किन्तु गौड मार्ग में यह समादृत होता है। अतः, यह दोष सभी मार्गों का दोष नहीं। वैदर्भ मार्ग में इसे दोष माना जाता है; पर गौड मार्ग में यह गुण है।[४] दण्डी की मान्यता के आधार पर भोज ने शैथिल्य को गौड मार्ग का गुण माना है और इसे दोष-गुण में परिगणित किया है।

२. वैषम्य—समता गुण का विपर्यास वैषम्य दोष कहा जाता है। अलङ्कार-योजना के अनुरोध से कहीं-कहीं वैषम्य गुण बन जाता है। शब्दाडम्बर में रुचि रखने वाले गौड मार्ग के कवि वैषम्य का आदर करते हैं। इसलिए वह गौड मार्ग में गुण माना जाता है।[५] दण्डी की भी मान्यता है कि गौड अर्थालङ्कार एवं शब्दालङ्कार के उत्कर्ष में आग्रह रखते हैं; अतः वैषम्य के त्याग में रुचि नहीं रखते।[६]

---

१. वाक्यमस्थानविरतिप्राग्भग्नयतिसंज्ञया।
समुद्दिष्टं यदधुना गुणत्वं तस्य कल्प्यते॥ तदाह—
स्वरसन्ध्यकृते प्रायो धातुभेदे तदिष्यते।
नामभेदे च शेषेषु न दोष इति सूरयः॥
लुप्ते पदान्ते शेषस्य पदत्वं निश्चितं यथा।
तथा सन्धिविकारान्तं पदमेवेति वर्ण्यते॥ —भोज, सर० कण्ठा० पृ० १२१

२. द्रष्टव्य, दण्डी, काव्यादर्श, ३, १५४—सर० कण्ठा० में उद्धृत, पृ० १२१

३. अशरीरं क्रियाहीनं क्रियापेक्षा न यत्र तु।
प्राशस्त्यादेरपेक्षा वा न दोषस्तत्र तद्यथा॥—भोज, सर० कण्ठा०, पृ० १२१

४. श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यं शिथिलं तद्विपर्ययः।
गौडीयैरिष्यते तत्तु बन्धप्राशस्त्यगौरवात्॥—वही, पृ० १२२

५. न दोषः क्वापि वैषम्येऽप्यर्थालङ्कारकारणात्।
पौरस्त्यैरादृतत्वाच्च शब्दाडम्बरतोऽपि वा॥—वही, पृ० १२३

६. इत्यनालोच्य वैषम्यमर्थालंकारडम्बरौ।
अवेक्षमाणा ववृधे पौरस्त्या काव्यपद्धतिः॥—दण्डी, काव्यादर्श, १, ५०

३. कठोरत्व—गौड मार्ग में कठोर को दोष नहीं माना जाता। वहाँ के कवि दीप्तत्व का आदर करते हैं।[१]

४. अप्रसन्न—प्रसाद गुण का विपर्यय अप्रसन्न दोष माना गया है; किन्तु चित्रकाव्य में उसे दोष नहीं माना जाता। चित्रकाव्य में ऐसा शब्द-कौतुक हुआ करता है कि उसका अर्थ बौद्धिक व्यायाम के बाद ही जाना जा सकता है। उसमें बच्चे से लेकर स्त्रियों तक के लिए सुबोध प्रसिद्धार्थ पद का प्रयोग नहीं होता। वहाँ अप्रसन्नता को ही गुण माना जाता है।[२]

५. नेयार्थ—जहाँ अध्याहार के द्वारा अर्थ का बोध हो, वहाँ नेयार्थ दोष माना गया है। भोज का मत है कि जहाँ प्रसिद्धि के कारण अर्थ का अध्याहार होता है, वहाँ नेयार्थ दोष नहीं होता।[३]

६. ग्राम्य—भोज ने ग्राम्यत्व को भी अनित्य दोष माना है। असभ्य अर्थ का प्रतिपादन ग्राम्य दोष कहा जाता है। भोज के अनुसार ग्राम्य-उक्ति में ही असभ्यार्थ-प्रतिपादन दोष होता है। उसी अर्थ का यदि विदग्ध-उक्ति में वर्णन हो तो वहाँ ग्राम्यत्व दोष नहीं होता, वह गुण हो जाता है।[४]

७. असमस्त—समासभूयस्त्व ओज के विपर्यय को भोज ने असमस्त दोष कहा है। उनका कहना है कि दीप्त अर्थ में ओज रहता है। यदि ओज-विपर्यय असमस्त भी दीप्त हो तो वह दोष नहीं होकर गुण बन जाता है।[५] उन्होंने इसके उदाहरण का स्पष्टीकरण करते हुए दिखाया है कि इसमें समास का अभाव होने पर भी बन्ध की प्रौढता के कारण असमस्तत्व गुण हो गया है।[६]

---

१. कठोरमपि बध्नन्ति दीप्तमित्यपरे पुनः ।
तेषां मतेन तस्यापि दूषणं नैव विद्यते ॥—भोज, सरस्वतीकण्ठा०, पृ० १२३

२. अविद्वदङ्गनाबालप्रसिद्धार्थं प्रसादवत् ।
विपर्य्ययोऽस्याप्रसन्नं चित्रादौ तन्न दुष्यति ॥—वही, पृ० १२४

३ अध्याहारादिगम्यार्थं नेयार्थं प्रागुदाहृतम् ।
स गम्यते प्रसिद्धेश्चेन्न तद्दोषवदिष्यते ॥—वही, पृ० १२४

४. असभ्यार्थं मतं ग्राम्यं तद् ग्राम्योक्त्यैव दुष्यति ।
विदग्धोक्तौ तु तस्याहुर्गुणवत्वं मनीषिणः ॥—वही, पृ० १२४

५. ओजः समासभूयस्त्वं तद्दीप्तार्थेषु बध्यते ।
विपर्य्ययोऽस्यासमस्तं तद्दीप्तं चेन्न दोषभाक् ॥—वही, पृ० १२५

६. यथा—यो यः शस्त्रं बिभर्त्ति ···अत्रासमस्तत्वेऽपि प्रौढबन्धत्वाद् गणत्वम् ।
—वही, वृत्ति पृ० १२५

इस प्रकार दीप्तत्व की व्याख्या उन्होंने बन्ध की प्रौढता के रूप में की है। वस्तुतः, भोज ने जो उदाहरण दिया है, उसमें दीप्ति प्रौढ बन्ध के कारण नहीं, वरन् उत्साह की व्यञ्जना के कारण है। उसी उदाहरण में आनन्दवर्धन ने असमास-रचना में ओज दिखाकर यह सिद्ध किया है कि गुण सङ्घटना पर आश्रित नहीं रहते।[1] ओज-विपर्यय असमास को दोष माना जाय या नहीं इसपर हम भोज के ओज-गुण की विवेचना के प्रसङ्ग में विचार कर चुके हैं। दीप्त रस में भी असमस्त रचना सर्वथा दोष नहीं है, यह आनन्दवर्धन ने सबल युक्तियों से प्रमाणित कर दिया है। अतः, असमस्त दोष के गुणत्व की कल्पना व्यर्थ का आयास है।

८. अनिर्व्यूढ—जहाँ समस्त या असमस्त किसी एक रीति का आद्यन्त, निर्वाह नहीं होता वहाँ अनिर्व्यूढ दोष होता है। यह दोष कभी-कभी गुण बन जाता है। जहाँ वर्णन में अनेक रस आवें, वहाँ रसानुरूप रीति का परिवर्तन गुण ही माना जाता है। अतः, वहाँ अनेक रीतियों के आ जाने से जो अनिर्व्यूढत्व होता है वह दोष नहीं, गुण ही होता है।[2]

९. अनलङ्कार—अलङ्कार-रहित वाक्य अर्थात् अनुत्कृष्ट विशेषण पद-प्रयोग को अनलङ्कार कहा जाता है। इसे दोष माना गया है। पूर्वापर के अनुसन्धान से वाक्य की सङ्गति हो जाने पर यह अनलङ्कार दोष भी गुण बन जाता है।[3]

वाक्यार्थगत वैशेषिक गुण

अपार्थ—जहाँ समुदाय अर्थ की एकता का अभाव होता है अर्थात् सभी उक्तियों का मिला-जुला कोई अर्थ नहीं होता, वहाँ अपार्थ दोष माना जाता है। यह दोष बच्चे, उन्मत्त तथा मत्त व्यक्तियों की उक्ति में गुण बन जाता है।[4] वक्ता के औचित्य के कारण उन्मत्त व्यक्ति आदि की उक्ति में अपार्थ को दोष नहीं माना जाता। उन्मत्त व्यक्ति की बात में सम्बन्ध का अभाव स्वाभाविक है।

---

१. द्रष्टव्य—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, २, पृ० १२०

२. समस्तमसमस्तं वा न निर्वहति यद्वचः।
तदनिर्व्यूढमस्यापि न दोषः क्वापि तद्यथा॥ प्रसीद चंडि! त्यज मन्यु···
अत्र समस्तरीत्यनिर्वाहादनिर्व्यूढत्वेऽपि रसान्तरपरिग्रहेण रीत्यन्तरपरिग्रहाद् गुणत्वम्। —भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० १२५-२६

३ निरलंकारमित्याहुरलङ्कारोज्झितं वचः।
पूर्वोत्तरानुसन्धाने तस्य साधुत्वमिष्यते॥—वही, पृ० १२६

४. समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थं प्रचक्षते।
तन्मत्तोन्मत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति॥—वही, पृ० १२६

अतः, उस स्वाभाविक दशा के वर्णन के लिए समुदायार्थशून्यता गुण बन जाती है। भोज की यह धारणा दण्डी की अपार्थ-दोष-धारणा से अभिन्न है।[1]

व्यर्थ या अप्रयोजन—किसी वर्णन से जो अर्थ गतार्थ हो जाय, उसका वर्णन तथा प्रयोजनहीन अर्थ का वर्णन अप्रयोजन दोष कहा गया है; किन्तु कहीं-कहीं उसका भी निर्दोष प्रयोग देखा जाता है।[2]

एकार्थ—पूर्वकथित अर्थ का पुनः विना किसी वैशिष्ट्य के उसी रूप में कथन एकार्थ दोष है। रसमग्न-दशा में यदि कोई व्यक्ति पुनरुक्ति करता है तो वहाँ यह दोष नहीं माना जाता।[3] दण्डी ने भी अतिशय अनुकम्पा आदि की दशा में पुनरुक्त को अदोष माना है।[4] भोज की यह धारणा दण्डी की धारणा से प्रभावित है।

ससंशय या सन्दिग्ध—संशय उत्पन्न करने के लिए ही जहाँ कवि सन्दिग्धार्थ पद का प्रयोग करता है, वहाँ सन्दिग्ध दोष न होकर काव्य का अलङ्करण बन जाता है।[5] भोज की यह धारणा दण्डी की धारणा से अभिन्न है।[6]

अपक्रम—जहाँ वाक्य में या सम्पूर्ण प्रबन्ध में अर्थ के पौर्वापर्य-क्रम का अभाव रहता है, उसे अपक्रम दोष कहते हैं। जहाँ अर्थ के पौर्वापर्य-क्रम में विपर्यय होने से काव्य में कुछ विचित्रता आती है, वहाँ यह क्रम का विपर्यय गुण बन जाता है।[7]

खिन्न—जहाँ रीति का निर्वाह नहीं होता, वहाँ खिन्न दोष होता है। रीति का निर्वाह न होने पर भी यदि काव्य की कान्ति मलिन नहीं पड़ती तो

---

१. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्यादर्श, ३, १२८

२. तदप्रयोजनं यच्च गतार्थमर्थमेव तत्।
तस्यापि क्वापि निर्दोषः प्रयोगो दृश्यते यथा ॥—भोज, सर०, कण्ठा०, पृ० १२७

३. अविशेषेण पूर्वोक्तं यदि भूयोपि कीर्त्यते।
तदेकार्थं रसाक्षिप्तचेतसां तन्न दुष्यति ॥ वही, पृ० १२८

४. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्यादर्श ३, १३७

५. संशयायैव सन्दिग्धं यदि जातु प्रयुज्यते।
स्यादलङ्कार एवासौ न दोषस्तत्र तद्यथा ॥—वही, पृ० १२९

६. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्यादर्श, ३, १४१

७. वाक्ये प्रबन्धे चार्थानां पौर्वापर्यविपर्ययः।
दोषः सोपक्रमो नाम चित्रहेतौ न दुष्यति ॥—वही, पृ० १२९

वहाँ दोष नहीं माना जाता। अतः, खिन्न सर्वथा दोष ही नहीं है।[1]

अतिमात्र या अत्युक्ति—जहाँ लौकिक अर्थ का त्याग कर अलौकिक वर्णन की पद्धति अपनायी जाती है, वहाँ अत्युक्ति नामक दोष होता है, किन्तु गौड मार्ग में इसे दोष नहीं माना जाता। गौड कवियों को रुचि अत्युक्तिपूर्ण वर्णन में अधिक रहती है; अतः वहाँ के काव्य में अत्युक्ति गुण-रूप में स्वीकृत है।[2] दण्डी की भी यही मान्यता है।[3]

परुष—निष्ठुर अर्थ वाला परुष दोष अत्यन्त निन्द्य होता है; पर विरुद्ध-लक्षणा आदि में वह भी दोष नहीं रह जाता।[4]

विरस—जहाँ अप्रासङ्गिक रस आ जाय, वहाँ विरस दोष माना जाता है। विरस भी कहीं-कहीं अभीष्ट हो जाता है। जहाँ रस एवं वस्तु की अप्रधानता अभीप्सित होती है, वहाँ विरस गुण बन जाता है।[5]

हीनोपम और अधिकोपम—वाक्यगत दोष-गुण-विवेचन-क्रम में इन दोषों के स्वरूप पर विचार किया गया है। भोज ने इन दोनों वाक्यार्थगत दोषों का स्थिति-विशेष में गुणत्व स्वीकार किया है।[6]

असदृशोपम—जहाँ उपमान से उपमेय का वैषम्य दिखाई पड़ता हो, वहाँ असदृशोपम उपमा-दोष माना जाता है। भोज के अनुसार व्यतिरेकोपमा आदि में यह गुण बन जाता है।[7]

अप्रसिद्धोपम—उपमा अलङ्कार में लोक-प्रसिद्ध उपमान की योजना वाञ्छनीय मानी जाती है। जहाँ अप्रसिद्ध उपमान की योजना हो, वहाँ

---

१. यस्मिन् रीतेरनिर्वाहः खिन्नं तदभिधीयते।
न दोषस्तस्य तु क्वापि यत्रच्छाया न हीयते॥—भोज, सरस्व० कण्ठा०, पृ० १३०

२. लौकिकार्थमतिक्रम्य प्रस्थानं यत्प्रवर्त्तते।
तदत्युक्तिरिति प्रोक्तं गौडानां मनसो मुदे॥—वही, पृ० १३१

३. इदमत्युक्तिरित्युक्तमेतद्गौडोपलालितम्।—दण्डी, काव्यादर्श, १, ९२ पृ० ६७

४. परुषं निष्ठुरार्थं तु यदतीव विगर्हितम्।
विरुद्धलक्षणाद्यासु तदुक्तिषु न दुष्यति॥ भोज, सरस्व० कण्ठा०, पृ० १३२

५. अप्रस्तुतरसं प्राहुर्विरसं वस्तु सूरयः।
अप्राधान्ये तदेष्टव्यं शिष्टैः स्याद्रसवस्तुनोः॥ वही, पृ० १३२

६. द्रष्टव्य—वही, पृ० १३३

७. उपमानेन वैषम्याद्भवेदसदृशोपमम्।
तस्याभ्यनुज्ञामिच्छन्ति व्यतिरेकोपमादिषु॥—वही पृ० १३३

अप्रसिद्धोपम दोष होता है। भोज ने उसे कहीं-कहीं अदोष माना है।[1]

निरलङ्कार—अलङ्काररहित अर्थात् वक्रतारहित उक्ति को निरलङ्कार दोष माना जाता है। जहाँ अर्थ में उत्कर्ष रहता है, वहाँ अलङ्कार-हीनत्व भी गुण बन जाता है।[2]

अश्लील—अश्लीलत्व दोष भी कहीं-कहीं गुण बन जाता है।[3] यह अनित्य दोष माना गया है। पदगत अश्लीलत्व दोष के गुणत्व पर विचार किया जा चुका है। वाक्यार्थगत अश्लील भी विशेष स्थिति में गुण बन जाता है।

इनके अतिरिक्त विरुद्धत्व दोष के निम्नलिखित नौ भेद स्थिति-विशेष में गुण बन जाते हैं—

देशविरोध, कालविरोध तथा लोकविरोध—ये तीन प्रत्यक्ष-विरोध के भेद हैं। हेतुविद्याविरोध तथा आगमविरोध के भी तीन-तीन भेद हैं। युक्तिविरोध, औचित्यविरोध तथा प्रतिज्ञाविरोध; हेतुविद्या-विरोध के और धर्मशास्त्रविरोध, अर्थशास्त्रविरोध एवं कामशास्त्रविरोध; आगमविरोध के भेद हैं। उक्त विरोध-दोषों के सम्बन्ध में भोज का कथन है कि कवि के कौशल से ये सभी दोष गुण बन जाते हैं। इस सम्बन्ध में भोज ने दण्डी के विचार को ही उद्धृत कर दिया है।[4]

भामह, रुद्रट और दण्डी ने जो दोष-प्रकरण में कुछ दोषों के स्थिति-विशेष में गुणत्व का प्रतिपादन किया था, उसका विकसित रूप भोज के वैशेषिक गुण में प्राप्त होता है। ऊपर के विवेचन में यह देखा जा चुका है कि भोज ने कहीं-कहीं अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की दोष-गुण-धारणा को यथावत् स्वीकार कर लिया है।

भोज के वैशेषिक गुणों के स्वरूप के परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी परिगणित दोष गुण वस्तुतः गुण नहीं माने जा सकते।

१. यस्योपमानं लोकेषु न प्रसिद्धं तदिष्यते।
अप्रसिद्धोपमं नाम तत् क्वचिन्नैव दुष्यति ॥—भोज, सरस्व० कण्ठा०, पृ० १३४

२. निरलङ्कारमित्याहुरलङ्कारोज्झितं वचः।
अर्थौर्जित्येषु तस्यापि क्वचिन्निर्दोषता मता ॥—वही, पृ० १३४

३. असभ्यार्थं यदश्लील तदर्थान्तरवाचि वा।
तस्येह दृश्यते भूम्ना प्रयोगो नाभिदुष्यति ॥—वही, पृ० १३५

४. विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥—दण्डी, काव्यादर्श, ३,१७९ तथा भोज, सरस्वतीकंठाभरण, पृ० १३५-३६

उनमें से कुछ गुण अवश्य हैं; पर कुछ को स्थिति-विशेष में केवल अदोष माना जा सकता है। वे न दोष हैं न गुण। मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में दोष की विशेष स्थिति में जो दो दशाओं की कल्पना की है, वह अधिक वैज्ञानिक है। उन्होंने विशेष स्थिति में कुछ दोषों को गुण माना है और कुछ को गुण और दोष; दोनों का अभाव।[१] भोज के वैशेषिक गुणों में से भी कुछ ही गुण हैं, कुछ दोषगुणाभाव।

भोज ने अपने तीनों प्रकार के गुणों को सोल्लेख और निरुल्लेख वर्गों में विभाजित किया है।[२] यह वर्गीकरण गुणों की मुख्यता और अमुख्यता के आधार पर हुआ है।

पुनः, अपने चौबीस गुणों को भोज ने तीन वर्गों में विभक्त किया है। इन तीन वर्गों में से दो अनिवार्यतः रस से सम्बद्ध हैं। ये रसारम्भक और रसभाव-आरब्ध हैं। इन दो वर्गों के गुणों में रस और गुण की सदा सहस्थिति रहती है। अतः, यहाँ कभी रस और गुण का सङ्कर नहीं होता। तीसरा वर्ग शुद्ध शब्दार्थगत गुणों का वर्ग है। इस वर्ग में ही गुण और रस का सङ्कर सम्भव होता है। प्रथम दो वर्गों को 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' तथा दूसरे शब्दार्थगुण-वर्ग को 'पृथग्यत्ननिर्वर्त्य' कहा गया है।[३] बिना अतिरिक्त श्रम के स्वतः सम्पन्न हो जाने को अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य कहा जाता है। आनन्दवर्धन ने अपृथग्यत्न-निर्वर्त्य अलङ्कार को मुख्य रसोपकारक कहा है।[४]

आनन्दवर्धन के तीन गुणों पर दिये हुए श्लोकों को भोज ने उद्धृत किया है और उनकी मान्यता को स्वीकृत किया है। आनन्दवर्धन की माधुर्य-गुण-धारणा में दण्डी के अग्राम्यता-माधुर्य-सिद्धान्त को मिलाकर थोड़ी नवीनता भोज ने ला दी है। उन्होंने अग्राम्यता को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया है।

---

१. द्रष्टव्य—मम्मट, काव्यप्रकाश ७ पृ० १६७

२. द्रष्टव्य—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ७६२

३. यत्र × × × अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यानां गुणरसानां वाक्ये सन्निवेशः तत्र सङ्करव्यवहारो न प्रवर्तते। ××× सेयं गुणानां रसारम्भकत्वे सङ्कराप्रसिद्धिः। एवं रसानां गुणारम्भकत्वेऽपि। तद्यथा—रूढाहङ्कारता औजित्यम् भावतो वाक्यवृत्तिर्भाविकत्वम्, क्रोधाद्यध्यतीव्रता माधुर्यम्, आशयोत्कर्षं उदात्तत्वम्, अर्थस्य अभीष्टतमता प्रेयः,-दीप्तरसत्वं कान्ति इति।—वही, पृ० ७८३-८५

४. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धशक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥

—आनन्द०, ध्व० २, ३९, पृ० १२९

अग्राम्यता के अभाव में भोज काव्यत्व ही नहीं मानते। काव्य में अग्राम्यता माधुर्य की सर्वत्र अनिवार्य स्थिति रहती है। प्रसाद गुण की भी सत्ता सर्वत्र रहा करती है। वह सभी रसों का गुण है। माधुर्य शृङ्गार और करुण रसों का गुण है। वह उनसे अलग नहीं रह सकता। ओज गुण रौद्र आदि गुणों के साथ मिला रहता है, इसीलिए भोज ने यह मान्यता प्रकट की है कि इन रसारम्भक तीन गुणों में गुण और रस का सङ्कर कभी नहीं होता।

रसारब्ध वर्ग में और्जित्य (रूढाहङ्कारता), भाविक, माधुर्य (क्रोध आदि में भी अतीव्रता), उदात्तत्व, प्रेय और कान्ति—गुण रखे गये हैं। इन गुणों की अभिव्यक्ति रस के कारण होती है। इसीलिए इन्हें रसारब्ध कहा गया है। ये गुण भी अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य हैं; अतः इनमें सङ्कर नहीं होता।

शेष गुणों को भोज ने 'पृथग्यत्ननिर्वर्त्य' कहा है और एक अलग वर्ग में रखा है। इनमें रस और गुण की भिन्न स्थिति रहती है; अतः दोनों का सङ्कर हो सकता है। इस वर्ग के गुण शुद्ध शब्दार्थ के गुण हैं।

भोज का प्रबन्ध-गुण

वाक्य के शब्दार्थ-गुण पर विचार करने के साथ ही भोज ने सम्पूर्ण प्रबन्ध के शब्दगत एवं अर्थगत गुणों पर भी विचार किया है। प्रबन्ध-गुण के शब्दगत, अर्थगत एवं शब्दार्थोभयगत; तीन प्रकार हैं। शब्दगत प्रबन्धगुण चार हैं—(क) संक्षिप्तग्रन्थत्व, (ख) अविषमबन्धत्व (या श्रव्यवृत्तत्व), (ग) अनतिविस्तीर्णसर्गादित्व और (घ) श्लिष्टसन्धित्व।

अर्थगत प्रबन्ध-गुण में पाँच गुण रखे गये हैं—(अ) चतुर्वर्गफलायत्तत्व, (आ) चतुरोदात्तनायकत्व, (इ) रसभावनिरन्तरत्व, (ई) विधिनिषेधव्युत्पादकत्व तथा (उ) सुसूत्रसंविधानकत्व।

शब्दार्थोभयगत प्रबन्ध-गुण भी पाँच हैं—(१) रसानुरूपसन्दर्भत्व, (२) पात्रानुरूपभाषत्व, (३) अर्थानुरूप छन्दस्त्व, (४) समस्तलोकरञ्जकत्व एवं (५) सदलङ्कारवाक्यत्व।[१]

---

१. तत्र महाकाव्यादौ यथासम्भवम् (अ) संक्षिप्तग्रन्थत्वम्, अविषमबन्धत्वम् (श्रव्यवृत्तत्वम्), अनतिविस्तीर्णसर्गादित्वम्, श्लिष्टसन्धित्वं चेति शब्दगुणाः। चतुर्वर्गफलायत्तत्वम्, चतुरोदात्तनायकत्वम्, रसभावनिरन्तरत्वम्, विधिनिषेधव्युत्पादकत्वम्, सुसूत्रसंविधानकत्वमित्यर्थगुणाः। रसानुरूपसन्दर्भत्वम्, पात्रानुरूपभाषत्वम्, अर्थानुरूपच्छन्दस्त्वम्, समस्तलोकरञ्जकत्वम्, सदलङ्कारवाक्यत्वम् इत्युभयगुणाः - डॉ० राघवन, Bhoja's Sr. Pr. पृ० ३२१ पर उद्धृत।

शब्दगत प्रबन्ध-गुण

संक्षिप्तग्रन्थत्व—भोज के अनुसार, ग्रन्थ के संक्षिप्त होने पर कथा के रस का विच्छेद नहीं होता और ग्रन्थ में गुरुता रहती है। इस गुण का स्वरूप-निर्धारण निश्चयपूर्वक नहीं किया जा सकता। संक्षिप्तता का सीमा-निर्धारण कठिन है। यह ठीक है कि ग्रन्थ के अनावश्यक विस्तार से उसका प्रभाव बिखर जाता है; पर उसका अत्यन्त संक्षिप्त होना भी प्रभावोत्पादक नहीं होता। सम्पूर्ण रामकथा की ओर सङ्केत कर देने वाली एक श्लोकीय रामायण में कुछ भी प्रभावोत्पादकता नहीं है। अतः, ग्रन्थ के संक्षिप्तत्व गुण का निर्णय पाठक की रुचि पर ही निर्भर होगा।

अविषमबन्धत्व—सम्पूर्ण प्रबन्ध में शैली की एकरूपता का निर्वाह अविषम-बन्धत्व है। प्रबन्ध का यह गुण वस्तु-निरपेक्ष-भाव से सार्वत्रिक गुण नहीं माना जा सकता। अनेक भावों का वर्णन जिस प्रबन्ध में हो, वहाँ बन्ध की एकरूपता को गुण नहीं माना जायगा। भावानुरूप बन्ध में परिवर्तन ही प्रबन्ध का गुण माना जाना चाहिए। इसीसे सम्बद्ध श्रव्यवृत्तत्व गुण भोज ने माना है। प्रबन्ध में श्रुतिसुखद वृत्त का निर्वाह गुण है; किन्तु कठोर पदावली का योजना को भी रौद्रादि दीप्त रस में गुण माना जाता है। श्रुतिसुखद वृत्तत्व गुण भी भाव-सापेक्ष ही होता है।

अनतिविस्तीर्णसर्गादित्व—यह प्रबन्ध-गुण संक्षिप्तग्रन्थत्व-गुण से मिलता-जुलता है। सर्गों का अतिशय विस्तृत न होना गुण माना गया है।

सुश्लिष्टसन्धित्व—सभी सर्गों का परस्पर सम्बद्ध रहकर प्रबन्ध का उपकार करने में सुश्लिष्टसन्धित्व-गुण माना गया है।[1]

अर्थगत प्रबन्ध-गुण

चतुर्वर्गफलायत्तत्व—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों में से समग्र पुरुषार्थों का अथवा उनमें से कुछ का महाकाव्य का मुख्य फल होना और उनकी प्राप्ति का उपाय वर्णित होना चतुर्वर्गफलायत्तत्व गुण है। महाकाव्य

---

१. सुश्लिष्टसन्धित्वमित्यनेन तु सर्गादीनां परस्परमेकवाक्यतया महावाक्यात्मकस्य प्रबन्धस्योपकारित्वं दर्शयति।—डॉ० राघवन् Bhoja's Sr. Pr., पृ० ३२१ पर उद्धृत।

आदि का चतुर्वर्गफलायत्त होना ही उन्हें काव्य के मुक्तक आदि प्रकार से अलग करता है।[१]

चतुरोदात्तनायकत्व—प्रबन्ध के नायक का धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों में विचक्षण होना तथा आशयोत्कर्ष एवं भूत्युत्कर्ष से पूर्ण होना चतुरोदात्तनायकत्व गुण माना गया है।[२] नायक की चातुरी और उदात्तता प्रबन्ध में भी शोभा का आधान करती है; अतः, वह अर्थगत प्रबन्ध-गुण है।

रसभावनिरन्तरत्व—प्रबन्ध में अनेक रसों और भावों का होना गुण माना गया है। काव्य में एकरसता से पाठक मे अरुचि उत्पन्न हो जाती है। एकरसता को दूर करने के लिए रसभावनिरन्तरत्व अपेक्षित होता है। अतः, उसे प्रबन्ध का गुण स्वीकार किया गया है।

विधिनिषेधव्युत्पादकत्व—नायक के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का प्रदर्शन प्रबन्ध का गुण है। विधि-निषेध की उपदेशात्मक शैली प्रबन्ध में नहीं अपनायी जाती। वहाँ गुणवान नायक का उत्कर्ष एवं सदोष चरित्र वाले नायक का अपकर्ष दिखाकर प्रच्छन्न रूप से यह शिक्षा दी जाती है कि सद्गुण ही ग्राह्य है, दुर्गुण त्याज्य। यह विधि और निषेध की स्थापना ही विधिनिषेधव्युत्पादकत्व प्रबन्ध-गुण है।[३]

सुसूत्रसंविधानक—पूर्व-वर्णित एवं उत्तर काल में वर्णनीय अर्थ के बीच सम्बन्ध-निर्वाह से प्रबन्ध की शोभावृद्धि होती है। अतः, सुसूत्रसंविधानकत्व को प्रबन्ध का गुण कहा गया है।

शब्दार्थोभयगत प्रबन्ध-गुण

रसानुरूपसन्दर्भत्व—रसानुरूप पद-रचना को रसानुरूपसन्दर्भत्व गुण माना गया है। माघ ने रसानुरूप ओज एवं प्रसाद गुण के प्रयोग पर बल दिया है। भोज ने माघ के उस सिद्धान्त की ओर निर्देश किया है और अपनी धारणा को

---

१. चतुर्वर्गफलायत्तमित्यनेन चत्वारो वर्गा धर्मार्थकाममोक्षाः त एव व्यस्तास्समस्ता वा फलम्, तत्सन्धानोपायविषयं महाकाव्यादीति ज्ञापयन् मुक्तकादिभ्यो भेदमाचष्टे।—डॉ॰ राघवन्, Bhoja's Sr. Pr. पृ॰ ३२१ पर उद्धृत

२. चतुरोदात्तनायकत्वमित्यनेन कथाशरीरव्यापिनः नायकस्य धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यमभिदधानः आशयविभूत्योत्कर्षमभिदधाति।
—वही पृ॰ ३२१ पर उद्धृत।

३. विधिनिषेधव्युत्पादकत्वेन तु गुणवतो नायकस्य उत्कर्षप्रकाशनेन दोषवतश्चोच्छेद-प्रदर्शनेन जिगीषुणा गुणवतैव भाव्यम् न दोषवतेति व्युत्पादयति।
—वही पृ॰ ३२१ पर उद्धृत

स्पष्ट करते हुए लिखा है कि रतिभाव के प्रकर्ष की दशा में कोमल पद-रचना, उत्साह के उत्कर्ष में प्रौढ-बन्ध, क्रोध-चित्रण में कठोर शब्द-रचना, शोक-दशा में मृदु पदों की योजना और विस्मय के चित्रण के समय स्फुट पदावली की योजना रसानुरूपसन्दर्भत्व गुण है।[1] भोज की इस धारणा से उनकी अविषमबन्धत्व की मान्यता खण्डित हो जाती है। एक भाव के चित्रण में ही अविषमबन्ध गुण हो सकता है, सर्वत्र नहीं।

पात्रानुरूपभाषत्व—उत्तम पात्र के मुख से संस्कृत भाषा का प्रयोग, अधम पात्र के मुख से प्राकृत भाषा का प्रयोग, मध्यम पात्र के द्वारा शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग, जघन्य पात्रों से अपभ्रंश का प्रयोग एवं शेष सभी पात्रों के मुख से मागधी भाषा का प्रयोग प्रबन्ध का पात्रोचितभाषत्व गुण है।

अर्थानुरूपछन्दस्त्व—रसानुरूप छन्द का प्रयोग प्रबन्ध का गुण है। शृङ्गार रस में द्रुतविलम्बित आदि छन्द, वीर रस में वसन्ततिलका आदि छन्द, करुण रस में वैतालिक आदि छन्द, रौद्र में स्रग्धरा आदि तथा सर्वत्र शार्दूलविक्रीडित आदि छन्द उपयुक्त माने जाते हैं। तत्तद्रसों में उन-उन छन्दों का प्रयोग अर्थानुरूपछन्दस्त्व गुण कहा गया है।

समस्तलोकरञ्जकत्व—सर्वजनरञ्जकता को प्रबन्ध का गुण माना गया गया है। जिस प्रबन्ध में सभी वर्ग के व्यक्तियों की रुचि को तुष्ट करने की शक्ति रहती है, उसमें समस्तलोकरञ्जकत्व गुण माना गया है।

सदलङ्कारवाक्यत्व—प्रबन्ध में अलङ्कृत वाक्यों के प्रयोग में सदलङ्कार-वाक्यत्व गुण माना गया है।

भोज ने निष्कर्ष-रूप में यह कहा है कि ये गुण महाकाव्य में रस के अवियोग के कारण होते हैं। इनकी सत्ता से महाकाव्य रसयुक्त होते हैं।[2]

इन प्रबन्ध-गुणों की कल्पना स्वतन्त्र रूप से भोज ने ही प्रथम बार की है। भामह और दण्डी ने महाकाव्य के अङ्ग के रूप में जिन तत्त्वों का वर्णन किया

---

१. रसानुरूपसन्दर्भत्वमित्यनेन रतिप्रकर्षे कोमलः, उत्साहप्रकर्षे प्रौढः, क्रोधप्रकर्षे कठोरः, शोकप्रकर्षे मृदुः, विस्मयप्रकर्षे तु स्फुटः शब्दसन्दर्भो विरचनीय इत्युपदिशन् "नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः" (माघ २, ८३) इति ख्यापयति। —वही, पृ० ३२१ पर उद्धृत

२. तेषां शब्दार्थोभयगुणाः महाकाव्येषु रसावियोगहेतवो भवन्ति। भोज, शृ०, प्र०; राघवन, Bhoja's Sr. Pr. पृ० ३२१ पर उद्धृत तथा हेम० काव्यानु०, पृ० ३३४-३७७

था, उनमें से अधिकांश को भोज ने गुण-रूप में ग्रहण कर लिया है। चतुर्वर्ग-फलायत्तत्व, चतुरोदात्तनायकत्व, अलङ्कृतत्व, असंक्षिप्तत्व, रसभावनिरन्तरत्व, अनतिविस्तीर्णसर्गत्व, श्रव्यवृत्तत्व सुसन्धित्व या सुश्लिष्टसन्धित्व, लोकरञ्जकत्व आदि काव्यादर्श में महाकाव्य के अङ्ग के रूप में वर्णित हैं।[१] इन्हें भोज ने प्रबन्धगत गुण कहा है और कुछ नवीन गुणों की भी कल्पना की है।

अग्निपुराण में व्यक्त गुण-धारणा

अग्निपुराण की गुण-धारणा सर्वथा नवीन है। गुण को काव्य में कान्ति का आधान करने वाला धर्म कहा गया है; और, सामान्य तथा वैशेषिक; इन दो मुख्य वर्गों में उसका विभाजन किया गया है।[२] सामान्य गुण-वर्ग के तीन उपवर्ग की कल्पना की गयी है—शब्दगत गुण-वर्ग, अर्थगत गुण-वर्ग एवं उभयगत गुण-वर्ग। स्थिति-विशेष में काव्य के शोभाधायक गुण बन जाने वाले काव्य-दोषों को वैशेषिक गुण-वर्ग में रखा गया है और दोष-प्रकरण में उन पर विचार किया गया है। सामान्य तथा वैशेषिक वर्गों में भोज ने भी काव्य-गुणों को विभक्त किया है। भोज की गुण-धारणा एवं अग्निपुराण की गुण-धारणा में बहुत समता पायी जाती है। दोनों में कई गुणों के लक्षण और उदाहरण; समान पाये जाते हैं। डॉ० व्ही० राघवन की मान्यता है कि अग्निपुराण पर भोज के काव्य-सिद्धान्त का प्रभूत प्रभाव है।[३] डॉ० सुशील कुमार डे इस विचार से सहमत नहीं। वे अग्निपुराण के लेखक का भोज से पूर्ववर्ती होने का अनुमान कर भोज पर ही उसका पुष्कल प्रभाव मानते हैं।[४] अग्निपुराण की रचना-तिथि निर्णीत नहीं हो पायी है। भोज एवं अग्निपुराण के लेखक के काल का पौर्वापर्य-निर्णय प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकृत विषय नहीं। अतः, गुण-सिद्धान्त

---

१. चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम्।
× × × ×
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः॥
× ×लोकरञ्जनम्।—दण्डी, काव्यादर्श, १,१५-१९

२. यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः।
सम्भवत्येष सामान्यो वैशेपिक इति द्विधा॥—अग्निपुराण, ३४६, ३

३. द्रष्टव्य—डा० व्ही० राघवन, Bhoja's Sriŋgara Prakasa vol. I, पृ० ३२९

४. द्रष्टव्य डा० सुशील कुमार डे, History of Sanskrit Poetics vol. II, पृ० २०४

के साम्य-स्थल पर पुरोगामी और अनुगामी का निर्धारण न कर हम सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन-मात्र कर सन्तोष कर लेंगे।

अग्निपुराण में काव्यगुण को भावात्मक माना गया है। वह दोषों का अभाव-मात्र नहीं; उसकी भावात्मक सत्ता है। सामान्य गुण उन्नीस हैं—सात शब्दगत, छह अर्थगत एवं छह शब्दार्थोभयगत।

शब्दगत सामान्य गुण—अग्निपुराण में शब्दगत गुणों के सात प्रकार का उल्लेख हुआ है। वे हैं—(१) श्लेष, (२) लालित्य, (३) गाम्भीर्य, (४) सौकुमार्य, (५) उदारता, (६) सत्या (सत्व ?) और (७) यौगिकी।[1] अन्तिम दो गुणों का स्वरूप अग्निपुराण में स्पष्ट नहीं है। इन दो की परिभाषा न देकर पुराणकार ने दोनों के स्थान पर छठे शब्दगुण के रूप में ओज गुण की परिभाषा दे दी है। ओज को यौगिक का स्थानापन्न माना जा सकता है। यौगिक का अर्थ सामासिक या समासबहुल हो सकता है और ओज को भी अग्निपुराण में समासभूयस्त्व माना गया है। 'सत्येव' का स्वरूप अस्पष्ट ही रह जाता है। उस गुण की संज्ञा के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं। डॉ० सुशील कुमार डे उसे 'सत्या' मानते हैं।[2] अग्निपुराण के बंगला-अनुवाद के सम्पादक पञ्चानन 'तर्करत्न' ने उसे 'सती' कहा है।[3] महामहोपाध्याय एस० के० शास्त्री ने पुराण के 'सत्येव यौगिकी' पाठ को अपपाठ मानकर उसका पाठ-शोध किया है। उनके अनुसार 'सत्येव यौगिकी' के स्थान पर 'सत्वं च यौगिकं चेति' पाठ शुद्ध माना जाना चाहिए। उन्होंने 'सत्व' को उदात्तता का एक भेद स्वीकार किया है।[4] इस पाठ-शोध से भी समस्या का सन्तोषप्रद निदान नहीं मिल पाता। 'सत्व' को शब्दगुण का एक भेद मानना और उसे उदात्तता का एक रूप स्वीकार करना अग्निपुराणकार को अभीष्ट था, इसे प्रमाणित करने में कोई सबल युक्ति नहीं। 'सत्येव यौगिकी' के स्थान पर 'रूढिश्च यौगिकी' पाठान्तर भी प्राप्त होता है। आगे प्रत्येक गुण की स्वरूप-मीमांसा प्रस्तुत की जाती है—

श्लेष—शब्दसमूह के सुश्लिष्ट सन्निवेश को अग्निपुराण में श्लेष गुण कहा

---

१. श्लेषो लालित्यगाम्भीर्यसौकुमार्यमुदारता।
सत्येव यौगिकी चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा॥—अग्निपुराण, ३४६,५

२ S. R. De Histry of Sanskrit Poetics vol. II पृ० २०४

३. अग्निपुराण, पञ्चानन तर्करत्न सम्पादित बंगला-अनुवाद पृ० ६६२

४. डा० राघवन, Bhoja's Sr. Pr. पृ० ३२८

गया है।[1] यह वामन के शब्दश्लेष 'मसृणत्व' से अभिन्न है। भोज ने इसे ही 'सुश्लिष्टपदता' कहा है।[2]

लालित्य—लालित्य गुण की परिभाषा में यह मान्यता प्रकट की गयी है कि जहाँ 'गुण' या 'आदेश' के द्वारा सभी अक्षर सुष्ठु रूप से पद से सम्बद्ध रहें और जहाँ एक की दूसरे के साथ सन्धि न हो, वहाँ लालित्य गुण होता है।[3] प्रस्तुत परिभाषा में प्रयुक्त 'गुण' और 'आदेश' व्याकरण-शास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। 'गुण' का अर्थ है 'अ', 'ए' और 'ओ' स्वर।[4] किसी शब्दरूप का दूसरे रूप में विधान 'आदेश' कहा जाता है। इस प्रकार 'गुण' एवं 'आदेश' आदि के द्वारा जहाँ शब्द में सभी वर्ण सुस्पष्ट रहें, गुणादेश आदि के कारण ही सबका मिल जाना सम्भव न हो, वहाँ लालित्य गुण माना गया है। इसे 'स्फुटाक्षरत्व' कहा जा सकता है। यह पृथक्पदत्व माधुर्य के समीप है। अग्नि-पुराण में माधुर्य शब्दगुण का उल्लेख नहीं है। भोज ने शब्दगुण माधुर्य को पृथक्पदता कहा है। पुराण का लालित्य गुण भोज के पदमाधुर्य के समीप पहुँच जाता है। भोज के माधुर्य से ही पदगत लालित्य की व्याख्या हो जाती है। अतः, भोज में लालित्य गुण का पृथक् उल्लेख नहीं। भोज के पदमाधुर्य और अग्निपुराण के पदलालित्य में समता होने के फलस्वरूप ही लालित्य का स्वरूप स्पष्ट कर लेने के उपरान्त अग्निपुराणकार को पदमाधुर्य गुण के उल्लेख की आवश्यकता नहीं जान पड़ी और भोज को भी पदमाधुर्य की स्वरूप-मीमांसा कर लेने पर पदलालित्य गुण को स्वीकार करना आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ।

गाम्भीर्य—गाम्भीर्य गुण की परिभाषा का जो श्लोक अग्निपुराण में प्राप्त होता है उसे डॉ० व्ही० राघवन ने अशुद्ध मानकर उसका पाठ-शोधन किया है। मूलरूप में प्राप्त श्लोक के अनुसार जहाँ विशिष्ट लक्षण के अनुरूप पद का उल्लेख हो एवं जहाँ उत्तानपदता हो, वहाँ गाम्भीर्य गुण होता है; इसे ही कुछ लोग शब्दता या सुशब्दता गुण भी कहते हैं।[5] 'विशिष्टलक्षणोल्लेख्य' का अभिप्राय है शब्दशास्त्र-सम्मत पद-प्रयोग। इसे ही भोज ने 'सुप्तिङ् व्युत्पत्ति'

१. सुश्लिष्टसन्निवेशत्वं शब्दानां श्लेष उच्यते।- अग्निपुराण ३४६,६

२. गुणः सुश्लिष्टपदता श्लेष इत्यभिधीयते।— भोज, सरस्व० कण्ठा०, पृ० ५०

३. गुणादेशादिनापूर्वं पदसम्बन्धमक्षरम्।
यत्र सन्धीयते नैव तल्लालित्यमुदाहृतम्॥—अग्निपुराण ३४६, ७

४. अदेङ्गुणः—पाणिनि, अष्टाध्यायी १, १, २

५. विशिष्टलक्षणोल्लेख्य-लेख्यमुत्तानशब्दकम्।
गाम्भीर्यं कथयन्त्यार्यास्तदेवान्ये तु शब्दताम्।'—अग्निपुराण, ३४६,७

कहा है और इसे सुशब्दता गुण माना है। उत्तानपदता का अर्थ है ऐसे पदों का प्रयोग, जो उच्च भाव के व्यञ्जक एवं आडम्बर-विशिष्ट हों। डॉ० ह्वी० राघवन ने अग्निपुराण के श्लोक में 'लेख्यमुत्तानशब्दकम्' के स्थान पर 'लेख्यनुत्तानशब्दकम्' पाठ शुद्ध माना है।[1] उनके अनुसार अनुत्तान का अर्थ गम्भीर होता है और अग्निपुराणकार को गाम्भीर्य गुण में अनुत्तान पद का प्रयोग ही अभीष्ट रहा होगा। डॉ० राघवन का यह सुझाव बहुत युक्तिसङ्गत नहीं जान पड़ता। गाम्भीर्य शब्दगुण में गम्भीर भाव की व्यञ्जना करने वाले शब्दों का प्रयोग अपेक्षित है। उत्तानपदता का अभिप्राय भी उच्चभाव-व्यञ्जक शब्द-प्रयोग ही है। 'उत्तान' शब्द का 'छिछला' अर्थ, जैसा डॉ० राघवन ने समझा है, उचित नहीं। उसी श्लोक के चतुर्थ चरण में 'तदेवान्येपु शब्दताम्' की जगह 'तदेवान्ये सुशब्दताम्' पाठ का सुझाव डॉ० राघवन ने दिया है।[2] इस पाठ का अर्थ होगा कि 'इसे ही लोग सुशब्दता कहते हैं'। इस प्रकार अग्निपुराण में भोज के 'सुशब्दता' गुण का अन्तर्भाव गाम्भीर्य गुण में ही हो जाता है। यही कारण है कि 'सुशब्दता' गुण का अलग उल्लेख अग्निपुराण में नहीं हुआ है।

अग्निपुराण में औदार्य गुण को भी उत्तानपदता कहा गया है। इस प्रकार दोनों की अभिन्नता की भ्रान्ति सम्भव है। डॉ० राघवन ने सम्भवतः उत्तानपदता औदार्य से गाम्भीर्य के स्वरूप को भिन्न करने के लिए ही गाम्भीर्य-परिभाषा में 'उत्तानशब्दकम्' के स्थान पर 'अनुत्तानशब्दकम्' पाठ शुद्ध माना है; किन्तु दोनों में उत्तानपदता के रहने पर भी दोनों का स्वरूप स्पष्टतः भिन्न है। उत्तानपदता या उत्तानशब्दता का अर्थ है उच्चभाव-व्यञ्जक पदता। गाम्भीर्य गुण में व्याकरण के विशिष्ट लक्षण से युक्त पदों के प्रयोग के कारण उत्तानपदता रहती है और औदार्य में श्लाघ्य विशेषणों के कारण उत्तानपदता आती है।

सुकुमारता—जहाँ अनिष्ठुर अक्षर-युक्त शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ सुकुमारता गुण माना गया है।[3] अग्निपुराण की सुकुमारता गुण-धारणा दण्डी की सुकुमारता-धारणा से अभिन्न है। दण्डी की तरह भोज ने भी अनिष्ठुराक्षर-प्रायत्व को सुकुमारत्व कहा है।

---

१. द्रष्टव्य, डॉ० ह्वी० राघवन Bhojas Sringara Prakasa vol I पृ० ३२८

२ वही, पृ० ३२८

३. अनिष्ठुराक्षरप्रायशब्दता सुकुमारता :—अग्निपुराण. पृ० ३४६८

औदार्य—अग्निपुराण की औदार्य गुण-धारणा भी दण्डी की उदारता-गुण-धारणा से प्रभावित है। दण्डी ने उत्कृष्ट गुण-प्रतीति को उदारता का लक्षण मानकर यह कहा था कि कुछ लोग श्लाघ्य विशेषण को भी उदारता गुण कहते हैं। दण्डी का यह श्लाघ्य विशेषण योग अग्निपुराण के औदार्य-लक्षण में भी स्वीकृत हुआ है। दण्डी की उदारता-धारणा में अग्निपुराणकार ने अपनी ओर से और कुछ जोड़ा है। इस प्रकार उसकी परिभाषा यह दी गयी है कि श्लाघ्य विशेषणों का योग और उत्तानपदता औदार्य गुण है।[1] भोज ने श्लाघ्य विशेषण-योग को उदारता नहीं कहकर उदात्तता नामक स्वतन्त्र गुण माना है और उदारता के लिए 'विकटाक्षरबन्धत्व' लक्षण की कल्पना की है। अतः, अग्निपुराण का औदार्य गुण भोज के औदार्य से भिन्न है; पर भोज की उदात्तता-धारणा और अग्निपुराण की औदार्य-धारणा समान है।

ओज—अग्निपुराण में शब्दगत सात गुणों की गणना में ओज परिगणित नहीं है। उसमें उपरिविवेचित पाँच गुणों के अतिरिक्त 'सत्यैव यौगिकी' इन दो गुणों का उल्लेख हुआ है; किन्तु उन गुणों की परिभाषा देने के क्रम में सत्या और यौगिकी की परिभाषा न देकर अग्निपुराणकार ने दोनों के स्थान पर ओज गुण का लक्षण दे दिया है। ओज को दण्डी की तरह 'समासभूयस्त्व' कहा गया है। दोनों में भेद यह है कि दण्डी ने जहाँ उसे गद्य का प्राण माना था, वहाँ अग्निपुराण में उसे पद्यादि का प्राण मान लिया गया है। दण्डी ने केवल गौड मार्ग में पद्य में भी ओज को समादृत माना था। अग्निपुराणकार ने उसे सर्वत्र पद्य आदि का जीवित कह दिया है।[2] दण्डी के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए भोज ने भी ओज को 'समासभूयस्त्व' ही माना है। श्री पञ्चानन तर्करत्न ने अग्निपुराण के औदार्य और ओज-लक्षण को एक साथ मिलाकर दोनों को केवल ओज का लक्षण मान लिया है।[3] दो गुणों के लक्षण को एक साथ मिला देना उचित नहीं। डॉ० ह्वी० राघवन ने दिखाया है कि अग्नि-पुराणकार आनन्दवर्धन की तरह ओज को रौद्र और वीर रस का गुण मानते हैं। अग्निपुराण में सम्भवतः ओज और यौगिकी को पर्याय माना गया है। इसीलिए यौगिकी के स्थान पर ओज-गुण की परिभाषा दे दी गयी है। ओज

१. उत्तानपदतौदार्य-युतं श्लाघ्यैर्विशेषणैः।—अग्निपुराण, ३४६,९

२. ओजः समासभूयस्त्वमेतत्पद्यादिजीवितम्—वही, ३४६, १०

३. आडम्बर विशिष्ट पद ओ औदार्ययुक्त श्लाघ्य विशेषण द्वारा ये समासाधिक्य ताहाके ओज गुण कहे।—अग्निपुराण, बंगला पृ० ६९३

की परिभाषा पर विचार करने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। समासाधिक्य को ओज माना गया है। यौगिकी शब्द में भी अनेक पदों के योग का अभिप्राय निहित है।

अर्थगत सामान्य गुण

अग्निपुराण में छह अर्थ-गुण माने गये हैं–(१) माधुर्य, (२) संविधान, (३) कोमलत्व, (४) उदारत्व, (५) प्रौढि और (६) सामयिकत्व।[1] इनके स्वरूप का समीक्षात्मक अध्ययन नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

माधुर्य—माधुर्य व्यक्ति के धैर्य का गुण है। क्रोध, ईर्ष्या आदि की दशा में भी धीरता को माधुर्य गुण माना गया है।[2] भोज ने भी क्रोध आदि की अवस्था में व्यवहार की अतीव्रता को अर्थगत माधुर्य माना है। इसे काव्य का अर्थगत गुण न मानकर व्यक्तिधर्म मानना अधिक युक्तिसङ्गत है।

संविधान—अग्निपुराण का यह नवीन गुण है। अपेक्षित अर्थ की सिद्धि में जो सहकारी हो उसे संविधान संज्ञक अर्थगत गुण माना गया है।[3] भोज ने प्रबन्धगत गुणों में 'सविधानसुसूत्रता' नामक एक गुण का उल्लेख किया है, जिसमें पूर्वापर अर्थ में सम्बन्ध-निर्वाह पर बल दिया गया है। भोज ने अर्थ-श्लेष गुण को भी 'संविधानसुसूत्रता' कहा है। अग्निपुराण का संविधान अर्थगुण भोज के अर्थगुण श्लेष एवं प्रबन्धगुण संविधानसुसूत्रता के समान है।

कोमलत्व—जो काठिन्य आदि से सर्वथा मुक्त हो और जिसमें सायास शब्द के सन्निवेश का त्याग कर मृदुता का निर्वाह हो, उसे अग्निपुराण में अर्थगत कोमलत्व गुण माना गया है।[4] भोज ने अर्थ की कोमलता या अनिष्ठुरता को सौकुमार्य अर्थ-गुण कहा है। अग्निपुराण का कोमलत्व अंशतः भोज के अर्थ-सौकुमार्य के समान है। इसके लक्षण में 'तिरस्कृत्यैव मृदुता' के स्थान पर 'पुरस्कृत्यैव मृदुता' पाठ अधिक युक्तिसङ्गत होगा। कोमलत्व अर्थगुण में मृदुता का समावेश होता है। वह मृदुता अग्रगामिनी रहती है।

---

१. माधुर्यं संविधानं च कोमलत्वमुदारता।
प्रौढिः सामयिकत्वञ्च तद्भेदाः षड् चकासति ॥ अग्निपुराण, ३४६, १२
२. क्रोधेर्ष्याकारगाम्भीर्यान्माधुर्यं धैर्यगाहिता। —वही, ३४६, १३
३. संविधानं परिकरः स्यादपेक्षित-सिद्धये। —वही, ३४६, १३
४. यत्काठिन्यादिनिर्मुक्तः सन्निवेशविशिष्टता।
तिरस्कृत्यैव मृदुता भाति कोमलतेति सा ॥ —वही, ३४६, १४

उदारत्व –जहाँ स्थूल लक्ष्य प्रकट करने की प्रवृत्ति लक्षित हो, वहाँ गुण की उदारता मानी जाती है। इसमें आशय का सौष्ठव स्पष्ट रहता है।[१] दण्डी ने उदारता को आशयोत्कर्ष एवं भूत्युत्कर्ष माना है। अग्निपुराण का आशय-सौष्ठवरूप उदारत्व दण्डी की उदारता के आशयोत्कर्ष भेद के समान है।

प्रौढि –जहाँ अभिप्राय के निर्वाह को उत्पन्न करने वाली हेतुगर्भित युक्तियाँ रहती हैं, वहाँ प्रौढि गुण माना गया है।[२] कवि के अभिप्रेत अर्थ का पोषण ही अर्थगत प्रौढि गुण है। तर्कपुष्ट होकर अर्थ प्रौढ हो जाता है; इसलिए उसमें प्रौढि गुण माना जाता है। भोज ने अर्थगत प्रौढि गुण को विवक्षित अर्थ का निर्वाह कहा है। अग्निपुराणकार और भोज की प्रौढिगुण-धारणा समान है।

सामयिकत्व—सामयिकत्व गुण कवि के द्वारा शब्द की किसी व्युत्पत्ति की व्यञ्जना है। उसकी परिभाषा में अग्निपुराणकार ने कहा है कि जहाँ स्वतन्त्र रूप से या परतन्त्र रूप से अर्थ को बाह्य एवं आन्तरिक योग से व्युत्पत्ति दी जाती है वह सामयिकत्व गुण है।[३] भोज ने सामयिकत्व नाम का स्वतन्त्र गुण नहीं माना है। डॉ० राघवन की मान्यता है कि उन्होंने रूढिच्युत दोष की जो परिभाषा दी है, उससे अग्निपुराण का सामयिकत्व ठीक विपरीत स्वभाव का है। इस प्रकार इस सामयिकत्व को भोज के रुढिच्युत दोष का विपर्यय अर्थात् 'रूढेरच्युत' माना जा सकता है। भोज के रूढिच्युत से मिलता-जुलता असामयिकत्व दोष अग्निपुराण में उल्लिखित है। सामयिकत्व गुण की भावात्मक सत्ता न मानकर उसे असामयिकत्व दोष का विपर्यय मानना उचित होता।[४]

शब्दार्थोभयगत सामान्य गुण

शब्द एवं अर्थ; दोनों के उपकारक छह उभयगुणों का उल्लेख अग्निपुराण में हुआ है। वे गुण हैं—(१) प्रसाद, (२) सौभाग्य, (३) यथासंख्य,

---

१. लक्ष्यते स्थूललक्ष्यत्वप्रवृत्ते यत्र लक्षणम्।
गुणस्य तदुदारत्वामाशयस्यातिसौष्ठवम् ॥ अग्निपुरान, ३४६, १५

२. अभिप्रेतं प्रति यतो निर्वाहस्योपपादिकाः।
युक्तयो हेतुगर्भिण्यः प्रौढाः प्रौढिरुदाहृता ॥ वही, ३४६, १६

३ स्वतन्त्रस्यान्यतन्त्रस्य वाह्यान्तः समयोगतः।
तत्र व्युत्पत्तिरर्थस्य या सामयिकतेति सा ॥ वही, ३४६, १७

४ डॉ० वी राघवन Bhoja's Sringara Prakasa Vol I पृ० ३२८

(४) प्रशस्तता, (५) पाक एवं (६) राग।[1] नीचे इन गुणों का स्वरूप-विश्लेषण किया जाता है :—

प्रसाद—जहाँ सुप्रसिद्ध अर्थ वाले पद का विन्यास हो, वहाँ प्रसाद गुण माना जाता है।[2] प्रसाद गुण की भामह, दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों की धारणा को ही अग्निपुराण में स्वीकृति मिली है।

सौभाग्य—सौभाग्य गुण की परिभाषा देने के लिए अग्निपुराणकार ने दण्डी की उदारता-गुण-परिभाषा की पंक्ति को ही उद्धृत कर दिया है। सौभाग्य को अग्निपुराण में उदारत्व का पर्याय माना गया है। इसीलिए, परिभाषा में इस गुण को सौभाग्य कहकर यह स्वीकार कर लिया गया है कि इसे ही कुछ विद्वान 'उदारत्व' कहते हैं। दण्डी ने उदारत्व की एक परिभाषा में कहा है कि जिस कथन से कोई उत्कर्षवान् गुण प्रतीत हो उसे उदार कहते हैं। अग्निपुराण में सौभाग्य गुण की यही परिभाषा दी गयी है।[3] कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में 'सौभाग्य' शब्द का प्रयोग किया है। सौभाग्य शब्द अग्निपुराण में वहीं से गृहीत है।

यथासंख्य—जहाँ अनूद्देश से सामान्य का अन्यत्र आरोपण होता है, वहाँ यथासंख्य गुण माना जाता है। यथासंख्य को गुण के रूप में प्रथम बार अग्निपुराण में ही मान्यता प्राप्त हुई है।[4] अन्य आचार्यों ने अलङ्कार में ही यथासंख्य की गणना की है। यथासंख्य अलङ्कार में पूर्व कथित बातों का उसी क्रम में कही जाने वाली बातों से अन्वय हुआ करता है। इसे दण्डी ने उद्दिष्ट पदार्थ का यथाक्रम अनूद्देश कहा है।[5] दण्डी के यथासंख्य अलङ्कार के लक्षण में प्रयुक्त 'अनूद्देश' पद का प्रयोग अग्निपुराणकार ने यथासंख्य गुण की परिभाषा में किया है। स्पष्टतः, दण्डी की यथासंख्य-अलङ्कार-धारणा से अग्निपुराण की यथासंख्य-गुण-धारणा प्रभावित है। सामन्य का अतिदेश अवश्य कुछ नवीन कल्पना है। भोज में यथासंख्य नामक गुण की कल्पना

---

१. तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यं प्रशस्तता।
पाको राग इति प्राज्ञैः पदप्रपञ्चविपञ्चिताः ॥ —अग्निपुराण, ३४६, २०

२. सुप्रसिद्धार्थपदता प्रसाद इति गीयते। —वही, ३४६, २०

३. उत्कर्षवान् गुणः कश्चित् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते।
तत्सौभाग्यमुदारत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ —वही, ३४६, २१

४. यथासंख्यमनूद्देशः सामान्यमतिदिश्यते।—अग्निपुराण, ३४६, पृ० २२

५. उद्दिष्टानां पदार्थानामनूद्देशो यथाक्रमम्,
यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि। - दण्डी, काव्यादर्श २, २७३

नहीं पायी जाती; किन्तु वस्तु-वर्णन में क्रम की कल्पना उन्होंने रीति गुण में की है।[1] इस प्रकार भोज की रीति-गुण-धारणा और अग्निपुराण की यथासंख्य गुण-धारणा में थोड़ा साम्य अवश्य है; पर डॉ० ह्वी राघवन की की इस मान्यता से सहमत होना कठिन है कि अग्निपुराण का यथासंख्य गुण भोज के रीति गुण के समान है।[2] दोनों गुणों के स्वरूप पर ध्यान देने से दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है। भोज के रीति गुण में किसी वस्तु के उत्पन्न होने से लेकर उसके विकास का यथाक्रम वर्णन होता है; पर यथासंख्य में यथाक्रम सामान्य का अन्यत्र अतिदेश अपेक्षित होता है। दोनों में समता है तो केवल क्रम की।

प्रशस्तता—दारुण अर्थ का वर्णन भी जहाँ अदारुण शब्द से किया जाता है वहाँ प्रशस्तता गुण माना जाता है।[3] गुण का यह नाम सर्वथा नवीन है किन्तु इस गुण के स्वरूप की कल्पना प्राचीन है। वामन ने परुष अर्थ में भी अपारुष्य को सौकुमार्य अर्थगुण माना था।[4] वामन का वही गुण अग्निपुराण में प्रशस्तता के नाम से अभिहित हुआ है। भोज ने इस गुण को सुशब्दता कहा है।[5] इस प्रकार प्रस्तुत गुण वामन के अर्थगुण सौकुमार्य और भोज के अर्थगुण सुशब्दता से अभिन्न है।

पाक— किसी प्रकार की उच्च परिणति को पाक कहा गया है। यह पाक मृद्वीका पाक, नारिकेल पाक आदि भेद से चार प्रकार का माना गया है।[6] पाक के लक्षण में तीन ही पाकों का उल्लेख है और उसे पाक भेद से चार प्रकार का कहा गया है। भोज ने सहकारपाक नामक एक पाक का उल्लेख किया है। सम्भव है, अग्निपुराणकार को नारिकेल, मृद्वीका और अम्बु पाक के साथ चौथा सहकार पाक अभीष्ट हो। पाक गुण की कल्पना अन्यत्र नहीं मिलती। यह गुण-संज्ञा अग्निपुराण की स्वतन्त्र उद्भावना है। भोज ने यद्यपि पाक नामक गुण का उल्लेख नहीं किया है, फिर भी पाक का उल्लेख शब्दगत

---

१. रीतिः सा यस्त्विहार्थानामुत्पत्त्यादिक्रियाक्रमः।—भोज, सर०, कण्ठा०, पृ० ८५
२. डॉ० ह्वी० राघवन Bhoja's Singara Prakasa, Vol. I, पृ० ३२८-२९
३. समये वर्णनीयस्य दारुणस्यापि वस्तुनः।
अदारुणेन शब्देन प्राशस्त्यमुपवर्णनम्। — अग्निपुराण ३४६, २३
४. अपारुष्यं सौकुमार्यम्।—वामन, काव्यालङ्कार, ३, २, १२
५. अदारुणार्थपर्यायो दारुणेषु सुशब्दता।— भोज, सर० कण्ठाभरण, पृ० ८०
६. उच्चैः परिणतिः कापि पाक इत्यभिधीयते।
मृद्वीकानारिकेलाम्बुपाकभेदाच्चतुर्विधः।—अग्निपुराण, ३४६, २४

प्रौढि गुण के स्वरूप-विश्लेपण क्रम में हुआ है। प्रौढि गुण की परिभाषा की व्याख्या करते हुए वृत्ति में भोज ने कहा है कि नालिकेरी पाक, मृद्वीका पाक आदि वाक्यपरिपाक ही प्रौढि है। भोज का प्रौढि शब्दगुण एवं अग्निपुराण का पाक गुण नाम मात्र से भिन्न हैं, स्वरूपतः दोनों अभिन्न हैं। उक्त चार पाकों में से मृद्वीका के लक्षण में कहा गया है कि जो आदि और अन्त में सरस हो उसे मृद्वीका पाक पाक कहते हैं।[१]

राग—अग्निपुराण में राग भी नवीन गुण-संज्ञा है। इसकी परिभाषा में कहा गया है कि जो गुण काव्य-परम्परा से विशेष रूप में आता है, उसे राग कहते हैं। वह अभ्यास-जात राग सहज कान्ति में भी अवस्थित रहता है।[२] राग के तीन भेद माने गये हैं–(क) हारिद्र राग (ख) कौसुम्भ राग और (ग) नीलीराग। भोज ने गुण अध्याय में राग का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने सरस्वतीकण्ठाभरण में प्रेम-वर्णन के प्रसङ्ग में 'पाकाद्याः प्रेमभक्तयः' कहकर पाक का उल्लेख किया है।[३] टीकाकार रत्नेश्वर ने शब्दपाक पर टीका करते हुए अर्थपाक का भी उल्लेख किया है।[४] अग्निपुराण में भी राग को शब्दार्थोभयगत गुण माना गया है। राग के हारिद्रादि भेदों का लक्षण अलग से नहीं दिया गया है।

अग्निपुराण की गुण-धारणा के उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भरत, दण्डी और वामन के दस गुणों में से अधिकांश नाम स्वीकार करने पर भी अग्निपुराणकार ने उनके सभी लक्षणों को स्वीकार नहीं किया है। कुछ गुण अग्निपुराण में सर्वथा स्वतन्त्र भाव से कल्पित हैं। अन्य आचार्यों के कुछ अलङ्कारों को भी यहाँ गुण में परिगणित कर लिया गया है। यथासंख्य आदि की गुण में गणना इसका प्रमाण है। गुण का वर्गीकरण यहाँ नवीन पद्धति पर किया गया है। सामान्य और वैशेषिक वर्गों में भोज ने भी गुणों को विभक्त किया है; पर उन्होंने सामान्य गुणों के शाब्द एवं आर्थ; दो ही भेद माने हैं। भोज ने चौबीस गुणों को शब्दगत एवं उन सबको अर्थगत भी माना है; पर यहाँ कुछ गुणों को केवल शब्दगत, कुछ को केवल अर्थगत और कुछ को ही उभयगत माना गया है। वामन और भोज के गुण-विवेचन में हम देख चुके हैं कि सभी गुणों को शब्दगत एवं अर्थगत सिद्ध करने का आग्रह स्वस्थ चिन्तन का

---

१. आदावन्ते च सौरस्यं मृद्वीकापाक एव सः।—अग्निपुराण पृ० ३४६, २४
२. काव्येच्छयाविशेषो यः स राग इति गीयते।
अभ्यासोपहितः कान्ति सहजामपि वर्तते।—वही, पृ० ३४६, २५
३. द्रष्टव्य—भोज, सर० कण्ठा०, ५, १२४, पृ० ५६१
४. एत एव अर्थपाकाः पञ्चमे प्रकारान्तरेण प्रतिपादयिष्यन्ते।—वही, रत्नेश्वर, टीका पृ० ७२

परिचायक नहीं। भरत और दण्डी ने गुणों को शब्दगत एवं अर्थगत वर्ग में बाँटने का प्रयास नहीं किया था पर उनके गुण-स्वरूप से कुछ का शब्दगत होना, कुछ का अर्थगत होना एवं कुछ का शब्दार्थोभयगत होना स्पष्ट है। अग्निपुराण में गुणों का वर्गीकरण वामन एवं भोज के वर्गीकरण से अधिक यौक्तिक है। भोज की गुणधारणा एवं अग्निपुराण की गुणधारणा में बहुत समता है। बहुत-से गुणों के नाम और लक्षण दोनों में समान हैं। कुछ गुणों में नाम-मात्र का भेद होने पर भी स्वरूपगत अभेद है। उदाहरणार्थ, अग्निपुराण का प्राशस्त्य गुण भोज के सुशब्दता गुण से नाम्नैव भिन्न है। भोज की 'प्रौढि' और अग्निपुराण के 'पाक' में स्वरूपगत कोई भेद नहीं। अतः, स्पष्ट है कि गुण की संख्या और संज्ञा में भेद होने पर भी अग्निपुराणकार और भोज की गुण-धारणा मूलतः समान है। इसीलिए डॉ० व्ही० राघवन ने यह माना है कि अग्निपुराण पर भोज का बहुत प्रभाव है।[1] इसके विपरीत डॉ० सुशील कुमार डे ने भोज को अग्निपुराणकार से प्रभावित माना है।[2] इस विवाद में न पड़कर भी निष्कर्परूप में इतना कहा जा सकता है कि दोनों ही समान-विचार-सरणि में आते हैं। डॉ० डे ने अग्निपुराण की नवीन उद्भावनाओं पर दृष्टि रखते हुए भी उसका श्रेय अग्निपुराणकार को नहीं देना चाहा है। उन्होंने यह कल्पना की है कि अग्निपुराण की रचना के पूर्व भी कोई चिन्तन-परम्परा प्रचलित रही होगी, जिसका प्रतिफलन अग्निपुराण के सिद्धान्त के रूप में हुआ है; पर जिसका कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता।[3] यदि डॉ० डे अग्निपुराणकार को भोज से पूर्ववर्त्ती मानते हैं तो नवीन उद्भावनाओं के लिए उन्हें उचित श्रेय मिलना ही चाहिए। अन्यथा डा० राघवन के अनुसार उस श्रेय के भागी भोज होंगे। डॉ० डे ने किसी अज्ञात परम्परा को सारा श्रेय देकर इन दोनों को श्रेय से वञ्चित

---

१. द्रष्टव्य—डॉ० व्ही० राघवन, Bhoja's Sringara Prakasa vol I पृ० ३२९

२. द्रष्टव्य—डॉ० सुशील कुमार डे, History of Sanskrit poetics vol. II, पृ० २०६

३. In order to explain this novelty, we should, having regard to the essentially derivative nature of the work itself, admit the probable existence of an altogether different line of speculation, of which unfortunately no other aerly traces are preserved —Dr. De. Hist. of Skt. Poet. vol II Page 206.

कर देना चाहा है।[1] किन्तु, जब तक इन्हें प्रभावित करने वाली चिन्तन-धारा की पूर्व-स्थिति सिद्ध करने के लिए सबल प्रमाण उपलब्ध नहीं होता तब तक इन आचार्यों के श्रेय का अपहरण तर्कसङ्गत नहीं।

अग्निपुराण का वैशेषिक गुण

अग्निपुराण के दोष-अध्याय में काव्य-दोषों के विवेचन के उपरान्त कुछ स्थितियों में कुछ काव्य-दोषों का अदोषत्व दिखाया गया है। यहाँ उनका विवेचन किया जाता है—

तर्कशास्त्र के कुछ दोष काव्य में वर्णित होने पर दोष नहीं माने जाते, क्योंकि वे काव्य के पाठकों के मन में सन्ताप नहीं उत्पन्न करते। ये दोष हैं—असिद्धत्व, विरुद्धत्व, अनेकान्तिकता सत्प्रतिपक्षत्व, कालातीत सङ्कर, पक्ष-सपक्ष-नास्तित्व तथा विपक्ष-अस्तित्व।[2] ये तर्क-शास्त्र के दोष हैं। काव्य में तर्क की अपेक्षा भावना की प्रधानता होती है। इसलिए उक्त दोषों को काव्य में दोष नहीं माना जाता।

इन दोषों की अदोषता को वैशेषिक गुण की कोटि में रखना उचित नहीं। स्थिति-विशेष में सौन्दर्याधायक हो जाने वाले काव्यगत दोषों को ही वैशेषिक गुण माना जाना चाहिए। उक्त दोष न तो काव्यगत दोष हैं और न किसी स्थिति में उनके काव्य के शोभाधायक गुण बनने का ही कोई प्रमाण है।

दुष्कर आदि में अर्थात् समास आदि के कारण कठिन स्थलों में निरर्थत्व दोष नहीं रह जाता। निरर्थत्व दोष के ग्यारह प्रकार माने गये हैं। अग्नि-पुराणकार की मान्यता है कि वे सभी निरर्थत्व दोष-भेद दुष्कर आदि में अदोष हो जाते हैं।[3]

गूढार्थत्व दोष भी दुष्कर स्थल में क्लेशजनक नहीं होता। अतः वहाँ गूढार्थत्व को अदोष माना जाता है।[4]

---

१. It is not suggested that Bhoja is directly copying from the Agni-Purana nor the Purana copying directly from Bhoja, it is quite possible that they exploit in common an unknown source. But there is hardly any doubt that they follow a common tradition which is different in many respects from that of the Kashmirian writers. वही, पृ० २०७

२ असिद्धत्वं विरुद्धत्वमनैकान्तिकता तथा।
एवं सत्प्रतिपक्षत्वं कालातीतत्वसंकरः।
पक्षे सपक्षे नास्तित्वं विपक्षेऽस्तित्वमेव तत्॥
काव्येषु परिषद्यानां न भवेदप्यरुन्तुदम्॥—अग्निपुराण, ३४७, २३-२३

३ एकादश निरर्थत्वं दुष्करादौ न दुष्यति।—वही ३४७, २५

४. दुःखाकरोति दोषज्ञान्गूढार्थत्वं न दुष्करे। वही, ३४७, २५

लोक तथा शास्त्र में प्रसिद्ध ग्राम्यता उद्वेगकारी नहीं होती; अतः उसे दोष नहीं माना जाता है।[१] जहाँ क्रिया का अध्याहार हो जाता है, वहाँ क्रिया-हीन दोष नहीं माना जाता।[२] जहाँ आक्षेप से कारक का अध्याहार हो जाय; वहाँ भ्रष्टकारकता के दोषत्व का परिहार हो जाता है।[३] दुर्वच प्रयोग में पाठ की कठिनता के कारण 'विसन्धित्व' दोष नहीं माना जाता।[४] अनुप्रास में पद की आवृत्ति अपेक्षित होती है; अतः वहाँ व्यस्तसन्धिता अर्थात् विसन्धित्व सुन्दर माना जाता है।[५] अर्थ के संग्रहण में व्युत्क्रम को दोष नहीं माना जाता।[६] भिन्नलिङ्गी उपमेय और उपमान के रहने पर विभक्ति, संख्या तथा लिङ्गगत उपमा-दोष दोष नहीं रह जाते।[७] एक ही व्यक्ति बात को कई बार कहे या बहुत व्यक्ति बहुत बार कहें तो उसे दोष नहीं माना जाता।[८]

जयदेव

चन्द्रालोक में जयदेव ने भरत आदि आचार्यों के दस गुणों का उल्लेख किया है; किन्तु उन्होंने उनमें से आठ गुणों की ही स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। वे गुण हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य और उदारता। परम्परागत कान्ति गुण को शृङ्गार रस में तथा अर्थव्यक्ति को प्रसाद गुण में अन्तर्भूत मान लिया गया है।[९] कान्ति गुण को रस के साथ सम्बद्ध कर रस में उसके अन्तर्भाव की सम्भावना की सृष्टि वामन ने ही कर दी थी। वामन ने कान्ति को दीप्तरसत्व कहकर गुण के एक भेद में रस को समाहित कर दिया था; पर भारतीय काव्यशास्त्र में क्रमशः रस का महत्त्व बढ़ता गया और फलतः, गुण उसकी तुलना में गौण होकर उसे अपने में अन्तर्भुक्त कर लेने में अक्षम सिद्ध हो

---

१. न ग्राम्यतोद्वेगकारी प्रसिद्धे लोकशास्त्रयोः।—अग्निपुराण, ३४७.२६
२. क्रियाभ्रंशे न लक्ष्मास्ति क्रियाध्याहारयोगतः।—वही, ३४७.२७
३. भ्रष्टकारकताक्षेपबलाध्याहृतकारके।—वही, ३४७,२७
४. कष्टपाठाद्विसन्धित्वं दुर्वचादौ न दुर्भगम्।—वही, ३४७, २८
५. अनुप्रासे पदावृत्तिर्व्यस्तसम्बन्धिता शुभा।—वही, ३४७,२९ पू०
६. नार्थसंग्रहणे दोषो व्युत्क्रमाद्यैर्न लिप्यते।—वही, ३४७.२९ पू०
७. विभक्तिसंज्ञालिङ्गानां यत्रोद्वेगो न धीमताम्।
संख्यायास्तत्र भिन्नत्वमुपमानोपमेययोः॥—वही, ३४७ ३०
८. अनेकस्य तथैकेन बहूनां बहुभिः शुभा।—वही, ३४७,३०
९. शृङ्गारे च प्रसादे च कान्त्यर्थव्यक्तिसंग्रहः।—जयदेव, चन्द्रालोक ४,१०

गया। इसीलिए जयदेव ने दीप्तरसत्व कान्ति की रस से भिन्न सत्ता स्वीकार नहीं कर उसे रस के ही एक भेद—शृङ्गार में अन्तर्भूत मान लिया। शृङ्गार में उसका अन्तर्भाव न कर यदि सामान्यतः रस में उसका अन्तर्भाव माना जाता तो अधिक युक्तिसङ्गत होता। वामन ने शृङ्गार के अन्य रसों में भी कान्ति गुण की सत्ता स्वीकार की थी।[1] अतः, रस में ही उसका समाहार मानना चाहिए था। अर्थव्यक्ति गुण का अन्तर्भाव स्वभावोक्ति अलङ्कार में मानना अधिक समीचीन होता। भरत के अर्थव्यक्ति गुण के विवेचन में हम देख चुके हैं कि उस गुण का स्वभाव स्वभावोक्ति अलङ्कार की प्रकृति से भिन्न नहीं है। अतः, स्वभावोक्ति में उसका अन्तर्भाव सम्भव है।

जयदेव ने गुणों की परिभाषा में अधिकतर वामन की मान्यता को ही स्वीकार किया है। यहाँ उनके आठ गुणों के स्वरूप की विवेचना की जाती है :—

श्लेष—श्लेष गुण की परिभाषा में उसके शब्दगत एवं अर्थगत; दोनों स्वरूपों को स्पष्ट किया गया है। अर्थगत श्लेष को विघटमान अर्थ की घटना कहा गया है। जहाँ असम्भावित अर्थ का युक्तियों द्वारा सिद्ध अर्थ के रूप में वर्णन किया जाता है, वहाँ जयदेव अर्थगत श्लेष गुण मानते हैं। यह धारणा वामन के अर्थ-श्लेप 'घटना' की धारणा के समान है। उसी परिभाषा के एक अंश में शब्दगत श्लेष के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। सजातीय शब्दों के द्वारा सम्पन्न सुखावह पद-रचना को उन्होंने शब्दगत श्लेष कहा है।[2] सजातीय शब्दों के बन्ध की व्याख्या करते हुए रमा टीका में टीकाकार ने उसे वामन के शब्दश्लेप 'मसृणत्व' से अभिन्न माना है।[3]

प्रसाद :—प्रसाद वह गुण है, जिसके रहने पर काव्य का अन्तःस्थित सकल अर्थ स्पष्टतः अवभासित हो जाता है।[4] 'झटित्यर्थप्रतीति' को प्रसाद गुण मानने

---

१. एवं रसान्तरेष्वप्युदाहार्यम्।—वामन, काव्यालङ्कार, वृत्ति, पृ० १५८

२. श्लेषो विघटमानार्थं घटमानत्ववर्णनम्।
स तु शाब्दः सजातीयैः शब्दैर्बन्धः सुखावहः॥—जयदेव, चन्द्रालोक, ४,१

३. ··· नीतेऽन्ते श्रियाश्लिष्टमित्येकपदवद्भानाद्वर्णानां साजात्यम्।
—वही, रमा-टीका, पृ० ३०
तुलनीय—मसृणत्वं नाम यस्मिन् सति बहून्यपि पदान्येकवद्भासन्ते।
—वामन, काव्यालङ्कार वृत्ति पृ० ७१

४. यस्मादन्तः स्थितः सर्वः स्वयमर्थोऽवभासते।
सलिलस्येवसूक्तस्य स प्रसाद इति स्मृतः॥—जयदेव, चन्द्रालोक, ४,३

का परम्परागत सिद्धान्त ही यहाँ स्वीकृत हुआ है। वाक्य के प्रतिपाद्य अर्थ को चमत्कारपूर्ण बना देने वाला धर्म कहकर इसे वाक्यनिष्ठ गुण माना गया है। भोज ने उसके शब्दगत भेद को 'प्रसिद्धार्थपदत्व' कहा है। चन्द्रालोक का प्रसाद इसके समान ही है। अर्थव्यक्ति गुण भी इसीमें अन्तर्भुक्त है।

समता :— समता गुण के दो लक्षण हैं—अल्पसमासत्व और वर्ण आदि के साथ तुल्यता।[१] अल्प-समासता को प्राचीन आचार्यों ने शब्द-प्रसाद माना है। भामह ने माधुर्य और प्रसाद गुणों में अल्प-समास-रचना पर बल दिया है।[२] भरत के प्रसाद-लक्षण की व्याख्या करते हुए अभिनव गुप्त ने शब्दगत प्रसाद गुण को पदों की स्फुटता कहा है।[३] जयदेव के समता गुण का अल्पसमासत्व-लक्षण प्रसाद के उक्त लक्षण के समान है। उनकी 'वर्णाद्यैःतुल्यता' रूप समता को स्वरानुप्रास अलङ्कार माना जा सकता है। डॉ० व्ही० राघवन की मान्यता है कि वर्णादितुल्यता रुद्रट की 'समा जाति' अर्थात् 'एक ही रीति का प्रयोग' से अभिन्न है।[४] भोज ने मृदु, स्फुट या मिश्र वन्ध के अविषम प्रयोग को समता कहा है, जो वामन का 'मार्गाभेद' है। जयदेव के 'वर्णादितुल्यता' लक्षण पर उसका प्रभाव स्पष्ट है।

समाधि :— समाधि को काव्य की रसमयता का गुण माना गया है। रस की गहनता से विलसित अर्थ की ऐसी महिमा, जिससे सहृदय मग्न होकर पुलकित हो उठें, समाधि कही जाती है।[५] वामन ने अर्थगत समाधि गुण को 'अवहित चित्त से अर्थ का दर्शन' माना था। जयदेव का सिद्धान्त उससे मिलता-जुलता ही है।

माधुर्य :—काव्य में चारुता का आधान करने वाला उक्तिवैचित्र्य माधुर्य गुण कहा गया है।[६] यह वामन के उक्तिवैचित्र्यात्मक माधुर्य गुण से अभिन्न है। जयदेव के द्वारा माधुर्य गुण के उदाहरण पर विचार करते हुए रमा व्याख्या में व्याख्याकार ने यह दिखाया है कि इसमें 'पश्य, पश्य' तथा

---

१. समताल्पसमासत्वं वर्णाद्यैस्तुल्यताऽथवा।—जयदेव, चन्द्रालोक पृ० ३१

२. द्रष्टव्य—प्रस्तुत पुस्तक, अध्याय—१

३. प्रसन्नता स्फुटत्वं लक्षणीय-बिभागता पदानाम्।
— ना० शा० अ० भा० पृ० ३३६

४. डॉ० व्ही० राघवन, Bhoja's Sringara Prakasa, vol. I, पृ० ३३२

५. समाधिरर्थमहिमा लसद्घनरसात्मना।
स्यादन्तर्विशता येन गात्रमङ्कुरितं सताम्॥—जयदेव, चन्द्रालोक ४,५

६. माधुर्यं पुनरुक्तस्य वैचित्र्यं चारुतावहम्।—वही, ८, ६

'चलम्' की पुनरुक्ति की चारुता दिखाकर माधुर्य गुण माना गया है। अतः, पुनरुक्ति के चारुतावह वैचित्र्य को माधुर्य गुण मानना जयदेव को इष्ट हो, यह सम्भव है।[१] भावमग्न दशा में एक ही शब्द की आवृत्ति भाव में सौन्दर्य ला देती है; अतः वह गुण बन जाती है। टीकाकार ने पुनः को 'उक्तस्य' से अलग कर उक्त का अर्थ काव्योक्ति माना है। इस प्रकार उन्होंने काव्य की उक्ति के वैचित्र्य को माधुर्य मानकर वामन के अर्थमाधुर्य से अभिन्न सिद्ध कर दिया है।[२] डॉ० ह्वी० राघवन भी यही अर्थ ठीक मानते हैं।[३]

ओज :— वामन के अर्थगुण-ओज के लक्षण का अनुसरण करते हुए जयदेव ने अर्थ की प्रौढ़ि को ओज गुण कहा है। यह गुण अर्थगत है। अर्थप्रौढि के साथ ही जयदेव ने ओज को विस्तृत अर्थ का संक्षेप-कथन भी कहा है। इस प्रकार संक्षिप्त वर्णन में ओज को शब्दगत भी माना गया है।[४] रमा व्याख्या में ओज को अर्थगत मानने के साथ ही शब्दगत भी सिद्ध किया गया है।[५] डॉ० ह्वी० राघवन ने इसे केवल अर्थगत गुण कहा है।[६] वामन ने अर्थप्रौढि में ही विस्तार, संक्षेप आदि को परिगणित कर लिया है, पर जयदेव ने विस्तृततर अर्थ के संक्षेप का अलग से उल्लेख किया है। अर्थप्रौढि में ही संक्षेप गतार्थ है; अतः उसका अलग से उल्लेख अनावश्यक है।

सौकुमार्य:— वामन के अर्थ-सौकुमार्य-लक्षण को स्वीकार कर अपारुष्य को सौकुमार्य कहा गया है। परुष अर्थ का पर्याय-परिवर्तन से अपरुष पद के द्वारा कथन सौकुमार्य है। इसमें अमङ्गल शब्द का त्याग कर उसके पर्याय का प्रयोग होता है।[७]

---

१. ···अत्र पश्येति चलमिति च द्विरुक्त्या पुनःशब्दो यथाश्रुत एवेति मूलकृतसंमत-मिति प्रतीयते तथा च यथाकथंचित् पुनरुक्तस्य चारुतावहमित्यर्थः।
— चन्द्रालोक, रमा-व्याख्या, पृ० ३२

२. पुनः शब्दस्तुशब्दार्थे। माधुर्यं तु उक्तस्य काव्यस्य चारुतावहं चित्तद्रवीभावजनकं वैचित्र्यमित्यर्थः। — वही, पृ० ३२

३. द्रष्टव्य—डॉ० ह्वी० राघवन, Bhoja's Sringara Prakasa, Vol., I पृ० ३३२

४. ओजः स्यात्प्रौढिरर्थस्य संक्षेपो वाऽतिभूयसः।— जयदेव, चन्द्रालोक, ४, पृ० ३२

५. ···यो विस्तृततरार्थ-संक्षेपः स शब्दनिष्ठमोजः।
— चन्द्रालोक, रमा-व्याख्या, पृ० ३२

६. द्रष्टव्य—डॉ० ह्वी० राघवन, Bhoja's Sringara Prakasa, Vol.I पृ०३३२

७. सौकुमार्यमपारुष्यं पर्यायपरिवर्तनात्।— जयदेव, चन्द्रालोक, ४, पृ० ३२

उदारता :—विदग्धोक्ति को उदारता गुण कहा गया है। यह ग्राम्य दोष का अभाव-मात्र नहीं है। इसे अग्राम्यता से पृथक् माना गया है।[१] वामन ने अग्राम्यत्व को उदारता कहा है; पर जयदेव इससे सहमत नहीं। डॉ० ह्वी० राघवन ने चन्द्रालोक की उदारता-परिभाषा को वामन के उदारता-गुण की परिभाषा से अभिन्न मान लिया है।[२] यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। जयदेव की उदारताधारणा को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने उदारता का अग्राम्यत्व से भेद स्पष्ट कर दिया है। सर्वत्र ग्राम्यत्व के अभाव में उदारता की सत्ता आवश्यक नहीं। अतः, उदारता ग्राम्यत्व के अभाव से भिन्न है।[३] वामन ने उदारता के स्वरूप को अभावात्मक माना था, जयदेव ने उसे भावात्मक माना है। यह लक्षण भरत के उदारता गुण-लक्षण के समीप है, जिसमें अनेकार्थ-विशेष, सौष्ठव संयुक्त सूक्त पर बल दिया गया है।[४]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि जयदेव पर वामन का प्रभूत प्रभाव है। वामन की तरह उन्होंने गुणों के शब्दार्थगत भेद नहीं किये हैं। उनके गुणों के स्वरूप-विश्लेषण से प्रसाद, समता आदि शब्दगत; समाधि, माधुर्य, आदि अर्थगत एवं श्लेष आदि उभयगत गुण सिद्ध होते हैं।

आनन्दवर्धन आदि के तीन रसाश्रित गुण के सिद्धान्त को न मानने पर भी जयदेव ने गुणों को शौर्य आदि की तरह आत्मा का धर्म स्वीकार किया है।[५] स्पष्ट है कि जयदेव जहाँ एक ओर वामन आदि आचार्यों की गुण-धारणा से प्रभावित थे, वहाँ दूसरी ओर उनपर रसवादी आचार्यों की गुण-सम्बन्धी मान्यता का भी प्रभाव था।

विद्यानाथ

विद्यानाथ ने प्रतापरुद्रयशोभूषण या प्रतापरुद्रीय में काव्यगुणों की मीमांसा करते हुए बहुलांशतः भोज की विचार-सरणि का अनुसरण किया है।

---

१. उदारता तु वैदग्ध्यमग्राम्यत्वात् पृथङ्मता।—जयदेव, चन्द्रालोक पृ० ३३

२. द्रष्टव्य—डॉ० ह्वी० राघवन, Bhoja's Sringara-Prakasa, Vol. I पृ० ३३२

३. वैदग्ध्यं विदग्धोक्तत्वं तदेवोदारता। सा च न ग्राम्यत्वाभावेऽन्तर्भूतेत्याह...। ...मानं मुञ्चेत्यादौ विकामयेति ताम्यं लोकयाधुनेति वोक्तावपि ग्राम्यत्वाभावोऽस्ति उदारता तु न। —चन्द्रालोक, रमा-व्याख्या पृ० ३३

४. अनेकार्थ-विशेषैर्यत्सूक्तैः सौष्ठवसंयुतैः।
उपेतमतिचित्रार्थैरुदारं तच्च कीर्त्यते ।।—भरत, ना० शा० १६,१११

५. अमी दश गुणाः काव्ये पुंसि शौर्यादयो यथा।—जयदेव, चन्द्रालोक, ४,१०

उन्होंने भोज के चौबीस गुणों का उल्लेख किया है।[१] भोज के चौबीस गुणों के शब्दगत एवं अर्थगत भेद का विद्यानाथ ने खण्डन किया है। इसका कारण यह है कि विद्यानाथ भोज की तरह गुण को शब्दार्थ पर आश्रित नहीं मान कर सङ्घटना पर आश्रित मानते हैं।[२] प्रतापरुद्रयशोभूषण के टीकाकार कुमारस्वामी ने रत्नापण टीका में यह मान्यता प्रकट की है कि कुछ गुणों को अर्थ में पाना कठिन है।[३] अतः, विद्यानाथ ने भोज के चौबीस शब्द-गुणों को ही स्वीकार किया है। उन्होंने अधिकांश गुणों की परिभाषाएँ सरस्वतीकण्ठाभरण से ली हैं। कुछ परिभाषाएँ प्रतापरुद्रीय में सरस्वतीकण्ठाभरण से यथावत् उद्धृत हैं तथा कुछ शब्दभेद से वहीं से गृहीत हैं। विद्यानाथ ने इन सभी गुणों को भावात्मक नहीं माना है। उनकी मान्यता है कि इनमें से कुछ गुण केवल दोषाभाव-रूप हैं। अतः, सभी आचार्य उन्हें गुण नहीं मानते। जो दोष-परिहार को गुण मानते हैं वे ही सौकुमार्य आदि दोषाभावात्मक गुणों को स्वीकार करते हैं। दोषाभावात्मक गुणों को विद्यानाथ ने विशेष महत्त्व नहीं दिया है। जो गुण स्वतः काव्य की चारुता की वृद्धि करते हैं वे परम उत्कृष्ट गुण हैं।[४] प्रतापरुद्रयशोभूषण में कुछ दोषाभावात्मक गुण परिगणित हैं। सौकुमार्य गुण श्रुतिकटु दोष का परिहार है। कान्ति ग्राम्य दोष का अभाव है। अर्थव्यक्ति गुण अपुष्टार्थ दोष का विपर्यय है। इसी प्रकार सम्मितत्व गुण न्यूनपदत्व एवं अधिकपदत्व दोष का; उदात्तता अनुचितार्थत्व का; औजित्य

---

१. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वं तथा कान्तिरुदात्तता॥
ओजः सुशब्दता प्रेयानौर्जित्यमथ विस्तरः।
समाधिः सौक्ष्म्यगाम्भीर्ये संक्षेपो भाविकं तथा॥
सम्मितत्वं तथा प्रौढी रीतिरुक्तिर्गतिस्तथा।—विद्यानाथ, प्रतापरु०, गुण-प्रकरण पृ० ३२२

२. एतेषां गुणानामर्थगतत्वमपि केचिदिच्छन्ति। प्राचामाचार्याणां मतेन संघटनाश्रयत्वमेव गुणानाम्।—वही पृ० ३३४

३. बहूनां पदानामेकपदवत्स्वभासमानत्वादिलक्षणे श्लेषादौ अर्थगतत्वस्य दुर्घटत्वादिति भावः। वही, रत्नापण-टीका, पृ० ३३४

४. एषां मध्ये केषांचिद् दोषपरिहारकत्वेन गुणत्वम्। केषांचित् स्वत एवोत्कर्ष-हेतुत्वाद् गुणत्वम्। तत्र ये स्वत एव चारुत्वातिशयहेतवस्ते परमुत्कृष्टाः। दुष्टत्वपरिहारहेतूनां गुणत्वं न सर्वसम्मतम्। ये तु दोषाभावतया। गुणत्वमिच्छन्ति तेषामेव सौकुमार्यादयो गुणत्वेन सम्मताः।—वही, पृ० ३२२

विसन्धि का; रीति पतत्प्रकर्ष का; प्रसाद क्लिष्टत्व का; उक्ति अश्लीलत्व का; सुशब्दता च्युतसंस्कृतित्व का; समता प्रक्रमभङ्ग का एवं प्रेयान् परुष दोष का परिहार-रूप है। इसी प्रकार कुछ और गुण दोषपरिहारात्मा हैं।[१] विद्यानाथ के गुणों के स्वरूप निम्नलिखित हैं :—

श्लेष :—भोज की तरह पदों की श्लिष्टता को विद्यानाथ ने श्लेष गुण कहा है।[२] यह श्लेष-धारणा भोज की शब्द-श्लेष-धारणा से अभिन्न है।

प्रसाद :—प्रसाद गुण की परिभाषा के लिए भोज के शब्दगत प्रसाद गुण-लक्षण को अक्षरशः उद्धृत कर लिया गया है।[३] इस प्रकार भोज के प्रसिद्धार्थपदत्व को ही विद्यानाथ ने प्रसाद गुण माना है। यह क्लिष्टत्व दोष का विपर्यय है।

समता :—विद्यानाथ की समता-धारणा भोज की शब्द-समता-धारणा से अभिन्न है। भोज ने जिस श्लोक में शब्द-समता की परिभाषा दी है, उसी श्लोक का अंश प्रतापरुद्रयशोभूषण में समता के लक्षण के लिए उद्धृत कर लिया गया है।[४] समता प्रक्रमभङ्ग दोष का परिहार है।

माधुर्य :—भोज के शब्द-माधुर्य गुण-लक्षण का अनुसरण करते हुए विद्यानाथ ने माधुर्य को पृथक्पदता कहा है।[५]

सौकुमार्य :—विद्यानाथ ने सुकुमार अक्षरों के प्रयोग में सौकुमार्य गुण माना है।[६] यह 'सुकुमाराक्षरप्रायत्व' भोज के 'अनिष्ठुराक्षरप्रायत्व' से अभिन्न है। इसे श्रुतिकटुत्व दोष का परिहार माना गया है।

---

१. श्रुतिकटुरूपदोषनिराकरणाय सौकुमार्यं सम्मतम्। ग्रामदोषनिराकरणाय कान्तिः स्वीकृता। अपुष्टार्थनिराकरणायार्थव्यक्तिर्मता। न्यूनाधिकपदनिराकरणाय सम्मितत्वं मतम्। अनुचितार्थनिराकरणार्थमुदात्तता स्वीकृता। विसन्धिनिराकरणार्थमौर्जित्यं मतम्। पतत्प्रकर्षनिराकरणाय रीतिरिष्टा। क्लिष्टपरिहाराय प्रसादो मतः। अश्लीलपरिहारार्थमुक्तिः स्वीकृता। च्युतसंस्कृतिपरिहारार्थं सौशब्द्यमिष्टम्। प्रक्रमभङ्गनिराकरणाय समता मता। परुषदोषनिवृत्त्यर्थं प्रेयान् मतः। एवं यथासम्भवं केषांचिद्दोषपरिहारकत्वेन गुणत्वम्।

— विद्यानाथ, प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० ३२२-२३

२. मिथः संश्लिष्टपदता श्लेष इत्यभिधीयते।—वही, पृ० ३२३

३. प्रसिद्धार्थपदत्वं यत् स प्रसादो निगद्यते।—वही, पृ० ३२३, और भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ५१

४. अवैषम्येण भणनं समता सा निगद्यते।—वही, पृ० ३२४ तथा भोज, सरस्वती-कण्ठाभरण, पृ० ५२

५. या पृथक्पदता वाक्ये तन्माधुर्यं प्रकीर्त्यते।—वही, पृ० ३२४

६. सुकुमाराक्षरप्रायं सौकुमार्यं प्रतीयते।—वही पृ० ३२४

अर्थव्यक्ति :—भोज के शब्दगत अर्थव्यक्ति गुण की परिभाषा को ही विद्यानाथ ने स्वीकार किया है।[१] यह गुण अपुष्टार्थ दोष का विपर्यय है।

उदारत्व :—इसे 'विकटाक्षरबन्धत्व' कहा गया है। यह भोज के शब्द-औदार्य से अभिन्न है।[२]

कान्ति :— विद्यानाथ ने बन्ध की अतिशय उज्ज्वलता को कान्ति गुण कहा है।[३] भोज ने भी बन्ध की उज्ज्वलता में शब्दगत कान्ति गुण माना है। भोज की धारणा में एक विशेषण मिलाकर विद्यानाथ ने बन्ध की अतिशय उज्ज्वलता में कान्ति गुण माना है। इसमें ग्राम्यत्व दोष का अभाव रहता है।

उदात्तता :—भोज के शब्दगत उदात्तता-लक्षण को उद्धृत कर विद्यानाथ ने उसे 'श्लाघ्यविशेषण-योग' कहा है।[४] यह गुण अनुचितार्थत्व दोष का परिहार माना गया है। यह दण्डी का उदारत्व गुण है, जिसे भोज ने उदात्तता के नाम से अभिहित किया है।

ओज :—भोज के शब्दगत ओज के 'समासभूयस्त्व' लक्षण को ही विद्यानाथ ने उद्धृत कर दिया है।[५]

सुशब्दता :—सुप् और तिङ् की व्युत्पत्ति को सुशब्दता कहा गया है।[६] यह धारणा भोज की शब्द-सुशब्दता-धारणा से अभिन्न है।

प्रेय :—दण्डी का प्रेय अलङ्कार, जिसे भोज ने प्रेय गुण के रूप में स्वीकार किया था, प्रतापरुद्रीय में भी उसी रूप में गृहीत है। चाटूक्ति द्वारा प्रिय कथन को भोज की तरह विद्यानाथ ने भी प्रेय गुण माना है।[७] इसे परुष दोष का विपर्यास माना गया है।

---

१. यत्तु सम्पूर्णवाक्यत्वमर्थव्यक्तिं वदन्ति ताम्।—विद्यानाथ, प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० ३२५, भोज, सरस्वती- कण्ठाभरण, पृ० ५५

२. विकटाक्षरबन्धत्वमार्यैरौदार्यमिष्यते।—वही, पृ० ३२६ भोज, सरस्वती-कण्ठाभरण, पृ० ५६

३. अत्युज्ज्वलत्वं बन्धस्य काव्ये कान्तिरितीष्यते।—वही, पृ० ३३५

४. श्लाघ्यैर्विशेषणैर्योगो यस्तु सा स्यादुदात्तता।—विद्यानाथ, प्रतापरु० पृ० ३२७, और भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० ५९

५. ओजः समासभूयस्त्वम्।—वही, पृ० ३२७, भोज, सरस्व० कण्ठा० पृ० ५९

६. सुपां तिङां च व्युत्पत्तिः सौशब्द्यं परिकीर्त्यते।—वही, पृ० ३२८

७. प्रेयः प्रियतराख्यानं चाटूक्त्या यद्विधीयते।—वही, पृ० ३२८ तथा भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ६१

औजित्य :—बन्ध की गाढता को औजित्य माना गया है।[१] यह भोज के शब्द-औजित्य से अभिन्न है। इसे विसन्धि दोष का अभाव माना गया है।

समाधि :—भोज की तरह विद्यानाथ ने सामाधि में एक वस्तु के धर्म का अन्यत्र आरोप माना है।[२]

विस्तर :—वर्णित अर्थ की पुष्टि के लिए विस्तार से उसका समर्थन विस्तर गुण माना गया है।[३] भोज ने व्यास-उक्ति को विस्तर गुण माना है। विद्यानाथ ने प्रकारान्तर से भोज की विस्तर गुण-धारणा का ही समर्थन किया है।

सम्मितत्व :—भोज की सम्मितत्व-गुण-परिभाषा को विद्यानाथ ने थोड़ा शब्द-भेद कर उद्धृत कर दिया है। विवक्षित अर्थ को व्यक्त करने के लिए जितने पदों का प्रयोग अपेक्षित हो, ठीक उतने ही पदों का प्रयोग सम्मितत्व गुण है।[४] अपेक्षित पदों से कम पदों का प्रयोग न्यूनपदत्व दोष माना जाता है और अधिक पदों का प्रयोग अधिकपदत्व दोष। सम्मितत्व गुण में इन दोनों दोषों का परिहार हो जाता है।

गाम्भीर्य :—गाम्भीर्य गुण की परिभाषा सरस्वतीकण्ठाभरण से उद्धृत है। इसे विद्यानाथ ने भोज की तरह ध्वनिमत्ता कहा है।[५]

संक्षेप :—संक्षेप में अर्थ का वर्णन संक्षेप गुण माना गया है।[६] इसका स्वरूप भोज के संक्षेप गुण के स्वरूप से अभिन्न है। भोज ने इसे ही समास में अर्थ का अभिधान कहा है।

सौक्ष्म्य :—सौक्ष्म्य की परिभाषा सरस्वतीकण्ठाभरण से प्रतापरुद्रयशोभूषण में उद्धृत है।[७] इसे विद्यानाथ भोज की तरह शब्द का 'अन्तस्सञ्जल्पत्व' मानते हैं। अन्तस्सञ्जल्पत्व की व्याख्या भोज के सौक्ष्म्य गुण-विवेचन में की जा चुकी है।

---

१. औजित्यं गाढबन्धत्वम्।—विद्यानाथ, प्रतारुद्रयशोभूषण, ३२९

२. समाधिरन्यधर्माणां यदन्यत्राधिरोहणम्। – वही, पृ० ३२९

३. समर्थनप्रपञ्चोक्तिरुक्तस्यार्थस्य विस्तरः।—वही, पृ० ३३०

४. यावदर्थपदत्वं तु सम्मितत्वमुदाहृतम्।—वही, पृ० ३३०, तथा भोज, सरस्वती-कण्ठाभरण, पृ० ६७

५. ध्वनिमत्ता तु गाम्भीर्यम्।—वही, पृ० ३३१, भोज सरस्व० कण्ठा० पृ० ६४

६. संक्षिप्तार्थाभिधानं यत् संक्षेपः परिकीर्त्यते।—वही, पृ० ३३१

७. अन्तःसंजल्परूपत्वं शब्दानां सौक्ष्म्यमुच्यते।—वही, पृ० ३३१, भोज, सरस्व० कण्ठाभरण पृ० ६३

प्रौढि :—यह प्रौढि गुण भोज की शब्द-प्रौढि की तरह उक्ति का 'परीपाक' है।[1]

उक्ति :—उक्ति को विद्यानाथ ने विदग्ध-भणिति कहा है।[2] यह विदग्ध-भणिति भोज की विशिष्टभणिति-रूप उक्ति से भिन्न नहीं। उक्ति को अश्लीलत्व दोष का परिहार माना गया है।

रीति :—भोज की तरह इसे उपक्रम का निर्वाह कहा गया है।[3] यह पतत्प्रकर्षत्व दोष का अभाव माना गया है।

भाविक :—भोज का भाविक गुण-लक्षण विद्यानाथ द्वारा उद्धृत है।[4] भावानुरूप वाक्यवृत्ति को भाविक गुण माना गया है।

गति :—स्वर का सुरम्य आरोह एवं अवरोह गति गुण है।[5] भोज ने भी आरोह-अवरोह के क्रम को शब्द-गत गति गुण माना है। विद्यानाथ की धारणा भोज की धारणा के समान है।

विद्यानाथ के गुण-निरूपण के उक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि इसमें चर्वितचर्वण के अतिरिक्त कोई मौलिक उद्भावना नहीं। गुण को सङ्घटना-धर्म मानने के कारण भोज के अर्थगुण को अस्वीकार करने पर भी अपनी गुण-धारणा में विद्यानाथ ने भोज की शब्दगुण-धारणा का अन्धानुसरण किया है।

टीकाकार कुमारस्वामी की मान्यता है कि प्राचीन आचार्यों के गुण-सिद्धान्त को मानने पर भी विद्यानाथ हृदय से आनन्दवर्धन के अनुयायी हैं। उनकी युक्ति है कि विद्यानाथ आनन्दवर्धन की तरह ही काव्य की आत्मा का उत्कर्षाधान करने वाला धर्म गुण को मानते थे।[6] यद्यपि विद्यानाथ ने

---

१. प्रौढिरुक्तेः परीपाकः—विद्यानाथ, प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० ३३२

२. विदग्धभणितिर्या स्यादुक्तिं तां कवयो विदुः।—वही, पृ० ३३२

३. यथोपक्रमनिर्वाहो रीतिरित्यभिधीयते।—वही, पृ० ३३३

४. भावतो वाक्यवृत्तिर्या भाविकं तदुदाहृतम्।—वही, पृ० ३३३, भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० ६७

५. गतिर्नाम सुरम्यत्वं स्वरारोहावरोहयोः।—वही, पृ० ३३३

६. वस्तुतस्तु भामहादिमते गान्तर्भावे श्लेषादिगुणानां रसधर्मत्वम्। अलङ्काराणां तु शब्दार्थधर्मत्वमिति विद्यत एव स्वरूपभेद इति रहस्यम्। अतएव स्वयमेवोक्तवान् काव्यप्रकरणे —

हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।
श्लेषादयो गुणास्तत्र शौर्यादय इव स्थिताः॥
आत्मोत्कर्षवहा—इति। —प्रतापरु० रत्नापण टीका, पृ० ३३५

गुण को रसधर्म नहीं कहकर सङ्घटना का धर्म कहा है, जिस सिद्धान्त का खण्डन आनन्दवर्धन उनसे पूर्व ही कर चुके थे, तथापि वे प्रच्छन्न रूप से आनन्दवर्धन की मान्यता से प्रभावित थे, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अलङ्कार को हार आदि के समान एवं गुण को आत्मा के उत्कर्षाधायक शौर्य आदि के समान मानने में आनन्दवर्धन आदि की मान्यता की स्वीकृति स्पष्ट है। इस प्रकार विद्यानाथ स्पष्टतः गुण को सङ्घटना-धर्म कहते हैं।[1] पर, प्रकारान्तर से उसका रसधर्मत्व भी स्वीकार कर लेते हैं।

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन ने संस्कृत काव्य-शास्त्र को काव्यालोचन का नया मानदण्ड दिया। वस्तुतः भारतीय समीक्षा-सिद्धान्त को आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में ही सर्वाधिक उत्कर्ष प्राप्त हुआ है। गुण के सङ्घटनाश्रयत्व-सिद्धान्त को अस्वीकार कर आनन्दवर्धन ने उसे काव्य के अङ्गीभूत रस, भाव आदि पर आश्रित माना। अलङ्कार को काव्य के शरीर वाच्य-वाचक पर आश्रित मानकर भिन्नाश्रयत्व के कारण दोनों का भेद स्पष्ट कर दिया।[2]

गुण वस्तुतः रस के ही धर्म हैं। कभी-कभी उन्हें उपचार से रस के व्यञ्जक शब्द और अर्थ का धर्म भी कह दिया जाता है।[3] माघ ने ओज और प्रसाद गुणों का सम्बन्ध रस-भाव से माना था। आनन्दवर्धन ने शास्त्रीय पद्धति पर गुण का रसादि के साथ सम्बन्ध स्थापित किया। ध्वन्यालोक में माधुर्य, ओज और प्रसाद; ये तीन गुण माने गये हैं। भामह ने भी माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों का ही उल्लेख किया था; पर आनन्दवर्धन के काव्य-गुण भामह के गुणों से नाम्ना साम्य रखने पर भी स्वरूपतः भिन्न हैं। भामह ने अल्पसमास और दीर्घसमास पदरचना के आधार पर माधुर्य, ओज आदि गुणों का स्वरूप-निर्धारण किया था; किन्तु आनन्दवर्धन ने चित्तवृत्ति की द्रुति, दीप्ति आदि के आधार पर गुणों के स्वरूप का निरूपण किया है। नीचे आनन्दवर्धन के गुणों का स्वरूप-विवेचन प्रस्तुत किया जाता है—

माधुर्य – माधुर्य शृङ्गार रस का गुण है। शृङ्गार अन्य रसों की अपेक्षा चित्त में अधिक आह्लाद की सृष्टि करता है। अतः, वह मधुर माना गया है।

१. अतो गुणानां संघटनाश्रयत्वमेव युक्तम्।—विद्यानाथ, प्रतापरु० वृत्ति, पृ० ३३५

२. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृता।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।
—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, २,२६ पृ० ११५

३. द्रष्टव्य—माघ, शिशुपालवध, २.८३

माधुर्य वस्तुतः शृङ्गार रस का गुण होने पर भी उपचार से उस रस के व्यञ्जक शब्द एवं अर्थ का धर्म माना जाता है।[१] अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका में आनन्दवर्धन की माधुर्य-धारणा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि मधुर शृङ्गार रस को व्यक्त कर सकने की शब्दार्थ की सामर्थ्य ही माधुर्य गुण है।[२] वियोग शृङ्गार की अपेक्षा करुण रस में चित्त अधिक द्रवित होता है। अतः शृङ्गार-व्यञ्जक शब्दार्थ की अपेक्षा करुण रस की व्यञ्जना करने वाले शब्द एवं अर्थ में माधुर्य का अधिक प्रकर्ष रहता है।[३] अभिनव गुप्त ने इसके स्पष्टीकरण में कहा है कि संयोग शृङ्गार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार में चित्त को आर्द्र करने की अधिक शक्ति रहती है और विप्रलम्भ शृङ्गार से भी करुण रस चित्त को अधिक आर्द्र करता है। संयोग शृङ्गार मधुर है तो विप्रलम्भ शृङ्गार मधुरतर और करुण रस मधुरतम। अतः सम्भोग शृङ्गार-व्यञ्जक शब्द एवं अर्थ की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार-व्यञ्जक शब्दार्थ में प्रकर्ष रहता है और उसकी अपेक्षा भी करुण रस की व्यञ्जना करने वाले शब्दार्थ में उत्कर्ष रहता है।[४] प्रश्न यह है कि यदि करुण रस में भी माधुर्य गुण की सत्ता आनन्दवर्धन को अभीष्ट थी, यही नहीं जब वे शृङ्गार की अपेक्षा भी करुण-रस-व्यञ्जक शब्दार्थ में माधुर्य की प्रकृष्ट सत्ता मानते थे, तो अपनी कारिका में उन्होंने 'शृङ्गार एव मधुरः' (शृङ्गार ही माधुर्य गुणयुक्त रस है) क्यों कहा? अभिनव ने इस प्रश्न का समाधान किया है। शृङ्गार ही मधुर है, यह कह कर अन्य रसों की मधुरता का परिहार नहीं किया गया है। उस कथन का अभिप्राय यह है कि काव्य का आत्मभूत रस ही मधुर होता है, शरीरभूत शब्दार्थ नहीं।

---

१. शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति॥
—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक २,३० पृ० ११६

२. शृमधुरशृङ्गाररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि लक्षणम्।
— अभिनव, लोचन पृ० ७६ काव्यमाला, संस्करण

३. शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः।
—आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक २,३१ पृ० ११७

४. संयोगशृङ्गारान्मधुरतरो विप्रलम्भः ततोऽपि मधुरतमः करुण इति तदभिव्यञ्जनकौशलं शब्दार्थयोर्मधुरतमत्वं चेत्यभिप्रायेणाह—शृङ्गार इत्यादि।
—अभिनव० लोचन, पृ० ७९

शब्दार्थ को मधुर कहना लाक्षणिक प्रयोग-मात्र है। अतः 'शृङ्गार एव मधुरः' में रस के माधुर्य गुणयुक्त होने पर बल दिया गया है।[१]

आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों ने माधुर्य गुण को असमास या अल्प-समास रचना से, श्रुत्यनुप्रास एवं अग्राम्यता आदि से सम्बद्ध कर दिया था। भामह ने इसे श्रव्य एवं अनतिसमस्त रचना का गुण माना था।[२] वामन का शब्दमाधुर्य भी पृथक्पदता या समासहीन रचना ही है।[३] दण्डी ने इसे श्रुत्यनुप्रास और अग्राम्यता बना दिया था। आनन्दवर्धन ने इसे अल्पसमास-रचना आदि से मुक्त कर शृङ्गार आदि रसों से सम्बद्ध कर दिया। भामह के श्रव्यत्व एवं अनतिसमस्तत्व माधुर्य-लक्षण में व्यभिचार दिखाया गया है। श्रव्य एवं अल्पसमास-रचना केवल माधुर्य गुण में ही नहीं रहती, ओज और प्रसाद में भी उसकी सत्ता सम्भव है।[४] आनन्दवर्धन ने एक उदाहरण देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रव्य एवं अल्पसमास-रचना में भी ओज गुण रह सकता है।

ओज :—आनन्दवर्धन ने ओज को चित्त की दीप्ति माना है। यह रौद्र आदि रसों में हृदय की दीप्ति के रूप में रहता है। रौद्र आदि रसों के व्यञ्जक शब्दार्थ में भी उपचार से ओज गुण माना जाता है। बहुधा दीर्घ समासयुक्त वाक्य ही रौद्र आदि रस के व्यञ्जक होते हैं। अतः उन्हें ओज गुण-युक्त कहा जाता है; पर यह कथन उपचार-मात्र है। अल्पसमास-रचना में भी ओज के उदाहरण पाये ही जाते हैं। रौद्र आदि रस चित्त के दीप्ति-रूप ओज के कारण होते हैं। कारण में कभी-कभी कार्य का उपचार हो जाया करता है। अतः, कार्यभूत दीप्ति का प्रयोग कारणभूत रौद्र आदि रस के लिए उपचार से होने लगता है। फलतः, रौद्र, वीर और अद्भुत रस जो वस्तुतः चित्त-दीप्ति या ओज के हेतु हैं, ओज कहे जाते हैं।[५] रौद्रादि-व्यञ्जक

१. ननु करुणेऽपि यदि मधुरिमास्ति तर्हि पूर्वकारिकायां शृङ्गार एवेत्येवकारः किमर्थः। उच्यते—नानेन रसान्तरं व्यवच्छिद्यते। अपि त्वात्मभूतस्य रसस्यैव परमार्थतो गुणा माधुर्यादय उपचारेण तु शब्दार्थयोरित्येवकारेण द्योत्यते।
—अभिनव० लोचन पृ० ८०

२. श्रव्यं नातिसमस्तार्थं वाक्यं मधुरमिष्यते।—भामह, काव्यालङ्कार २, ३

३. पृथक्पदत्वं माधुर्यम्।—वामन, काव्याल० ३,१,२१

४. श्रव्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणमिति।—आनन्द, ध्वन्या० २ पृ० ११७

५. दीप्तिः प्रतिपत्तुर्हृदये विकास-विस्तार-प्रज्वलत्स्वभावा सा च मुख्यतया ओजः-शब्दवाच्या। तदास्वादमया रौद्राद्यास्तया दीप्त्यास्वादविशेषात्मिकया कार्यरूपा लक्ष्यन्ते रसान्तरात्पृथक्तया। तेन कारणे कार्योपचाराद् रौद्रादिरेवौजः-

शब्द और अर्थ का निर्धारण करते हुए आनन्दवर्धन ने दीर्घसमास-रचना और अलङ्कृत वाक्य को ओज-प्रकाशक शब्द एवं दीर्घसमास-रचना की अपेक्षा न रखनेवाले प्रसन्न शब्द के वाच्य को तत्प्रकाशक अर्थ कहा है।[1]

माधुर्य और दीप्ति परस्पर विरोधी गुण हैं। शृङ्गार और करुण में माधुर्य गुण रहता है और रौद्र, वीर एवं अद्भुत रसों में ओज गुण की सत्ता रहती है। हास्य, भयानक, बीभत्स और शान्त रसों में इन दोनों विरोधी गुणों का वैचित्र्यपूर्ण समावेश माना गया है। हास्य रस शृङ्गार का अङ्ग है। आचार्य भरत ने अपने आठ रसों में से शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स रसों को मूल रस या अङ्गी रस माना है। हास्य, करुण, अद्भुत एवं भयानक—इन चार रसों को उनका अङ्गभूत कहा है।[2] शृङ्गार की अनुकृति को हास्य माना गया है। अतः, वह शृङ्गार का अङ्ग है। इसलिए शृङ्गार रस का गुण माधुर्य हास्य में भी रहता है। हास्य रस में चित्तवृत्ति का विकास होता है। अतः उसमें दीप्ति या ओज गुण भी रहा करता है। माधुर्य और ओज, दोनों का प्रकर्ष हास्य में रहता है। इसलिए वहाँ माधुर्य और ओज का साम्य रहता है। भयानक रस में चित्त की वृत्ति को मग्न करने की शक्ति है। अतः, वहाँ माधुर्य गुण रहता तो है; पर वह गौण हो जाता है। कारण यह है कि भयानक रस का आलम्बन और उद्दीपन विभाव दीप्त या प्रज्वलत्स्वभाव का होता है। फलतः, भयानक रस में ओज गुण ही प्रकृष्ट रहा करता है। इसी प्रकार बीभत्स रस में भी माधुर्य अल्प मात्रा में एवं ओज प्रकृष्ट रूप में रहते हैं। शान्त रस की स्थिति इन रसों से भिन्न है। भयानक एवं बीभत्स के विभाव का दीप्त-स्वभाव होना सार्वत्रिक नियम है; किन्तु शान्त रस के विभाव का स्वभाव नियत नहीं। कुछ विभाव दीप्त हो सकते हैं और कुछ मधुर। शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद है। वह गुरुजनों के

शब्दवाच्यः। ततो लक्षितलक्षणया तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनवाक्यरूपोऽपि दीप्तिरित्युच्यते। —अभिनव, लोचन, पृ० ८०

१. तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनाऽलंकृतं वाक्यम्।
....तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्नवाचकाभिधेयः।
—आनन्द, ध्वन्यलोक, पृ० ११६

२. तदेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः—तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा शृङ्गारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति।
अत्र—शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥ - भरत, ना० शा० ६,४०

के मधुर उपदेश से भी उत्पन्न हो सकता है और सांसारिक कटुता की अनुभूति से भी। प्रथम अवस्था में उसका आलम्बन मधुर होगा और द्वितीय अवस्था में दीप्त। इसलिए यह माना गया है कि शान्त रस के आलम्बन की अनेकरूपता एवं स्वभावगत भिन्नता के कारण आलम्बन के अनुरूप कहीं उसमें माधुर्य प्रकृष्ट रहता है और कहीं ओज।[१]

प्राचीन आचार्यों ने ओज को दीर्घसमास-रचना पर आश्रित या उसी का पर्याय मान लिया था। भामह और दण्डी से लेकर भोज तक ने ओज को समासबहुल रचना ही माना है। केवल वामन ने इसे गाढबन्धत्व माना था। दण्डी ने दीर्घसमास ओज को गद्य का प्राण माना और गौड मार्ग में पद्य-रचना में भी उसे समादृत बताया। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों ने ओज गुण को रीति से सम्बद्ध कर गौडी रीति में उसका भाव और वैदर्भी में उसका अभाव माना था। आनन्दवर्धन ने इस मत का खण्डन कर ओज को रौद्र, वीर और अद्भुत रस से सम्बद्ध कर दिया। उनके अनुसार यह सहृदय के चित्त की दीप्ति दीर्घसमास-रचना से भी व्यक्त हो सकती है और असमास-रचना से भी। आनन्दवर्धन ने दो उदाहरण देकर एक में दीर्घसमास-सङ्घटना से तथा दूसरे में असमास-घटना से ओज की व्यञ्जना दिखायी है।[२]

प्रसाद—प्रसाद गुण भाव का क्षिप्र प्रसार है। सरलता से सभी रसों को व्यञ्जित कर देने की काव्य की शक्ति प्रसाद गुण कहलाती है। इस गुण में सकल रस के अनुकूल वृत्ति रहा करती है। यह सभी रसों का सामान्य गुण है।[३] इस भाव को वृत्ति में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—शब्द और अर्थ की स्वच्छता को प्रसाद गुण कहा जाता है। वह सभी रसों एवं सभी रचनाओं में

---

१. एवं माधुर्यदीप्ती परस्परप्रतिद्वन्द्वितया स्थिते शृङ्गारादिरौद्रादिगते इति प्रदर्शकतया तत्समावेशवैचित्र्यं हास्यभयानकबीभत्सशान्तेषु दर्शितम्। हास्यस्य शृङ्गाराङ्गतया माधुर्यं प्रकृष्टं विकासधर्मतया चौजोऽपि प्रकृष्टमिति साम्यं द्वयोः। भयानकस्य मग्नचित्तवृत्तिस्वभावत्वेऽपि विभावस्य दीप्ततया ओजः प्रकृष्टं माधुर्यमल्पम्। बीभत्सेऽप्येवम्। शान्ते तु विभाववैचित्र्यात्कदाचिदोजः प्रकृष्टं कदाचिन्माधुर्यमिति विभागः। —अभिनव लोचन पृ० ८२ काव्यमाला

२. द्रष्टव्य—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, पृ० ११९-२०

३. समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः।—वही, पृ० १२१

साधारण रूप से रहता है।[1] प्रसाद को इतना महत्त्व मिलने का कारण यह है कि इस गुण के अभाव में रस की व्यञ्जना ही सम्भव नहीं होती। असमास-रचना भी प्रसाद गुण के अभाव में शृङ्गार आदि रसों की व्यञ्जना में अक्षम सिद्ध होती है। रस को शीघ्र व्यञ्जित कर देने वाले शब्द और अर्थ भी उपचार से प्रसाद गुण युक्त माने गये हैं। अभिनव गुप्त ने लोचन में आनन्द-वर्धन की उक्त धारणा को और भी स्पष्ट किया है। प्रसाद गुण के रहने पर काव्य का रस सहृदय के हृदय में छा जाता है। सूखी लकड़ी में जिस प्रकार आग तुरत व्याप्त हो जाती है उसी प्रकार सहृदय के हृदय को जहाँ रस तुरत अभिभूत कर लेता है, वहाँ प्रसाद गुण माना जाता है। यह सभी रसों का गुण है। व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति शब्द और अर्थ की समर्पकता होने से उपचार से शब्दार्थ में भी प्रसाद गुण माना जाता है।[2]

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने माधुर्य और ओज की अपेक्षा प्रसाद को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। माधुर्य केवल शृङ्गार और करुण में समग्रतः रहता है; हास्य, शान्त, भयानक और बीभत्स में अंशतः। ओज भी रौद्र, वीर और अद्‌भुत रसों में ही समग्रतः रहता है; हास्य, शान्त आदि में अंशतः। रौद्र, वीर एवं अद्‌भुत में माधुर्य की सत्ता नहीं रहती। इसी प्रकार शृङ्गार और करुण में ओज की सत्ता नहीं रह सकती। प्रसाद सभी रसों में अनिवार्यतः रहता है। उसी की सत्ता से काव्य में सभी रसों के प्रति व्यञ्जकता आती है। अतः, वह काव्य का सबसे व्यापक एवं सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन गुण को रस का धर्म मानते हैं। उपचार से गुण शब्द-धर्म कहा जाता है। वह सङ्घटनाश्रित नहीं है।

आनन्दवर्धन ने शान्त रस के गुण का उल्लेख नहीं किया है; पर अभिनव गुप्त ने उसमें कहीं माधुर्य का और कहीं ओज का प्रकर्ष माना है।

---

१. प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः। स च सर्वसाधारणो गुणः सर्वरचनासाधारण-श्चेति व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः।

—आनन्द० ध्वन्या० पृ० १२२

२. समर्पकत्वं सम्यगर्पकत्वं हृदयसंवादेन प्रतिपत्तृन्प्रति स्वात्मावेशेन, व्यापकत्वं झगिति शुष्ककाष्ठाग्निदृष्टान्तेनाकलुषोदकदृष्टान्तेन च तदकालुष्यं प्रसन्नत्वं नाम सर्वरसानां गुणः। उपचारात्तु तथाविधे व्यङ्ग्येऽर्थे यच्छब्दार्थयोः समर्पकत्वं तदपि प्रसादः।—अभिनव, लोचन पृ० ८२

भयानक और बीभत्स रसों में माधुर्य और ओज का समावेश-वैचित्र्य पाना कठिन है। उन दोनों रसों में मानसिक मग्नता और सङ्कोच होता है; दीप्ति नहीं। धनञ्जय ने बीभत्स रस में क्षोभ मानसिक भाव माना है।[1] आनन्दवर्धन ने इन रसों के आलम्बन को दृष्टि में रखते हुए इनमें दीप्ति स्वीकार की थी। वस्तुतः, इन रसों के आश्रय में चित्त की दीप्ति नहीं रहती और न रसास्वाद में सहृदय ही चित्त की दीप्ति का अनुभव करता है।

मम्मट

मम्मट ने आनन्दवर्धन की गुण-धारणा को स्वीकार किया है; किन्तु वे परप्रत्ययनेय बुद्धि वाले आलोचक नहीं थे। उनमें समालोचक की सूक्ष्म दृष्टि और प्रतिपादन की प्रौढ क्षमता थी। इसलिए आनन्दवर्धन की गुण-धारणा में मम्मट ने अपनी ओर से बहुत कुछ जोड़ा है और कहीं-कहीं उनकी मान्यता को अस्वीकार कर मौलिक सिद्धान्त की स्थापना की है। आनन्दवर्धन की तरह मम्मट ने भी गुण को काव्य के अङ्गी रस का धर्म स्वीकार किया है। जैसे शूरता आदि आत्मा के धर्म हैं और उनसे आत्मा में उत्कर्ष आता है, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण काव्य की आत्मा के धर्म हैं और उसमें उत्कर्ष का आधान करते हैं। रस के साथ उनकी अचल स्थिति रहा करती है।[2] गुण को रस का धर्म कह देने से ही रस के साथ उसकी अचल स्थिति सिद्ध हो जाती है, फिर भी अधिक स्पष्ट करने के लिए अलग से मम्मट ने अपने लक्षण में 'अचलस्थितयः' का उल्लेख किया है। वस्तुतः, धर्मी के साथ धर्म की अचल स्थिति रहा ही करती है। गोविन्द ठक्कुर ने काव्यप्रदीप में मम्मट की इस धारणा को स्पष्ट करते हुए रस के साथ सम्बन्ध की दृष्टि से गुण के तीन लक्षण स्वीकार किये हैं—(क) गुण रस के धर्म हैं, (ख) रस से अलग उनकी स्थिति नहीं रहती, उनकी रस के साथ अव्यभिचारी स्थिति है और (ग) सदा रस के साथ रहकर गुण उसका उपकार करते हैं।[3] मम्मट ने अपनी वृत्ति में गुण

---

१. विकाशविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः।
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात् ॥—धनञ्जय, दशरूपक, ४,४२

२. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥—मम्मट, काव्यप्रकाश ८,१

३ एवं च रसस्य उत्कर्षहेतुत्वे सति रसधर्मत्वं, तथात्वे सति रसाव्यभिचारिस्थितित्वम्, अयोगव्यवच्छेदेन रसोपकारकत्वं चेति लक्षणत्रयं गुणानां द्रष्टव्यम्।
—गोविन्द ठक्कुर, काव्यप्रदीप, ८,१ पृ० २७८

को शब्द का धर्म मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन किया है और यह प्रतिपादित किया है कि गुण वस्तुतः रस के धर्म हैं। समुचित वर्णों से गुण की व्यञ्जना अवश्य होती है; पर वे वर्णमात्र पर आश्रित नहीं रहते।[१] अतः, वर्ण को जो मधुर आदि कहा जाता है वह लाक्षणिक प्रयोग-मात्र है।

आनन्दवर्धन की तरह मम्मट ने माधुर्य, ओज और प्रसाद; इन तीन गुणों को स्वीकार किया है और चित्त की वृत्ति के आधार पर इनके स्वरूप का निर्धारण किया है। यहाँ उनके गुणों के स्वरूप का परीक्षण किया जाता है :—

माधुर्य :—माधुर्य गुण मम्मट के अनुसार चित्त की द्रुति का हेतु है और आह्लाद-स्वरूप है। यह गुण सम्भोग शृङ्गार में द्वेषादिजनित कठोरता को चित्त से दूर कर उसमें द्रुति उत्पन्न करता है।[२] मम्मट ने माधुर्य को 'आह्लादकत्व' कहा है। आह्लादक का अर्थ आह्लाद ही है। आह्लाद शब्द से यहाँ स्वार्थ में 'क' प्रत्यय हुआ है। अतः 'आह्लादक' का आह्लाद-हेतु या आह्लादकारी अर्थ नहीं समझा जाना चाहिए। गुण आह्लाद का हेतु नहीं हो सकता। यदि गुण को आह्लाद का हेतु माना जाय, तो उसे आह्लादस्वरूप रस का भी हेतु मानना होगा। रस गुण से उत्पन्न नहीं होता। अतः, गुण आह्लाद का कारण नहीं, आह्लाद-स्वरूप है। प्रश्न यह होगा कि आह्लाद केवल शृङ्गार रस में ही नहीं होता, वह सभी रसों का स्वरूप है। उपनिषद् में रस को समग्रतः आनन्दस्वरूप ब्रह्म का रूप कहा गया है। रस को प्राप्त कर ही आनन्द प्राप्त किया जाता है।[३] इसीलिए रस को ब्रह्मास्वाद का सहोदर कहा गया है।[४] यदि माधुर्य को आह्लादस्वरूप माना जाय तो रौद्र आदि दीप्त रसों में जहाँ माधुर्य नहीं रहता, आह्लाद का अभाव मानना पड़ेगा, जो रस के स्वरूप की मौलिक मान्यता के ही विरोध में पड़ जायगा। अतः, मम्मट ने माधुर्य-लक्षण में इसे स्पष्ट कर दिया है कि शृङ्गार रस में चित्त की द्रुति का कारणभूत आह्लाद ही माधुर्य गुण है। इससे अन्य रसों की आह्लादकता

---

१. अत एव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैः व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः।
—मम्मट, काव्यप्रकाश पृ० १८८

२. आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।—वही, ८, ६८

३. रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति।—तैत्तिरीय उपनिषद, २, ७

४. ब्रह्मास्वादसहोदरः।—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, पृ० ६५

का परिहार नहीं होता। दीप्त रसों में भी आह्लाद रहता है; पर वहाँ चित्त की द्रुति नहीं होती। अतः, उन रसों में माधुर्य-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।[१]

माधुर्य गुण संयोग शृङ्गार, करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार एवं शान्त रसों में उत्तरोत्तर प्रकर्षावस्था में रहा करता है।[२] संयोग शृङ्गार की अपेक्षा करुण रस में माधुर्य का उत्कर्ष रहता है, करुण रस की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार रस में उसका प्रकर्ष पाया जाता है और शान्त रस में वह उससे भी प्रकृष्ट रूप में रहा करता है। चित्त की द्रुति की मात्रा के आधार पर इन रसों में माधुर्य गुण के प्रकर्ष का निर्धारण हुआ है। सम्भोग शृङ्गार की अनुभूति की दशा में चित्त में जितनी द्रुति होती है, उसकी अपेक्षा करुण रस में चित्त की अधिक द्रुति मानी गयी है। करुण की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार में और उसकी अपेक्षा भी शान्त रस में चित्त की द्रुति की अधिक शक्ति मानकर मम्मट ने उन रसों में माधुर्य का उत्तरोत्तर प्रकर्ष माना है। माधुर्य के स्वरूप-निर्धारण में आनन्दवर्धन से सहमत होने पर भी मम्मट ने रसों में उसकी स्थिति के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से विचार किया है। हम देख चुके हैं कि आनन्दवर्धन ने सम्भोग शृङ्गार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार में एवं उसकी अपेक्षा करुण रस में चित्त की अधिक द्रुति मानी है। मम्मट अनन्दवर्धन के इस विचार से सहमत नहीं। उनके अनुसार करुण रस की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार में अधिक चित्त-द्रुति होती है। अतः, करुण से विप्रलम्भ में माधुर्य का प्रकर्ष रहता है। आनन्दवर्धन ने शान्त रस में माधुर्य की सत्ता नहीं मानी थी। अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका में शान्त रस में ओज के साथ माधुर्य का सन्निवेश-वैचित्र्य माना; पर मम्मट ने शान्त रस में माधुर्य गुण का सर्वाधिक उत्कर्ष माना है।

ओज :—ओज चित्तवृत्ति के विस्तार का गुण है। यह माधुर्य गुण से विपरीत स्वभाव का होता है। मम्मट ने इसके लक्षण में कहा है कि ओज चित्त

---

१. आनन्दस्वरूपत्वं चेत्तर्हि सर्वेषामेव रसानामित्यत आह—द्रुतिकारणमिति। द्रुतिश्चेतसो गलितत्वमेव द्वेषादिजन्यकाठिन्याभावः। तथा च यद्वशेन श्रोतुर्निर्मनस्कतेव सम्पद्यते तदाह्लादकत्वस्वरूपं माधुर्यमित्यर्थः।
—गोविन्द ठक्कुर, काव्यप्रदीप पृ० २७९

२. करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।—मामट, काव्यप्रकाश ८, ६८

के दीप्ति रूप विस्तार का हेतु है। यह वीर रस में रहता है।[1] इस प्रकार चित्त को प्रज्ज्वलित करने वाला गुण ओज कहा गया है। मम्मट के अनुसार बीभत्स और रौद्र रसों में ओज का क्रमशः आधिक्य पाया जाता है।[2] निष्कर्ष रूप में मम्मट की मान्यता यह है कि वीर रस में चित्त की जितनी दीप्ति होती है, उससे अधिक दीप्ति बीभत्स रस की अनुभूति में होती है। रौद्र रस में चित्त सर्वाधिक दीप्त होता है। अतः, वीर रस की अपेक्षा बीभत्स रस में ओज का आधिक्य रहता है और बीभत्स रस की अपेक्षा रौद्र रस में वह अधिक मात्रा में रहता है। इन रसों में चित्त की दीप्ति के आधिक्य का कारण चक्रवर्ती ने निर्दिष्ट किया है, जो वामन झलकीकर के द्वारा काव्यप्रकाश की बालबोधिनी टीका में उद्धृत है। बीभत्स और रौद्र रसों में क्रमशः तितिक्षा और जिघांसा रहती है। वीर में केवल जिगीषा का भाव रहता है। वीर में शत्रु पर विजय प्राप्त करना-मात्र उद्देश्य रहता है। बीभत्स में जुगुप्सित वस्तु के त्याग का भाव रहता है; पर रौद्र में अपकार करने वाले के वध का प्रयास होता है। अतः, जिगीषा-प्रधान वीर की अपेक्षा तितिक्षा-प्रधान बीभत्स में चित्तवृत्ति अधिक दीप्त होती है और जिघांसा-प्रधान रौद्र में उससे भी अधिक दीप्ति चित्त में आती है। यही कारण है कि वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में उत्तरोत्तर ओज का आधिक्य पाया जाता है।[3] गोविन्द ठक्कुर ने काव्यप्रदीप में यह दिखाया है कि वीर और रौद्र रसों में ओज ऐकान्तिक रूप से रहता है, पर बीभत्स में माधुर्य का भी थोड़ा मिश्रण ओज के साथ रहा करता है। मम्मट ने प्राधान्य के आधार पर शृङ्गार, करुण आदि में माधुर्य की स्थिति का विधान एवं वीर आदि में ओज की स्थिति का विधान कर दिया है। हास्य, अद्भुत एवं भयानक में दोनों गुण रहते हैं; अतः उन रसों में

---

१. दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।—मम्मट, काव्यप्र० ८, ६९

२. बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।—वही, पृ० १९२

३. ....व्याख्यातं च चक्रवर्तिभिः "बीभत्सेत्यादि। तितिक्षाजिघांसाजनकत्वात्। वीरे तु जिगीषैव वैरिवशीकरणमात्रस्योद्देश्यत्वात्। बीभत्से जुगुप्सिते विषये ममतानास्पदत्वेन तितिक्षा न तु जिघांसा। रौद्रे त्वपकारिणि वधावधिकः प्रयास इति जिघांसैव न तु जिगीषा न वा तितिक्षेति क्रमशो दीप्तेराधिक्यम्। अतएव रौद्रवीररसयोर्भेदोऽवसेयः। एतदेव विवृतं 'वीराद्बीभत्से ततोऽपि रौद्रे' इति'।
—काव्यप्रकाश, वामन झलकीकर कृत टीका, पृ० ४७६

किसी गुण की स्थिति का विधान नहीं किया गया है।[१] गोविन्द ठाकुर ने अभिनवगुप्त की मान्यता के अनुरूप, बीभत्स में ओज एवं माधुर्य का मिश्रण स्वीकार किया है।

ओज गुण के विषय-विभाग के सम्बन्ध में मम्मट की धारणा नितान्त मौलिक है। आनन्दवर्धन ने इसे रौद्रादि का गुण कहा था। रौद्र के साथ 'आदि' पद से अभिनवगुप्त ने वीर और अद्‌भुत रसों को ग्रहण किया। मम्मट ने अद्‌भुत रस में चित्त का ऐकान्तिक विस्तार स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अभिनव के अद्‌भुत के स्थान पर बीभत्स में ओज गुण की स्थिति स्वीकार की। अदभुत आदि रसों में ओज और माधुर्य; दोनों की न्यूनाधिक अनुपात में उपस्थिति मानने के कारण मम्मट ने उन रसों के लिए किसी गुण का उल्लेख नहीं किया। इस प्रकार मम्मट के अनुसार शृङ्गार, करुण और शान्त रसों में माधुर्य गुण रहता है; वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में ओज गुण रहता है एवं हास्य, अद्‌भुत और भयानक रसों में दोनों गुणों की मिश्रित सत्ता रहती है। डॉ० ह्वी राघवन ने अभिनवगुप्त के मत का समर्थन करते हुए माना है कि बीभत्स की अपेक्षा अद्‌भुत में ही चित्त का विस्तार अधिक होता है; अतः ओज को इसका गुण माना जाना चाहिए।[२] मम्मट ने जो गुणों का विषय-विभाग किया है, उसके परीक्षण से यह स्पष्ट है कि जिस गुण का ऐकान्तिक रूप से जितने रसों में निवास मम्मट ने माना है, उसे उतने रसों का गुण कहा है। जिन रसों में दोनों गुणों का अल्प या अधिक मात्रा में अस्तित्व रहता है, उन रसों के लिए किसी गुण का निर्देश नहीं किया गया है। अद्‌भुत में चित्त का विस्तार होता है, इसे मम्मट अस्वीकार नहीं करते, पर उसमें माधुर्य का भी मिश्रण रहता है। अतः, उसका गुण केवल ओज नहीं माना जा सकता। बीभत्स में एकान्ततः ओज ही रहता है। अतः, अभिनव के अद्‌भुत के स्थान पर बीभत्स को दीप्त रस के रूप में मम्मट के द्वारा स्वीकृति मिलना उचित ही है

प्रसाद :—प्रसाद सभी रसों का गुण माना गया है। मम्मट के अनुसार, सूखी लकड़ी में आग की भाँति एवं स्वच्छ वस्त्र में जल की भाँति जो गुण

१. तदेतद्वीररौद्रयोर्निष्प्रतिपक्षं बीभत्से तु माधुर्यलवानुविद्धमिति विशेषः। प्राधान्येन माधुर्यौजसोरेकैकविधानमत्र प्रक्रान्तमतो हास्याद्‌भुतभयानकेषु न किञ्चिद्विहितम्। तेषूभयगुणप्राधान्यात्। —गोविन्द ठक्कुर, काव्यप्रदीप पृ० २८०

२. द्रष्टव्य—डॉ० ह्वी० राघवन, Bhoja's Sringara Prakasa, Vol I पृ० ३५७

तुरत ही रस से चित्त को व्याप्त कर देता है, उसे प्रसाद गुण कहा जाता है।[१] यह काव्य का सर्वरसव्यापी गुण है। इसलिए इसमें माधुर्य और ओज; दोनों गुणों का स्वभाव समाहित है। ओज गुण में भी सहृदय-चित्त को क्षिप्र वेग से रसाभिभूत करने के लिए प्रसाद गुण का रहना आवश्यक है। इसी प्रकार माधुर्य गुण में भी प्रसाद की सत्ता अपरिहार्य है। फलतः, प्रसाद गुण में ओज-जनित चित्त की ज्वलनशीलता एवं माधुर्य-जनित आर्द्रता; दोनो ही दशाएँ रहती हैं। इन दोनों चित्त-स्थितियों की व्यञ्जना के लिए ही मम्मट ने प्रसाद गुण-लक्षण में रस से चित्त को व्याप्त करने के दो दृष्टान्त दिये हैं। प्रसाद गुण में काव्य का रस सहृदय के हृदय में उसी तरह झट से व्याप्त हो जाता है, जैसे सूखी लकड़ी में आग तुरत चारो तरफ फैल जाती है। यह दृष्टान्त वीर आदि ओज गुण-प्रधान रसों की अनुभूति के समय चित्त की प्रज्वलित हो उठने वाली दशा की व्यञ्जना करता है। दूसरा दृष्टान्त स्वच्छ वस्त्र में जल के व्याप्त हो जाने का है, जिससे शृङ्गार करुण आदि रसों से अभिभूत होकर हृदय के आर्द्र हो जाने का भाव व्यञ्जित होता है। सभी रस इसके आधार हैं। यह सभी रचनाओं में व्यङ्ग्य रूप में रहता है।[२] मम्मट ने शुष्क काष्ठ में अग्नि की व्यापकता की कल्पना एवं स्वच्छ जल की व्यापकता की कल्पना अभिनव गुप्त से ली है। आनन्दवर्धन के प्रसाद-लक्षण में प्रयुक्त समर्पकत्व की व्याख्या करते हुए 'लोचन' में अभिनव ने प्रसाद में रस की व्यापकता को 'शुष्ककाष्ठाग्निदृष्टान्त' और 'अकलुषोदकदृष्टान्त' से स्पष्ट किया है।[३] मम्मट ने आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की प्रसाद-धारणा को ही स्वीकार किया है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन की तरह मम्मट ने भी चित्त-वृत्तियों के आधार पर गुणों का विभाग किया है। सभी रसों की अनुभूति-

---

१. शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्रविहितस्थितिः ॥—मम्मट, काव्यप्र० ८, ७०-७१

२. ओजसि शुष्केन्धनाग्निवन्माधुर्ये स्वच्छशर्करावस्त्रादिजलवद्यो गुणोऽन्यद्व्याप्यं चित्तं झटित्येव रसेन व्याप्नोति स प्रसादः। करणस्यापि स्वातन्त्र्यविवक्षया य इति निर्देशः। सर्वेषु रसेष्वाधेयतया सर्वासु रचनासु व्यङ्ग्यतया स्थित इति तन्त्रेणाह—सर्वत्रविहितस्थितिरिति।
—गोविन्द ठक्कुर, काव्यप्रदीप ८, पृ० २८०

३. द्रष्टव्य—अभिनव ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ८२

दशा में चित्त की तीन प्रकार की अवस्थाओं की कल्पना की गयी है। शृङ्गार, करुण और शान्त रसों के आस्वादन में चित्त आर्द्र होता है; वीर, रौद्र और बीभत्स रसों की चर्वणा में चित्त का विस्तार होता है तथा हास्य, अद्भुत एवं भयानक रसों की अनुभूति में चित्त का विकास होता है। प्रसाद गुण इन तीनों दशाओं में प्रकर्ष लाता है। वामन झलकीकर ने हास्य अद्भुत एवं भयानक रसों में विकास को स्पष्ट करने के लिए कहा है कि हास्य में वदन का विकास, अद्भुत में नेत्र का विकास और भयानक में तेजी से भागने में गति का विकास होता है। वह विकास विभाव की विचित्रता के कारण कहीं चित्त की द्रुति से तथा कहीं उसके विस्तार से युक्त होता है।[1] सामाजिक की चित्तवृत्ति के विकास की व्याख्या करने के लिए झलकीकर ने जो उदाहरण दिया है वह उपयुक्त नहीं। हास्य में सामाजिक के मुख का विकास हो सकता है, अद्भुत रस में उसके नेत्र भी विस्फारित हो सकते हैं; पर भयानक में उसमें पलायन की गति-तीव्रता भी आ जाती है—यह असङ्गत कल्पना है। वस्तुतः, उक्त रसों के आस्वाद से सहृदय का चित्त विकसित होता है। शारीरिक चेष्टाओं का विकास तो चित्त-वृत्ति की बाह्य छाया है। झलकीकर ने भयानक रस में आश्रय के पलायन-प्रयास को ध्यान में रखकर उसे सामाजिक की चित्तवृत्ति की विकास-दशा मान लिया है। मम्मट ने मनोभाव के अनुरूप गुणों का विभाजन कर उपचार से उनका शब्दगत एवं अर्थगत माना जाना स्वीकार किया है।[2] आनन्दवर्धन ने भी गुण का वर्णगतत्व होना लाक्षणिक प्रयोगमात्र माना था। निष्कर्षतः; मम्मट ने आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की गुण-धारणा को ही अपनाया है। वे केवल गुण के विषय-विभाग में उन आचार्यों के सिद्धान्त से असहमत हैं।

---

१. यतः सामाजिकानां नवरसजन्यास्तिस्रोऽवस्थाः। द्रुतिर्विस्तारो विकासश्चेति। तत्र शृङ्गारकरुणशान्तेभ्यो द्रुतिश्चित्तस्य वीररौद्रबीभत्सेभ्यो विस्तारस्तस्य हास्याद्भुतभयानकेभ्यो विकास इति। विकासश्च हास्ये वदनस्य अद्भुते नयनस्य भयानके द्रुतापसरणरूपो गमनस्य। स च क्वचिद्द्रुत्या क्वचिद्विस्तारेण च युक्तः विभाववैचित्र्यात्। प्रसादस्तु सर्वेषामाधिक्यकारीत्यवस्थात्रयरूपकार्यवैचित्र्यनियामकतया कारणत्रयमेव कल्प्यते कारणवैचित्र्येण त्रयाणामेव स्फुटमुपलम्भात्। —काव्यप्र०, वामन झलकीकर की टीका, पृ० ४७४

२. गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।—मम्मट, काव्यप्रकाश ८, ७१

मम्मट ने रसाश्रित गुणों के तीन प्रकार मानकर पूर्वाचार्यों के दस शब्दार्थाश्रित गुण के सिद्धान्त का खण्डन किया है। उनका कहना है कि माधुर्य, ओज और प्रसाद; ये तीन ही गुण हैं, दस नहीं। भरत, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने जिन दस गुणों को स्वीकार किया, उन दस गुणों के प्रपञ्च को मम्मट अनावश्यक मानते हैं। उनके अनुसार प्राचीन आचार्यों के दस गुणों में से कुछ गुणों का अन्तर्भाव माधुर्यादि तीन गुणों में ही हो जाता है, कुछ गुण अलङ्कार में अन्तर्भूत हो जाते हैं और कुछ का अन्तर्भावन ध्वनि में हो जाता है। उनके कुछ गुण दोषाभाव-मात्र हैं; अतः उन्हें भावात्मक गुण की कोटि में नहीं रखा जा सकता। उन दस गुणों में कुछ ऐसे भी हैं, जो स्थिति-विशेष में दोष बन जाते हैं। ऐसे अनित्य गुणों को भी गुण मानना समीचीन नहीं। कुछ गुणों का पर्यवसान वैचित्र्य-मात्र में होता है। अतः, उन्हें गुण मानना युक्तिसङ्गत नहीं। इन युक्तियों से प्राचीन आचार्यों की गुण-धारणा का खण्डन कर मम्मट ने रसाश्रित माधुर्यादि तीन गुणों की स्थापना की है।[१] प्राचीनों के गुणों को अनावश्यक सिद्ध करने के लिए जो युक्तियाँ दी गयी हैं, उनपर हम यहाँ विचार करेंगे :—

मम्मट ने वामन के मसृणत्व-रूप शब्दश्लेष, जिसके रहने पर बहुत-से पद एक पद-से लगने लगते हैं; आरोह-अवरोह का क्रम-रूप शब्द-समाधि गुण; विकटाक्षरबन्ध-उदारता शब्दगुण एवं शैथिल्यात्मा प्रसाद शब्दगुण, जो ओज के साथ रहकर ही गुण बनता है—इन चारों गुणों का अन्तर्भाव ओज गुण में माना है।[२] प्रश्न यह उठता है कि मम्मट का ओज गुण रसाश्रित है; पर वामन के उक्त चारो गुण शब्दगत हैं। इन शब्द-गुणों का रस-निष्ठ ओज गुण में अन्तर्भाव कैसे सम्भव होगा ? गोविन्द ठक्कुर ने अपने काव्यप्रदीप में इस शङ्का का समाधान प्रस्तुत किया है। यह ठीक है कि शब्दगुणों का

१. केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥—मम्मट, काव्यप्रकाश, ८, ७
एषु ...माधुर्यादिषु। इदं चोपलक्षणम्। अलङ्कारध्वन्योरप्यन्तर्भावस्य दर्शयिष्य-माणत्वात्। उक्तानन्तर्भावादिहेतुत्वोपादानमप्युपलक्षणम्। वैचित्र्यमात्रपर्यवसान-स्यापि दर्शयिष्यमाणत्वात्।—गोविन्द ठक्कुर, काव्यप्रदीप ८, ७, पृ० २८०

२. बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासनात्मा यः श्लेषः यश्चारोहावरोहक्रमरूपः समाधिः या च विकटत्वलक्षणा उदारता यश्चौजोमिश्रितशैथिल्यात्मा प्रसादः तेषामोजस्यन्तर्भावः। —मम्मट काव्यप्रकाश ८, पृ० १९३

रसाश्रित गुण में अन्तर्भाव युक्तिसङ्गत नहीं; पर मम्मट के द्वारा अपने ओज गुण में वामन के उक्त शब्दगुणों को अन्तर्भुक्त मानने में कोई यौक्तिक अनुपपत्ति नहीं। मम्मट ने गुण को रसाश्रित मानने पर भी उनको व्यञ्जित करने की शक्ति शब्द, अर्थ एवं सङ्घटना में मानी है। रस के वे धर्म समुचित वर्णों से व्यक्त होते हैं। मम्मट के अनुसार दीर्घ-समास विकट सङ्घटना से ओज गुण की व्यञ्जना होती है; अतः ओज-व्यञ्जक गाढबन्ध में वामन के उक्त शब्दगत गुणों का अन्तर्भाव हो जाता है।[१] वामन का पृथक्पदत्व माधुर्य मम्मट के माधुर्य गुण में ही अन्तर्भूत है। मम्मट ने भी अल्पसमास घटना को माधुर्य-व्यञ्जक माना है।[२] वामन का शब्दगत अर्थव्यक्ति गुण अर्थ का झट से बोध करा देने वाला गुण है। यह मम्मट के प्रसाद गुण में अन्तर्भूत कर लिया गया है। मम्मट ने सुनते ही अर्थ-बोध करा देने वाले पद को प्रसाद-व्यञ्जक माना है।[३] वामन के शब्दगत अर्थव्यक्ति गुण की इससे भिन्न सत्ता नहीं। वामन का शब्दगत समता गुण उपक्रान्त मार्ग का आसमाप्ति निर्वाह है। यह सार्वत्रिक गुण नहीं। भाव-परिवर्तन के अनुरूप शैली का परिवर्तन ही गुण है। जहाँ भाव का परिवर्तन होने पर भी रीति में परिवर्तन न हो, वहाँ शैलीगत दोष ही माना जायगा। अतः, समता कहीं गुण है और कहीं दोष; इसलिए गुण में उसकी गणना उचित नहीं। वामन का शब्दसौकुमार्य शब्दगत अपारुष्य है। दण्डी ने भी इसे 'अनिष्ठुराक्षरत्व' कहा है। यह अपारुष्य या अनिष्ठुराक्षरत्व भावात्मक गुण नहीं; कष्टत्व दोष का अभाव-मात्र है। शब्दकान्ति को वामन ने बन्ध की उज्ज्वलता कहा है। बन्ध में उज्ज्वलता अग्राम्य पदों की योजना से आती है। अतः, शब्दगत कान्ति गुण ग्राम्यत्व दोष का अभाव है। सौकुमार्य और कान्ति शब्दगुणों को, जो दोषाभावात्मक हैं, भावात्मक गुण मानना समीचीन नहीं। वामन के दस शब्द-गुणों की सत्ता का

१. यद्यपि दीप्तिजनकत्वरूपे रसनिष्ठओजसि नैषामन्तर्भावसम्भवस्तथापि तत्स्वीकारेण स्वीक्रियते। तद्व्यञ्जके गाढबन्धलक्षणे तदन्तर्भाव इत्यर्थः।
— गोविन्द ठक्कुर, काव्यप्रदीप, पृ० २८१

२. मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शाः अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा॥ —मम्मट, काव्यप्रकाश ८, ७४

३. श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः॥—वही, ८, ७६

इस प्रकार खण्डन कर मम्मट ने उनके दस अर्थ-गुणों की सत्ता के परिहार के लिए युक्तियाँ दी हैं। वामन ने अर्थगत ओज को प्रौढि कहकर अर्थ-प्रौढि के पाँच भेदों का उल्लेख किया है— (१) पदार्थे-वाक्यरचना, (२) वाक्यार्थे पदाभिधा, (३) व्यास (४) समास और (५) साभिप्रायत्व। मम्मट इनमें से प्रथम चार को उक्तिवैचित्र्य-मात्र मानते हैं। पाँचवाँ, साभिप्रायत्व रूप प्रौढि अपुष्टार्थत्व दोष का अभाव-रूप है। इस प्रकार अर्थ-प्रौढि के चार भेद उक्तिवैचित्र्य-मात्र होने के कारण गुण नहीं माने जा सकते और पाँचवाँ भेद दोषाभावात्मक होने के कारण गुण-रूप में गृहीत नहीं हो सकता। वामन का अर्थवैमल्य-रूप अर्थगत प्रसाद अधिकपदत्व दोष का अभाव है। उनका उक्ति-वैचित्र्य रूप अर्थ-माधुर्य 'अनवीकृतत्व' दोष का राहित्य है। अर्थगत सौकुमार्य, जिसमें परुष अर्थ के लिए भी अपरुष शब्द का व्यवहार होता है, अमङ्गलरूप अश्लीलत्व दोष का अभाव है। उदारता अर्थ-गुण ग्राम्यत्व दोष का अभाव है। अर्थगत अर्थव्यक्ति गुण, जिसे वामन ने वस्तु-स्वभाव की स्फुटता कहा है, स्वभावोक्ति अलङ्कार में अन्तर्भूत हो जाता है। वामन का अर्थगत कान्ति गुण 'दीप्तरसत्व' माना गया है। वह रसादि ध्वनि में, रसवदादि अलङ्कार में अथवा गुणीभूत व्यङ्ग्य में अन्तर्भूत हो सकता है। अर्थश्लेष को 'क्रम-कौटिल्या-नुल्वणत्व' कहा गया है। गोविन्द ठक्कुर ने इसका अर्थ 'क्रमहीनता की स्फुटता में युक्तिपूर्वक सम्बन्ध दिखाना' किया है।[1] यह श्लेष उक्तिवैचित्र्य-मात्र है, गुण नहीं। अर्थ में वैषम्य का अभाव समता गुण माना गया है। वह क्रम का अभेद है; अतः, क्रमभेद या क्रमहीन दोष का अभाव-मात्र है। समाधि गुण को वामन ने 'अर्थ-दृष्टि' या अर्थ का दर्शन कहा है। इसे गुण नहीं माना जा सकता। अर्थ काव्य का शरीर होता है, गुण नहीं। स्वतःदृष्ट या अन्य-छाया-सिद्ध अर्थ का यदि दर्शन न हो तो काव्य-शरीर ही निष्पन्न नहीं हो सकता। काव्य के शरीर का निष्पादक तत्त्व गुण नहीं कहा जाता। काव्य में असाधारण शोभा का आधान करने वाला धर्म ही गुण माना जाता है। काव्य-शरीर-भूत अर्थ-दर्शन को काव्य का गुण मानना असमीचीन है। अतः, वामन के दस अर्थगुणों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जानी चाहिए।[2]

१. ···क्रमकौटिल्यमतिक्रमस्तस्यानुल्वणत्वमतिस्फुटता तत्रोपपत्तियुक्तिस्तया योग इति। —गोविन्द ठक्कुर काव्यप्रदीप पृ० २८३

२. मम्मट, काव्य प्र० ८, पृ० १९३-९६

स्पष्टतः, मम्मट ने वामन के ही शब्दगत एवं अर्थगत गुणों की परिभाषाओं को दृष्टि में रखते हुए उनके गुणत्व का खण्डन किया है। इन्हीं युक्तियों से भरत और दण्डी के गुणों के स्वरूप का भी अन्तर्भाव आदि दिखाकर उन गुणों को अमान्य बताया जा सकता था; पर मम्मट ने ऐसा नहीं किया है। भरत आदि के अधिकांश गुण जो वामन के उक्त शब्दार्थगुणों के समान स्वरूप वाले हैं, मम्मट की निर्दिष्ट युक्तियों से ही खण्डित माने जा सकते हैं; किन्तु भरत एवं दण्डी के कुछ गुण, जो भिन्न स्वभाव के हैं, उनका खण्डन काव्यप्रकाश में नहीं हो पाया है। अतः, मम्मट के तीन गुणों के अतिरिक्त भरत के कुछ अन्य गणों को भी स्वीकार करना ही पड़ेगा। उदाहरणार्थ, अन्य धर्म के अन्यत्र आरोप-रूप समाधि गुण का परिहार मम्मट की उक्त युक्तियों से नहीं होता। उसका रूपक अलङ्कार में अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता। दण्डी के समाधि गुण के विवेचन में हम रूपक से उसका भेद देख चुके हैं। डा० ह्वी राघवन ने यह मान्यता प्रकट की है कि प्राचीन आचार्यों के समता गुण को काव्य में एकरसता दोष मानकर मम्मट ने उसके गुणत्व का खण्डन किया है। इस समीक्षा में मम्मट ने प्राचीनों के प्रति न्याय नहीं किया है। प्राचीन आचार्यों ने भी निश्चित सीमा में ही समता को गुण माना है। सभी गुण और दोष वैशेषिक हैं।[१]

प्राचीन आचार्यों के दस गुणों को काव्यगुण के रूप में स्वीकृति मिलनी चाहिए या नहीं, इसपर गुण की संख्या के निर्धारण के क्रम में विस्तार से विचार किया जायगा।

विश्वनाथ

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में आनन्दवर्धन और मम्मट की तरह गुण को काव्य के अङ्गी रस का धर्म स्वीकार किया है।[२] इन्होंने भी माधुर्य, ओज और प्रसाद; इन तीन गुणों को स्वीकार किया है,[३] पर उन गुणों के स्वरूप-निर्धारण

१. द्रष्टव्य—डॉ० ह्वी० राघवन, Bhoja's Sringara Prakasa Vol I पृ० २५६

२. रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्म्माः शौर्यादयो यथा।
गुणाः—॥—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण ८ पृ० ५३४

३. माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा॥—वही, पृ० ५३५

में विचार-सरणि की गतानुगतिकता नहीं है। विश्वनाथ ने मम्मट की गुण-धारणा के मूल पर ही प्रहार किया है। मम्मट ने माधुर्य आदि गुणों को चित्त की द्रुति आदि का हेतु माना था। विश्वनाथ इस मान्यता से असहमत हैं। उन्होंने उक्त मान्यता के खण्डन के लिए सबल तर्क दिये हैं। उनकी मान्यता है कि चित्त की द्रुति आस्वादस्वरूप आह्लाद से भिन्न नहीं। माधुर्य को मम्मट आदि ने भी आह्लादस्वरूप ही स्वीकार किया है। फिर आह्लाद रूप माधुर्य अपने स्वरूप से अभिन्न द्रुति का कारण कैसे हो सकता है? कारण-कार्य-सम्बन्ध में दो वस्तुओं की पृथक् सत्ता होनी चाहिए, अर्थात् कार्य से कारण को भिन्न होना चाहिए। यह अनुभव-सिद्ध है कि चित्त का द्रवीभाव रसादि रूप आह्लाद से अभिन्न है। अतः आह्लाद-रूप माधुर्य को चित्त की द्रुति का कारण नहीं माना जा सकता।[1] डॉ० नरेन्द्रनाथ चौधरी ने मम्मट की गुण-धारणा के विश्लेषण के सन्दर्भ में विश्वनाथ की इस मान्यता की परीक्षा की है और यह निष्कर्ष निकाला है कि विश्वनाथ की मान्यता आनन्दवर्धन की तत्सम्बन्धी मान्यता के अधिक समाप है। आनन्दवर्धन भी माधुर्य आदि को चित्त क द्रुति आदि का कारण नहीं, चित्तवृत्ति का स्वरूप ही मानते थे। इसीलिए उन्होंने शृङ्गार आदि को ही मधुर कहा है। अतः, डॉ० नरेन्द्रनाथ चाधरी ने कहा है कि विश्वनाथ की यह मान्यता ही मम्मट की मान्यता की अपेक्षा अधिक समीचीन जान पड़ती है।[2] विश्वनाथ ने माधुर्य, ओज आदि गुणों को चित्त की वृत्तियाँ मानकर उनके स्वरूप का निर्धारण किया है।

माधुर्य :—विश्वनाथ के अनुसार, चित्त का द्रवीभाव रूप आह्लाद माधुर्य गुण कहा जाता है।[3] यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि चित्त की द्रुति को

---

१. ···"माधुर्यं द्रुतिकारणम्' इति, तन्न, द्रवीभावस्य आस्वादस्वरूपाह्लादाभिन्नत्वेनतत्कार्थत्वाभावात्। —विश्वनाथ, साहित्यदर्पण वृत्ति पृ० ५३५

२. 'माधुर्यं द्रुतिकारण' मिति यदुक्तं मम्मटभट्टेन तत्र विश्वनाथः प्रत्यवतिष्ठते।—द्रवीभावस्य आस्वादस्वरूपाह्लादाभिन्नत्वेन तत्कार्यत्वाभावात्। ····गुणानां चित्तवृत्तिरूपत्वमेव ग्राह्यं, न तु तत्कारणत्वमिति विश्वनाथस्य आशयः प्रतिभाति। एतच्च 'शृङ्गार एव मधुरः' इत्यानन्दवर्धनोक्त्या समीचीनमेव प्रतीयते।
—डॉ० नरेन्द्रनाथ चौधरी, काव्यतत्वसमीक्षा —पृ० २०५-६

३. चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण; ८, ३ पृ० ५३५

आस्वाद-रूप आह्लाद से अभिन्न माना जाय तो वह रस से भी अभिन्न हो जायगा। आस्वाद से रस भिन्न नहीं। और, जब द्रुति ही माधुर्य है तब उसे भी रस-रूप ही होना चाहिए। वह विश्वनाथ के द्वारा रस का धर्म माना गया है। माधुर्य आदि गुण शृङ्गार आदि रस से अभिन्न हो जाने पर रस-धर्म कैसे माने जायेंगे ? विश्वनाथ ने चित्त के द्रवीभाव की जो व्याख्या की है, उससे इस प्रश्न का समाधान हो जाता है। उनके अनुसार; सहृदय के चित्त में होने वाली आर्द्रता ही चित्त की द्रुति कही जाती है।[१] यह ईर्ष्या, क्रोध आदि से जनित दीप्तत्व एवं विस्मय, हास आदि से उत्पन्न चित्त की स्वाभाविक विषयान्तर-आसक्ति का त्याग होने पर रति, शोक और निर्वेद के स्वरूप से युक्त आनन्दात्मक अनुभूति से आविर्भूत होती है। यह आर्द्रता ही माधुर्य है।[१] यह शृङ्गार आदि रस से ही जनित है। अतः, यह रस का धर्म है।

रस में माधुर्य गुण की स्थिति के सम्बन्ध में विश्वनाथ की धारणा मम्मट की धारणा से अभिन्न है। मम्मट की तरह विश्वनाथ ने भी यह माना है कि सम्भोग शृङ्गार, करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार एवं शान्त रसों में माधुर्य का उत्तरोत्तर आधिक्य पाया जाता है।[२]

विश्वनाथ आनन्दवर्धन तथा मम्मट की इस मान्यता से सहमत हैं कि रस-धर्म होने पर भी गुण समुचित वर्णों से व्यञ्जित होते हैं। उचित सङ्घटना भी गुण की व्यञ्जना के लिए अपेक्षित है। माधुर्यव्यञ्जक वर्णों एवं सङ्घटना के निर्धारण में विश्वनाथ ने मम्मट की ही धारणा को स्वीकार किया है। उनके अनुसार ऊपर भाग में ङ, ञ, ण, न या म से युक्त ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर शेष कवर्ग से लेकर पवर्ग तक के सभी वर्ण, लघु प्रयत्न से उच्चार्य वर्ण, अर्थात् वर्गान्तर से असंयुक्त वर्ण 'र' और 'ण' माधुर्य के व्यञ्जक होते हैं। असमास, अल्प-समास तथा श्रव्य सङ्घटना भी उसकी व्यञ्जना में सहायक होती है।[३]

---

१. द्रवीभावश्च स्वाभाविकानाविष्टत्वात्मक-काठिन्य-मन्यु-क्रोधादिकृत-दीप्तत्व-विस्मय-हास्याद्युपहित-विक्षेपपरित्यागेन रत्याद्याकारानुविद्धानन्दोद्बोधेन सहृदयचित्तार्द्रप्रायत्वम्।—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण वृत्ति पृ० ५३५

२. सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्।—वही, पृ० ५३६

३. मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्ट-ठ-ड-ढान् विना।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा॥—वही पृ० ५३६

ओज—चित्त का विस्तार-रूप दीप्तत्व ओज गुण है।[१] मम्मट ने ओज को चित्त के दीप्तत्व का हेतु माना था; पर विश्वनाथ उसे दीप्तत्व-स्वरूप ही मानते हैं। इस गुण की स्थिति के विषय में विश्वनाथ की धारणा मम्मट की धारणा से अभिन्न है। मम्मट की तरह उन्होंने वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में इसका क्रमशः आधिक्य माना है।[२] ओज-व्यञ्जक वर्ण के निर्धारण में विश्वनाथ मम्मट से सहमत हैं। उनकी मान्यता है कि वर्ण के वर्ग के प्रथम एवं तृतीय वर्णों से युक्त द्वितीय और चतुर्थ वर्ण अर्थात् अल्पप्राण वर्ण से संयुक्त महाप्राण वर्ण; ऊपर और नीचे रेफ से युक्त वर्ण; तथा संयुक्त या असंयुक्त ट, ठ, ड, ढ वर्ण तथा श और ष वर्ण ओज गुण के व्यञ्जक हैं। दीर्घसमास एवं विकटार्थबोधिनी सङ्घटना भी ओज गुण की व्यञ्जना करती है।[३]

प्रसाद—जो सूखी लकड़ी में आग की तरह क्षिप्र वेग से चित्त में व्याप्त हो जाय वह प्रसाद गुण है। यह सभी रसों एवं सभी प्रकार की पद-रचना का गुण है।[४] सुनते ही अर्थ-बोध करा देने वाले शब्द इसके व्यञ्जक हैं।[५] आनन्दवर्धन और मम्मट ने भी प्रसाद को सभी रसों का गुण माना है। प्रसाद-व्यञ्जक शब्द का निर्धारण मम्मट की धारणा के अनुरूप ही हुआ है।

इन गुणों के रस-धर्म होने पर भी लक्षणा से इन्हें शब्द-धर्म भी माना जाता है।[६] इन तीन रसाश्रित गुणों का विवेचन कर विश्वनाथ ने प्राचीन आचार्यों के दस शब्दार्थ-गुणों की निष्प्रयोजनता दिखायी है। मम्मट की तरह विश्वनाथ

---

१. ओजश्चित्तस्य विस्तार-रूपं दीप्तत्वमुच्यते।

—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ८ पृ० ५३७

२. वीर-बीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु।—वही पृ० ५३७

३. वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ।
उपर्यधो द्वयोर्वा स-रेफः ट-ठ-ड-ढैः सह।
शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गताः।
तथा समासबहुला घटनौद्धत्यशालिनी॥—वही, पृ० ५३८

४. चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च॥—वही, पृ० ५३८

५. शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थ-बोधकाः श्रुतिमात्रतः।—वही, पृ० ५३९

६. एषां शब्दगुणत्वञ्च गुणवृत्त्योच्यते बुधैः।—वही, पृ० ५३९

ने प्राचीन आचार्यों के श्लेष, समाधि, औदार्य एवं प्रसाद शब्द-गुणों का अन्तर्भाव ओज गुण में माना है।[१] वामन के शब्द-माधुर्य का माधुर्य में अन्तर्भाव भी मम्मट की धारणा के अनुरूप है।[२] अर्थव्यक्ति को प्रसाद में अन्तर्भुक्त माना गया है।[३] कान्ति ग्राम्यत्व का और सौकुमार्य दुःश्रवत्व का अभाव है।[४] मार्ग का अभेद समता गुण कहीं-कहीं दोष हो जाता है। जहाँ वह गुण रहता है वहाँ भी उसकी पृथक् सत्ता नहीं रहती। मृदु बन्ध की समता का माधुर्य में, स्फुट बन्ध की समता का ओज आदि में अन्तर्भाव हो जाता है।[५] अर्थगत ओज, प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य और उदारता गुणों का अभाव दोष है।[६] अतः ये गुण दोषाभाव रूप-मात्र हैं। अर्थव्यक्ति गुण स्वभावोक्ति अलङ्कार में तथा कान्ति गुण रसध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य में अन्तर्भूत हैं।[७] श्लेष वैचित्र्य-मात्र है तथा समता दोषाभाव है।[८] समाधि काव्य के शरीर का निवर्तक है, गुण नहीं।[९] अतः, प्राचीन आचार्यों के इन शब्दगत एवं अर्थगत गुण की स्वतन्त्र सत्ता नहीं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि विश्वनाथ पर मम्मट की गुण-धारणा का प्रभूत प्रभाव है। गुणों के विषय-निर्धारण में एवं प्राचीन आचार्यों के गुणों की स्वतन्त्र सत्ता के परिहार में विश्वनाथ ने मम्मट की ही पद्धति का

---

१. श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः।
गुणाश्चिरन्तरैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते ॥—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, पृ० ५४०

२. माधुर्यव्यञ्जकत्वं यदसमासस्य दर्शितम्।
पृथक्पदत्वं माधुर्यं तेनैवाङ्गीकृतं पुनः ॥—वही, पृ० ५४२

३. अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः।—वही, पृ० ५४२

४. ग्राम्यदुःश्रवतात्यागात् कान्तिश्च सुकुमारता।—वही, पृ० ५४३

५. क्वचिद्दोषस्तु समता मार्गाभेदस्वरूपिणी।
अन्यथोक्तगुणेष्वस्या अन्तःपातो यथायथम् ॥—वही, पृ० ५४३

६. ओजः प्रसादो माधुर्यं सौकुमार्यमुदारता।
तदभावस्य दोषत्वात् स्वीकृता अर्थगा गुणाः ॥—वही, पृ० ५४५

७. अर्थव्यक्तिः स्वभावोक्त्यलङ्कारेण तथा पुनः।
रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याभ्यां कान्ति नामकः ॥—वही पृ० ५४६

८. श्लेषो विचित्रतामात्रमदोषः समता परम्।—वही, पृ० ५४६

९. न गुणत्वं समाधेश्च—। .... किन्तु काव्यशरीरमात्रनिवर्तकत्वम्।
—वही, पृ० ५४७-४८

अनुगमन किया है। मम्मट की तरह गुण को चित्तवृत्ति का हेतु न मानकर चित्तवृत्ति-स्वरूप मानने में ही विश्वनाथ के चिन्तन की मौलिकता है।

पण्डितराज जगन्नाथ

जगन्नाथ संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तिम सशक्त मनीषी थे। उन्होंने नव्य-न्याय की प्रौढ तार्किक पद्धति पर काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की स्थापना की है। पूर्व-आचार्यों की मान्यताओं की समीक्षा में इनकी दृष्टि की सूक्ष्मता स्पष्ट है। जहाँ कहीं, किसी पूर्ववर्त्ती आचार्य के किसी सिद्धान्त को पण्डितराज ने स्वीकार किया है, वहाँ भी अपनी प्रखर तार्किक प्रतिभा से प्रतिपादन में नूतनता ला दी है। रसगङ्गाधर में गुण-विवेचन में भी ऐसी ही नवीनता पायी जाती है। माधुर्य आदि तीन गुण मानने वाले रसवादी आचार्यों के बीच प्रचलित गुण-धारणाओं का उल्लेख कर जगन्नाथ ने उनके मतवैभिन्न्य का परीक्षण किया है आर अपने सिद्धान्त की स्थापना की है। उन्होंने शब्दार्थगत दस गुणों के साथ-साथ माधुर्यादि तीन गुणों का विवेचन किया है; किन्तु गुण को रस-धर्म मानने वाले सिद्धान्त की वेदान्त-दर्शन के सिद्धान्त के आलोक में समीक्षा की है। प्राचीन आचार्यों के दस गुणों का उल्लेख कर पण्डितराज ने उनकी कुछ नवीन परिभाषा की कल्पना की है। नीचे हम पण्डितराज जगन्नाथ की गुण-सम्बन्धी मान्यता का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

जगन्नाथ ने भरत, दण्डी, वामन आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त एवं मम्मट के सर्वमान्य गुण-सिद्धान्त को ही स्वीकार किया है। उस सिद्धान्त में उन्होंने इतस्ततः कुछ परिष्कार भी किया है। माधुर्य आदि तीन गुणों के विषय-निर्धारण से सम्बद्ध तीन मतों का उल्लेख रसगङ्गाधर में पाया जाता है— (१) कुछ आचार्यों की मान्यता है कि सम्भोग शृङ्गार में जितना माधुर्य रहता है, उससे अधिक करुण रस में रहता है; इन दोनों से अधिक वह विप्रलम्भ शृङ्गार में रहता है तथा शान्त रस में वह सर्वाधिक मात्रा में रहता है। इन रसों में माधुर्य के उत्तरोत्तर उत्कर्ष का कारण उसका अधिकाधिक चित्त का द्रुतिजनक होना है।[१] माधुर्य सम्भोग शृङ्गार में चित्त में जितनी

---

१. तत्र शृङ्गारे संयोगाख्ये यन्माधुर्यं ततोऽतिशयित करुणे ताभ्यां विप्रलम्भे तेभ्योऽपि शान्ते, उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्तद्रुतेर्जननादिति केचित्।

—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, १ पृ० ८८

आर्द्रता उत्पन्न करता है उससे अधिक करुण में; करुण रस से अधिक विप्रलम्भ शृङ्गार रस में तथा उससे भी अधिक शान्त रस में चित्त की आर्द्रता लाता है। अतः, इन रसों में उसका उत्तरोत्तर उत्कर्ष माना जाता है। यहाँ जगन्नाथ ने मम्मट की मान्यता की ओर निर्देश किया है। (२) कुछ लोग यह मानते हैं कि संयोग शृङ्गार की अपेक्षा करुण एवं शान्त रसों में और उन दोनों की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार में उसकी अतिशयता रहती है। (३) दूसरे आचार्यों ने यह माना है कि संयोग शृङ्गार की अपेक्षा करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार एवं शान्त रसों में माधुर्य का आधिक्य अवश्य रहता है; पर करुण, विप्रलम्भ और शान्त रसों में माधुर्य का न्यूनाधिक्य नहीं रहता।[1] इनमें से प्रथम और तृतीय सिद्धान्त मम्मट की मान्यता के ही आधार पर स्थित हैं। मम्मट ने माधुर्य को शृङ्गार अर्थात् सम्भोग शृङ्गार का गुण कहकर करुण, विप्रलम्भ एवं शान्त में उसका अतिशय स्वीकार किया था।[2] ओज गुण की स्थिति के सम्बन्ध में मम्मट ने कहा था कि बीभत्स और रौद्र रसों में उसका क्रमशः आधिक्य होता है।[3] मम्मट के इन दोनों सूत्रों को ध्यान में रखकर जगन्नाथ ने उक्त दो मतों का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार माधुर्य गुण के विषय-निर्धारण में मम्मट का जो सूत्र है उसकी निरपेक्ष भाव से व्याख्या करने पर तृतीय सिद्धान्त की स्थापना होती है। उस सूत्र में संयोग शृङ्गार की अपेक्षा करुण, विप्रलम्भ एवं शान्त—इन तीन रसों में माधुर्य के आधिक्य का भाव ही प्रकट है, इन तीनों में माधुर्य के तारतम्य का निर्धारण नहीं हुआ है। प्रथम सिद्धान्त की स्थापना उस सूत्र की ओज गुण के विषय-निर्धारण-परक सूत्र के साथ सापेक्ष व्याख्या के फलस्वरूप हुई है। ओज का जो बीभत्स एवं रौद्र रसों में क्रमशः आधिक्य माना गया है, उसी से 'क्रमशः' का भाव माधुर्य के विषय-निर्धारण के प्रसङ्ग में भी ले लिया गया है। इस प्रकार उसका अर्थ यह किया गया है कि करुण, विप्रलम्भ एवं शान्त में

---

१. संयोगशृङ्गारात्करुणशान्तयोस्ताभ्यामपि विप्रलम्भ इत्यपरे। संयोगशृङ्गारात् करुणविप्रलम्भशान्तेष्वतिशयितमेव न पुनस्तत्रापि तारतम्यमित्यन्ये।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, १, पृ० ८८

२. करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।—मम्मट, काव्यप्रकाश ८ पृ० १९२

३. बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च। - वही पृ० १९२

माधुर्य की क्रमशः अतिशयता रहती है।[1] द्वितीय मान्यता के सम्बन्ध में पण्डितराज का कथन है कि करुण और शान्त रसों की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार में अधिक माधुर्य होने का यदि सहृदय का हृदय साक्षी है तो वह हृदय का साक्ष्य ही उसमें माधुर्य के आधिक्य का प्रमाण है।[2] विप्रलम्भ शृङ्गार में सर्वाधिक माधुर्य मानना ही जगन्नाथ का इष्ट प्रतीत होता है। वस्तुतः, शान्त रस की अपेक्षा वियोग शृङ्गार में ही चित्त अधिक द्रवित होता है। अतः, विप्रलम्भ में ही माधुर्य की सर्वातिशयता मानी जानी चाहिए। आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त ने शान्त रस का गुण केवल माधुर्य को नहीं माना था। उनके अनुसार शान्त के विभाव के अनुसार उसमें माधुर्य तथा ओज दोनों अल्पाधिक मात्रा में रहते हैं। मम्मट ने शान्त रस में सर्वाधिक माधुर्य मान लिया था। जगन्नाथ ने करुण और शान्त रसों की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार में माधुर्य का आधिक्य मानने वाले सिद्धान्त का समर्थन कर उचित ही किया है।

वीर, बीभत्स एवं रौद्र रसों में उत्तरोत्तर ओज गुण का उत्कर्ष रहता है, चूंकि इन रसों में क्रमशः चित्त की दीप्ति का आधिक्य होता है। हास्य, अद्भुत एवं भयानक रसों में कुछ लोग ओज और माधुर्य; दोनों गुणों का योग मानते हैं। कुछ आचार्य इन तीनों रसों में केवल प्रसाद गुण की सत्ता मानते हैं।[3] इस प्रकार प्रथम मत के अनुसार शृङ्गार, करुण और शान्त में माधुर्य; वीर, बीभत्स और रौद्र में ओज एवं हास्य आदि शेष तीन रसों में ओज-प्रसाद का मिश्रण रहता है। दूसरे मत के अनुसार हास्य आदि तीन गुणों में माधुर्य और ओज; दोनों का अभाव रहता है। प्रसाद चूंकि सभी रसों का व्यापक गुण है, इसलिए इन तीन रसों में केवल वही रहता है। इन तीन गुणों की तीन चित्तवृत्तियाँ हैं। माधुर्य गुण-युक्त शृङ्गारादि रस के आस्वाद

---

१. तच्च प्रथमचरमयोर्मतयोः करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितमिति प्राचां सूत्रमनुकूलम्। तस्योत्तरसूत्रगतस्य क्रमेणेति पदस्यापकर्षानपकर्षाभ्यां व्याख्याद्वयस्य सम्भवात्। —जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, १ पृ० ८८

२. मध्यस्थे तु मते करुणशान्ताभ्यां विप्रलम्भस्य माधुर्यातिशये यदि सहृदयानामनुभवोऽस्ति साक्षी तदा स प्रमाणम्। —वही, १ पृ० ८८-८९

३. वीरबीभत्सरौद्रेष्वोजसो यथोत्तरमतिशय उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्तदीप्तेर्जननात्। अद्भुतहास्यभयानकानां गुणद्वययोगित्वं केचिदिच्छन्ति। अपरे तु प्रसादमात्रम्। —जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, १, पृ० ८८-८९

से उत्पन्न चित्त की आर्द्रता माधुर्य की चित्तवृत्ति है। ओज गुण-युक्त वीर आदि रसों का अनुभूति से उत्पन्न चित्त की दीप्ति ओज की चित्तवृत्ति है तथा प्रसाद-युक्त हास्य आदि रसों की चर्वणा से जनित चित्त का विकास प्रसाद गुण की चित्तवृत्ति है। इसलिए मम्मट आदि आचार्यों ने यह माना है कि इन गुणों के रस-धर्म होने पर भी रचना और प्रबन्ध आदि के लिए जो मधुर और ओजस्वी आदि विशेषणों का प्रयोग होता है वह लाक्षणिक प्रयोग मात्र है। जैसे आत्मा के शौर्य आदि को उपचार से शरीर का धर्म कह दिया जाता है, उसी प्रकार रस-धर्म को रचना का धर्म कहना उपचार-मात्र है।[1] पण्डितराज ने गुण के रस-धर्मत्व का खण्डन किया है। वे वेदान्त दर्शन के निष्णात पण्डित थे। उनकी रस-सम्बन्धी मान्यता वेदान्त-सिद्धान्त पर अवलम्बित है। अतः, वेदान्तनयानुसार ही जगन्नाथ ने गुण के स्वरूप का निर्धारण करना चाहा है। वे रस को काव्य की आत्मा मानते हैं, जैसा कि मम्मट आदि ने भी माना है। वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार गुण को काव्य की आत्मा रस का धर्म स्वीकार करने में अनुपपत्ति होती है। आत्मा वेदान्त में निर्गुण मानी गयी है। उसमें कोई गुण नहीं रह सकता। रस भी काव्य की आत्मा होने के कारण निर्गुण है। गुण के रसधर्मत्व के विरुद्ध पण्डितराज ने कुछ युक्तियाँ दी हैं। यहाँ उनकी परीक्षा आवश्यक जान पड़ती है। उनका तर्क है कि माधुर्य आदि को जो रस का धर्म कहा गया है, उसमें प्रमाण क्या है? प्रत्यक्ष प्रमाण तो यहाँ हो ही नहीं सकता। माधुर्यादि और रस में धर्म-धर्मी सम्बन्ध के निर्णय के पूर्व यह स्पष्ट कर लेना चाहिए कि वे रस के कैसे धर्म हैं। धर्म दो प्रकार के होते हैं—एक धर्म वह है, जिसके ज्ञान से भिन्न धर्मी का ज्ञान नहीं होता। वह धर्म धर्मी का स्वरूपभूत होता है। जिस धर्म का ज्ञान धर्मी के ज्ञान से अलग होता है, वही धर्म गुण कहा जाता है। माधुर्य आदि में और शृङ्गार आदि रस में पहले प्रकार का सम्बन्ध है। शृङ्गार रस का अनुभव चित्त के द्रवीभाव से अलग नही हुआ करता। उसी प्रकार ओज

---

१. गुणानां चैषां द्रुतिदीप्तिविकासाख्यास्तिस्रश्चित्तवृत्तयः क्रमेण प्रयोज्याः। तत्तद्गुणविशिष्टरसचर्वणाजन्या इति यावत्। एवमेतेषु गुणेषु रसमात्रधर्मेषु मधुरा रचनौजस्वो प्रबन्ध इत्यादयो व्यवहारा आकारोऽस्य शूर इत्यादिव्यवहारवदौपचारिका इति मम्मटभट्टादयः।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, १ पृ० ८९

की अनुभूति चित्त की दीप्ति से पृथक् नहीं होती। अतः, माधुर्य, ओज आदि शृङ्गार वीर आदि रस के स्वरूपभूत ही हैं। शृङ्गारादि के गुण के रूप में उनकी कल्पना समीचीन नहीं। एक उदाहरण से जगन्नाथ ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है। किसी वस्तु के कार्य से उसके गुण को भिन्न होना चाहिए। आग का कार्य है दाह और उसका गुण है उष्णता। उसके दाह-रूप कार्य से उष्ण-स्पर्श-गुण की पृथक अनुभूति होती है; किन्तु रस के कार्य-भूत द्रुति, दीप्ति आदि चित्तवृत्तियों से पृथक माधुर्य आदि का अनुभव नहीं होता। इसलिए माधुर्य आदि की रस के गुण के रूप में कल्पना युक्तिसङ्गत नहीं।[१] इस प्रकार माधुर्य आदि के रसधर्मत्व में प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव दिखा कर जगन्नाथ ने यह युक्ति दी है कि उसमें अनुमान प्रमाण भी नहीं है।

गुण के रसाश्रित होने में अनुमान प्रमाण की सिद्धि के लिए यह युक्ति दी जा सकती है कि शृङ्गार आदि रस चित्त की द्रुति आदि वृत्ति के कारण हैं। अतः, शृङ्गार आदि में चित्तवृत्ति की जो कारणता है, उसके किसी-न-किसी धर्म का अनुमान अनिवार्य है। वही अनुमान-सिद्ध धर्म शृङ्गार आदि रस का गुण माना जाना चाहिए। नैयायिकों का सिद्धान्त है कि किसी भी कार्य के कारण में जो कारणता रहती है, उसका कोई धर्म अवश्य होता है, जो एक कार्य के कारण की कारणता को दूसरे कार्य के कारण की कारणता से अलग करता है। यदि ऐसा नहीं हो तो सभी कार्यों के कारणों में कारणता के रहने से कारणता-सम्बन्ध से सभी कारण परस्पर अभिन्न हो जायें और सभी कार्यों में समान कारण के होने से उनमें भेद करना भी कठिन हो जाय। उदाहरणार्थ, घड़े का कारण और वस्त्र का कारण अलग-अलग हैं, फिर भी दोनों के कारणों में कारणता समान रूप से है। ऐसी स्थिति में यदि घड़े के कारण की कारणता को वस्त्र के कारण की कारणता से पृथक् करने के लिए दोनों कारणों की कारणाता में अलग-अलग अवच्छेदक धर्म की कल्पना न की जाय तो दोनों का भेद सम्भव नहीं होगा और समान कारणता मान लेने पर घट और पट के कारण भी कारणता-सम्बन्ध से परस्पर अभिन्न हो जायंगे। परिणामस्वरूप, समान कारण के कार्य होने से घट और पट में भी भेद करना कठिन हो

---

१. दाहादेः कार्यादनलगतस्योष्णस्पर्शस्य यथा भिन्नमनुभवस्तथा द्रुत्यादिचित्तवृत्तिभ्यो रसकार्येभ्योऽन्येषां रसगतगुणानामननुभवात्।

—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, १ पृ० ८९

जायगा। अतः, एक वस्तु की दूसरी वस्तु से पृथक् सत्ता सिद्ध करने के लिए नैयायिकों ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि प्रत्येक कारणता किसी-न-किसी अवच्छेदक धर्म से युक्त होती है। इस न्याय-सिद्धान्त के अनुरूप चित्त की द्रुति आदि के कारणभूत शृङ्गार आदि की कारणता के अवच्छेदक धर्म के रूप में माधुर्य आदि गुण की कल्पना की जानी चाहिए। इसका उत्तर देते हुए जगन्नाथ ने यह कहा है कि द्रुति आदि चित्तवृत्ति के कारण-भूत शृङ्गार आदि की कारणता में अवच्छेदक धर्म शृङ्गारत्व आदि ही हैं; माधुर्य आदि की उस रूप में कल्पना उचित नहीं। यह प्रश्न किया जा सकता है कि चित्त की द्रुति शृङ्गार, करुण और शान्त; इन तीन रसों में होती है; अर्थात् चित्तद्रुति के तीन कारण हैं। यदि पण्डितराज जगन्नाथ के मतानुसार द्रुति के कारण-भूत शृङ्गार की कारणता का अवच्छेदक धर्म शृङ्गारत्व को, करुण की कारणता का अवच्छेदक करुणत्व को एव शान्त की कारणता का अवच्छेदक शान्तत्व को माना जायगा तो एक ही द्रुति के विभिन्न कारणों की कारणता में विभिन्न अवच्छेदक धर्मों की कल्पना का अनावश्यक गौरव होगा। यदि एक ही माधुर्य को शृङ्गार, करुण और शान्त—तीनों कारणों की कारणता का अवच्छेदक मान लिया जाय, तो कल्पना का लाघव होगा। यही स्थिति दीप्ति आदि चित्तवृत्तियों के प्रसङ्ग में भी होगी। शास्त्र में कल्पना के अनावश्यक गौरव से बचा जाता है। यदि कल्पना के लाघव से उद्देश्य की पूर्ति हो सकती हो तो वही श्रेयस्कर है। अतः, माधुर्य आदि को ही उन-उन रसों की कारणता का अवच्छेदक धर्म क्यों नहीं माना जाय? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए जगन्नाथ ने कहा है कि यदि शृङ्गार, करुण आदि तीनों रसों की कारणता में एक ही माधुर्य को अवच्छेदक धर्म के रूप में स्वीकार किया जाय तो चित्तद्रुति के ये तीनो कारण समान हो जायँगे और समान कारण से उत्पन्न होने के कारण द्रुति चित्तवृत्ति में एकरूपता हो जायगी। यह किसी रसवादी आचार्य को इष्ट नहीं। आनन्दवर्धन से लेकर विश्वनाथ तक सभी आचार्यों ने शृङ्गार, करुण एवं शान्त रसों में चित्तद्रुति का तारतम्य स्वीकार किया है। यदि इन तीनों रसों की कारणता का अवच्छेदक एक ही माधुर्य होगा तो सम्भोग शृङ्गार की अपेक्षा करुण रस में, उसकी अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार में एवं विप्रलम्भ की अपेक्षा भी शान्त रस में द्रुति की अतिशयता कैसे मानी जा सकेगा? अतः, द्रुति के तारतम्य की सिद्धि के लिए शृङ्गार, करुण एवं शान्त रसों की कारणता का अवच्छेदक

धर्म क्रमशः शृङ्गारत्व करुणत्व एवं शान्तत्व को मानना ही युक्तिसङ्गत होगा, माधुर्य को उसका अवच्छेदक धर्म मानने पर अभीष्ट-सिद्धि नहीं होगी। दीप्ति एवं विकास रूप चित्तवृत्तियों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। इसलिए माधुर्य आदि गुणों को रस का धर्म कहना उचित नहीं। वेदान्त दर्शन में आत्मा को निर्गुण माना गया है। अतः, काव्य की आत्मा रस को भी निर्गुण ही माना जाना चाहिए।[1]

अब एक प्रश्न यह रह जाता है कि यदि माधुर्य आदि गुण रस-धर्म नहीं, तो शृङ्गार को मधुर कैसे कहा जाता है? पण्डितराज की मान्यता है कि द्रुति आदि चित्तवृत्तियों की प्रयोजकता के कारण ही शृङ्गार आदि रसों के लिए मधुर आदि का व्यवहार होता है। शृङ्गार आदि रस वस्तुतः माधुर्य आदि के प्रयोजक हैं। कभी-कभी जो वस्तु जिस धर्म का प्रयोजक होती है, उसका व्यवहार उस वस्तु के धर्म के रूप में होने लगता है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए जगन्नाथ ने आयुर्वेद के एक प्रयोग का उदाहरण दिया है। 'वाजिगन्धा' नाम की ओषधि उष्णता का प्रयोजक होती है। उसकी उष्णता की प्रयोजकता के आधार पर वाजिगन्धा को उष्ण कहा जाने लगा है। इसी तरह माधुर्य आदि के प्रयोजक शृङ्गार आदि रस के लिए मधुर आदि व्यवहार होने लगा है।[2] वस्तुतः, रस और माधुर्य आदि में प्रयोजक प्रयोज्य सम्बन्ध है, धर्मी-धर्म या गुणी-गुण सम्बन्ध नहीं। 'वाजिगन्धा उष्णा' की तरह ही 'शृङ्गारो मधुरः' का व्यवहार होता है। शब्द और अर्थ भी द्रुति आदि चित्तवृत्तियों के प्रयोजक हैं।

१. तादृशगुणविशिष्टरसानां द्रुत्यादिकारणत्वात् कारणतावच्छेदकतया गुणानामनुमानमिति चेत्, प्रातिस्विकरूपेणैव रसानां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवात्। शृङ्गारकरुणशान्तानां माधुर्यवत्त्वेन द्रुतिकारणत्वं प्रातिस्विकरूपेण कारणत्वकल्पनापेक्षया लघुभूतमिति तु न वाच्यम्। परेण मधुरतरादिगुणानां प्रातिस्विकरूपेण द्रुततरत्वादिकार्यतारतम्यस्य प्रयोजकतयाभ्युपगमेन माधुर्यत्वेन कारणताया गुरुभूतत्वात्। इत्थं च प्रातिस्विकरूपेणैव कारणत्वे लाघवम्। किं चात्मनो निर्गुणतयाऽऽत्मरूपरसगुणत्व माधुर्यादीनामनुपपन्नम्।

—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, १ पृ० ८९-९०

२. अथ शृङ्गारो मधुर इत्यादिर्व्यवहार: कथमिति चेत्, एवं तर्हि द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्वं, प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रुत्यादिकनेव वा माधुर्यादिकमस्तु। व्यवहारस्तु वाजिगन्धोष्णेति व्यवहारवदक्षतः। —वही, १ पृ० ९०-९१

अतः, उन्हें भी मधुर आदि कहा जाता है। शब्दार्थ को मधुर आदि कहने में आनन्दवर्धन आदि ने जो उपचार की कल्पना की है, वह अनावश्यक है।[१] यह पण्डितराज जगन्नाथ की गुण-सम्बन्धी धारणा है।

रस को निर्गुण मानकर माधुर्यादि गुण के रसधर्मत्व के मान्य सिद्धान्त के खण्डन का जो प्रयास जगन्नाथ ने किया है, उसका आधार वेदान्त-मत में आत्मा के निर्गुणत्व की मान्यता है; किन्तु जगन्नाथ की मान्यता का आधारभूत सिद्धान्त ही सर्वमान्य नहीं। इसलिए उनकी मान्यता सर्वसम्मत नहीं मानी जा सकती। कुमारिल भट्ट ने आत्मा के निर्गुणत्व के सिद्धान्त का खण्डन किया है। उन्होंने गुण और गुणी में भेदाभेद सम्बन्ध की स्थापना कर आत्मा के सगुणत्व का प्रतिपादन किया है। अतः, जब आत्मा का सगुणत्व अनुपपन्न नहीं तो रस में भी गुण की स्थिति मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं। वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त के अनुरूप भी माधुर्य आदि गुणों को रस का धर्म सिद्ध किया जा सकता है। अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठाता आचार्य शङ्कर ने ब्रह्म, जीव और जगत के सम्बन्ध की व्याख्या दो दृष्टियों से की है। पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है। वह निरुपाधि है। आत्मा उससे अभिन्न है; अतः उसके किसी गुण की कल्पना नहीं की जा सकती। व्यावहारिक दृष्टि से जीवात्माओं का परस्पर भेद एवं उनकी उपाधियों की कल्पना की गयी है। तत्त्वतः आत्मा के एक होने पर भी जीवात्माओं में उपाधिजनित भेद अपरिहार्य है। वेदान्त के इस सिद्धान्त के आलोक में जगन्नाथ के रस-सिद्धान्त के परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार वेदान्त के आचार्यों ने आनन्द को भी आत्मस्वरूप ही मानकर आत्मा और आनन्द में अभेद की स्थापना कर आत्मैकत्ववाद की प्रतिष्ठा की है, उसी प्रकार जगन्नाथ ने भी आस्वाद को रसस्वरूप मानकर रसैकत्ववाद की स्थापना की है। जिस प्रकार वेदान्तमतावलम्बियों ने व्यावहारिक दृष्टि से जीवात्माओं का उपाधिजनित भेद स्वीकार किया है, उसी प्रकार जगन्नाथ ने रसैकत्व में भी उपाधिजनित शृङ्गार आदि भेद स्वीकार किये हैं। इस प्रकार शृङ्गार, हास्य आदि रसों में भेद की स्थापना हो जाती है। यहाँ शृङ्गार, हास्य आदि रसों के भेदक तत्त्वों का निर्धारण कर लेना चाहिए। जिस प्रकार जीव के अन्तःकरण की उपाधियाँ उसमें व्यावहारिक

१. तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्वादुपचारो न कल्प्य इति तु माद्शाः।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, १ पृ० ६१

भेद लाती हैं, उसी प्रकार शृङ्गार आदि रसों में भी उनके स्थायीभाव, विभाव आदि के कारण औपाधिक भेद आता है। शृङ्गार का स्थायी भाव रति हास्य के स्थायी हास से भिन्न है। इसी प्रकार दोनों का विभाव भी भिन्न होता है। इन रसों की उपाधियों के परस्पर भिन्न होने के कारण ही उन रसों में भेद माना जाता है। वह भेद उपाधिजनित है। इस विचार से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिस प्रकार आत्मा के एक होने पर भी अन्तःकरण के उपाधिभूत धर्म जीवात्मा के स्वरूप के भेदक होते हैं तथा वे जीवात्मा के धर्म माने जाते हैं, उसी प्रकार रस के तत्त्वतः एक होने पर भी स्थायीभाव, विभाव आदि के भेद से रस का भेद उपपन्न होता है। माधुर्य आदि गुण रति आदि स्थायीभाव के धर्म होते हैं। उन्हें शृङ्गार आदि रस में भेद की सिद्धि करने वाली उपाधियों के रूप में स्वीकृति मिलनी ही चाहिए। अतः, काव्यगुणों को रस-धर्म मानने वाला आनन्दवर्धन आदि का सिद्धान्त ही अधिक प्रामाणिक जान पड़ता है।

जगन्नाथ ने प्राचीन आचार्यों के दस गुणों को उद्धृत कर उनको अनावश्यक बताया है। इस क्रम में उन्होंने प्राचीन आचार्यों के कुछ गुणों को कुछ परिवर्तित रूप में उपस्थित किया है। अतः उनके द्वारा प्रस्तुत गुणों के परिवर्तित स्वरूप पर विचार कर लेना वाञ्छनीय होगा। प्राचीन आचार्यों के जिन गुणों के लक्षण को अपरिवर्तित रूप में रसगङ्गाधर में उद्धृत किया गया है, उनका उल्लेख, अनावश्यक मानकर यहाँ नहीं किया जायगा।

शब्दगुण श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता और ओज की वामन की परिभाषा ही रसगङ्गाधर में शब्द-भेद से उद्धृत है। उदारता गुण के विवेचन में जगन्नाथ ने वामन के उदारता-लक्षण 'विकटत्व' की काव्य-प्रकाश के टीकाकारों द्वारा की गयी 'नृत्यत्प्रायत्व' व्याख्या का विरोध किया है। भरत की उदारता-परिभाषा की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने उसमें विकटत्व या पदों के नृत्यत्प्रायत्व का प्रयोग किया था। काव्यप्रकाश की नागेश्वरी टीका में तथा काव्यप्रदीप आदि टीकाओं में विकटत्व को अभिनवगुप्त की धारणा के अनुरूप ही पदों का नृत्यत्प्रायत्व कहा गया है। उसका जो उदाहरण 'नागेश्वरी' आदि टीकाओं में दिया गया है, उसमें पण्डितराज शब्दनृत्य-जैसी कोई चीज नहीं मानते। उसमें ओज की विपुलता भी

नहीं। अतः, ओज गुण में उदारता के उस स्वरूप का अन्तर्भाव मम्मट के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं होगा।[१] शब्दगत कान्ति एवं समाधि गुणों को कुछ नवीन रूप में उपस्थित किया गया है।

कान्ति—वैदिक आदि प्रयोग में आने वाले विदग्धता-हीन पदों के त्याग से प्रयोग में जो अलौकिक शोभारूप उज्ज्वलता आती है, उसे जगन्नाथ ने शब्द-कान्ति कहा है।[२] वामन ने भी पद के औज्ज्वल्य को कान्ति कहा है; पर वह उज्ज्वलता अविदग्ध वैदिक प्रयोग के त्याग से आती है, यह कल्पना नवीन है।

समाधि—जगन्नाथ के अनुसार वन्ध के गाढत्व और शिथिलत्व का क्रम से उपस्थापन शब्दगत समाधि गुण है।[३] वामन ने समाधि को आरोह और अवरोह का क्रम कहा था। पण्डितराज गाढत्व को आरोह का और शिथिलत्व को अवरोह का पर्याय मानते हैं।

अर्थगत गुणों में श्लेष, माधुर्य, अर्थव्यक्ति एवं समाधि गुणों के स्वरूप में नवीनता है। शेष गुण उसी रूप में उद्धृत हैं।

श्लेष—विदग्धचेष्टा की स्फुटता में उपपत्ति को श्लेष कहा गया है। इसे इस रूप में परिभाषित किया गया है कि विदग्ध-चेष्टा का; उसकी अस्फुटता का और उस चेष्टा को उपपन्न करने वाली युक्ति का एक साथ होना श्लेष गुण है।[४] यह वामन की 'घटना श्लेषः' का ही नवीन परिधान में उपस्थापन है। घटना को वामन ने 'क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तियोग' कहा है।

---

१. पदानां नृत्यत्प्रायत्वं विकटतेति काव्यप्रकाशटीकाकारा व्याचक्षते। उदाहरन्ति च। "स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां···इत्यादि। तत्र तेषामेतादृशी विकटत्वलक्षणामुदारतामोजस्यन्तर्भावयन् काव्यप्रकाशकारः कथमनुकूल इति त एव जानन्ति।'—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर १, पृ० ९४

२. अविदग्धवैदिकादिप्रयोगयोग्यानां पदानां परिहारेण प्रयुज्यमानेषु लोकोत्तरशोभारूपमौज्ज्वल्यं कान्तिः।—वही, १ पृ० ९५

३. बन्धगाढत्वशिथिलत्वयोः क्रमेणावस्थापनं समाधिः। अनयोरेव प्राचीनैरारोहावरोहव्यपदेशः कृतः।—वही, पृ० ९५

४. क्रियापरम्पराया विदग्धचेष्टितस्य तदस्फुटत्वस्य तदुपपादकयुक्तेश्च सामानाधिकरण्यरूपः संसर्गः श्लेषः।—वही, १, पृ० ९६

माधुर्य—वामन के उक्तिवैचित्र्य माधुर्य को पण्डितराज ने एक ही उक्ति का प्रकारान्तर से पुनः कथन-रूप उक्तिवैचित्र्य कहा है।[1]

अर्थव्यक्ति—वर्ण्य के असाधारण क्रिया और स्वरूप का यथारूप वर्णन अर्थव्यक्ति है। इसे ही अब स्वभावोक्ति अलङ्कार कहा जाता है।[2]

समाधि—कोई अर्थ पूर्ववर्णित है या अवर्णितपूर्व है, इसका सम्यक् आलोचन समाधि गुण है।[3] यह धारणा अयोनि और अन्यच्छाया.योनि अर्थ के दर्शन की धारणा से अभिन्न है। इसे उपस्थित करने में प्रयुक्त पदावली-मात्र नवीन है।

गौण लेखकों एवं टीकाकारों का गुण-विवेचन

संस्कृत काव्य-शास्त्र के जिन गौण आचार्यों ने गुण-सम्बन्धी धारणा प्रकट की है तथा प्रधान आचार्यों के ग्रन्थों पर टीका लिखने के क्रम में जिन टीकाकारों ने गुण के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं, उनकी मान्यता का संक्षिप्त परिचय अपेक्षित है। उन्होंने गुण के क्षेत्र में किसी नूतन सिद्धान्त की स्थापना नहीं की है। पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का स्पष्टीकरण ही उनका उद्देश्य रहा है। अतः, उनके विचार की विस्तृत मीमांसा न कर उसका परिचय-मात्र यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

नमिसाधु

रुद्रट के काव्यालङ्कार पर टीका लिखते हुए नमिसाधु ने रीति को गुण कहा है। उनके अनुसार रीति शब्द पर आश्रित गुण है, अलङ्कार नहीं।[4] अपरन्च उन्होंने रस को सौन्दर्य आदि की तरह काव्य का गुण माना है। अलङ्कार कुण्डल आदि की तरह काव्य के शरीर शब्दार्थ के कृत्रिम आभूषण माने गये हैं।[5] अलङ्कार को भी नमिसाधु ने गुण कहा है। उनकी मान्यता है

१. एकस्या एवोक्तेर्भङ्ग्यन्तरेण पुनः कथनात्मकमुक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, १ पृ० ९७

२. वस्तुतो वर्णनीयस्यासाधारणक्रियारूपयोर्वर्णनमर्थव्यक्तिः। ...अयमेवेदानीन्तनैः स्वभावोक्त्यलङ्कार इति व्यपदिश्यते।—वही १ पृ० ९७-९८

३. अवर्णितपूर्वोऽयमर्थः पूर्ववर्णितप्रायो वेति वरालोचनं समाधिः।—वही, १ पृ० १००

४. एताश्च रीतयो नालङ्काराः किं तर्हि शब्दाश्रया गुणा इति।
—काव्यालङ्कार-टीका, २, पृ० १०

५. काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्। तस्य वक्रोक्तिवास्तवादयः कटककुण्डलादय इव कृत्रिमालङ्काराः।—वही, टीका, १२, पृ० १५०

कि काव्य के कृत्रिम गुण अलङ्कार होते हैं और सहज गुण रस।[1] रस को काव्य का गुण मानने वाले मत को आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में उद्धृत किया है और उसका खण्डन किया है।[2] नमिसाधु ने काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य को ही गुण कह दिया है। इस प्रकार उनकी गुण-धारणा दण्डी की व्यापक अलङ्कार-धारणा के समकक्ष है। दण्डी ने सौन्दर्य का आधान करने वाले सभी काव्य-तत्त्वों को अलङ्कार कहा है और नमिसाधु ने गुण।

उद्भट

उद्भट ने अपनी पुस्तक, काव्यालङ्कारसारसंग्रह में गुण पर विचार नहीं किया है। उन्होंने भामह के काव्यालङ्कार पर टीका लिखते हुए 'भामह-विवरण' में गुण के विषय में जो मान्यता प्रकट की है, वह ध्वन्यालोक लोचन, काव्य-प्रकाश एवं काव्यानुशासन आदि में उद्धृत है। उद्भट के अनुसार गुण और अलङ्कार; दोनों काव्य के शोभाधायक धर्म हैं। अतः, दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं। ध्वनिवादी आचार्यों ने गुण एवं अलङ्कार के सम्बन्ध के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। इस विषय पर 'गुण और अलङ्कार' खण्ड में विस्तृत विवेचन किया जायगा।

प्रतिहारेन्दुराज

उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह की टीका में प्रतिहारेन्दुराज ने काव्य में अलङ्कार की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। वे गुण के बिना काव्य की सत्ता नहीं मानते।[3] इसलिए उन्होंने गुणवत् शब्द और अर्थ को काव्य कहा है।[4] गुण के महत्त्व-प्रतिपादन के लिए वामन का सूत्र उद्धृत

---

१. रसास्तु सौन्दर्यादय इव सहजा गुणा इति भिन्नः तत्प्रकरणारम्भः।
—काव्यालङ्कार टीका, १२, पृ० १५०

२. अत्र केचिदाहुः—गुणगुणिव्यवहारः रसादीनां इतिवृत्तादिभिस्सह, न तु जीवशरीर-व्यवहारः। रसादिमयं हि वाच्यं प्रतिभासते, न रसादिभिः पृथग्भूतम्।
—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, ३ पृ० ४१६।

३. ......अत एवालङ्काराणामनित्यता॥ गुणरहितं हि काव्यमकाव्यमेव भवति, न त्वलङ्काररहितम् अलङ्काराणां गुणोपजनितशोभे काव्ये शोभातिशयविधायित्वात्॥
—काव्यालङ्कार, टीका पृ० ८२

४. काव्यं खलु गुणसंस्कृतशब्दार्थशरीरत्वात्।—वही, पृ० ८१ और
मुख्यया तावद्वृत्या गणसंस्कृतशब्दार्थशरीरमेव काव्यम्।—वही, पृ० ८४

किया गया है। इससे सिद्ध है कि वे वामन की गुण-सम्बन्धी मान्यता के अनुयायी थे। इस अंश में वामन के सिद्धान्त का अनुसरण करने पर भी प्रतिहारेन्दुराज ने गुणों की संख्या का निर्धारण आनन्दवर्धन के अनुसार किया है। वे माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन ही गुण मानते हैं। माधुर्य और प्रसाद गुणों का स्वरूप भी आनन्दवर्धन के मतानुसार ही निर्धारित किया गया है; परन्तु ओज गुण को दीप्ति न मानकर वामन की धारणा के अनुरूप 'गाढता' कहा गया है। तीनों गुणों में प्रसाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। शेष दो गुण रसाभिव्यक्ति में उसकी सहायता करते हैं।[1]

रत्नेश्वर

भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकार रत्नेश्वर ने प्राचीन आचार्यों के दस गुणों में से समाधि गुण को छोड़ शेष नौ गुणों को ही काव्य में विशेष महत्त्वपूर्ण माना है। उनकी मान्यता है कि इन नौ गुणों से ही वर्णन में वक्रता आती है और वह काव्य कहलाता है। इन गुणों के अभाव में रीति का भङ्ग हो जाता है। फलतः, कोई भी उक्ति काव्याभास हो जाती है।[2] भोज के गुण-सिद्धान्त के विवेचन में हम देख चुके हैं कि श्लेषादि नौ गुणों के विपर्यय को ही उन्होंने अरीतिमत् दोष माना है। टीका में इसी मत का स्पष्टीकरण हुआ है। रत्नेश्वर ने उक्त गुणों को वक्रता-प्रयोजक मानकर भी औदार्य को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है।[3] शब्दगुण के प्रकरण में ऐसा ही महत्त्वपूर्ण स्थान समाधि को दिया गया है।[4]

---

१. तत्र माधुर्यमाह्लादकत्वम्, ओजो गाढता, प्रसादस्त्वव्यवधानेन रसाभिव्यक्त्यनुगुणता। तदेतेषां त्रयाणां गुणानां मध्यात् प्रसादस्य प्राधान्यम्। माधुर्यौजसोस्तु तत्तद्रसाभिव्यक्त्यानुगुण्येन तारतम्येन अवस्थितयोः प्रसाद एव सोपयोगता।

—काव्यालङ्कार-टीका, पृ० ८१

२. एतद् (श्लेषादिगुण) योगाद् वाक्यं वक्ररूपतामासाद्य काव्यव्यपदेशं लभते। तेषां गुणानां भङ्गः काव्याभासत्वपर्यवसायी दोषः।...तेषामन्यतमाभावे काव्यस्याभासत्वात्। तेषां हि विपर्यये रीतिरवश्यं भज्यते।—सर० क० आ० टीका पृ० ७२

३. काव्यरूपताप्रयोजकं शब्दार्थयोः वक्रता उदारता। नहि वक्रतामन्तरेण काव्यपदवीप्राप्तिः।—वही, पृ० ३३-३४

४. सम्यगाधानमारोपणं समाधिः। सम्यक्त्वं च वक्रता लोकातिगत्वम्।

—वही, पृ० ६२

रत्नेश्वर ने आनन्दवर्धन के माधुर्य आदि तीन गुणों के सिद्धान्त का खण्डन किया है।[1] इन गुणों को रस-धर्म मानने का भी उन्होंने विरोध किया है। उनके अनुसार सभी गुण शब्दार्थगत हैं।[2] माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को अन्य गुणों की तरह ही शब्दार्थ-धर्म मान लेने पर भी रत्नेश्वर ने उनके लक्षण आनन्दवर्धन से ही लिये हैं। उन्होंने गुणों को रस-व्यञ्जक कहा है। माधुर्य गुण शृङ्गार एवं करुण रसों का व्यञ्जक है। अतः ये रस मधुर हैं। माधुर्य-विपर्यय-दोष के वर्णन-प्रसङ्ग में उन्होंने चित्त की द्रुति के विधायक शब्दार्थ-धर्म को माधुर्य कहा है।[3] उसे आनन्दवर्धन की तरह चित्त की आर्द्रता भी कहा गया है। आनन्दवर्धन की ओज-गुण-परिभाषा को स्वीकार कर उन्होंने ओज का अर्थ 'प्रौढि' कर दिया है। उनके अनुसार 'प्रौढि' शब्द के शैथिल्य एवं परुषता का अभाव है। उसकी व्यञ्जना दीर्घसमास-रचना से होती है।[4] आनन्दवर्धन के सिद्धान्त से इतना प्रभावित होने पर भी रत्नेश्वर ने गुण को शब्दार्थ का ही धर्म स्वीकार किया है।

वामन और आनन्दवर्धन के विचार को ग्रहण कर भी रत्नेश्वर ने उसके खण्डन का प्रयास किया है। जहाँ उन आचार्यों के सिद्धान्तों को भोज ने स्वीकार किया है, वहाँ भी उनसे भोज का मतवैभिन्न्य दिखाने का आग्रह रत्नेश्वर में दिखाई पड़ता है। उन्होंने काव्य में वामन के अनुसार रीति को प्रधानता दी है; किन्तु भोज के 'काव्य-सर्वस्व' पर टिप्पणी देते समय रस को काव्य-सर्वस्व मान लिया है। भोज का अनुसरण करते हुए उन्होंने ध्वनि और रस को भी गुण मान लिया है। इस प्रकार उनकी गुण-धारणा का समग्रतः परीक्षण करने पर उसमें विचार-शृङ्खला की सुसम्बद्धता का अभाव स्पष्ट हो जाता है।

---

१. 'माधुर्यौजःप्रसादास्त्रय एव गुणाः' इति ध्वनिकारस्य मतं निरस्यति, चतुर्विंशतिरिति।—काव्यालङ्कार-टीका, पृ० ५०

२. किञ्चात्र प्रसादादिवत् श्लेषादयोऽपि शब्दार्थगता एव प्रत्यभिज्ञायन्ते तत्कथमयं विभागः।—वही, पृ० ४३, (काव्यमाला)

३. शब्दार्थयोश्चित्तद्रुतिविधायित्वं माधुर्यम्।—वही, पृ० ३२

४. शब्दार्थयोः उचिता प्रौढिरोजः। × × × शब्दस्य तु (प्रौढिः) पारुष्यशैथिल्यव्यतिकरलक्षणा। सा च क्वचित् समासदीर्घतया व्यज्यते। × × क्वचिदन्यथापि व्यज्यते।—वही, पृ० ३१

विश्वेश्वर

विश्वेश्वर की चमत्कार-चन्द्रिका में भोज के तेईस गुणों का उल्लेख हुआ है। उनके एक गुण प्राढ़ि को विश्वेश्वर गुण नहीं मानते। प्रौढ़ि पाक का ही दूसरा नाम है। अतः, उसका वर्णन रीति, वृत्ति, शय्या आदि के साथ हुआ है। भोज के सौशब्द्य गुण के स्थान पर 'शब्दसंस्कार' तथा सम्मितत्व के स्थान पर 'सम्मिति' पाठ है। इस प्रकार चमत्कार-चन्द्रिका के तेईस गुण इस प्रकार हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुरी, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारत्व, ओज, कान्ति, उदारता, प्रेयान्, समाधि,, औजित्य, सौम्य या सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तर, संक्षेप, शब्दसंस्कार, भाविकत्व, सम्मत या सम्मिति, गति, उक्ति और रीति। डॉ० व्ही राघवन ने उक्त गुणों के स्वरूप की परीक्षा कर यह निष्कर्ष निकाला है कि उनका स्वरूप भोज के गुणों के स्वरूप से अभिन्न है।[1]

प्रकाशवर्ष

प्रकाशवर्ष ने रसार्णवालङ्कार में काव्यगुणों के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए भोज की गुण-सम्बन्धी मान्यता को स्वीकार किया है। पण्डित व्ही० वेंकटराम शर्मा ने रसार्णवालङ्कार को 'इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरलि' पत्रिका में प्रकाशित कराया है। उसकी भूमिका में पण्डित शर्मा ने उसे भरत के नाट्यशास्त्र के बाद की रचना मानकर भारतीय काव्यशास्त्र की द्वितीय प्राचीनतम कृति सिद्ध करने का प्रयास किया था।[2] डॉ० डे ने 'रसार्णवालङ्कार की हस्तलिखित प्रति को पराक्षा कर प्रकाशवर्ष को भोज का उत्तरवर्ती सिद्ध किया है। उनके अनुसार भोज की गुण और दोष-विषयक मान्यता को ही प्रकाशवर्ष ने अपनाया है।[3] डॉ० व्ही० राघवन ने भी प्रकाशवर्ष की गुण-

---

१. द्रष्टव्य— डॉ० व्ही० राघवन, Bhoja's Sringara Prakasa Vol I पृ० ३२८
२. द्रष्टव्य—I. H. Q. Vol II
३. 'The general seheme and classification of *Gunas* and *Dosas are* almost idendical in Bhoja and Prakasavarsa. and the same ideas and terminology are employed throughout :—Dr. S. K. DF, the Problems of Sanskrit Poetics'. पृ० ६७

धारणा को भोज की तत्सम्बन्धी धारणा की उद्धरिणी माना है।[१] प्रकाशवर्ष ने भोज के चौबीस गुणों में से गति और प्रौढि गुणों को छोड़ शेष बाईस गुणों को स्वीकार किया है और उनके स्वरूप-निर्धारण में भी भोज का ही अनुगमन किया है। यहाँ उनकी गुण-धारणा को संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है :—

शब्दगुण

श्लेष—भोज की 'श्लिष्टपदता' की तरह बन्ध की अतिशय संश्लिष्टता में श्लेष गुण माना गया है।

प्रसाद—यह प्रसिद्धार्थ पद का न्यास है।

समता—मृदु, स्फुट एवं श्र बन्ध का अभिश्र भाव से निर्वाह समता गुण है।

माधुर्य—भोज के 'पृथक्पदत्व' के स्थान पर इसे 'अर्थोचित वाणी का निबन्धन' कहा गया है।

सुकुमारता—अकठोर अक्षरों का विन्यास सुकुमारता है। इसे ही भोज ने 'अनिष्ठुराक्षरप्राय' कहा है।

'अर्थव्यक्ति - इसे भोज की तरह 'सम्पूर्णवाक्यता' कहा गया है।

कान्ति—बन्ध की उज्ज्वलता कान्ति है। मल पुस्तक का यह अंश लुप्त है। अनुमानतः प्रकाशवर्ष की यही मान्यगा होगी।

औदार्य—बन्ध क वकटता औदार्य गुण है। यह भोज के 'विकटाक्षर-बन्धत्व' से अभिन्न है।

उदात्तता—श्लाघ्य विशेषण ो से युक्त रचना में उदात्तता-गुण माना गया है।

ओज—ओज गुण भोज का 'समासभूयस्त्व' है।

और्जित्य—बन्ध की गाढता और्जित्य है।

प्रेय—प्रेय अर्थ वाले पदों के विन्यास में प्रेय गुण माना गया है। भोज ने इसे प्रियतर आख्यान कहा है, जो चाटूक्ति में प्रयुक्त होता है।

सुशब्दता - भोज की ही तरह इसे सुबन्त तथा तिङन्त पदों की व्युत्पत्ति का गुण माना गया है।

---

१. ... 'But in the main, The Rasarnava is a running summary of Bhoja's Sarasvati Kanthabharana.'—Dr. V. Raghavan, Prakasavarsa's Rasarnavalankara J. O. R. Madras, Vol. VIII पृ० २६७

समाधि—अन्य धर्म के अन्यत्र आरोप में समाधि गुण होता है।

सौक्ष्म्य—शब्दों की अन्तस्सञ्जल्परूपता सौक्ष्म्य है।

गाम्भीर्य—ध्वनिमत्ता में गाम्भीर्य गुण स्वीकार किया गया है।

विस्तार—व्यस्तता में विस्तार गुण माना गया है। भोज ने व्यास-उक्ति को विस्तर गुण कहा है।

संक्षेप—समास में अभिधान संक्षेप गुण है।

सम्मितत्व—भोज के ही शब्दों में इसे 'यावदर्थपदत्व' कहा गया है।

भाविकत्व—भावाभिव्यञ्जक वाणी में भाविकत्व गुण स्वीकार किया गया है।

रीति—रीति गुण उपक्रम का 'आसमाप्ति निर्वाह' है।

उक्ति—अर्थान्तर से अर्थ का कथन उक्ति गुण है।[१]

रसार्णव में अर्थगत गुणों का स्वरूप भी भोज की धारणा के अनुरूप ही प्रतिपादित है।

शब्द गुण की तरह अर्थगुण की संख्या भी बाईस है।[२] यहाँ उन अर्थ-गुणों के स्वरूप का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

श्लेष—भोज की तरह इसे संविधानगत 'सुसूत्रता' कहा गया है। मूल में 'संविधान' के स्थान पर 'सपिधान' पाठ अशुद्ध जान पड़ता है।[३]

प्रसाद—अर्थ का प्रकट रहना अर्थगत प्रसाद गुण है।

समता—जहाँ क्रम से रहने वाले अर्थों में वैषम्य नहीं होता, वहाँ समता नामक अर्थगुण माना जाता है।

माधुर्य—क्रोध की दशा में भी तीव्रता का अभाव माधुर्य गुण माना गया है।

सौकुमार्य—पदार्थ की मनोज्ञता में सौकुमार्य गुण माना जाता है।

अर्थव्यक्ति—जहाँ पदार्थ के स्वरूप का कथन होता है, वहाँ अर्थव्यक्ति अर्थगुण होता है।

कान्ति—कान्तिगुण उद्दीप्तरसता है अर्थात् इसमें रस की तीव्रता रहती है।

उदारता—विभव के उत्कर्ष-वर्णन में उदारत्व गुण होता है।

उदात्तत्व—आशय का उत्कर्ष उदात्तत्व गुण है।

---

१. प्रकाशवर्ष, रसार्णवालङ्कार, श्लोक ७,२३, I. H. Q. Vol. I

२. एतेऽप्यर्थगुणास्तज्ज्ञैर्द्वाविंशतिरुदाहृताः।—प्रकाशवर्ष, रसार्णवालङ्कार, श्लोक २३, I. H Q vol V

३. सपिधानसुसूत्रत्वं (?) तेषु श्लेषोऽभिधीयते।—वही श्लोक २४

ओज—ओज की परिभाषा का अंश पाण्डुलिपि में नष्ट हो गया है। अनुमानत: भोज की ओज-धारणा से प्रकाशवर्ष की ओज-धारणा अभिन्न होगी। भोज के अन्य गुणों के स्वरूप से प्रकाशवर्ष के गुणों के स्वरूप की समता के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है।

और्जित्य—भोज की तरह 'रूढाहङ्कारता' को और्जित्य कहा गया है।

प्रेय—प्रिय पदार्थ का उपन्यास प्रेय गुण है। यह भोज की अर्थगत अभीष्टता से अभिन्न है।

सुशब्दता—दुष्ट अर्थ का अदुष्ट पद से कथन सुशब्दता है।

समाधि—व्याज से अन्य अर्थ की प्राप्ति समाधि गुण है।

सौक्ष्म्य—सूक्ष्म अर्थ के दर्शन को सौक्ष्म्य गुण कहा जाता है।

गाम्भीर्य—भोज की गाम्भीर्य-परिभाषा को ही दुहराते हुए गाम्भीर्य को 'शास्त्रार्थसव्यपेक्षत्व' कहा गया है।

संक्षेप—बहुत अर्थों का सङ्कोच संक्षेप गुण है।

विस्तर—अर्थ के विस्तार को विस्तर गुण कहा जाता है।

सम्मितत्व—भोज के शब्दार्थतुल्यत्व के स्थान पर अनुरूप गुण के आरोप में प्रकाशवर्ष ने अर्थगत सम्मितत्व गुण माना है।

भाविकत्व—कथन का भावयुक्त होना भाविकत्व गुण है।

रीति—पदार्थ की उत्पत्ति आदि क्रियाओं का क्रमिक वर्णन अर्थगत रीति है।

उक्ति—संवृत तथा असंवृत अर्थ का बोध उक्ति है।[१]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शब्दगुणों की तरह रसार्णवालङ्कार के अर्थगुणों का स्वरूप भी भोज के अर्थगुणों के स्वरूप से अभिन्न है।

प्रकाशवर्ष ने चौबीस वैशेषिक गुणों का स्वरूप-विश्लेषण किया है।[२] उन्होंने भोज की वैशेषिक गुण-धारणा को यथावत् स्वीकार कर लिया है।[३] अत:, उन गुणों के स्वरूप का विवेचन आवश्यक नहीं जान पड़ता।

बहुरूप मिश्र

दशरूपक के व्याख्याकार बहुरूप मिश्र ने दशरूपक-व्याख्या में काव्यगुणों पर विचार किया है। यद्यपि दशरूपक में धनञ्जय ने गुण, अलङ्कार आदि पर

१. प्रकाशवर्ष, रसार्णवालङ्कार, श्लोक २४-३४

२. दोषाणामपि येषां स्याद्गुणत्वं कारणात् क्वचित्।
चतुर्विंशत्तदुच्यन्ते ते च वैशेषिका गुणाः ॥—वही श्लोक ३५-३६

३. वही, श्लोक ३६-६१

विचार नहीं किया है, तथापि बहुरूप मिश्र ने उन विषयों के वर्णन का उपयुक्त अवसर निकाल लिया है। इनकी गुण-धारणा भोज की गुण-धारणा से अभिन्न है। भोज के 'साहित्य' की 'दोषहान', 'गुणादान', 'अलङ्कारयोग' और 'रसावियोग' की धारणा को बहुरूप ने भी स्वीकार किया है।[1] भोज की तरह गुण को बहुरूप ने अलङ्कार कहा है। वह स्वभावोक्ति नामक अलङ्कार है। भोज गुण को 'स्वाभावोक्ति वर्ग' में अलङ्कार को 'वक्रोक्ति-वर्ग' में तथा रस को 'रसोक्ति-वर्ग' में मानते हैं।[2] बहुरूप मिश्र ने वर्गीकरण की इसी प्रणाली का अनुसरण किया है। दशरूप-व्याख्या में तीन प्रकार के गुण माने गये हैं—शब्दगुण, अर्थगुण तथा वैशेषिक गुण या दोष-गुण। उन्होंने चौबीस गुणों का उल्लेख किया है, जो भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण एवं शृङ्गार-प्रकाश में वर्णित चौबीस गुणों से अभिन्न हैं।[3]

केशव मिश्र

केशव मिश्र ने अपनी पुस्तक 'अलङ्कार शेखर' में प्राचीन आचार्यों के दस गुणों में से कुछ गुण स्वीकार किये हैं। उन दस गुणों के साथ भोज के द्वारा कल्पित चौदह नवीन गुणों में से भी कुछ गुणों को स्वीकृति मिली है। भोज का शब्द, अर्थ एवं वैशेषिक वर्गों में गुणों का वर्गीकरण केशव मिश्र को मान्य है।[4] उनके अनुसार शब्दगुण पाँच हैं—संक्षिप्तत्व, उदात्तत्व, प्रसाद, उक्ति और समाधि। इन्हीं पाँच गुणों में शेष गुणों का अन्तर्भाव माना गया है।[5] पर, अन्य उन्नीस गुणों के इन में अन्तर्भाव की

---

१. द्रष्टव्य—डॉ० राघवन 'Bahurupamisra's Commentary on the Dasarupaka, J. O. R. Mad. Vol VIII पृ० ३२३

२. तत्र उपमाद्यलङ्कारप्राधान्ये वक्रोक्तिः। सोऽपि गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः। विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तौ रसोक्तिरिति। —शृङ्गारप्रकाश, मद्रास MS vol. II अध्याय ११ पृ० ३७२, उद्धृत, राघवन, Some Concepts of Alankara Shastra पृ० १०६

३. 'He gives the twentyfour Gunas, all as given by Bhoja in his Sringara Prakasa and Sorasvatikanthabhrana. —Dr. V. Raghavan, J. O. R. Mad. Vol VIII पृ० ३२४-२५

४. गुणः सामान्यतो द्वेधा शब्देष्वर्थेषु च स्थितः।
दोषाणामप्यदोषत्वं प्राहुर्वैशेषिकान् गुणान्॥—केशव, अलंकारशे० ७, १ पृ० २०

५ संक्षिप्तत्वमुदात्तत्वं प्रसादोक्तिसमाधयः।
अत्रैवान्यसमावेशात् पञ्च शब्दगुणाः स्मृताः॥—वही, ७, २, पृ० २०

मान्यता से सहमत होना कठिन है। चार अर्थ गुणों का उल्लेख कर उन्हीं में शेष अर्थगुणों को अन्तर्भुक्त मान लिया गया है। वे गुण हैं—(क) भाविकत्व (ख) सुशब्दत्व, (ग) पर्यायोक्ति तथा (घ) सुधर्मिता।[1] पर्यायोक्ति भोज के अर्थ-गुण रीति का पर्याय है। केशव ने कुछ गुणों को अलङ्कार से अभिन्न मान कर तथा कुछ को दोषाभाव मानकर अस्वीकार कर दिया है।[2] पर्यायोक्ति गुण भी क्रमभङ्ग दोष का विपर्यय ही है। अतः, केशव की मान्यता के अनुसार ही उसे भी गुण नहीं माना जाना चाहिए। सुधर्मता भोज का प्रसाद गुण है।

अलङ्कारशेखर की नवम मरीचि में केशव ने वैशेषिक गुणों का विवेचन किया है। उनकी वैशेषिक गुण-धारणा भोज की धारणा से अभिन्न है।

हेमचन्द्र

हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में गुण को आनन्दवर्धन की तरह रसधर्म माना गया है। अन्वय और व्यतिरेक से गुण का रसधर्मत्व सिद्ध किया गया है।[3] हेमचन्द्र ने माधुर्य गुण का शान्त रस की अपेक्षा करुण में और उसकी अपेक्षा विप्रलम्भ में उत्कर्ष माना है।[4] माधुर्य की स्थिति की यह मान्यता आनन्दवर्धन, मम्मट आदि की मान्यता से भिन्न है। आनन्दवर्धन ने संयोग शृङ्गार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार में तथा उसकी अपेक्षा करुण रस में उसका प्रकर्ष माना है। मम्मट ने संयोग शृङ्गार, करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार तथा शान्त रसों में उसका क्रमशः आधिक्य स्वीकार किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इस सम्बन्ध में जिन तीन सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, उनसे हेमचन्द्र की कल्पना स्वतन्त्र है। हेमचन्द्र ने कई आचार्यों के मत को उद्धृत कर एक के द्वारा दूसरे के खण्डन किये जाने का उल्लेख किया है; पर उस खण्डन का अन्यत्र कोई प्रमाण नहीं मिलता।

काव्यानुशासन में प्राचीन आचार्यों के दस गुणों की मान्यता का उल्लेख कर पाठधर्म के रूप में स्वीकृत पाँच गुण वाले सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है

---

१. भाविकत्वं सुशब्दत्वं पर्यायोक्तिः सुधर्मिता।
चत्वारोऽर्थगुणाः प्रोक्ताः परे त्वत्रैव संगताः॥—केशव० अलं०शे०, ८, १ पृ० २१

२. अलङ्काराश्रिताः केचिद्दोषान्तर्गताः परे।
चतुर्ष्वन्तर्गताः केचिदतश्चत्वार एव ते।—वही, टीका पृ० २१

३. ते (गुणाः) च रसस्यैव धर्माः उपचारेण तु तदुपकारिणोः शब्दार्थयोरुच्यन्ते। रसाश्रयत्वं च गुणदोषयोरन्वयव्यतिरेकानुविधानात्। —हेम० काव्यानु० पृ० १९

४. शान्तकरुणविप्रलम्भेषु सातिशयम्।—वही, पृ० २८१

और उसे व्यर्थ की कल्पना बताया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार ओज, प्रसाद, माधुर्य, साम्य और औदार्य—ये पाँच पाठगुण हैं। बिना रुके, प्रवाह के साथ पढ़ने को ओज, रुक-रुक कर पढ़ने को प्रसाद, आरोह और अवरोह के साथ पढ़ने को माधुर्य, साफ उच्चारण के साथ स्पष्ट पाठ को औदार्य तथा न बहुत ऊँचे और न बहुत नीचे स्वर में पाठ को साम्य कहा गया है।[1]

हेमचन्द्र ने इसका उल्लेख किया है कि उक्त पाँच गुणों को कुछ लोग छन्द-गुण मानते हैं। उनके अनुसार स्रग्धरा आदि छन्द में ओज; इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा आदि में प्रसाद; मन्दाक्रान्ता आदि में माधुर्य; शार्दूलविक्रीडित आदि में समता तथा विषम वृत्त में औदार्य गुण रहते हैं। हेमचन्द्र ने इस मत का खण्डन किया है।[2]

कर्णपूर गोस्वामी

अलङ्कार-कौस्तुभ में कर्णपूर गोस्वामी ने आनन्द-वर्धन की गुण-धारणा को स्वीकार किया है। उन्होंने माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों में ही प्राचीन आचार्यों के दस गुणों का अन्तर्भाव माना है। इन तीन गुणों के अतिरिक्त शेष सात गुणों की गणना में भरत आदि के सौकुमार्य गुण का उल्लेख नहीं हुआ है। उसके स्थान पर 'प्रौढि' गुण उल्लिखित है। प्रौढि को भोज ने स्वतन्त्र गुण माना है। दस गुण मानने वाले प्राचीन आचार्य प्रौढि गुण नहीं मानते थे। वामन ने अर्थगत ओज गुण के लक्षण में उसे अर्थ की प्रौढि कहा था। उसी के आधार पर भोज ने 'प्रौढि' गुण की कल्पना की थी। कर्णपूर गोस्वामी ने उसी प्रौढि का उल्लेख सौकुमार्य के स्थान पर किया है।

वाग्भट

वाग्भटालङ्कार में प्राचीन आचार्यों के दस गुणों का उल्लेख हुआ है।[3] वामन की तरह गुण को भावात्मक माना गया है। गुण के अभाव में दोषरहित शब्द और अर्थ भी सुन्दर नहीं लगते।[4] गुणों के लक्षण-निरूपण में नवीनता नहीं है। प्राचीन आचार्यों की धारणा को ही अपनाया गया है।

---

१. यददर्शितविच्छेदं पठतामोजः, विच्छिद्य पदानि पठतां प्रसादः; आरोहावरोहतरङ्गिणि पाठे माधुर्यम्, ससौष्ठवमेव स्थानं पठतामौदार्यम्, अनुच्चनीचं पठतां साम्यमिति। तदिदमलीकं कल्पनातन्त्रम्, यद्विषयविभागेन पाठनियमः स कथं गुणनिमित्तमिति।—हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृ० २४०

२. छन्दोविशेषनिवेश्या गुणसम्पत्तिरिति केचित्। ×× सोऽयमनवगाहितप्रयोगाणां विभागक्रमः।—वही, पृ० २४०

३. औदार्यं समता कान्तिरर्थव्यक्तिः प्रसन्नता।
समाधिः श्लेष ओजोऽथ माधुर्यं-सुकुमारता॥—वाग्भटालङ्कार ३, २

४. अदोषावपि शब्दार्थौ प्रशस्येते न यैर्विना।
तानिदानीं यथाशक्ति ब्रूमोऽभिव्यक्तये गुणान्॥—वही, ३, १

औदार्य :—वामन और दण्डी की उदारता-धारणा के अनुरूप औदार्य गुण की परिभाषा की कल्पना की गयी है। इसमें वामन के शब्दगत एवं अर्थगत औदार्य का स्वरूप मिला लिया गया है। जहाँ एक पद दूसरे पद के साथ मिला रहता है तथा अर्थ की चारुता को प्रकट करता है, वहाँ औदार्य गुण माना गया है।[१] पदों के मिले हुए होने में वामन के शब्द-औदार्य का 'विकटत्व' लक्षण तथा अर्थ की चारुता में उनके अर्थ-औदार्य का 'अग्राम्यत्व' लक्षण स्वीकृत हैं। दण्डी ने औदार्य में उत्कर्षवान् गुण की प्रतीति को आवश्यक माना है। अर्थगत चारुता उससे बहुत भिन्न नहीं।

समता :—दण्डी की तरह बन्ध की अविषमता में समता गुण माना गया है।[२]

कान्ति :—कान्ति के स्वरूप-निर्धारण में वामन की शब्द-कान्ति-धारणा को स्वीकार कर उसे बन्ध का औज्ज्वल्य कहा गया है।[३]

अर्थव्यक्ति :—दण्डी की तरह अर्थव्यक्ति को अर्थ का अनेयत्व माना गया है।[४]

प्रसाद :—प्रसाद को प्रसन्नता तथा प्रसत्ति कहा गया है। इसके लक्षण में रसवादी आचार्यों की मान्यता के अनुरूप इसे झट से अर्थ-बोध करा देने वाला गुण स्वीकार किया गया है।[५]

समाधि :—दण्डी के समाधि-लक्षण से वाग्भट का समाधि-लक्षण अभिन्न है। इसमें एक वस्तु के धर्म का अन्यत्र आधान होता है।[६]

श्लेष :—इस गुण में पद परस्पर ग्रथित-से रहते हैं।[७] यह वामन के शब्दश्लेष 'मसृणत्व' से भिन्न नहीं।

ओज :—दण्डी की तरह ओज को 'समासभूयस्त्व' कहकर गद्य का शोभावह धर्म माना गया है।[८]

---

१. पदानामर्थचारुत्वप्रत्यायकपदान्तरैः ।
मिलितानां यदाधानं तदौदार्यं स्मृतं यथा ।।—वाग्भटालङ्कार, ३, ३
२. बन्धस्य यदवैषम्यं समता सोच्यते बुधैः ।—वही, ३, ५
३. यदुज्ज्वलत्वं तस्यैव सा कान्तिरुदिता यथा ।—वही, ३, ५
४. यदनेयत्वमर्थस्य सार्थव्यक्तिः स्मृता यथा ।—वही, ३, ९
५. झटित्यर्थापकत्वं यत् प्रसत्तिः सोच्यते यथा ।—वही, ३, ९
६. स समाधिर्यदन्यस्य गुणोऽन्यत्र निवेश्यते ।—वही, ३, १०
७. श्लेषो यत्र पदानि स्युः स्यूतानीव परस्परम् ।—वही, ३, ११
८ ओजः समासभूयस्त्वं तद् गद्येष्वतिसुन्दरम् ।—वही, ३, ११

माधुर्य :—दण्डी के माधुर्य के समान रसयुक्त पद को मधुर कहा गया है।[१]

सौकुमार्य :—सौकुमार्य भी दण्डी के सौकुमार्य से अभिन्न है। यह अनिष्ठुर अक्षर का गुण है।[२]

स्पष्ट है कि वाग्भटालङ्कार में वामन और दण्डी की गुण-धारणा को ही स्वीकार किया गया है। उसमें गुण-सम्बन्धी किसी मौलिक मान्यता की स्थापना नहीं है।

अच्युतराय

अच्युतराय ने साहित्यसार के धन्वन्तरि रत्न में गुण के सम्बन्ध में विलक्षण धारणा प्रकट की है। उन्होंने इसे विषय के शीर्षक के रूप में स्वीकार कर धर्म, रस, लक्षण, रीति, अलङ्कार और वृत्ति—इन छहों को गुण कह दिया है।[३] माधुर्य आदि गुणों को धर्म कहा गया है। आनन्दवर्धन ने काव्यगुण को रस का धर्म माना है। इसीलिए अच्युत राय ने गुण को धर्म माना है। गुण-रत्न में वैशेषिक गुणों एवं माधुर्य आदि तीन गुणों का वर्णन हुआ है। वैशेषिक गुण के कई भेदोपभेद किये गये हैं। वे मुख्य और गौण भेद से दो प्रकार के होते हैं। मुख्य वैशेषिक गुण प्रसिद्ध होते हैं और गौण अपवाद से हुआ करते हैं। अपवाद विधिमुख से और निषेधमुख से हो सकते हैं। अतः, गौण वैशेषिक गुण के विधिमुख और निषेधमुख—दो भेद हो जाते हैं। मुख्य और गौण; दोनो ही वैशेषिक गुण पुनः तीन प्रकार के माने गये हैं। दोष का शोभाधायक गुण बन जाना, दोष-निवारण तथा गुण अलङ्कार आदि का साधन बन जाने से उसका उपादेय हो जाना, ये दोष-गुण के तीन प्रकार हैं।[४] आगे की तालिका से वैशेषिक गुण के भेद स्पष्ट हो जायँगे :—

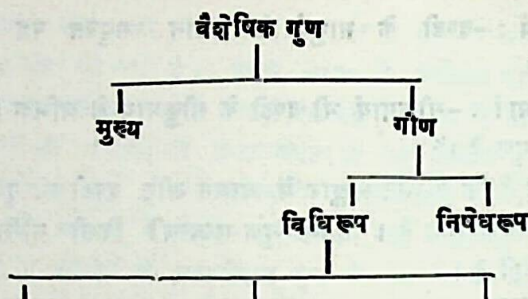
---

१. सरसार्थपदत्वं यत् तन्माधुर्यमुदाहृतम्।—वाग्भटालङ्कार, ३, १४

२. अनिष्ठुराक्षरत्वं यत् सौकुमार्यमिदं यथा।—वही, ३, १४

३. धर्मा रसा लक्षणानि रीत्यलंकृतिवृत्तयः।
रसिकाह्लादका ह्येते काव्ये सन्ति च षड्गुणाः॥
—अच्युत राय, साहित्यसार, १, २०

४. आद्यः पुनर्द्विधा ज्ञेयो मुख्यगौणत्वभेदतः।
मुख्यः प्रसिद्ध एवास्ति गौणःस्यादपवादतः॥
स तु किञ्चिदवच्छेदाद्विहितस्य निषेधनम्।
विधिर्वा प्राङ्निषिद्धस्येत्येवं द्विविध उच्यते॥
× × ×
गुणत्वकरणाद्दोषे दोषत्वस्य निवारणात्।
गुणाद्यौपयिकत्वेनात्याज्यत्वाच्च पुनस्त्रिधा॥—वही, ७, ३-६



शोभाधायक गुण-रूप   दोषाभाव-मात्र, गुणादि के साधन रूप में उपादेय

उक्त छह रूपों में दोष-गुणों का विवेचन कर मम्मट आदि के द्वारा स्वीकृत माधुर्यादि तीन गुणों के लक्षण दिये गये हैं। अच्युत राय ने सांख्य दर्शन के सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों के आधार पर रसों का सात्त्विक-राजस्, सात्त्विक-तामस तथा सात्त्विक-सात्त्विक वर्गों में विभाजन किया है। शृङ्गार, करुण और शान्त—सात्त्विक रस हैं। इन सात्त्विक रसों में चित्त को आर्द्र करने वाला माधुर्य गुण रहता है। मम्मट के अनुसार संयोग शृङ्गार से करुण में, उससे विप्रलम्भ शृङ्गार में तथ उसमे भी शान्त में माधुर्य का आधिक्य माना गया है।[१] वीर, बीभत्स और रौद्र रसों को अच्युत राय ने तामस रस माना है। उन तामस रसों में चित्त को दीप्त करने वाला ओज गुण रहता है। वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में उसका क्रमशः प्रकर्ष पाया जाता है।[२] हास्य, अद्भुत तथा भयानक—इन राजस रसों में ओज और माधुर्य; दोनों का प्राधान्य रहता है।[३] प्रसाद सभी रसों का व्यापक गुण है।[४] रस का सत्त्व, रजस् आदि वर्गों में विभाजन युक्तिसङ्गत नहीं। इनके स्थायी भाव राजस और तामस हो सकते हैं; पर रसानुभूति की दशा में सत्त्व का आविर्भाव तथा शेष गुणों का तिरोभाव हो जाता है। अतः, सभी रस सात्त्विक ही होते हैं। रस के राजस आदि वर्गों में विभाजन को छोड़ अच्युत राय की माधुर्य आदि गुण की धारणा मम्मट की धारणा से अभिन्न है।

१. सात्त्विकैकरसस्थो यो धर्मो धीद्रुतिकार्यसौ।
माधुर्यं भोगकरुणाऽयोगशान्तेऽधिकं क्रमात्॥—अच्युत, साहित्यसार, ७, १२२

२. तामसैकरसस्थो यो धर्मो धीदीप्तिकार्यसौ।
ओजो वीरे च बीभत्से रौद्रे च क्रमशोऽधिकम्॥—वही, ७, १२३

३. राजसेषु तु तेषु स्यात्प्राधान्यमुभयोरपि॥—वही, ७, १२४

४. यः सवरसगोऽपीन्दुं दीपवच्चीनमम्बुवत्।
ओजो माधुर्ययोर्वृत्तं नयेद्राक् सप्रसादकः॥—वही, ७, १२८-२५

हिन्दी-रीति-आचार्यों का गुण-विवेचन

केशवदास

हिन्दी-रीति-शास्त्र के प्रवर्त्तक केशवदास ने काव्यगुणों पर स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं किया है; किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे गुणों के स्वरूप से अपरिचित थे। उन्होंने वृत्तियों के स्वरूप-निर्धारण में प्राचीन आचार्यों की गुण-धारणा से मिलती-जुलती धारणा व्यक्त की है। रस-विवेचन के सन्दर्भ में आचार्य केशव ने वृत्तियों पर विचार किया है। उन वृत्तियों में शब्द एवं अर्थ की महिमा का भी निरूपण हुआ है। सात्वती वृत्ति में सुबोध पद-प्रयोग वाञ्छनीय माना गया है। यह अद्भुत, वीर तथा शृङ्गार रसों की वृत्ति है।[१] सुनते ही समझ में आ जाने वाले स्पष्टार्थ पदों के प्रयोग पर बल देकर केशवदास ने इसे प्राचीन आचार्यों के प्रसाद गुण का समानधर्मा बना दिया है। कैशिकी वृत्ति में केशव ने सरल वर्णों का प्रयोग अपेक्षित माना है। इसमें सुन्दर भाव का वर्णन भी वाञ्छनीय माना गया है।[२] इसका स्वभाव नाट्याचार्य भरत के सुकुमार गुण के स्वभाव से मिलता-जुलता है, जिसमें 'सुख-प्रयोज्य' शब्द तथा 'सुकुमार' अर्थ के प्रयोग पर बल दिया गया है। आरभटी वृत्ति में पद-पद पर यमक आदि के विन्यास से बन्ध की गाढता रहती है।[३] इसमें गाढबन्धत्व रूप ओज का सद्भाव माना जा सकता है। स्पष्टतः, केशवदास ने उक्त वृत्तियों में शब्दार्थ-गुणों का सद्भाव प्रकारान्तर से स्वीकार किया है। उनमें गुणों के स्वरूप के सद्भाव को दृष्टिगत रखते हुए डॉ० नगेन्द्र ने उन्हें रीतियों के निकट माना है। उनके अनुसार 'उनमें (केशव की वृत्तियों में) अर्थगुण और शब्दगुण—दोनों का सामञ्जस्य है। सरल-वर्णा तथा शृङ्गारकरुणहासाश्रया कैशिकी, पाञ्चाली के समकक्ष है, यमकादि के प्राचुर्य से गाढबन्धा तथा रौद्रभयानकबीभत्स रसों की आश्रिता आरभटी गौडीया के, और यदि रसिकप्रिया का स्वीकृत पाठ ही शुद्ध है (?) तो समरस सात्वती सर्वरस-साधारण वैदर्भी के समकक्ष है।"[४] डॉ० नगेन्द्र के उक्त

---

१. अद्भुत बीर शृंगार रस, सम रस वरणि समान।
सुनतहि समुझत भाव जिहिं, सो सात्वती सुजान ॥—केशव, रसिकप्रिया, केशव ग्रन्थावली भाग १, १५, ८

२. .... सरल बरन सुभ भाव जहँ सो कैसिकी विचार ।—वही, १५, २

३. .... आरभटी आरंभ यह, पद पद जमक बखान ।—वही, १५, ६

४. .... डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालङ्कार सूत्र की भूमिका पृ० १४६—४७

कथन से हमारी इस मान्यता की पुष्टि होती है कि आचार्य केशव ने वृत्ति-विचार में प्रकारान्तर से शब्दार्थ-गुणों का सद्भाव स्वीकार किया है।

चिन्तामणि

कविकुलकल्पतरु में आचार्य चिन्तामणि ने काव्य-गुणों के स्वरूप का विवेचन किया है। उनकी गुण-धारणा रस-ध्वनिवादी आचार्यों की गुण-धारणा से प्रभावित है। उन्होंने गुण को रस का धर्म स्वीकार किया है।[1] माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों की सत्ता उन्हें मान्य है।[2] श्लेषादि दस शब्दार्थ-गुणों में से कुछ गुणों का इन्हीं तीन में अन्तर्भाव हो जाता है, कुछ गुण दोषाभाव-मात्र हैं, कुछ गुण कहीं-कहीं दोष ही बन जाते हैं। अतः गुण तीन ही हैं, दस नहीं।[3] प्राचीन आचार्यों के दस गुणों की सत्ता को अस्वीकार करने में मम्मट की यही युक्ति थी।[4] चिन्तामणि के माधुर्य, ओज और प्रसाद-लक्षण मम्मट के तत्तद्गुण-लक्षण से अभिन्न हैं। मम्मट की तरह उन्होंने माधुर्य को चित्त की द्रुति का हेतु कहा है। मम्मट के माधुर्य-लक्षण में प्रयुक्त 'आह्लादक' शब्द के स्थान पर चिन्तामणि ने 'सुखद' शब्द का प्रयोग किया है। माधुर्य को 'काव्य का सार तत्त्व' स्वीकार कर चिन्तामणि ने उसे गुणों में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है।[5] मम्मट ने प्रसाद की सभी रसों में अनिवार्य स्थिति मान कर उसे ही सर्वाधिक महत्त्व दिया था। सम्भव है कि मधुर रसों की ओर विशेष झुकाव होने के कारण चिन्तामणि ने माधुर्य को अन्य गुणों से अधिक महत्त्वपूर्ण मान लिया हो। वस्तुतः प्रसाद के अभाव में किसी रस का आस्वाद या किसी अन्य गुण का बोध ही सम्भव नहीं होता; अतः प्रसाद को ही काव्य का प्रधान गुण मानना युक्तिसङ्गत है।

---

१. जे रस आगे के धरम ते गुन बरने जात।—चिन्तामणि, कविकुलकल्पतरु गुण प्रकरण ७ पृ० ३

२. प्रथम कहत माधुर्य पुनि ओज प्रसाद बखानि।
त्रिविधै गुन तिनमैं सबै सुकवि लेत मनमानि॥—वही, १३ पृ० ३

३. कोऊ अन्तरभूत इत कोऊ दोष अभाव।
कोऊ दोष त्रिविध गुण तातें दस न गनाउ॥—वही, १८ पृ० ४

४. केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश॥—मम्मट काव्य प्र० पृ० १७२

५. जो संयोग सिंगार मैं सुखद द्रवावै चित्त।—
सो माधर्य बखानियें यहई तत्त्व कवित्त॥—चिन्तामणि, कविकुलकल्पतरु १,२४ पृ० ३

मम्मट ने जिन-जिन रसों म मात्रा-भेद से माधुर्य का सद्भाव स्वीकार किया था, उन-उन रसों में उसी मात्रा-भेद से माधुर्य की स्थिति चिन्तामणि को भी स्वीकार्य है। संयोग शृङ्गार की अपेक्षा करुण में, करुण की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार में और उसकी अपेक्षा भी शान्त रस में माधुर्य का आधिक्य मानकर चिन्तामणि ने मम्मट की मान्यता का अनुगमन किया है।[1]

मम्मट की ओज-गुण-परिभाषा एवं ओज की स्थिति के सम्बन्ध में उनके सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए चिन्तामणि ने लिखा है कि चित्तविस्तार रूप दीप्ति का हेतु ओज है। वीर, बीभत्स एवं रौद्र रसों में उसका क्रमशः आधिक्य रहा करता है।[2] मम्मट ने अपनी परिभाषा में प्रयुक्त 'आत्म विस्तृति' शब्द की व्याख्या करते हुए वृत्ति में उसे चित्त का विस्तार कहा है।[3] चिन्तामणि ने आत्म विस्तृति के स्थान पर 'चित्त विस्तार' शब्द का ही प्रयोग किया है।

चिन्तामणि की प्रसाद-परिभाषा मम्मट की प्रसाद-परिभाषा से प्रभावित है। चित्त में प्रसाद के व्याप्त होने की प्रक्रिया के लिए जो दो दृष्टान्त—सूखी लकड़ी में आग के तथा स्वच्छ वस्त्र में जल के व्याप्त होने की प्रक्रिया के दृष्टान्त—काव्यप्रकाश में उल्लिखित हैं, उनका उल्लेख चिन्तामणि के प्रसाद-लक्षण में भी थोड़े परिवर्तन के साथ हुआ है। हम इस तथ्य पर विचार कर चुके हैं कि सूखी लकड़ी में आग के व्याप्त होने का दृष्टान्त चित्त के दीप्त होने का तथा स्वच्छ वस्त्र में जल के व्याप्त होने का दृष्टान्त चित्त के आर्द्र होने का व्यञ्जक है। मम्मट के उक्त दृष्टान्तों में से प्रथम तो यथावत् गृहीत है; किन्तु दूसरे दृष्टान्त से केवल स्वच्छ जल का दृष्टान्त लिया गया है। चिन्तामणि ने प्रसाद में प्रसिद्ध अर्थ वाले पदों के प्रयोग पर बल दिया है।

---

१. सौं संयोग सिंगार तैं करुण मध्य अधिकाइ।
विप्रलम्भ अरु सांतरस तामें अधिक बनाइ॥
—चिन्तामणि, कविकुलकल्पतरु, १,१५ तुलनीय—मम्मट काव्यप्र० ८, ६८

२ दीप्त चित्त विस्तार को हेतु वोज गुन जाँनि।
सुतौं वीर बीभत्स अरु रौद्र क्रमाधिक मानि॥
—चिन्तामणि, कविकुलकल्पतरु, १, १६ पृ० ४

तुलनीय—
दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च॥
—मम्मट, काव्यप्र० ८, ६९-७० पृ० १९२

३. चित्तस्य विस्ताररूपदीप्तत्वजनकमोजः।—वही, पृ० १९२

इसलिए उन्होंने मम्मट के प्रसाद-लक्षण से दृष्टान्त लेकर यह मान्यता व्यक्त की है कि जैसे सूखे ईंधन में आग स्वभावतः प्रवेश करती है तथा स्वच्छ जल में स्वतः तरलता झलकती है, वैसे ही प्रसाद गुण में अक्षर से अर्थ झलकता है।[1] चिन्तामणि ने माधुर्य और ओज को क्रमशः चित्त की आर्द्रता एवं दीप्ति का हेतु स्वीकार किया है। अतः, उन्हें मम्मट की इस मान्यता में भी कोई आपत्ति नहीं होगी कि प्रसाद के सद्भाव से रस चित्त में व्याप्त हो जाते हैं। मम्मट ने यह मान्यता भी व्यक्त की है कि प्रसाद में शब्दों के सुनते ही अर्थ-बोध हो जाता है।[2] मम्मट की गुण-धारणा को स्वीकार कर लेने पर आचार्य चिन्तामणि ने उनके दृष्टान्तों का उपयोग करते हुए भी उन्हें चित्त में रसों के व्याप्त होने का दृष्टान्त नहीं मान कर शब्द से अर्थ के झलकने का दृष्टान्त माना है। वस्तुतः आग के लकड़ी में व्याप्त होने का दृष्टान्त चित्त में रस की व्याप्ति के लिए ही अधिक सटीक है। स्वच्छ वस्त्र में जल के व्यापने की प्रक्रिया भी चित्त में मधुर रसों के व्याप्त होने की प्रक्रिया का ही उपयुक्त दृष्टान्त माना जायगा। मम्मट ने अपनी प्रसाद-परिभाषा में 'स्वच्छ वस्त्र में जल की तरह' इस अर्थ में 'स्वच्छजलवत्' शब्द का प्रयोग किया है। वहाँ स्वच्छ शब्द वस्त्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए उक्त विशेषण-पद से विशेष्य (वस्त्र) का अध्याहार हो जाता है। मुझे ऐसा लगता है कि चिन्तामणि को 'स्वच्छजलवत्' पद चित्त में रसों के व्याप्त होने का उपयुक्त दृष्टान्त नहीं जान पड़ा होगा। इसीलिए उन्होने मम्मट की परिभाषा से 'चित्त में रस के व्याप्त होने' का अर्थ छोड़कर शब्द से अर्थ के झलकने का ही अर्थ स्वीकार किया होगा। चिन्तामणि के प्रसाद-लक्षण की प्रथम पंक्ति मम्मट की प्रसाद-परिभाषा का अविकल अनुवाद है। 'सूखे इंधन आग ज्यों' मम्मट का 'शुष्केन्धनाग्निवत्' तथा 'स्वक्ष नीर की रीति' 'स्वच्छजलवत्' का भाषान्तर मात्र है। किन्तु जहाँ मम्मट को स्वच्छ जलवत्' से स्वच्छ वस्त्र में जल के समान' यह अर्थ अभीप्सित था, वहाँ

---

१. सूखे ईंधन आग ज्यौं स्वक्ष नीर की रीति।
झलकै अक्षर अर्थ जो सो प्रसाद गुन नीति।।—चिन्तामणि, कविकुलकल्पतरु १, १७ पृ० ४

तुलनीय—
शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ...... ।—मम्मट, काव्यप्रकाश ८, ७०

२. श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः।।—वही, ८, ७६

चिन्तामणि ने उसका सीधा अर्थ 'स्वच्छ जल के समान' स्वीकार किया। प्रसाद में प्रसिद्धार्थपदता मम्मट और चिन्तामणि; दोनों को इष्ट थी।

कविकुलकल्पतरु में गुणव्यञ्जक वर्ण, घटना आदि का विवेचन भी काव्यप्रकाश के आधार पर ही हुआ है। मम्मट की तरह चिन्तामणि ने माधुर्य गुण में टवर्ग को छोड़ शेष स्पर्श वर्णों का अनुनासिक वर्णों के साथ संयोग तथा मृदुसमासरचना को वाञ्छनीय माना है।[1] मम्मट ने असमास या मध्यसमास रचना माधुर्य में उपयोगी मानी थी। चिन्तमणि ने उसे ही 'मृदु समास सङ्घटना' कहा है।

ओज-व्यञ्जक-वर्णों तथा सङ्घटना का विवेचन मम्मट के विवेचन से अभिन्न है। वर्णमाला के प्रथम एव तृतीय वर्णों का द्वितीय एवं चतुर्थ वर्णों के साथ योग, वर्ण के साथ रेफ वर्ण का योग, षकार तथा टवर्ग के वर्णों का प्रयोग एवं दीर्घ सामास वाली विकट सङ्घटना ओज गुण में मम्मट की तरह चिन्तामणि को भी काम्य है।[2]

प्रसाद-गुण-व्यञ्जक शब्द-रचना का विवरण देते हुए चिन्तामणि ने मम्मट की एतद्विषयक धारणा को ही अपनी भाषा में प्रस्तुत कर दिया है।[3] प्रसाद में पद के सुनते ही अर्थबोध होना वाञ्छनीय माना गया है। चिन्तामणि का

---

१. अनुस्वार जुत बरन जिति सबै वर्ग अटवर्ग।
मृदु समास माधुर्य की घटना मैं जुनि सर्व॥
—चिन्तामणि, कविकुल० १, २० पृ० ४

तुलनीय—मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा॥—मम्मट, काव्यप्रकाश ८, ७४

२. वरगन मैं जो आदि अरु तीजो आखर कोइ।
तिन सों योग द्वितीय अरु चौथे कौ जो होइ॥
रेफ जोग सब ठौर जो तुल्य बरन जुग जोग।
सषट वरग दीरघ करत जे समास कवि लोग॥
ऐसी घटना ओज की ... .
संयोगी उद्धत बरन ... . ।
चिन्तामणि, कविकुलकल्पतरु, १, २२-२५

तुलनीय—योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि॥—मम्मट, काव्यप्र० ८, ७५

३. तुलनीय—चिन्तामणि, कविकुलकल्पतरु, १, २८ पृ० ६ तथा मम्मट, काव्य प्र० ८, ७६ पृ० १९७।

'जामहि सुनतहि पदन के अर्थबोध मन होइ' कथन मम्मट के 'श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्' कथन का अनुवाद-मात्र है।

माधुर्य आदि तीन गुणों के पक्षपाती होने पर भी चिन्तामणि ने प्राचीन आचार्यों के मतानुसार श्लेष आदि दस गुणों का स्वरूप अपनी रचना में प्रस्तुत किया है। उन्होंने उनमें से कुछ गुणों की स्वतन्त्र सत्ता मानने की अनावश्यकता भी बतायी है। दस गुणों की स्वतन्त्र सत्ता के अपलाप के लिए वे ही युक्तियाँ दी गयी हैं, जो मम्मट के काव्यप्रकाश में उल्लिखित हैं। श्लेष, प्रसाद तथा समाधि शब्द-गुणों का ओज में अन्तर्भाव मानते हुए आचार्य चिन्तामणि ने मम्मट का मत उद्धृत किया है।[1] मम्मट की मान्यता का अनुसरण करते हुए उन्होंने शब्दगत अर्थव्यक्ति का प्रसाद में अन्तर्भाव माना है। समता को कहीं-कहीं दोष माना गया है। शब्दगत सौकुमार्य एवं कान्ति को क्रमशः श्रुतिकटु तथा ग्राम्य दोष का अभाव रूप स्वीकार किया गया है।

अर्थगत ओज गुण के 'साभिप्रायत्व' भेद को अपुष्टार्थ दोष का अभाव; प्रसाद को अधिकपदत्व दोष का अभाव; माधुर्य को अनवीकृत (अलपी गुन) दोष का अभाव; सुकुमारता को अमङ्गल-व्यञ्जक अश्लील का अभाव तथा उदारता को ग्राम्य दोष का अभाव-मात्र मानने में आचार्य चिन्तामणि मम्मट से प्रभावित हैं। उन्होंने अर्थगत अर्थव्यक्ति को स्वभावोक्ति अलङ्कार से तथा कान्ति को रस, ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य आदि से अभिन्न मानकर मम्मट के ही मत का समर्थन किया है। अर्थगत श्लेष वैचित्र्यमात्र तथा अर्थगत समता प्रक्रम-भङ्ग दोष का अभाव मात्र माना गया है।[2]

दोष-प्रकरण के अन्त में चिन्तामणि ने लिखा है कि वक्ता आदि के औचित्य से दोष भी गुण बन जाते हैं।[3] अनुकरण में सभी दोषों का अदोषत्व

---

१. बहुत पदन को एक पद समझो है आभास।
ताको कहत सलेप गुण सिथिल निबंध विलास।
× × ×
ऐसे ओजहि गनत सब मम्मट बुद्धि विचार।
—चिन्तामणि, कविकुलकल्पतरु १,३३-३५, पृ० ६-७

२. द्रष्टव्य—चिन्तामणि, कविकुलकल्पतरु, १,३३-७७ तुलनीय—मम्मट; काव्य प्र० ८ पृ० १९३-९६

३. वक्तादिक औचित्य ते दोषौ गुण ह्वै जाइ।
—चिन्तामणि कविकुल० ४, ९७ पृ० ७९

स्वीकार किया गया है ।[१] मम्मट को भी वक्ता आदि के औचित्य से दोष का गुणत्व तथा अनुकरण में दोषों का निर्दोषत्व मान्य था ।[२]

सन्निधान आदि में पुनरुक्त के अदोषत्व के लिए मम्मट ने जिस कर्णावतंस पद का उदाहरण दिया था उसी का उल्लेख चिन्तामणि ने भी किया है ।[३]

काव्य में गुण और अलङ्कार के सापेक्ष महत्त्व-निर्धारण में भी चिन्तामणि मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों से सहमत हैं । वे गुण को रस का धर्म तथा अलङ्कार को हार आदि की तरह काव्य-शरीर के आभूषण मानते हैं ।[४]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि चिन्तामणि गुण-विवेचन में मम्मट के सिद्धान्त के अनुयायी थे ।

कुलपति मिश्र

आचार्य कुलपति ने 'रस रहस्य' के षष्ठ वृत्तान्त में काव्य-गुणों का विवेचन किया है । वे मम्मट आदि रस-ध्वनिवादी आचार्यों की तरह गुण को रस का उत्कर्षाधायक धर्म मानते हैं ।[५] उनके मतानुसार गुण तीन ही हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद । वामन आदि के बीस शब्दार्थगत गुणों की ओर सङ्केत करते हुए उन्होंने लिखा है कि उनमें से कुछ इन्हीं तीन गुणों में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं; कुछ दोषाभाव-मात्र हैं तथा कुछ कहीं-कहीं दोष बन जाते हैं ।[६] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह धारणा आचार्य मम्मट की धारणा से अभिन्न है ।

---

१. सब अदुष्ट अनुकरन मैं इनते नही अनोख ।
—चिन्तामणि, कविकुलकल्पतरु ४,९६ पृ० ५९

२. अनुकरणे तु सर्वेषाम् ... वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित् क्वचिन्नोभौ । —मम्मट, काव्यप्रकाश ७ पृ० ७६६;७

३. द्रष्टव्य –मम्मट काव्यप्र० पृ० १६४ तथा चिन्तामणि कविकुलकल्पतरु ४, ९५ पृ० ७९

४. जे रस आगे के धरम ते गुन वरने जात ।
अलंकार हारादि ते उपमादिक मन आनि ।।—चिन्तामणि, कविकुलकल्पतरु, १, ८–९ पृ० ३

५. जो प्रधान रस को धरम निपट बड़ाई हेत ।
सोइ गुण कहिये अचल थिति सुर को परम निकेत ।।—कुलपति, रसरहस्य ६,२

६. तीनो गुण नहीं बीस गुण मधुरऽरु ओज प्रसाद
कछुक इनहीं करि गहै कछुक दोष वियोग ।
कछुक दोषता को भजत यो गुण बीसन जोग । वही—६, १८-१९

माधुर्य :—माधुर्य को आचार्य कुलपति ने आनन्दजनक और चित्त की द्रुति का हेतु कहा है। वह शान्त, करुण तथा शृङ्गार रसों में रहता है।[1] मम्मट के माधुर्य-लक्षण को स्वीकार करने पर भी कुलपति मिश्र ने तत्तद्रसों में उसकी मात्रा का न्यूनाधिक्य उनके मतानुसार विवेचित नहीं किया है। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वे रसों में गुण की मात्रा का तारतम्य नहीं मानते थे। उन्होंने ओज गुण के विवेचन में वीर की अपेक्षा रौद्र एवं बीभत्स रसों में उसका आधिक्य स्वीकार किया है। माधुर्य या ओज के मात्रा-भेद का जो नवीन सिद्धान्त रसरहस्य में स्थापित है उसके पोषण के लिए कोई युक्ति नहीं दी गयी है। माधुर्यव्यञ्जक वर्णों के निर्धारण में कुलपति मिश्र मम्मट की मान्यता से प्रभावित हैं।[2]

ओज :—कुलपति का ओज गुण-लक्षण मम्मट के ओज-लक्षण से अभिन्न है। वे चित्त के विस्तार-रूप तेज या दीप्तत्व को ओज मानते हैं। वह वीर रस में रहता है। रौद्र और बीभत्स में उसका और भी आधिक्य रहता है।[3] मम्मट ने बीभत्स की अपेक्षा रौद्र में ओज का आधिक्य माना था; किन्तु कुलपति ने रौद्र और बीभत्स में उसका तारतम्य नहीं माना है। ओज-व्यञ्जक वर्णों का वर्णन मम्मट के मतानुसार ही है।

प्रसाद :—प्रसाद को सभी रसों का गुण मानने में कुलपति मिश्र मम्मट से सहमत हैं। उन्होंने चित्त में रसों के व्याप्त होने के लिए सूखी लकड़ी में आग के व्यापने तथा स्वच्छ वस्त्र में जल के व्यापने का दृष्टान्त नहीं देकर उज्ज्वल जल तथा स्वच्छ अग्नि के दृष्टान्त से प्रसाद में अर्थ की स्वच्छता या सरलता पर बल दिया है।[4] प्रसाद-व्यञ्जक वर्ण की धारणा मम्मट की धारणा से अभिन्न है।

निष्कर्षत: कुलपति मिश्र की गुण-धारणा बहुलांश में मम्मट की धारणा के समान ही है। जहाँ कुछ नवीनता लाने का प्रयास भी हुआ है, वहाँ अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए सबल तर्क कुलपति ने नहीं दिये हैं।

---

१. शान्त करुण शृङ्गार रस सुखद मधुरता मानि।
द्रवय चित्त जाके सुनत, अति आनन्द प्रधान।—कुलपति, रसरहस्य ६, ३-४

२. सो रचना माधुर्य जहां, योग मधुरता जानि।
बिन्दु सहित ट ठ ड ढ रहित, रण लघुवरण प्रमान॥—
—वही, ६,७ तुलनीय; मम्मट, काव्यप्रकाश ८, ७४

३. चितहि बढ़ावै तेज करि, ओज वीर रस बास।
बहुत रुद्र बीभत्स मैं जाको बनैं निबास॥—वही, ६,५

४. नव रस में उज्जल सलिल, स्वच्छ अग्नि के रूप।
सो प्रसाद .. ..॥—वही, ६,६

आचार्य देव

आचार्य देव ने रीति-विवेचन-क्रम में बारह गुणों का उल्लेख किया है, जिनमें प्राचीन आचार्यों के दस गुणों के साथ अनुप्रास और यमक अलङ्कार भी गृहीत हैं।[1] गुण-धारणा में अलङ्कार को मिला देना युक्ति-सङ्गत नहीं। हमने अपरत्र इस पर विचार किया है कि अनुप्रास और यमक को अलङ्कार ही माना जाना चाहिए, गुण नहीं। आचार्य देव स्वयं भी इस तथ्य से अपरिचित नहीं थे। इसीलिए रीति-प्रसङ्ग में प्राचीन आचार्यों के श्लेष आदि दस गुणों की गणना कर लेने के उपरान्त उन्होंने कहा है कि शब्द-चित्र के विधायक अनुप्रास और यमक की भी गणना रीति में होती है। प्राचीन आचार्यों के श्लेष गुण का केवल अर्थगत भेद देव ने स्वीकार किया है। प्राचीन दस गुणों के दो-दो भेद माने गये हैं—नागर और ग्राम्य।[2] इस प्रकार देव के बारह गुणों के स्वरूप बाइस हो जाते हैं। नागर रीति काव्य की परिष्कृत शैली है। इसमें विरसता के प्रसङ्ग में भी सरसता, अर्थहीनता के स्थान पर अर्थमयता, दुर्वचन के स्थान पर सुवचन, वैर की जगह प्रीति, अरुचि में भी सुरुचि तथा अनौचित्य के सन्दर्भ में भी औचित्य के निर्वाह पर बल दिया गया है।[3] इसके विपरीत ग्रामीण रीति में रस के बदले विरसता, सार्थकता की जगह निरर्थकता, सुन्दर वाणी के बदले असुन्दर वाणी और पदों की योग्यता के स्थान पर अयोग्यता रहा करती है।[4] देव के द्वारा प्रतिपादित गुणों के स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि सभी गुणों के ग्राम्य एवं नागर भेद मानने के पूर्वाग्रह के कारण उनकी गुण-धारणा कहीं-कहीं अस्पष्ट रह गयी है। प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य आदि गुणों में नागर परिष्कार की

---

१. अर्थ श्लेष, प्रसाद, सम, मधुर भाव सुकुमार,
अर्थसुव्यक्ति, समाधि अरु कांति, सुओज, उदार।
शब्द-अर्थ दस भाव मिलि, निकसैं ये दस रीति,
अनुप्रास, जमकौ तहाँ, शब्द-चित्र करि प्रीति ॥—देव, शब्द-रसायन, प्रकाश ७ पृ० १२७

२. दसौ रीति ये द्वै द्विविधि, नागर अरु ग्रामीन।—वही ७ पृ० १२७

३. अनरस रस, अनरथ अरथ, सुबचन कुवचन माँह,
बैरि प्रीति अनुचित उचित, नागर अनचह चाह।—वही, ७ पृ० १२७

४. रस में अनरस, अरथ में, अनरथ बोल कुबोल
जोग्य पदन, आजोग्यता, प्रगट ग्रामगति लोल।—वही, ७ पृ० १२२

अपेक्षा होती है। उनके ग्रामीण स्वरूप की कल्पना अनावश्यक है। यहाँ हम आचार्य देव के गुणों के स्वरूप का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे—

अर्थश्लेष—प्रस्तुत गुण में बन्ध के शैथिल्य का अभाव अपेक्षित माना गया है। इसमें एक वाक्य या पद से अनेक अर्थ का बोध भी वाञ्छनीय माना गया है।[1] श्लेष में अशिथिल बन्ध की कल्पना दण्डी से ली गयी है।[2] इसके साथ ही प्राचीन आचार्यों के श्लेष अलङ्कार के स्वरूप का मिश्रण श्लेष गुण के स्वरूप में कर दिया गया है। एक पद या वाक्य से अनेक अर्थ के बोध को प्राचीन आचार्यों ने श्लेष अलङ्कार माना है।[3]

प्रसाद :—प्रसाद में सुन्दर शब्द और अर्थ के सद्भाव तथा प्रसिद्धार्थ पदों के प्रयोग पर बल दिया गया है। यह गुण प्रसन्न पदों के प्रयोग से रसमय होता है।[4] भामह, दण्डी आदि आचार्यों की तरह देव ने इस गुण में सर्वजन-सुबोध पदों के प्रयोग पर बल दिया है। सुन्दर शब्दों के प्रयोग को भरत आदि ने माधुर्य गुण में आवश्यक माना था। देव ने उन आचार्यों की माधुर्य-धारणा से शब्दार्थ की रमणीयता को लेकर प्रसाद-गुण-लक्षण में मिला दिया। आचार्य देव की प्रसाद-धारणा पर ध्वनिवादी आचार्यों की प्रसाद गुण-विषयक मान्यता का भी प्रभाव स्पष्ट है। आनन्दवर्धन आदि ध्वनि-प्रस्थान के आचार्य प्रसाद को रसाभिव्यक्ति का आवश्यक गुण मानते हैं। प्रसाद गुण के सद्भाव से काव्य रसमय होता है। देव ने भी प्रसाद को काव्य की रसमयता का गुण माना है। स्पष्ट है कि उन्होंने भामह, दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों की प्रसाद गुण-धारणा से ध्वनिवादी आचार्यों की प्रसाद-धारणा को मिलाकर उक्त गुण के स्वरूप का निर्धारण किया है।

समता :—समता गुण में वर्णों की समता पर बल दिया गया है। सजातीय वर्णों की आवृत्ति को समता में अपेक्षित मानकर देव ने उसे अनुप्रास अलङ्कार के समीप ला दिया है।[5] जयदेव ने समता गुण के लक्षण में अल्पसमासत्व के

---

१. असिथिल अक्षर बंध जहँ, अर्थश्लेष विवेक,
   एक वाक्य पद मैं जहाँ निकसैं अर्थ अनेक।—देव, शब्द रसायन ७ पृ० १२१
२. श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यं····।—दण्डी, काव्यादर्श १, ४३
३. श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः।—वही, २, ३१०
४. शब्द अर्थ सुन्दर जहाँ बरनन बरन प्रसिद्धि,
   वचन प्रसन्न, प्रसाद मैं भव्य-काव्य रससिद्धि।—देव, शब्द रसायन, ७ पृ० १२८
५. जहाँ शब्द पर, बरन सम, अनुप्रास अनुसार,
   बिषम न अक्षर एक सँग, सो सम काव्य सुढार। —वही, ७ पृ० १२९

साथ वर्णों की तुल्यता पर भी बल दिया था। देव की वर्ण-समता-धारणा जयदेव की मान्यता से प्रभावित है।

माधुर्य :—जहाँ रसमय वर्णों का प्रयोग हो और मधुर अर्थ का प्रतिपादन हो, वहाँ आचार्य देव माधुर्य गुण मानते हैं।[1] स्पष्टतः वे माधुर्य को शब्दार्थ-युगलगत गुण स्वीकार करते हैं। देव की माधुर्य-धारणा भरत की कान्ति गुण-धारणा के समान है। भरत ने कान्ति गुण में मन एवं कान को आह्लादित करने का धर्म स्वीकार किया है। रस निचुरते हुए अक्षरों के प्रयोग पर बल देकर देव ने श्रोत्र-विषय का आह्लादकत्व माधुर्य में स्वीकार किया है। 'मधुर अर्थ सुखदानि' कहकर वे माधुर्य में मन की आह्लादकता अपेक्षित मानते हैं। भरत ने माधुर्य को अनुद्वेजक माना था। भामह ने उसे भावात्मक रूप से श्रव्यत्व कहा। सर्वप्रथम दण्डी ने माधुर्य-लक्षण में वाणी एवं वस्तु की रसवत्ता का उल्लेख किया। आचार्य देव ने दण्डी के माधुर्य गुण के स्वरूप को ही स्वीकार किया है।

माधुर्य-लक्षण में वाणी और अर्थ की रसमयता को स्वीकार कर लेने पर भी देव ने उसके ग्रामीण भेद की कल्पना की है। यह कल्पना युक्तिसङ्गत नहीं जान पड़ती। उन्होंने स्वयं ग्रामीण रीति में 'रस में अनरस', 'अरथ में अनरथ' तथा 'बोल में कुबोल' माना है। यदि माधुर्य के भी ग्राम्य-भेद की कल्पना की जाय तो उसमें नीरसता, अर्थहीनता आदि की कल्पना होनी चाहिए। ऐसा होने पर माधुर्य-लक्षण व्यभिचरित हो जायगा। अतः रसहीन ग्रामीण माधुर्य की कल्पना निराधार जान पड़ती है।

सुकुमारता :—सुकुमारता गुण में सरस वाणी, लालित्यपूर्ण रचना, कोमल पदावली की योजना, सुकुमार अर्थ-वर्णन तथा शैथिल्यरहित सुघटित शब्दों का प्रयोग वाञ्छनीय माना गया है।[2] सुकुमारता-लक्षण में वाणी की सरसता का उल्लेख होने से इस गुण का स्वरूप माधुर्य गुण के स्वरूप से अभिन्न हो गया है। अशिथिल एवं सुमिल शब्द-प्रयोग की धारणा भरत से ली गयी है। भरत ने सुकुमारता में सुश्लिष्टसन्धि पर बल दिया है। मृदु अर्थ को भरत ने भी सुकुमारता में वाञ्छनीय माना है। प्राचीन आचार्यों ने सुकुमारता गुण में

---

१. रस निचुरत अच्छर न ते, मधुर अर्थ सुखदानि
सुन्दर अर्थ समुंद पद, सो माधुर्य बखानि।—देव, शब्दरसायन ७ पृ० १३०

२. सरस वचन, रचना ललित, कोमल-पद मृदु अर्थ,
सुमिल शब्द असिथिल सदय, सुकुमार समर्थ।—वही, ७ पृ० १३१

वाणी की सरसता का उल्लेख नहीं किया है। दण्डी आदि आचार्यों ने 'अनिष्ठुर' अक्षर के प्रयोग को सुकुमारता का लक्षण माना था। सम्भव है देव की वाणी की सरसता की कल्पना का आधार दण्डी की उक्त मान्यता ही हो। माधुर्य तथा सुकुमारता; दोनों गुणों के लक्षण में सरस वाणी के प्रयोग पर बल देना समीचीन नहीं। इससे दोनों का पार्थक्य स्पष्ट नहीं हो पाता।

सुकुमारता के भी ग्राम्य भेद की कल्पना सम्भव नहीं। इसमें 'मृदु अर्थ' 'सरस बचन' 'ललित पद' आदि अपेक्षित हैं जो नागर रीति में ही सम्भव है, ग्राम्य-रीति में नहीं।

अर्थव्यक्ति :—जहाँ शब्द के सुनते ही अर्थबोध हो जाता हो, वहाँ अर्थव्यक्ति गुण माना गया है। इस अर्थबोध के लिए किसी पद के अध्याहार की आवश्यकता नहीं होती।[१] यह नेयत्व दोष का विपर्यय-स्वरूप है। दण्डी ने अर्थव्यक्ति को अनेयत्व कहा था। आचार्य देव की अर्थव्यक्ति-धारणा दण्डी की उक्त धारणा से मिलती-जुलती है। देव ने अनेयत्व के साथ ही पदों की 'झटिति अर्थ-प्रत्यायकता' पर भी बल दिया है। वामन ने अर्थव्यक्ति गुण में झट से अर्थ की प्रतीति करा देने की क्षमता स्वीकार की है। शब्द के सुनते ही अर्थ की अवगति की धारणा वामन की अर्थव्यक्ति-धारणा से ली गयी है। स्पष्टतः, आचार्य देव की अर्थव्यक्ति-परिभाषा पर दण्डी एवं वामन की अर्थव्यक्ति-विषयक मान्यता का प्रभाव है।

समाधि :—समाधि गुण की धारणा दण्डी से ली गयी जान पड़ती है। दण्डी ने लोक-सीमा में अन्य वस्तुधर्म का अन्यत्र आरोप समाधि गुण का लक्षण माना है। दण्डी की तरह देव ने भी एक वस्तु के सार का अन्यत्र आधान समाधि में आवश्यक माना है; किन्तु जहाँ दण्डी ने लोक-सीमा के भीतर वस्तु-धर्म के अन्यत्र आधान पर बल दिया है वहाँ देव ने 'लोक सींव उलंघै अरथ' का उल्लेख कर दिया है।[२] इस गड़बड़ी के विषय में डॉ० नगेन्द्र ने यह मान्यता व्यक्त की है कि या तो पाठ की गड़बड़ है या देव को दण्डी के समाधि-लक्षण का अर्थ समझने में भ्रान्ति हुई है।[३] डॉ० नगेन्द्र का यह विचार उचित ही है।

---

१. अर्थ कढ़ै शब्दाहिं ते, समुझत, सुनतहि जाहि,
आन न आवै आनिबे, अर्थव्यक्ति कहि ताहि।—देव, शब्दरसायन ७ पृ० १३१

२. और वस्तु को सार लै, धरै और ही ठौर,
लोक सींव उलंघै, अरथ सो समाधि कवि मौर।—वही, ७ पृ० १३३

३. डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालङ्कार सूत्र की भूमिका, पृ० १५८

कान्ति :—जहाँ लोकमर्यादा की अपेक्षा कुछ वैशिष्ट्य रखने वाले सुरुचिपूर्ण चारु वचन हों जिससे सुनने वाले को सुख मिले, वहाँ कान्ति गुण माना गया है।[१] दण्डी ने कान्ति में लोकमर्यादा के अनुसरण को आवश्यक माना है; पर उसके स्थान पर देव ने लोकमर्यादा का अतिक्रमण आवश्यक बताया है। कान्ति के सर्वजनसुखद होने की धारणा दण्डी की 'सर्वजगत्कान्तं' की धारणा के ही समान है। इस विषय में डॉ० नगेन्द्र ने निम्नलिखित विचार व्यक्त किये हैं—देव ने या तो दण्डी का अभिप्राय नहीं समझा या फिर कुछ पाठ की गड़बड़ी है। इसके अतिरिक्त एक सम्भावना यह हो सकती है कि 'अधिक लोकमर्जाद ते,' से देव का अभिप्राय कदाचित् वामन द्वारा निर्दिष्ट साधारण वचनावली के बहिष्कार का ही हो; परन्तु यह कुछ क्लिष्ट कल्पना ही लगती है।[२] पाठ की अशुद्धि का अनुमान ही युक्तिसङ्गत जान पड़ता है। दण्डी की धारणा इतनी स्पष्ट है कि उसे समझने में भ्रान्ति की बहुत कम सम्भावना है। कान्ति के ग्राम्य-भेद की कल्पना असङ्गत है।

ओज—ओज गुण में सुगठित दीर्घ अक्षर-बन्ध तथा धीर शब्द एवं अर्थ की योजना पर बल दिया गया है। इसे गद्य-रचना के अनुकूल माना गया है।[३] भरत, भामह तथा दण्डी की समासभूयस्त्व-धारणा के अनुसार ही देव ने 'दीर्घ-बन्ध अक्षर सुमिलि' की धारणा ओज-लक्षण में व्यक्त की है। दण्डी ने ओज को गद्य का प्राण माना था। देव की 'गद्य रचनि' मान्यता उससे अभिन्न है।

उदारता :—आचार्य देव की मान्यता है कि जिस गुण के सद्भाव से ओज का उत्कर्ष दूर हो जाय, वह हृदय को आनन्दित करने वाला गुण उदारता है।[४] देव की उदारता-धारणा स्पष्ट नहीं है। गुण का कार्य काव्य का उत्कर्ष करना है, दूसरे गुण के उत्कर्ष को दूर करना नहीं। दण्डी ने उदारता में उत्कृष्ट गुण की प्रतीति पर बल दिया था। ओज के उत्कर्ष को दूर करने से देव का क्या

---

१. अधिक लोक मर्जाद ते, सुनत परम सुख जाहि,
चारु वचन ये कांति रुचि कांति बखानत ताहि।—देव, शब्दरसायन ७ पृ० १३४

२. डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालङ्कारसूत्र, भूमिका, पृ० १५७

३. "गद्य रचनि, गौरव गुननि, अर्थ शब्द अति धीर,
दीह बंध अक्षर सुमिलि ओज, उच्चार गँभीर।—वही, ७ पृ० १३५

४. जाहि सुनत ही ओज को दूरि होत उतकर्ष,
कहिये ताहि उदारता, सनत-सुनत हिय हर्ष।—वही, ७ पृ० १३६

अभिप्राय है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। अनुमानतः देव उदारता में ओज के औद्धत्य के विपरीत कोमलता का उत्कर्ष वाञ्छनीय मानते थे; किन्तु यह मान लेने पर भी कि उदारता का स्वभाव ओज के विपरीत है, इस कथन की सङ्गति नहीं बैठती कि वह ओज के उत्कर्ष का घातक है। इस विषय में डॉ० नगेन्द्र की यह मान्यता उचित ही है कि 'प्रयत्न करने पर यही अर्थ निकाला जा सकता है कि उदारता में एक प्रकार का उत्कर्ष होता है, जो ओज के उत्कर्ष से भिन्न होता है—या फिर यहाँ भी प्रतिलिपिकार की कृपा से पाठ की कुछ उलट-फेर है।'[1]

अनुप्रास और यमक के स्वरूप का प्रस्तुत सन्दर्भ में विवेचन आवश्यक नहीं। हम यह मानते हैं कि इन्हें गुण न मानकर अलङ्कार मानना ही उचित है।

आचार्य देव ने अलङ्कार की अपेक्षा काव्य में गुण को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उनकी मान्यता है कि श्लेष आदि उक्त बारह रीतियों के सद्भाव से ही अलङ्कार सुशोभित होते हैं।[2] गुण के अभाव में अलङ्कार व्यर्थ हैं।

देव की गुण-धारणा के इस विवेचन से स्पष्ट है कि उनपर भरत, दण्डी, वामन आदि प्राचीन आचार्यों की गुण-धारणा का प्रभूत प्रभाव है। दण्डी की गुण-धारणा तो उनका आदर्श ही है। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता अर्थव्यक्ति तथा ओज गुण के लक्षण प्राचीन आचार्यों के तत्तद् गुणों के लक्षण के आधार पर ही निर्मित हैं। उदारत्व, कान्ति एवं समाधि गुणों के लक्षण प्राचीन आचार्यों के गुण-लक्षण से भिन्न अवश्य हैं; पर उस भिन्नता का कारण या तो पाठ-दोष है, या स्वयं देव की भ्रान्ति। गुण के क्षेत्र में आचार्य देव की कोई महत्त्वपूर्ण मौलिक उद्भावना नहीं।

कुमारमणि शास्त्री

अपनी पुस्तक 'रसिक रसाल' के नवम उल्लास में कुमारमणि शास्त्री ने काव्य-गुण का विवेचन किया है। वे गुण को काव्यात्मभूत रस का उत्कर्ष-कारक अचलस्थिति धर्म मानते हैं। अतः, माधुर्य आदि तीन रस-गत गुणों की

---

१. डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालङ्कार सूत्र की भूमिका पृ० १५७

२. शब्द अर्थ भाषा सरस, सरस काव्य दस-रीति।
अनुप्रास अरु यमक जुत, अद्भुत बारह भाँति
इन्हैं आद्धत नीकी लगै अलंकार की पाँति।—देव, शब्द रसायन ७ पृ० १२६-२७

ही सत्ता स्वीकार करते हैं। गुण वस्तुतः रस के ही धर्म हैं; किन्तु उपचार से वे शब्दार्थ के भी धर्म माने जाते हैं।[१]

माधुर्य :—माधुर्य गुण के सद्भाव में चित्त अपार आनन्द पाकर द्रवित होता है। यह गुण शृङ्गार, करुण और शान्त रसों में रहता है।[२] माधुर्य-व्यञ्जक पद एवं सङ्घटना का विवरण देते हुए कुमारमणि ने यह मान्यता व्यक्त की है कि इस गुण में अनुनासिक वर्ण के साथ स्पर्श-वर्ण का संयोग; रेफ तथा टवर्ग का त्याग; कवर्ग आदि का प्रयाग; असमास या अल्पसमास रचना का विन्यास अपेक्षित है।[३] माधुर्य गुण का उक्त लक्षण मम्मट के माधुर्य-लक्षण से अभिन्न है। माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों का विवरण भी मम्मट के मतानुसार ही है। कुमारमणि ने शृङ्गार, करुण एवं शान्त रसों में माधुर्य का मात्रा-भेद स्वीकार नहीं किया है।

ओज :—जिसमें चित्त विस्तृत होकर तेज प्राप्त करता है वह ओज गुण है। यह वीर, बीभत्स और रौद्र रसों का गुण है।[४] ओज में उद्धत एवं दीर्घ समास रचना वाञ्छनीय मानी गयी है।[५]

प्रसाद :—कुमारमणि की प्रसाद-गुण-धारणा मम्मट की धारणा से अभिन्न है। सूखी लकड़ी में आग की तरह तथा निर्मल वस्त्र में जल की तरह प्रसाद गुण में चित्त में रस व्याप्त हो जाता है।[६] इसमें सरल पदावली की योजना होती है। मम्मट के सिद्धान्त का अनुमोदन करते हुए कुमारमणि ने गुणव्यञ्जक वर्णों

---

१. आत्मा ही के धर्म ज्यों सौर्य्य प्रभृति पहिचानि।
त्यों रस के उत्कर्षकर अचल स्थिति गुन जानि॥
शब्द अर्थ में लाच्छनिक गुन इमि गनौ विसेषि।
—कुमारमणि, रसिक रसाल, ६, १-२

२. जहँ कछु चित द्रवत है, ताहि आनन्द अगाह।
रस सिंगार, माधुर्य-गुन करुन, सांत हू माँह॥ —वही, ६,४

३. निज पंचम जुत वर्न जे, रेफ न जहँ संयुक्त।
कवर्गादि पुनि मात लघु गनि टवर्ग तहँ मुक्त॥
लघु समास, पद मधुर कै, बिन समास पद होत।—वही ६, ५-६

४. तेज महत को गहत चित, जहँ बिस्तार बढ़ाय।
तहाँ ओज गुन जानिये, वीर रौद्र रस पाय॥—वही, ६,१०

५. उद्धत दीर्घ-समास कहे ओज के हेत्त।—वही, ६, ११

६. सूखे ईंधन आग ज्यों विमल वसन जल रीति।
तुरत चढ़त चित में अरथ सो प्रसाद गुन चीति॥—वही ६, १४

एवं रचनाओं के सम्बन्ध में कहा है कि वक्ता, अर्थ, प्रबन्ध आदि के औचित्य से तत्तद्‌गुणों में अपेक्षित वर्णों एवं रचनाओं में अन्यथाभाव भी अपेक्षित हो जाता है।[1]

स्पष्ट है कि कुमारमणि की गुण-धारणा पर मम्मट की गुण-धारणा का पुष्कल प्रभाव है। विभिन्न रसों में गुण के मात्रा-भेद को अस्वीकार करना कुमारमणि की स्वतन्त्र कल्पना है।

दोष-प्रकरण के अन्त में कुछ दोषों के अदोषत्व अथवा गुणत्व का प्रतिपादन हुआ है। अनुकरण में सभी दोष अदोष होते हैं। वक्ता आदि के औचित्य से दोष गुण बन जाते हैं। नीरस काव्य में दोष न गुण होते हैं न दोष। इस विवेचन का आधार 'काव्यप्रकाश' है।[2]

सोमनाथ

सोमनाथ ने 'रसपीयूषनिधि' में माधुर्य आदि तीन रसगत गुणों का विवेचन किया है। उनकी गुण-धारणा मम्मट की गुण-धारणा से प्रभावित है। माधुर्य में सुनते ही अङ्ग-अङ्ग में हर्ष का सञ्चार हो जाता है तथा हृदय आर्द्र हो जाता है। इसमें टवर्ग-रहित सानुनासिक वर्ण युक्त पदावली की योजना होती है।[3]

ओज में सुनते ही चित्त में तेज छा जाता है। इसमें टवर्ग, रेफ-युक्त वर्णों का प्रयोग एवं उद्धत रचना होती है। ओज गुण वीर रस में रहता है। वीर की अपेक्षा रौद्र रस में उसका आधिक्य रहता है और रौद्र की अपेक्षा

---

१. वक्ता अर्थ प्रवन्ध वस नायक उचित प्रमानि।
वृत्ति वर्न-रचना कहूँ गुन विरुद्ध पहिचानि।।
—कुमारमणि, रसिक रसाल, ९, १७ तुलनीय मम्मट काव्यप्र० ८, ७७

२ होत नही अनुकरण में दूषन सबै विचार।
वक्त्रादिक औचित्य तें दोपै गुन निरधार।।
कहूँ न गुन नहि दोप है, नीरस में यह जान।
कहृणादिक (करणादिक ?) अवतंस जे, ते सहितार्थ प्रमान।।
—वही, १०,११६-११७ तुलनीय—मम्मट, काव्यप्रकाश पृ० १९९,९८

३. श्रवननि सुनतही हिय श्रवै अंग-अंग सुप होइ।
ताहि मधुरता गुन कहैं कवि कोविद सव कोइ।।
ट ठ ड ढ वरजित विंदुजुत रन लघुवरन अनूप।
रचना सो माधुर्य की·····।—सोमनाथ, रसपीयषनिधि, तरंग २१ पृ० ८८ ८९

भी बीभत्स में ओज की मात्रा अधिक रहती है।[१] ओज की परिभाषा तथा वर्ण-रचना की धारणा मम्मट की धारणा से मिलती-जुलती है; किन्तु ओज की स्थिति के लिए रसों का जो क्रम 'रसपीयूपनिधि' में उल्लिखित है, वह कुलपति मिश्र के रस-रहस्य' के क्रम के समान है। मम्मट और विश्वनाथ ने वीर की अपेक्षा बीभत्स में तथा उसकी भी अपेक्षा रौद्र में ओज का आधिक्य माना है। आनन्दवर्धन ने रौद्र, वीर, अद्भुत में क्रमशः ओज का आधिक्य माना था। कुलपति की तरह सोमनाथ बीभत्स में ओज की सर्वाधिक मात्रा मानते हैं।

प्रसाद को नवो रसों का गुण माना गया है।[२]

गुण और अलङ्कार का काव्य में पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित करते हुए सोमनाथ ने बताया है कि गुण रस का सदा उत्कर्ष करते हैं; किन्तु अलङ्कार रस का कहीं उपकार कर सकते हैं, कहीं उदासीन रह सकते हैं और कहीं उसका अपकार भी कर सकते हैं। तीन उदाहरण देकर उक्त तीनों स्थितियाँ स्पष्ट की गयी हैं।[३]

स्पष्ट है कि सोमनाथ पर मम्मट तथा कुलपति मिश्र के गुण-सिद्धान्त का प्रभूत प्रभाव पड़ा था।

भिखारी दास

हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन आचार्यों में भिखारी दास का विशिष्ट स्थान है। उन्होंने 'काव्यनिर्णय' में प्राचीन आचार्यों के दस गुणों एवं आनन्दवर्धन आदि आचार्यों के तीन गुणों का उल्लेख किया है।[४] भोज, अग्निपुराणकार आदि की तरह भिखारी ने काव्यनिर्णय के एक अध्याय में वैशेषिक गुणों के स्वरूप पर भी विचार किया है। यहाँ उनकी गुण-धारणा का समीक्षात्मक परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

---

१. ··(?) तेज (···?)महा जाहि सुनत ही चित्त।
ताहि कहत है ओज गुन जे कबिता के मित्त॥
बरनि ओज गुन वीर में. तातें अधिक सुरुद्र।
तातें बढि बीभत्स में··· ।—सोमनाथ, रसपीयूपनिधि २१ पृ० ८६

२, नवहू रस में अर्थ जह गंग नीर के तल।
ताकौ कहत प्रसाद गुन·· ।—वही; पृ० ८६

३. —वही, पृ० ८६

४. दस विधि के गुँन कहत हैं पहले सुकवि सुजाँन।
पुनि तींनहिं गँन-गँन रचे, सब तिँनके दरम्याँन॥—भिखारी, काव्यनिर्णय, १६, पृ० ५२७

भिखारी दास ने ध्वनिवादी आचार्यों की विचार-सरणि का अनुसरण करते हुए गुण को शूरता आदि की तरह आत्मा में उत्कर्ष का आधान करने वाला धर्म माना है। गुणों की संख्या दस मानने वाले दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने उन दस गुणों को शब्दार्थ या सङ्घटना का ही धर्म माना था। आनन्दवर्धन आदि आचार्यों ने गुण के शब्दार्थधर्मत्व या सङ्घटनाश्रयत्व का खण्डन कर उसे काव्य की आत्मा रस का धर्म माना। उन्होंने गुणों की संख्या तीन कर दी। इस प्रकार काव्य की आत्मा के धर्म के रूप में माधुर्य, ओज और प्रसाद; इन तीन गुणों को ही स्वीकृति मिली थी। भिखारी दास ने गुण को आत्मा का धर्म मानने में ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यता को अपनाया। साथ ही श्लेष आदि दसो गुणों को आत्म-धर्म स्वीकार कर लिया।[1] उन्होंने प्राचीनों के दस गुणों में से नौ के ही नाम स्वीकार किये हैं। एक गुण का नाम नवीन है। इस प्रकार 'काव्यनिर्णय' में परिगणित दस गुण हैं—(१) माधुर्य, (२) ओज, (३) प्रसाद, (४) समता, (५) कान्ति, (६) उदारता, (७) अर्थव्यक्ति, (८) समाधि, (९) श्लेष और (१०) पुनरुक्तिप्रकाश। इन गुणों में से प्रथम नौ गुणों के नाम परम्परागत धारणा के अनुरूप हैं। अन्तिम गुण पुनरुक्तिप्रकाश नवीन है। भिखारी दास ने गुणों का वर्गीकरण भी नवीन पद्धति पर किया है। दस गुणों को आत्मा का धर्म कहने पर भी दास ने चार वर्गों में उनका विभाजन किया है। माधुर्य, ओज, और प्रसाद अक्षर-गुण-वर्ग में रखे गये हैं। समता, कान्ति और उदारता गुण दोषाभाव-वर्ग में परिगणित हैं। अर्थव्यक्ति और समाधि गुणों की गणना अर्थ-गुण-वर्ग में की गयी है तथा श्लेष और पुनरुक्तिप्रकाश को वाक्यगुण-वर्ग में रखा गया है।[2] भरत, दण्डी आदि ने काव्यगुणों का शब्द अर्थ आदि वर्गों में विभाजन नहीं किया था। वामन ने दस गुणों के शब्दगत एवं अर्थगत भेद से बीस प्रकार माने थे। भिखारी दास ने दस गुणों के अक्षरगत वर्ग, दोषाभाव वर्ग, अर्थगत वर्ग एवं वाक्यगत वर्ग; इन चार वर्गों की कल्पना की है। ओज, प्रसाद और माधुर्य गुण ध्वनिवादी आचार्यों के गुण हैं। इन गुणों को रसाश्रित माना गया था; पर

१. ज्यों सत-जन-हिय ते नहीं, सूरतादि गँन जाँइ।
त्यों बिदग्ध हिय में रहैं, दस गुँन सै हैज सुभाइ।।
—भिखारी, काव्यनिर्णय, १९ पृ० ५२७

२. अच्छर गुँन 'माधुर्य' पुनि 'ओज प्रसाद' विचार।
सँमता, काँति, उदारता, दूखँन-हरँन निहार।।
अरथाव्यक्त, समाधिपे, अरथैं करैं प्रकास।
बाक्यँन के गँन स्लेस औ पुनरुक्ति-परकास।।—वही, १९ पृ० ५२७

भिखारी दास ने इन्हें अक्षर-गत गुण वर्ग में रखा है। इसका कारण यह है कि आनन्दवर्धन, मम्मट आदि ने माधुर्य आदि को रस-धर्म मानकर उपचार से शब्दार्थ का भी धर्म माना था। वीरता आदि के आत्मा के धर्म होने पर भी जैसे किसी व्यक्ति के सुपुष्ट शरीर को देखकर उसे वीर कह दिया जाता है उसी प्रकार काव्य की आत्मा के धर्म माधुर्य, ओज आदि को भी काव्य के शरीरभूत शब्द-अर्थ का धर्म उपचार से मान लिया जाता है। इसीलिए मम्मट ने माधुर्य आदि के व्यञ्जक वर्णों का उल्लेख किया है। दास ने मम्मट आदि आचार्यों के गुण-व्यञ्जक वर्णों की मान्यता को स्वीकार कर उन्हीं वर्गों के आधार पर माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों का स्वरूप-निर्धारण किया है। इसी लिए उन्होंने इन तीन गुणों को अक्षर-गुण के वर्ग में रखा है। दस गुणों के स्वरूप के लक्षण में आचार्य भिखारी ने भरत, दण्डी और वामन की गुण-धारणा के साथ आनन्दवर्धन, मम्मट आदि की गुण-सम्बन्धी मान्यता को मिला कर कुछ नवीन रूप में उन्हें उपस्थित किया है। दस गुणों के स्वरूप-विवेचन के उपरान्त दास ने मम्मट के तीन गुण वाले सिद्धान्त को ही मान्य बताया है तथा उक्त दस गुणों का उन्हीं तीन गुणों में अन्तर्भाव माना है। उनके दस गुणों के लक्षण निम्नलिखित हैं :—

माधुर्य :—जहाँ ट-वर्ग के वर्णों को छोड़ अन्य वर्ण अनुस्वार युक्त हों तथा जहाँ कोमल वर्णों का प्रयोग हो, वहाँ आचार्य दास के अनुसार माधुर्य गुण होता है।[१] माधुर्य गुण की यह धारणा मम्मट के माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों की धारणा से अभिन्न है। सानुनासिक वर्णों से युक्त ट-वर्ग के अतिरिक्त वर्णों को मम्मट ने माधुर्य गुण का व्यञ्जक माना है। भामह के माधुर्य में भी श्रव्यत्व का अभिप्राय मृदु वर्णों का प्रयोग ही है। भरत ने कोमल पद-योजना को लक्ष्य कर ही अनेक वार सुने जाने पर भी माधुर्य को अनुद्वेगकारी कहा था।

ओज :—जहाँ उद्धत वर्णों का विन्यास हो, वह ओज गुण है। 'क' वर्ग 'ट' वर्ग श, ष, स, आदि का योग उद्धत वर्ण-विन्यास माना गया है। इनके प्रयोग में दास ने ओज-गुण माना है।[२] 'ट' वर्ग के वर्णों तथा श, ष आदि को मम्मट ने भी ओज गुण का व्यञ्जक माना है। दास की यह ओज गुण-धारणा मम्मट की उक्त धारणा से बहुत कुछ साम्य रखती है।

---

१. अँनुस्वार औ वर्ग-जुत, सबै, वरन अटवर्ग।
अच्छर जामें मृदु परें, सो माधुर्ज-निसर्ग।—भिखारी, काव्यनिर्णय,१९ पृ० ५३०

२. उद्धत अच्छर जहँ परें स, क, ट वर्ग मिल आइ।
ताहि ओज गुन कहत हैं, जे प्रवींन कविराइ॥——वही, १९ पृ० ५३०

प्रसाद—प्रसाद गुण में आचार्य भिखारी ने मन को रुचिकर लगने वाले वर्णों एवं शिथिल-शरीर वाले वर्णों का प्रयोग वाञ्छनीय माना है, जो जल की तरह उक्ति से गम्भीर अर्थ को प्रकट करते हों।[१] इस प्रकार आचार्य भिखारी के अनुसार वर्णों का रुचिकर होना, उनका शिथिल-शरीर होना और गम्भीर अर्थ को प्रकट करने वाला होना; ये प्रसाद गुण के तीन लक्षण हैं। ध्वनि-सम्प्रदाय में प्रसाद गुण में केवल सरल शब्दों के प्रयोग पर बल दिया गया है, जिनके सुनते ही अर्थ का बोध हो जाय। मनोरम शब्दों का प्रयोग माधुर्य में अपेक्षित माना गया है। दास ने मनोरम वर्णों का प्रयोग भी प्रसाद का एक लक्षण माना है। शिथिल-शरीर वर्णों के प्रयोग पर बल देकर प्रसाद में अल्पसमासता या समासहीनता की धारणा को भी प्रकारान्तर से स्वीकार कर लिया गया है। जयदेव ने चन्द्रालोक में प्रसाद गुण में काव्य के अन्तःस्थित अर्थ का जल की भाँति आभासित होना स्वीकार किया है। जयदेव के प्रसाद-लक्षण में प्रयुक्त 'सलिलस्येव सूक्तस्य' के आधार पर ही भिखारी दास ने 'जल सूक्ति-ज्यों' का प्रयोग अपने प्रसाद-गुण-लक्षण में किया है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं के आधार पर ही प्रसाद गुण के स्वरूप की कल्पना आचार्य भिखारी ने की है।

समता—समता गुण की धारणा काव्यनिर्णय में सर्वथा नवीन है। प्राचीन आचार्यों के वर्णन की प्रसिद्ध पद्धति का त्याग कर जहाँ नयी रीति से वर्णन हो और उस वर्णन में कोई दोष भी नहीं आ सके उसे समता गुण कहते हैं।[२] वस्तु के सम्बन्ध में प्रसिद्ध धारणा का त्याग कर नयी रीति से उसके वर्णन में देश, काल, कला, लोक-प्रसिद्धि-त्याग आदि दोष आने की सम्भावना रहती है। यदि कवि नयी रीति से वस्तु का वर्णन करने पर भी उसे अपने कौशल से दोष-मुक्त रख सकता है तो वहाँ समता नामक गुण होता है। इसके उदाहरण में इस कथन को उद्धृत किया गया है कि 'मेरे नेत्र-कमल को रात्रि ही सुखद प्रतीत होती है जिसमें श्याम-चन्द्र (कृष्णरूपी चन्द्र) व्रज देश पर उदित रहते हैं।' कमल के लिए दिन का सुखद होना और रात्रि का दुखद होना ही प्रसिद्ध है। उसका त्याग होने पर भी यहाँ कोई दोष नहीं; अतः समता गुण है। दास ने प्राचीन आचार्यों की धारणा को मान कर ही इस गुण को दोषाभाव-वर्ग में रख लिया है।

---

१. मँन रोचक अच्छर परें, सो है सिथिल सरीर।
गुन 'प्रसाद' जल सूक्ति ज्यों प्रघटै अरथ-गँभीर॥
—भिखारी, काव्यनिर्णय, १९ पृ० ५३१

२. प्राचीनँन की रीति सों भिन्न रीति ठैहराइ।
'समता-गुँन' तासों कहैं पै दूषनँन-बराइ॥—वही १९ पृ० ५३३

वामन ने समता गुण को वैषम्य या प्रक्रमभङ्ग दोष का अभाव माना था। इसी लिए उनके समता गुण को मम्मट ने दोषाभाव मात्र कहकर अस्वीकार कर दिया था। आचार्य भिखारी ने समता का जो लक्षण दिया है, उससे वह गुण केवल दोषाभावात्मक नहीं जान पड़ता। प्राचीन रीति का त्याग कर नवीन रीति की स्थापना गुण का भावात्मक स्वरूप है। अतः, दोषाभाव-वर्ग में उसकी गणना उचित नहीं।

कान्ति—भिखारी दास की कान्ति-गुण धारणा भी नवीन है। उनके अनुसार जहाँ ऐसे सुन्दर शब्दों का प्रयोग हो, जिनका अर्थ न तो इतना प्रकट ही हो कि मूर्ख व्यक्ति भी अनायास उसे समझ ले और न इतना गूढ़ ही कि विद्वानों को भी उसे समझने में कठिनाई हो, वैसी ग्राम्य-दोष से मुक्त रचना में कान्ति गुण माना जाता है।[1] दास के कान्ति गुण के दो लक्षण स्पष्ट हैं—(क) अनतिगूढ एवं अनतिस्फुट अर्थवाले रुचिर शब्दों का प्रयोग तथा (ख) ग्राम्य दोष का अभाव। दास के रुचिर शब्द-प्रयोग को, जिसमें अर्थ न तो बहुत गूढ हो और न बहुत प्रकट ही, उस प्राचीन मान्यता से प्रभावित माना जा सकता है, जिसमें शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि शब्द में अर्थ आन्ध्र देश की रमणियों के उन्नत पयोधर की तरह यदि अत्यन्त प्रकट रहे तो वह आकर्षक नहीं होता; गुजरात देश की कामिनियों के आँचल में छिपे हुए कुच की तरह अर्थ यदि शब्द में एकदम अप्रकट हो, तो भी वह मनोरम नहीं होता। यदि शब्द में अर्थ महाराष्ट्र देश की बधुओं के आँचल में विलास करते हुए वक्ष की तरह कुछ प्रकट और कुछ अप्रकट रहे तभी वह मनोज्ञ होता है।[2] भामह ने विद्वान से लेकर स्त्री और बच्चे तक के लिए बोधगम्य शब्द के प्रयोग में प्रसाद गुण माना था। अत्यन्त प्रकट अर्थ वाले शब्द को रुचिकर न मानने में दास का उद्देश्य शब्द के व्यङ्ग्य अर्थ की अति-स्फुटता का ही गुण-सीमा से बहिष्कार करना जान पड़ता है। वाच्य अर्थ की स्फुटता को रुचिर न मानना युक्तिसङ्गत नहीं होगा। व्यङ्ग्य अर्थ की अति-स्फुटता ही अरोचक मानी जाती है। इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की अतिगूढता भी मनोहारी नहीं होती। अतः, ध्वनि-सम्प्रदाय में अगूढ-व्यङ्ग्य एवं अस्फुट

---

१. रुचिर-रुचिर बातें परें, अरथ न प्रघट, न गूढ।
ग्राम्य-रहित सो 'कान्ति-गुन', समझे सुमति, न मूढ॥
—भिखारी, काव्यनिर्णय. १९ पृ० ५३४

२. नान्ध्रीपयोधरमिवातितरां प्रकाशो नो गुर्जरीस्तनमिवातितरां निगूढः।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च शश्वत्, सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः।
—ध्वन्यालोक की दीधिति टीका में उद्धृत, पृ० ७२

व्यङ्ग्य; दोनों को गुणीभूत-व्यङ्ग्य माना गया है। दास ने यद्यपि इसे स्पष्ट नहीं किया है कि शब्द के गूढ अर्थ एवं प्रकट अर्थ के अभाव में कान्ति गुण मानने में अर्थ से उनका अभिप्राय वाच्य अर्थ से है या व्यङ्ग्य अर्थ से, तथापि काव्य-शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा में मान्य सिद्धान्त के आधार पर व्यङ्ग्य अर्थ की अनतिस्फुटता एवं अनतिगूढता में ही शब्द की रुचिरता मानी जा सकती है। निष्कर्षत:, यह कहा जा सकता है कि दास ने शब्दार्थ के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों की उक्त मान्यता को ही कान्ति गुण के एक लक्षण के रूप में स्वीकार कर लिया है। दास का कान्ति गुण भरत के कान्ति गुण से अंशत: साम्य रखता है। भरत ने मन और श्रोत्र को आह्लाद देने वाले गुण को कान्ति गुण कहा है। दास का रुचिर शब्द भी ऐसा ही आह्लाद देने वाला है। वामन ने अर्थगत उदारता गुण में ग्राम्यत्व दोष का अभाव माना है। उनके उदारता-लक्षण को दास ने कान्ति गुण के लक्षण में ग्रहण कर लिया है। वामन के कान्तिगुण-लक्षण 'दीप्तरसत्व' को जयदेव ने गुण न मानकर शृङ्गार में समाविष्ट मान लिया था। भिखारी दास ने भी वामन के दीप्त-रसत्व को कान्ति का लक्षण न मानकर कान्ति की परिभाषा की स्वतन्त्र कल्पना की है और उसमें वामन की अर्थगत उदारता की धारणा को भी मिला लिया है।

उदारता—दास का उदारता गुण उनके कान्ति गुण से कुछ मिलता-जुलता ही है। इसकी परिभाषा में कहा गया है कि जहाँ अर्थ अन्वय के बल से चतुर व्यक्ति की समझ में शीघ्र आ जाता है; पर अन्य लोगों के लिए अर्थात् असहृदय व्यक्तियों के लिए वह दुर्बोध रहता है, वहाँ उदारता गुण माना जाता है।[१] स्पष्ट है कि इस गुण में भी दास ने अर्थ की ऐसी अस्पष्टता का निषेध किया है, जो चतुर व्यक्तियों के लिए भी अस्पष्ट ही रहे, साथ ही अचतुर व्यक्तियों के लिए अर्थ का सुबोध होना भी यहाँ अवाञ्छनीय माना गया है। अत:, इस गुण का स्वरूप कान्ति गुण के स्वरूप से बहुत भिन्न नहीं हो पाया है। वामन के कान्ति गुण-लक्षण को अस्वीकार कर उनके उदारता-लक्षण को अपने कान्ति गुण के लक्षण में मिला लेने से दास उदारता गुण के स्वरूप-निर्धारण में कुछ उलझन में पड़ गये। उदारता गुण में दास का लक्ष्य सम्भवत: विदग्ध-भणिति है, जिसका अर्थ चतुर व्यक्ति अन्वय से समझ लेते हैं; पर असहृदय उसे नहीं समझ पाते। जयदेव ने उदारता को विदग्धोक्ति माना है।[२]

१. जो अन्वै-बल पठित ह्वै संमझि परै चतुरॅन।
औरॅन को लागै कठिन, गुॅन 'उदारता' ऍन॥—भिखारी, काव्यनिर्णय १९, पृ० ५३५

२. द्रष्टव्य—जयदेव, चन्द्रालोक पृ० ३३

उन्होंने उदारता को ग्राम्यत्व का अभाव मानने वाले मत का खण्डन किया है। दास की उदारता भी विदग्ध उक्ति ही है।

अर्थव्यक्ति—जहाँ बोल-चाल में प्रयुक्त होने वाले वाक्य के समान अत्यन्त स्पष्ट अर्थ वाले एवं अल्प समासवाले वाक्य का प्रयोग हो, वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है।[1] दास की इस अर्थव्यक्ति-परिभाषा में स्पष्ट अर्थ वाले शब्दों एवं समास-हीन पदों के प्रयोग पर बल दिया गया है। स्पष्टार्थ शब्दों का प्रयोग भरत की अर्थव्यक्ति के 'सुप्रसिद्धाभिधान' पद-प्रयोग से अभिन्न है। वामन की अर्थव्यक्ति-धारणा 'अर्थव्यक्तिहेतुत्व' तथा दण्डी के 'अनेयत्व' से भी यह भिन्न नहीं। आचार्य भिखारी ने वामन के शब्दगत माधुर्य की 'पृथक्पदत्व' परिभाषा को अपनी अर्थव्यक्ति-परिभाषा में मिला दिया है। भामह ने माधुर्य और प्रसाद दोनों में अल्प-समासत्व को अपेक्षित माना था। जयदेव ने अल्प-समासता को समता के लक्षण का एक भेद बना दिया था। दास ने समास-हीन रचना को अर्थव्यक्ति का एक लक्षण माना है। अर्थव्यक्ति गुण में अर्थ की स्पष्टता पर सभी आचार्यों ने किसी-न-किसी रूप में बल दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि अल्पसमास-रचना अर्थ की स्पष्टता में सहायक होती है। अतः, दास की परिभाषा में अर्थव्यक्ति के लिए दीर्घ-समास के त्याग को वाञ्छनीय मानना उचित ही है। इस गुण के अभाव में क्लिष्टत्व, अप्रतीतत्व, नेयार्थत्व आदि दोष काव्य में आ जाते हैं।

समाधि—जहाँ पर्याय अलङ्कार की तरह आरोह-अवरोह की गति में सुन्दर क्रम पाया जाता हो, वहाँ दास के अनुसार समाधि गुण होता है।[2] दास की यह समाधि-धारणा वामन की शब्द-समाधि-धारणा से अभिन्न है। वामन के 'आरोहावरोह-क्रम' समाधि-लक्षण को ही पण्डितराज जगन्नाथ ने बन्ध के गाढत्व और शैथिल्य का अर्थात् ओज और प्रसाद का क्रम से अवस्थापन कहा है। दास का समाधि-धारणा उक्त आचार्यों की धारणा से अभिन्न है। वामन के शब्द-समाधि-विवेचन के क्रम में इस समाधि-लक्षण पर विस्तार से विचार किया जा चुका है। अतः, यहाँ उसका पिष्टपेषण अवाञ्छनीय होगा। दास ने आरोह-अवरोह के क्रम को पर्याय अलङ्कार के सदृश कहा है। पर्याय अलङ्कार में कोई वस्तु अपने आश्रय का त्याग कर अन्य का आश्रय लेती है। समाधि

---

१. जासु अरथ अति-ही प्रगट, नहिं समास अधिकाइ।
अर्थ 'व्यक्त-गुन' बात ज्यों, बोलें सैहैज सुभाइ॥
—भिखारी, काव्यनिर्णय, १९ पृ० ५३५

२. जुरै रोह-अवरोह-गति, रुचिर भाँति क्रम पाइ।
तिहिं 'समाधि-गुन' कहत हैं ज्यों भूपँन परजाइ॥—वही, १९ पृ० ५३६

गुण में भी आरोह और अवरोह की गति का क्रम से त्याग और ग्रहण होता रहता है।

श्लेष—श्लेष गुण की परिभाषा में दास ने कहा है कि जहाँ बहुत शब्दों को एक कर समास किया जाय तथा उसका आधिक्य दिखाया जाय, वहाँ श्लेष गुण होता है। समास की दीर्घता, लघुता आदि के आधार पर श्लेष के तीन भेद माने गये हैं—गुरु श्लेष लघु श्लेष और मध्यम श्लेष।[१] प्राचीन आचार्यों की श्लेष-धारणा से दास की श्लेष-धारणा भिन्न है। प्राचीनों ने बहुत पदों के अलग-अलग रहने पर भी वर्ण-साजात्य आदि के कारण उनमें एक-पदता का भान होने में श्लेष गुण माना था। दास ने अनेक पदों के समास को श्लेष माना है। इस प्रकार भरत, वामन, दण्डी आदि की ओज-धारणा के आधार पर दास ने श्लेष-लक्षण की सृष्टि की है। प्राचीन आचार्यों ने ओज गुण में अनेक पदों का समास अपेक्षित माना है। दास ने ओज गुण को अक्षर गुण मानकर मम्मट आदि के ओज गुण-व्यञ्जक वर्णों के आधार पर कठोर वर्णों के प्रयोग में ओज गुण मान लिया और ओज की समस्त-पदता के आधार पर श्लेष गुण की कल्पना कर ली। मम्मट आदि आचार्यों ने भी प्राचीन आचार्यों की दीर्घसमास-रचना को ओज-व्यञ्जक माना है। दास के श्लेष में दीर्घ-समास-रचना के साथ लघु-समास-रचना और मध्य-समास-रचना भी स्वीकृत है।

पुनरुक्ति-प्रकाश—दास की यह नवीन गुण-कल्पना है। प्राचीन आचार्यों के दस गुणों में से नौ गुणों के नाम स्वीकार कर दास ने एक गुण के नये नाम की कल्पना कर ली है। प्राचीनों के सौकुमार्य गुण के स्थान पर दास ने पुनरुक्ति-प्रकाश नामक गुण माना है। इसके लक्षण में कहा गया है कि जहाँ एक ही शब्द अर्थ की रुचिरता उत्पन्न करता हुआ बार-बार प्रयुक्त हो वहाँ पुनरुक्ति-प्रकाश गुण माना जाता है।[२] दास की पुनरुक्ति-प्रकाश गुण-धारणा जयदेव की माधुर्य गुण-धारणा से प्रभावित है। जयदेव के गुण-लक्षण 'माधुर्यं पुनरुक्तस्य वैचित्र्यं चारुतावहम्' के दो अर्थ टीकाकारों ने किये हैं।

---

१. बहु सबदँन कों एक करि, कीजै जहाँ समास।
ता अधिकाई 'स्लेस-गुन' गुरु, मध्यँम, लघु 'दास'॥
—भिखारी, काव्यनिर्णय, १९ पृ० ५३९

२. एक सब्द बहु बार जँह, परै रुचिरता अर्थ।
पुनरुक्ति-परकास-गुँन, बरनैं बुद्धि समर्थ॥—वही, १९ पृ० ५४०

कुछ लोगों ने 'पुनः' का 'तु' अर्थ मानकर उक्त अर्थात् काव्य के चारुताकारी वैचित्र्य को माधुर्य माना है और कुछ लोगों ने पुनरुक्त अर्थात् द्विरुक्त के चारुतावह वैचित्र्य में माधुर्य स्वीकार किया है। इस दूसरी मान्यता से दास की पुनरुक्तिप्रकाश-धारणा अभिन्न है।

दास के उक्त दस गुणों के स्वरूप-विवेचन से यह स्पष्ट है कि उन्होंने भरत, भामह, दण्डी, वामन आदि की गुण-धारणा को कुछ नवीन रूप में प्रतिपादित किया है। उदाहरणार्थ, कान्ति गुण में शब्दार्थ की अतिगूढता एवं अतिस्फुटता का निषेध कर तथा उसमें प्राचीन आचार्यों के उदारता-लक्षण 'अग्राम्यत्व' का मिश्रणकर दास ने कान्ति गुण की नवीन परिभाषा बना ली है। समता गुण का लक्षण नवीन है। श्लेष गुण के लक्षण की कल्पना प्राचीनों के ओज-लक्षण के आधार पर हुई है। पुनरुक्तिप्रकाश गुण के नाम के नवीन होने पर भी उसका स्वरूप जयदेव के माधुर्य गुण के स्वरूप के आधार पर कल्पित है। माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों के स्वरूप-निर्धारण में दास ने दण्डी, वामन आदि की धारणा का अनुगमन न कर गुण को रसाश्रित मानने वाले आनन्दवर्धन, मम्मट आदि के गुण-व्यञ्जक वर्णों के आधार पर उनके लक्षण दिये हैं।

भिखारी दास वस्तुतः संस्कृत-काव्य-शास्त्र के ध्वनिप्रस्थान में आनेवाले आनन्दवर्धन, मम्मट आदि आचार्यों के गुण-सिद्धान्त के अनुयायी थे। उन्होंने सम्भवतः आचार्य के दायित्व के निर्वाह-मात्र के लिए प्राचीन आचार्यों के दस गुणों के स्वरूप की स्थापना की है। काव्यशास्त्र में मौलिक सिद्धान्त की स्थापना का युग समाप्त हो जाने के बाद पूर्व-प्रतिपादित सिद्धान्तों का उल्लेख कर उनके खण्डन-मण्डन का युग आया। मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं का परीक्षण एवं उससे प्राप्त निष्कर्ष के आधार पर सिद्धान्त-निरूपण किया है। यही कारण है कि पण्डितराज जगन्नाथ ने प्राचीन आचार्यों के दस गुणों की परिभाषाएँ अपने रसगङ्गाधर में दी हैं और माधुर्यादि तीन गुण के सिद्धान्त का भी उल्लेख किया है। भिखारी दास ने उसी परम्परा का अनुसरण करते हुए, माधुर्य आदि तीन गुण मानने वाले सिद्धान्त के अनुयायी होने पर भी, पहले दस गुणों का स्वरूप-निर्धारण किया है और तदुपरान्त तीन गुणों के लक्षण दिये हैं। उन्होंने मम्मट की मान्यता का समर्थन करते हुए कहा है कि उक्त दसो गुण माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों के ही अधीन हैं; अतः मम्मट के द्वारा इन तीन को ही स्वीकृति

मिली, जो समीचीन ही है।[१] दास ने इन तीन गुणों में प्राचीन आचार्यों के दस गुणों का अन्तर्भाव दिखाया है और इन तीन गुणों के विषय-भूत रसों का भी निर्धारण किया है।

माधुर्य—दास के अनुसार श्लेष गुण का मध्य-समास भेद, समता और कान्ति गुण माधुर्य गुण में अन्तर्भूत हैं। यह गुण करुण, हास्य और शृङ्गार रसों में रहता है।[२] आनन्दवर्धन, मम्मट आदि सभी आचार्य करुण और शृङ्गार रसों में माधुर्य गुण की सत्ता मानने में एकमत हैं किन्तु हास्य रस को माधुर्य का विषय किसी ने नहीं माना था। अभिनव गुप्त ने हास्य में शृङ्गार का अङ्ग होने के कारण माधुर्य का प्रकर्ष और उसके विकासधर्म के कारण ओज का प्रकर्ष माना है। इस प्रकार उनके अनुसार हास्य में माधुर्य और ओज; दोनों का प्रकर्ष रहता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने हास्य रस के गुण के सम्बन्ध में दो प्रकार की मान्यताओं का उल्लेख किया है। कुछ लोग उसमें ओज और माधुर्य, दोनों गुणों का योग मानते हैं। कुछ लोग उसमें केवल प्रसाद गुण की सत्ता स्वीकार करते हैं।[३] हास्य रस को माधुर्य का विषय मानना दास की स्वतन्त्र मान्यता है।

ओज—दास ने दीर्घसमास रूप श्लेष, समाधि, उदारता आदि का अन्तर्भाव ओज गुण में माना है। यह गुण वीर, भयानक, रौद्र तथा वीभत्स रसों में रहा करता है।[४] ओज गुण के विषयभूत रसों के निर्णय में अभिनव एवं मम्मट आदि आचार्यों में थोड़ा मतभेद था। वीर तथा रौद्र रसों में ओज की सत्ता सभी आचार्यों ने एकमत होकर स्वीकार की है। मतभेद केवल अद्भुत और बीभत्स को लेकर था। अभिनव गुप्त ने रौद्र, वीर और अद्भुत रसों को ओज गुण का विषय माना है। मम्मट ने वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में ओज

---

१. माधुर ओज प्रसाद के, सब गुँन हैं आधीन।
तातें इँन-ही कों मँन्यों, मम्मट सुकवि प्रवीन॥
—भिखारी, काव्यनिर्णय, १९ पृ० ५४१

२. स्लेषौ मध्य सँमास कौ सँमता, कांति विचार।
लींनें गुँन माधुर्ज जुत करुनाँ, हास, सिंगार॥—वहीं, १९ पृ० ५४१

३. अद्भुतहास्यभयानकानां गुणद्वययोगित्वं केचिदिच्छन्ति। अपरे तु प्रसादमात्रम्।
—जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, १ पृ० ८९

४. स्लेष, समाधि, उदारता, सिथिल ओज-गुँन रीति।
वीर, भयाँनक, रुद्र औ रस बिभत्स सों प्रीति॥
—भिखारी, काव्यनिर्णय, १९ पृ० ५४१

की सत्ता मानी है। दास ने मम्मट की मान्यता को अपनाया और भयानक रस को भी उसमें जोड़ दिया। अतः, दास की धारणा पूर्ववर्ती आचार्यों की धारणा से कुछ नवीन है। वे अद्भुत रस में ओज गुण नहीं मानते। वस्तुतः, बीभत्स रस की अपेक्षा अद्भुत रस में ही चित्त की दीप्ति अधिक होती है। अतः, बीभत्स की जगह अद्भुत में ओज गुण मानना अधिक युक्तिसङ्गत है। भयानक रस के विभाव के दीप्तत्व को दृष्टिगत रख कर ही सम्भवतः दास ने भयानक रस को भी ओज का विषय मान लिया है। वस्तुतः, भयानक रस की अनुभूति में सहृदय का हृदय दीप्त नहीं होता। अतः उसमें केवल ओज गुण मानना समीचीन नहीं जान पड़ता।

प्रसाद—इस गुण को अर्थ की प्रकटता का हेतु माना गया है। इसमें अल्प-समास या असमास-रचना होती है। यह सभी गुणों और सभी रसों में रहने वाला गुण है।[१] मम्मट आदि की प्रसाद-सम्बन्धी मान्य धारणा को ही दास ने स्वीकार किया है।

तीन गुणों में ही शेष सभी गुणों के अन्तर्भाव का प्रयास नया है। मम्मट आदि आचार्यों ने दस गुणों में से कुछ ही गुणों का अन्तर्भाव माधुर्यादि तीन गुणों में माना था। शेष को दोषाभाव-रूप आदि बताकर गुण के रूप में अमान्य ठहराया था। दास ने तीन गुणों में ही शेष गुणों का समाहार कर लिया है। ऐसा कर भिखारी दास माधुर्य आदि गुणों के स्वरूप को बहुत स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। उनके समता गुण का, जिसमें परम्परागत वर्णन-परिपाटी का त्याग कर नवीन पद्धति अपनायी जाती है, माधुर्य गुण में अन्तर्भाव मानने में कोई युक्ति नहीं। उदारता को ओज गुण में अन्तर्भूत मानना भी युक्तिसङ्गत नहीं।

भोज तथा अग्निपुराणकार आदि की तरह दास ने 'दोषोद्धार' का भी वर्णन किया है। भोज की तरह उसे गुण के एक विशेष वर्ग में नहीं रखा गया है। अग्निपुराण की पद्धति पर दोष-वर्णन के उपरान्त उसके उद्धार का वर्णन आया है। उन दोषों के उद्धार से दो स्थितियाँ होती हैं—कुछ दोषों में स्थिति-विशेष में केवल अदोषता आती है; पर कुछ दोष शोभाधायक गुण बन जाते हैं। वस्तुतः, दोषों के स्थिति-विशेष में शोभाधायक बन जाने को ही वैशेषिक

---

१. अल्प-सँमास, सँमास-विन, अर्थ-व्यक्त गुँन-मूल।
सो प्रसाद-गुन बरँन सब, सब गुँन, सब रस तूल॥—काव्यनि० १९ पृ० ५४२

गुण माना जाना चाहिए। दास के अनुसार कहीं शब्दालङ्कार की योजना के लिए, कहीं छन्द के नियम के आग्रह से, कहीं तुक के लिए तथा कहीं वर्णन के प्रसङ्ग के कारण दोष को भी अदोष माना जाता है।[१] यहाँ हम विशेष स्थिति में विशेष दोषों के गुण बन जाने के सम्बन्ध में आचार्य भिखारी दास की मान्यता पर विचार करेंगे।

अश्लीलत्व—दास के अनुसार 'सुभग', 'भगवन्त' आदि शब्दों में अश्लीलत्व दोष नहीं माना जाता। सामान्यतः आचार्यों ने भकार में अश्लीलत्व की व्यञ्जना मानी है, पर उक्त शब्दों के साथ मनुष्य की भावना का जैसा सम्बन्ध है, उससे वहाँ अश्लीलत्व का भाव मन में नहीं आता। भोज ने भी संवीत, गुप्त और लक्षित अर्थ में ग्राम्यत्व एवं अश्लीलत्व को अदोष माना है। दास की यह धारणा भोज की धारणा के अनुरूप है। दास के अनुसार निन्दा, क्रीड़ा एवं हास्य में अश्लीलत्व भी गुण बन जाता है।[२] हास्य आदि के प्रसङ्ग में सभ्य समाज में भी अश्लील शब्दों का प्रयोग होता ही है और उस प्रयोग को कोई अश्लील नहीं मानता—उसे श्लील ही माना जाता है। वैसे प्रसङ्ग के काव्य में वर्णित होने पर अश्लील शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक होगा और वह गुण माना जायगा।

ग्राम्यत्व—असभ्य अर्थ ग्राम्य दोष माना जाता है। दास की मान्यता है कि जहाँ ग्राम्य उक्ति ही कवि को विवक्षित हो, वहाँ ग्राम्यत्व गुण बन जाता है।[३] असभ्य जनों की उक्ति में स्वाभाविक होने के कारण ग्राम्य-प्रयोग को दास ने गुण माना है। भोज ने ग्राम्योक्ति में ग्राम्यत्व को दोष और विदग्ध जनों की उक्ति में उसे गुण माना था।[४] दास ने भोज की मान्यता को अस्वीकार कर दिया। भोज का अभिप्राय यह था कि विदग्ध-उक्ति में ग्राम्य-प्रयोग की असुन्दरता छिप जाती है; अतः वह गुण बन जाता है। दास की प्रस्तुत मान्यता भोज की मान्यता से अधिक समीचीन जान पड़ती है।

---

१. कहुँ, सब्दालंकार, कहुँ छन्द, कहूँ तुक-हेत।
कहुँ प्रकरँन-बस दोष हू, गँने अदोष सचेत।
कहूँ अदोषौ होत, कहुँ दोष होत गुँन-खान॥
—भिखारी, काव्यनिर्णय, २४ पृ० ६६५

२. कहुँ 'असलील' दूषन नहीं, जथा सुभग भगवंत।
कहूँ हास-निंदादि ते, स्लील गुँने गुँनवंत॥—वही, २४ पृ० ६६७

३. ग्रामीनोक्ति कहें कहुँ, ग्रामैं गुन ह्वै जाइ।—वही, २४ पृ० ६६८

४. द्रष्टव्य—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० १२४

विदग्धोक्ति में ग्राम्यत्व दोष का परिहार-मात्र हो सकता है; वह शोभाधायक गुण नहीं बन सकता। ग्राम्य उक्ति को स्वाभाविक बनाने के कारण ग्राम्य प्रयोग शोभाधायक गुण बन जाता है। विश्वनाथ ने भी अधम प्रकृति या नीच पात्र के मुख से ग्राम्य उक्ति को गुण माना है।[1] दास की मान्यता उसी मान्यता के अनुरूप है। अग्निपुराण में लोक और शास्त्र में प्रसिद्ध ग्राम्य प्रयोग को अदोष माना गया है।

न्यूनपदता—न्यूनपदता दोष के गुणत्व का लक्षण काव्यनिर्णय में नहीं दिया गया है; पर उसके उदाहरण और उसपर दास की टिप्पणी से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ विवक्षित अर्थ के लिए पर्याप्त पद का प्रयोग न होने पर भी चेष्टा आदि से न्यून पद का अभाव दूर कर दिया जाता है, वहाँ दास न्यूनपदत्व को गुण मानते हैं।[2] आनन्दमग्न-दशा में वाणी कभी-कभी कुण्ठित हो जाती है और चेष्टा से ही भाव की अभिव्यक्ति स्वाभाविक और रमणीय हुआ करती है। विश्वनाथ ने आनन्दमग्न व्यक्ति की उक्ति में न्यूनपदता को गुण माना है।[3] दास ने उसी सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

अधिकपदता—दास ने अधिकपदत्व दोष के गुणत्व की धारणा में भी विश्वनाथ की मान्यता को ही स्वीकार किया है। अर्थ-बोध की दृढता के लिए जहाँ एक ही अर्थ का कई पदों से बार-बार कथन होता है, वहाँ अर्थ की अधिकाधिक पुष्टि की दृष्टि से अधिक पदों का प्रयोग गुण बन जाता है।[4]

कथितपदत्व—कथित पद का पुनः कथन भी कुछ स्थितियों में गुण माना जाता है। दीपक, लाटानुप्रास, वीप्सा, पुनरुक्तवदाभास एवं विधि अलङ्कारों की योजना के स्थल में दास ने कथितपदता को गुण माना है।[5] लाटानुप्रास में विश्वनाथ ने भी कथितपदत्व को गुण माना है। वीप्सा में द्वित्व का विधान व्याकरण-सम्मत है। पुनरुक्तवदाभास में वस्तुतः पुनरुक्ति न होने पर भी उसका आभास उत्पन्न करने के लिए यदि कथित पद की आवृत्ति होती है तो वह भी काव्य में शोभाधायक ही होती है। विधि

---

१. ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु।—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण ७ पृ० ५१६

२ द्रष्टव्य—भिखारी, काव्यनिर्णय पृ० ६६८

३. उक्तावानन्दमग्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः।—विश्वनाथ साहित्यद० ७ पृ० ५२०

४. द्रष्टव्य—भिखारी, काव्यनिर्णय पृ० ६६६

५. दीपक, लाटा, वीप्सा, पुनरुक्ती वद-भास।
विध-भूषन में कथित पद, गुन करि लेखौ दास।। —वही २४ पृ० ६७०

अलङ्कार में सिद्ध वस्तु का पुनः विधान होता है। उस स्थल में भी कथित-पदत्व गुण ही होता है। दास ने अर्थावृत्तिदीपक, पदार्थावृत्तिदीपक, देहरी-दीपक, कारकदीपक तथा मालादीपक—इन पाँच दीपक-भेदों का उल्लेख किया है। पदार्थावृत्तिदीपक आदि के स्थल में कथितपदत्व का गुणत्व स्पष्ट है।

गर्भितत्व—एक उदाहरण में दास ने दूरान्वय से अर्थ-बोध दिखाकर गर्भितत्व की अदोषता दिखायी है। यद्यपि उन्होंने उसे गर्भित दोष-गुण कहा है; पर वह वस्तुतः अदोष मात्र है।[1]

लोक-विरुद्ध—कवि-परम्परा में प्रसिद्ध बात का वर्णन लोक-विरुद्ध होने पर भी गुण ही माना जाता है।[2] लोक में असिद्ध बातें भी कविप्रौढोक्ति में सिद्ध होती हैं। अतः, जहाँ लोक-विरुद्ध; किन्तु कविप्रौढोक्ति-सिद्ध बातों का वर्णन होता है, वहाँ लोक-विरुद्ध दोष नहीं माना जाता। भोज ने भी देस-विरोध, काल-विरोध, कला-विरोध आदि दोषों में कविकौशल से गुणत्व का आधान माना है।

सहचरभिन्नत्व—दास द्वारा प्रदत्त सहचरभिन्न दोष के गुणत्व के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे विशेषोक्ति एवं विनोक्ति आदि अलङ्कारों के स्थल में सहचरभिन्न दोष को गुण मानते हैं।[3]

इन पद, पदार्थ एवं वाक्यगत दोषों के गुणत्व-प्रतिपादन के उपरान्त दास ने कुछ रस-गत दोषों का गुणत्व भी प्रतिपादित किया है। रस, स्थायीभाव, सञ्चारीभाव आदि का स्व-शब्द से कथन दोष माना गया है। भिखारी दास की मान्यता है कि रस तथा स्थायीभाव का स्व-शब्द से कथन भी कहीं-कहीं अदोष बन जाता है।[4] इसके उदाहरण पर टिप्पणी देते हुए दास ने स्थायी आदि की स्व-शब्द-वाच्यता को गुण कहा है। मम्मट ने भी स्थिति-विशेष में स्वशब्दवाच्यता को अदोष माना है।[5] दास की प्रस्तुत धारणा आचार्य मम्मट की धारणा से मिलती-जुलती है।

---

१. द्रष्टव्य—भिखारी, काव्यनिर्णय, पृ० ६७१

२. जो प्रसिद्ध कवि रीति में सो संतत गु"न होइ।
 लोक विरुद्ध बिलोकि कें दूषन गनै न कोइ ।। —वही, २४ पृ० ६७१

३. इहाँ‥‥सहचर भिन्न है पै बिसेसोक्ति वा विनोक्ति अलंकार करि कें पु"न संभव है, ताते गु"न भयो।—वही, पृ० ६७२

४. द्रष्टव्य—भिखारी, काव्यनिर्णय पृ० ६७७

५. न दोषः स्वपदेनोक्तावपि संचारिणा क्वचित्।—मम्मट, काव्यप्र० ७ पृ० १८१

विभाव तथा अनुभाव की कष्ट-कल्पना के स्थल में सामान्यतः रस-दोष माना जाता है; पर विशेष स्थिति में वह भी गुण बन जाता है।[१]

विरोधी रसों और भावों का एकत्र सन्निवेश या एक रस के वर्णन-प्रसङ्ग में उसके विरोधी रस के विभाव आदि का प्रदर्शन रस-भाव-विरुद्ध दोष माना जाता है। दास की मान्यता है कि एक रस का बाध कर अन्य रस का पोषण करने में, उपमा देने में तथा एक रस को दूसरे का अङ्ग बनाने आदि के प्रसङ्ग में यह रस-भाव-विरोध दोष नहीं होकर गुण बन जाता है।[२]

दास की उक्त दोष-गुण-धारणा के विवेचन से यह स्पष्ट है कि उन पर प्राचीन आचार्यों के दोष-गुण-सिद्धान्त का पुष्कल प्रभाव पड़ा है।

जनराज

कवितारसविनोद के अष्टम विनोद में काव्यगुणों के स्वरूप पर विचार किया गया है। जनराज ने गुण को काव्य-शोभा का आवश्यक तत्त्व माना है। काव्य के सौन्दर्य के लिए दोष का अभाव ही पर्याप्त नहीं, गुण का सद्भाव भी आवश्यक है।[३] गुण तीन हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद।[४] जनराज की गुण-धारणा कुलपति मिश्र की धारणा से मिलती-जुलती है। यह भेद अवश्य है कि जनराज ने रसों में कुमारमणि शास्त्री की तरह गुण का मात्रा-भेद स्वीकार नहीं किया है। उनके गुणों के स्वरूप निम्नलिखित हैं:—

माधुर्यः—कवितारसविनोद के हस्तलेख में माधुर्य-लक्षण का आरम्भिक अंश अस्पष्ट है। माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों का विवरण 'रस रहस्य' के आधार पर दिया गया है। उसे शान्त, करुण तथा शृङ्गार रसों का गुण माना गया है।[५]

ओजः—ओज गुण चित्त में तेज लाता है। संयुक्ताक्षरों से पूर्ण, ट, ठ, ड, ढ से युक्त उद्धत पद-रचना ओज के अनुकूल होती है। वीर, रौद्र एवं बीभत्स

---

१. द्रष्टव्य—भिखारी दास, काव्य निर्णय पृ० १७८

२. बोध किऐं, उपमा दिऐं, लिऐं परायौ अंग।
प्रतिकूलौ रस भाव है, गु॒न मैं पाइ प्रसंग ॥—भिखारी, काव्य०, पृ० १८१

३. सौ कविता दोषउ बिना। गुन बिन नीक लगैन।
—जनराज, कवितारसविनोद, ८, १

४. सो गुन तीन प्रकार है, माधुरि ओज प्रसाद।—वही, ८,१

५. अइ (आर्द्र ?) होत च्चिय (चित) जा सुनै। वर्न टबर्ग न होय।
विंदसहतलकवर्नजुत माधुरीव गुन सोय।
सांत करुन सिंगार में ताको निपट निवास। —वही, पृ० १०२

रसों में ओज गुण का निवास रहता है।[१]

प्रसाद :—प्रसाद गुण में अर्थ की स्पष्टता वाञ्छनीय मानी गयी है। निर्मल जल एवं निर्धूम अग्नि की तरह इसमें अर्थ सुस्पष्ट रहता है। इसमें प्रसिद्ध अर्थ वाले पदों की योजना रहती है। यह गुण सभी रसों में रहता है।[२] जनराज की प्रसाद-गुण-धारणा कुलपति मिश्र की गुण-धारणा से अभिन्न है। अर्थ की स्फुटता के लिए उज्ज्वल जल तथा स्वच्छ अग्नि के दृष्टान्त कुलपति के रसरहस्य से ही लिये गये हैं।[३] कुलपति की गुण-धारणा पर आचार्य मम्मट की धारणा के प्रभाव पर विचार किया जा चुका है। स्पष्ट है कि कुलपति की तरह जनराज पर भी मम्मट की गुण-धारणा का प्रभूत प्रभाव पड़ा है।

जनराज ने गुण को कुलाङ्गना के शील के समान तथा अलङ्कार को उसके हार आदि आभूषण के समान कहकर काव्य में अलङ्कार की अपेक्षा गुण का अधिक महत्त्व स्वीकार किया है।[४]

लछिराम

रावणेश्वरकल्पतरु में लछिराम ने काव्यगुणों का विवेचन किया है। उन्होंने माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को स्वीकार किया है; पर प्राचीन आचार्यों के दस गुणों के स्वरूप का भी विवेचन किया है।[५]

मुरारिदान

मुरारिदान ने जसवंतभूषण में काव्यप्रकाश के आधार पर गुण का विवेचन किया है। काव्य में गुण के महत्त्व-प्रतिपादन के लिए उन्होंने अग्नि-पुराणकार के मत की ओर सङ्केत करते हुए लिखा है कि गुण के अभाव में अलङ्कृत काव्य भी शोभा नहीं पाता।[६] उन्होंने मम्मट के मत का अनुसरण करते हुए माधुर्य को चित्त को पिघलाने वाला तथा ओज को चित्त को दीप्त

१. तेज प्रगटै चित्त मै जाके सुनत सुभाय।
संयोगादिटवर्गजुत उद्धत बर्न मिलाय।
वीररौद्रबीभत्स ये तीन रसन मै वास।—जनराज, कवितारसविनोद, पृ० १०३

२. सुहृद चित्त उज्जिल सलिल अगिन धूम विनि जोय। × × ×।
सो प्रसाद रचना सुइम सब रस मै छवि देत।
सुनत अर्थ प्रगट करै सब को मन हरि लेत। —वही, ८,११

३. द्रष्टव्य—कुलपति रसरहस्य, ६, ६,

४. द्रष्टव्य – जनराज, कवितारसविनोद, ८, १२-१४

५. डॉ० भगीरथ मिश्र, हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० १८६

६. भूषन जुत हू काव्य नहिं, गुन विन रोचक होय।
— मुरारिदान, जसवन्तभू० पृ० ७०

करने वाला गुण कहा है।[1] प्रसाद वह गुण है, जिसके सद्भाव में सहृदय की बुद्धि रचना में शीघ्र प्रविष्ट हो जाती है। मम्मट के प्रसाद-लक्षण से 'शुष्केन्धनाग्निवत्' तथा 'स्वच्छजलवत्' दृष्टान्तों को लेकर कविराज मुरारिदान ने कहा है :—"जैसे ईंधन में अग्नि को शीघ्र व्याप्त कराने वाला गुण ईंधन की शुष्कता है और वस्त्र में जल को शीघ्र व्याप्त करानेवाला गुण वस्त्र की स्वच्छता है वैसे रचना में बुद्धि का शीघ्र प्रवेश कराने वाला गुण रचना का प्रसाद है।"[2] मुरारिदान ने प्रसाद गुण को अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक श्लाघनीय माना है।[3]

जगन्नाथ प्रसाद भानु कवि

भानु कवि के काव्य-प्रबन्ध में रीति आचार्यों की पद्धति पर काव्याङ्गों का स्वरूप-विश्लेपण किया गया है। इसमें काव्यगुणों का विवेचन नहीं कर भानु कवि ने पाठ गुणों पर विचार किया है। उनकी मान्यता है कि नीरस कविता भी सुपाठक के मुख से उच्चरित होने पर श्रोताओं को सरस और मधुर जान पड़ती है। इसके विरुद्ध सरस कविता भी कुपाठक के पढ़ने से नीरस और अप्रिय भासती है।[4] पाठक के छह गुण हैं :—(१) माधुरि या माधुर्य (२) अक्षर-ओज, (३) पदच्छेद, (४) शुद्ध स्वर, (५) धीरज तथा (६) लय।[5]

माधुर्य पाठ की मधुरता है। वर्णों के स्पष्ट उच्चारण में अक्षरगत ओज गुण माना गया है। आशय के अनुरूप पद अथवा वाक्य पर यति का होना पदच्छेद गुण कहा गया है। स्वरशुद्ध गुण में मुक्त कण्ठ से शब्दोच्चारण पर बल दिया गया है। धैर्य गुण में पाठ के समय पाठक की धीरता को वाञ्छनीय माना गया है। लय या ध्वनि का यथार्थ निर्वाह लय गुण है।

इसके विपरीत छह पाठ-दोषों का उल्लेख हुआ है। शीघ्रता में पाठ, राग-युक्त पाठ अर्थात् गाने के समय स्वरोच्चार के साथ पाठ, सिर हिलाते हुए

१. है माधुर्य सु सौम्यता,
सो पिघलावत चित्त ॥
ओज दीप्ति वह तेज युत,
करत जु मन कौं मित ॥—मुरारिदान, जसवन्तभूषण, २, १

२. वही, पृ० ७०

३. और यह प्रसाद गुण अत्यन्त श्लाघनीय है, इसलिए इस गुण को हमने 'बड़भाग्य' यह विशेषण दिया है।—वही, पृ० ७०

४. जगन्नाथ प्रसाद भानु, काव्यप्रबन्ध, पृ० ५९

५. माधुरि, अक्षर ओज, अरु, पदच्छेद स्वर शुद्ध।
धीरज, लय ये षट गुणनि, कह पाठक गुण वृद्ध ॥—वही, पृ० ५९

किया जानेवाला पाठ, केवल पाठ, अर्थ समझे बिना किया जाने वाला पाठ, मन्द स्वर का पाठ—ये पाठक के दोष हैं।[१]

भानुकवि ने उक्त पाठ-गुणों को काव्य में रस से भी अधिक महत्त्व प्रदान कर दिया है। काव्य का सुन्दर या असुन्दर होना केवल रस के भाव या अभाव पर निर्भर नहीं, वह पाठक के पढ़ने की सफलता-असफलता पर निर्भर है। इस सिद्धान्त से सहमत होना कठिन है। नीरस कविता को सुन्दर पाठ भी सरस नहीं बना सकता। इसके विपरीत सरस काव्य सुन्दर पाठ के अभाव में भी मधुर लगता है। सुन्दर पाठ का न हो सकना शारीरिक असमर्थता का फल भी हो सकता है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि जो व्यक्ति शारीरिक सीमा के कारण कविता का सुन्दर पाठ करने में असमर्थ है, वह उसे पढ़कर उसके रस की मधुरिमा को भी नहीं समझ सकता। यदि भानुकवि की यह मान्यता हो कि पाठक का सदोष पाठ श्रोता के रस-भङ्ग का हेतु होता है तो उनके पाठ-दोषों में से 'अनर्थज्ञ' दोष श्रोता की दृष्टि से अनुपपन्न हो जाता है। पाठक यदि अर्थ समझे बिना भी कविता का पाठ करता हो तो श्रोता के रसबोध में कोई बाधा नहीं आती। कोई संगीतज्ञ जब किसी रससिद्ध कवि की भावगर्भ कविता को सुन्दर रागिणी में गा देता है तो श्रोता भावमग्न हो जाते हैं। वे यह नहीं पूछने जाते कि गायक अर्थ समझ कर गान कर रहा था या बिना अर्थ समझे। वस्तुतः, काव्य की सरसता का निर्णय न तो केवल श्रोता की दृष्टि से होना चाहिए न केवल पाठक की दृष्टि से। भावक श्रोता भी हो सकता है और पाठक भी। अतः भानुकवि की उक्त पाठ-गुण-धारणा अपूर्ण है।

हेमचन्द्र ने संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रचलित ओज, प्रसाद, माधुर्य, साम्य एवं औदार्य के सम्बन्ध में पाठ-गुणत्व की धारणा का खण्डन किया है।[२] भानु कवि की ओज, माधुर्य आदि की धारणा संस्कृत आचार्यों की तत्सम्बन्धी धारणा से अभिन्न है। अतः, हेमचन्द्र की युक्ति से ही प्रस्तुत मत का खण्डन हो जाता है।

हिन्दी-रीति-शास्त्र के आचार्यों की गुण-धारणा के इस विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी के अधिकांश आचार्यों ने ध्वनि-वादी आचार्यों के मतानुसार माधुर्य आदि तीन रसगत गुणों की ही सत्ता स्वीकार की है। वे गुणों के

---

१. शीघ्र, रागयुत, शिर हलहि, केवल पठन उल्लेख।
अनर्थज्ञ स्वरमन्द पद्, अवगुण पाठक लेख ॥—भानु कवि,काव्यप्रबन्ध, पृ० ५६

२. द्रष्टव्य. हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, व्याख्या, पृ० २४०

स्वरूप-निर्धारण में संस्कृत के ध्वनिवादी आचार्यों—विशेषतः मम्मट के गुण-सिद्धान्त से प्रभावित हैं। केवल आचार्य देव ने अंशतः भरत, दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों की विचार-सरणि का अनुसरण करते हुए बारह शब्दार्थगत गुण स्वीकार किये हैं। सोमनाथ, जनराज, मुरारिदान आदि आचार्यों ने रसगत तीन गुणों का ही विवेचन किया है। चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, कुमारमणि शास्त्री तथा भिखारी दास ने माधुर्यादि तीन गुणों में ही प्राचीन आचार्यों के श्लेष आदि दस गुणों का अन्तर्भाव माना है। भिखारी दास ने दस शब्दार्थगत गुणों का सविस्तर विवरण देने पर भी उनकी माधुर्यादि तीन गुणों से स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं की है। जगन्नाथ प्रसाद भानुकवि ने केवल पाठगुणों का उल्लेख किया है। संस्कृत में भी कुछ आचार्यों ने पाठ-गुणों की कल्पना की थी; किन्तु पाठ-गुण की सत्ता बहुमान्य नहीं हो पायी।

कुलपति, सोमनाथ, जनराज आदि आचार्य मूलतः मम्मट की गुण-धारणा से सहमत होने पर भी तत्तद्रसों में गुण की मात्रा का तारतम्य मानने में उनसे असहमत हैं। उदाहरणार्थ जनराज शान्त करुण और शृङ्गार में माधुर्य की तथा वीर, रौद्र और बीभत्स में ओज की समान मात्रा स्वीकार करते हैं। कुलपति मिश्र और सोमनाथ बीभत्स में ओज की सर्वाधिक मात्रा मानते हैं, जबकि मम्मट ने बीभत्स की अपेक्षा रौद्र में ओज का आधिक्य माना है। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने तो बीभत्स को ओज का विषय ही नहीं माना था। हम यह देख चुके हैं कि पण्डितराज जगन्नाथ ने विभिन्न रसों में गुणों की मात्रा के सम्बन्ध में तीन मतों का उल्लेख किया है।[१] इससे यह सिद्ध है कि संस्कृत के आचार्यों में भी इस विषय में मतैक्य नहीं था। रसों में गुण के मात्रा-विषयक इस थोड़े-से भेद के होने पर भी उक्त आचार्यों की गुण-धारणा मम्मट की धारणा के समान मानी जा सकती है। निष्कर्ष यह कि देव के सिवा प्रायः सभी हिन्दी-रीति-शास्त्र के आचार्य मम्मट की गुण-धारणा से प्रभावित हैं।

आधुनिक विचारकों का गुणविवेचन :

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों की कृतियों में काव्य-गुण-विषयक कोई स्वतन्त्र स्थापना नहीं हो सकी। उक्त विषय के चर्वितचर्वण में ही उनके कृतित्व की सीमा है। प्राचीन मान्यताओं को ही अपनी मौलिक उद्भावना सिद्ध करने के लिए कुछ आचार्यों ने उन्हें नवीनता के छद्मवेप में उपस्थापित

१ द्रष्टव्य—प्रस्तुत पुस्तक पृ० १७१-७२

किया। कुछ गुणों के नवीन स्वरूप की कल्पना प्राचीन आचार्यों की तद्विषयक धारणा को समझ सकने की अक्षमता के कारण ही हो गयी। रीति-आचार्यों की इस गतानुगतिकता के उपरान्त आधुनिक काल के कुछ समीक्षकों के द्वारा नवीन दृष्टि से काव्य-गुण-सम्बन्धी पुरातन सिद्धान्त के मूल्याङ्कन तथा निर्भ्रान्त तत्त्व-निरूपण का प्रयास हुआ है। आधुनिक काव्य-तत्त्व-समीक्षा को मनोविज्ञान के अध्ययन ने कुछ व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया है। काव्य के गुणो का मनोभाव से अविच्छेद्य सम्बन्ध माना गया है। गुणों को शब्दार्थगत मानने वाले आचार्य भरत ने भी परम्परया भाव या रस से उन्हें सम्बद्ध स्वीकार किया था। काव्य-शास्त्र के रस-ध्वनि-प्रस्थान में तो गुण को रस-धर्म ही स्वीकार किया गया। काव्यात्मभूत रस को आत्मा की तरह निर्गुण मानने वाले पण्डितराज जगन्नाथ को भी रस की उपाधि रति आदि हृद्गत भावों से गुण का सम्बन्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं हुई। मनोभावों से सम्पृक्त गुण-जैसे काव्य-तत्त्व के स्वरूप-निर्धारण में आधुनिक समीक्षकों का मनोविज्ञान का अध्ययन विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुआ है।

गुण-विवेचन की दृष्टि से आधुनिक आलोचकों के दो वर्ग माने जा सकते हैं—प्रथम वर्ग में प्राचीन आचार्यों की गुण-विषयक मान्यताओं का स्वस्थ आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर उनमें से सर्वमान्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा का आयास करने वाले आलोचक माने जायँगे। उनका प्रधान लक्ष्य विषय का स्पष्टीकरण रहा है। रीतिकालीन आचार्यों की तरह मौलिक उद्भावना अथवा प्राचीन मत पर स्वमत के मिथ्यारोप का आयास उनमें नहीं पाया जाता। साहित्य-शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा में होने वाले काव्यगुण-सम्बन्धी ऊहापोह के विशद विवेचन एवं पूर्वाग्रह-मुक्त मूल्याङ्कन में ही उनके श्रम की सार्थकता है। द्वितीय वर्ग में प्राच्य एवं प्रतीच्य समीक्षा-सिद्धान्तों के सार-समवाय से निर्मित आधुनिक आलोचना के नये मूल्यमान के अनुरूप प्राचीन गुण-धारणा का परीक्षण तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उस क्षेत्र में कुछ निर्भ्रान्त तत्त्व-निरूपण का श्लाघनीय प्रयास करने वाले विचारक आते हैं। प्रथम वर्ग के आलोचकों में आचार्य रामदहिन मिश्र, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुन दास केडिया, पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', बाबू गुलाब राय, आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा आदि के नाम उल्लेख्य हैं। मिश्रबन्धुओं को भी गुण-विवेचन की दृष्टि से इन्हीं समीक्षकों की पंक्ति में परिगणित किया जा सकता है। द्वितीय वर्ग के आलोचकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास तथा

डा० नगेन्द्र अग्रगण्य हैं। कुछ आधुनिक लेखकों ने भी रीतिकालीन आचार्यों की पद्धति का अनुसरण करते हुए साहित्य-सिद्धान्त-विषयक स्वतन्त्र रीति-ग्रन्थ की रचना की है। जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' कृत काव्यप्रबन्ध तथा बिहारीलाल भट्टकृत साहित्यसागर इसके निदर्शन हैं।

मिश्रवन्धु

साहित्य-पारिजात में मिश्रबन्धुओं ने आचार्य भिखारी दास की गुण-विषयक मान्यता को स्वीकार कर गुणों का स्वरूप-विवेचन किया है।

आचार्य रामदहिन मिश्र

काव्यदर्पण में आचार्य रामदहिन मिश्र ने स्वस्थ समालोचना के लिए अपेक्षित उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया है। काव्यालोचन के मानदण्ड-निर्धारण में वे आधुनिक भाषाओं की प्रकृति पर भी विचार करना आवश्यक मानते हैं। काव्यगुणों के स्वरूप-विवेचन में भी उन्होंने यह मान्यता प्रकट की है कि हिन्दी-काव्यशास्त्र में गुणों के स्वरूप का विधान आधुनिक रचनाओं के वैशिष्ट्य को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। संस्कृत की कृतियों को दृष्टिगत रखते हुए प्राचीन आचार्यों ने काव्यगुणों की जिस प्रकृति का विवरण दिया था, उसके आधार पर आधुनिक साहित्य में प्रयुक्त उक्तियों का परीक्षण सर्वथा समीचीन नहीं। उन्हीं के शब्दों में—'गुण तथा रीति का विचार हिन्दी की आधुनिक रचनाओं के विचार से होना चाहिए। संस्कृत की ये रूढियाँ नियमतः नहीं, सामान्यतः ही लागू हो सकती हैं।'[१] सैद्धान्तिक रूप से इस कथन के औचित्य पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती। लक्ष्य ग्रन्थों के विकास के अनुरूप लक्षण में संशोधन-संवर्धन की उदारता आलोचकों में रहनी ही चाहिए। किन्तु, गुण-विवेचन के क्षेत्र में मिश्र जी ने कोई नूतन उद्भावना नहीं की है। उन्होंने आचार्य मम्मट की गुण-विषयक मान्यता को ही स्वीकार किया है। मम्मट के मत का अनुसरण करते हुए वे माधुर्य आदि तीन रसगत गुणों में ही प्राचीन आचार्यों के शब्दार्थगत दस गुणों का अन्तर्भाव मानते हैं।[२] काव्यदर्पण में माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों का लक्षण-निरूपण मम्मट के मतानुसार ही किया गया है। हमने रसगत तीन गुणों के साथ श्लेष आदि शब्दार्थनिष्ठ दस गुणों की भी उपादेयता पर विचार कर तीन गुणों में शेष सभी गुणों के अन्तर्भावन के प्रयास को दुराग्रहपूर्ण सिद्ध किया है। आचार्य

१. रामदहिन मिश्र, काव्यदर्पण, पृ० ४१४
२. वही, पृ० ४०१

रामदहिन मिश्र की गुण-मीमांसा की शक्ति संस्कृत काव्य-शास्त्र के प्रायः सभी समर्थ मनीषियों की रचनाओं का अध्ययन कर गुण-धारणा के विशद विवेचन में ही है।

सेठ कन्हैया लाल पोद्दार

पोद्दार जी ने रसमञ्जरी में काव्यगुणों का विवेचन किया है। वे मम्मट के गुण-सिद्धान्त के अनुयायी थे। गुणों के स्वरूप, उनकी संख्या तथा गुण और अलङ्कार के भेद-निरूपण की दृष्टि से उनकी कोई नवीन स्थापना नहीं। मम्मट की एतद्विषयक मान्यता को ही उन्होंने हिन्दी गद्य में विवेचित किया है। काव्यगुणों के उदाहरणमात्र नवीन दिये गये हैं, लक्षण में कोई नवीनता नहीं। रीतिकालीन आचार्यों की कृतियों से रसमञ्जरी का केवल इतना ही भेद है कि इसमें प्रौढ गद्य में विषय का स्पष्ट विवेचन हुआ है। माधुर्य, ओज एवं प्रसाद गुणों की परिभाषा काव्यप्रकाश के आधार पर दी गयी है। स्पष्टतः पोद्दार जी के गुणविवेचन का वैशिष्ट्य मौलिकता में नहीं, स्पष्टता और प्रौढता में ही है।

अर्जुन दास केडिया

भारती भूषण में केडिया जी का प्रतिपाद्य अलङ्कार है। अनुप्रास अलङ्कार के सन्दर्भ में उन्होंने वृत्तियों का विवरण दिया है, जो प्रकारान्तर से काव्यगुण से सम्बद्ध हैं। इस विवेचन में उनकी गुण-विषयक मान्यता भी स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने तीन वृत्तियों को क्रमशः तीन गुणों से सम्बद्ध माना है। उपनागरिका में चित्तद्रावक वर्णों में रचना रहती है। इसमें माधुर्य गुण के व्यञ्जक वर्ण आते हैं। परुषा या गौणा (गौडी) में ओज-प्रकाशक वर्णों की अधिकता होती है। कोमला या पाञ्चाली में प्रसाद-व्यञ्जक रचना लानी चाहिए।[1] उनके इस कथन से स्पष्ट है कि वे मम्मट आदि की तरह काव्य गुणों को चित्त की द्रुति आदि अवस्थाओं से सम्बद्ध मानते थे।

पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने वाङ्मय विमर्श में काव्य गुणों का संक्षिप्त; किन्तु स्पष्ट विवेचन-प्रस्तुत किया है। उनका उद्देश्य भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा में होने वाले काव्य गुण-सम्बन्धी चिन्तन-विश्लेषण का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना था। काव्यशास्त्रीय चिन्तन में प्रसाद गुण की स्थिति के विवेचन में मिश्र जी की सूक्ष्मेक्षिका का परिचय मिलता है।

१. अर्जुन दास केडिया, भारती भूषण।

प्रसाद गुण की गणना शब्दार्थनिष्ठ एवं रसनिष्ठ गुणों में समान रूप से हुई है; किन्तु दोनों का स्वरूप परस्पर सर्वथा स्वतन्त्र माना गया है। पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अग्निपुराण के शब्दार्थोभय-गत प्रसाद एवं ध्वनिवादी आचार्यों के सकल-रस-व्यापी प्रसाद की स्थिति में सूक्ष्म अन्त:सम्बन्ध ढूंढ़ निकाला है। अग्निपुराणकार ने प्रसाद को शब्द एवं अर्थ का सामान्य धर्म मान कर शेष गुणों की अपेक्षा उसका व्यापक स्वरूप स्वीकार किया है। रस-ध्वनि-प्रस्थान में भी माधुर्य एवं दीप्त, सभी रसों में प्रसाद की व्यापक स्थिति स्वीकार की गयी है। इस दृष्टि से मिश्र जी का यह कथन सर्वथा निर्भ्रान्त एवं प्रमाण-पुष्ट है कि "अन्तःकरण की दो वृत्तियाँ हैं—राग और द्वेष। माधुर्य का सम्बन्ध राग से और ओज का सम्बन्ध द्वेष से है। माधुर्य की द्रुति से राग का सम्बन्ध नियत है। ओज की दीप्ति से द्वेष का सम्बन्ध नियत है; पर प्रसाद का सम्बन्ध न राग से नियत है न द्वेष से। प्रसाद गुण का सम्बन्ध नियत नहीं है, इसीसे इस उभयस्थिति वाले गुण की कल्पना अनिवार्य थी। अग्निपुराण ने प्रसाद को शब्दार्थगुण या उभयगुण कहकर इस स्थिति की ओर सङ्केत कर दिया था। अनियत-वृत्ति होने के कारण ही उसकी व्यापकता का उल्लेख किया गया है।"[१] शब्दार्थगत एवं रसगत प्रसाद में सम्बन्ध के इस सूक्ष्म सूत्र के उद्घाटन में मिश्रजी की मौलिक सूझ स्पष्ट है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

रसवादी आचार्यों की मान्यता के समर्थक डॉ० 'सुधांशु' ने रस के उत्कर्ष-साधन में ही काव्य-गुणों की सार्थकता मानी है। उन्होंने गुण के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए लिखा है कि "रस को स्पष्ट और व्यञ्जक बनाने के लिए गुणों का विधान किया गया है।"[२] स्पष्ट है कि सुधांशु जी ने रस-गत माधुर्य, ओज एवं प्रसाद गुणों के स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए गुणों को रस-व्यञ्जक कहा है। श्लेष आदि दस शब्दार्थगत गुणों का रस से साक्षात् सम्बन्ध नहीं। आचार्य भरत ने दस गुणों को परम्परया ही रस से सम्बद्ध माना था। सुधांशु जी का उक्त कथन गुण के रसधर्मत्व की स्वीकृति पर आधृत है। वे शब्दार्थगत दस गुणों की पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं करते। मम्मट आदि आचार्यों की गुण-धारणा का समर्थन करते हुए उन्होंने लिखा है—"मम्मट

---

१. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाङ्मय विमर्श पृ० २१४

२. लक्ष्मीनारायण सुधांशु, काव्य में अभिव्यञ्जनावाद, पृ० ७

तथा उनके अनुयायियों ने गुणों की संख्या में काफी कतर-ब्योंत कर मनोवैज्ञानिक प्रणाली पर केवल तीन प्रधान गुण—प्रसाद, ओज और माधुर्य की अवस्थिति स्वीकृत की। आजकल ये ही तीन गुण सर्वमान्य हैं।[१] मम्मट आदि के गुण-विवेचन की समीक्षा के क्रम में शब्दार्थगत गुणों की उपादेयता पर विचार किया जा चुका है। प्रसाद, ओज एवं माधुर्य; इन तीनों गुणों के सर्वमान्य होने में सन्देह नहीं; किन्तु दस शब्दार्थगत गुणों का व्यावर्तन कर केवल तीन गुणों के सर्वमान्य होने का सिद्धान्त विवाद-मुक्त नहीं। रसगत तीन गुणों के साथ शब्दार्थगत दस गुण भी स्वीकार्य हो सकते हैं। दोनों की अवस्थिति में कोई विरोध नहीं। अस्तु, मम्मट आदि रस-ध्वनिवादी आचार्यों की तरह सुधांशु जी को केवल रसगत गुणों की ही सत्ता मान्य है।

बाबू गुलाब राय

बाबू गुलाब राय ने रसगत तीन गुणों के महत्त्व को स्वीकार करने पर भी शब्दार्थगत दस गुणों की सत्ता का निषेध नहीं किया है। उनकी मान्यता है कि वामन आदि आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित तत्तद्गुणों का स्वरूप काव्य-शैली के विभिन्न वैशिष्ट्यों का उद्घाटन करता है। अतः, काव्य-शैलियों के स्वरूप-विश्लेषण की दृष्टि से शब्दार्थ-गुणों का महत्त्व अनुपेक्षणीय है। काव्य के भावगत सौन्दर्य की दृष्टि से माधुर्य आदि रस-गत गुणों का महत्त्व असन्दिग्ध है।[२] स्पष्ट है कि काव्य-गुणों के सम्बन्ध में भरत, भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि के मतों का अध्ययन कर बाबू गुलाब राय ने काव्य के शैलीपक्ष एवं आत्मपक्ष के अध्ययन में सभी मतों को सहायक मानकर उनमें परस्पर तात्त्विक अविरोध के सिद्धान्त का समर्थन किया है।

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा

भामहविरचित काव्यालंकार की भूमिका में भामह की गुण-धारणा की समीक्षा करते हुए आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने काव्य-गुणों के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य व्यक्त किया है। उन्होंने वामन तथा भोज की रचनाओं में काव्यगुणों की संख्या-वृद्धि को अनावश्यक बताते हुए लिखा है—"भामह के पूर्ववर्त्ती भरत ने १० गुण माने थे, उत्तरवर्त्ती दण्डी ने १०, वामन ने २० और भोज ने

---

१. लक्ष्मीनारायण सुधांशु, काव्य में अभिव्यञ्जनावाद, पृ० ८

२. गुलाब राय, सिद्धान्त और अध्ययन।

४८। गुणों की यह संख्या-वृद्धि प्रायः यादृच्छिक थी। उसमें तर्क और युक्ति का अभाव था।"[१] शर्मा जी का यह कथन सर्वथा समीचीन है। मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ में यह प्रमाणित किया है कि शब्दार्थ-गत गुणों की दसाधिक संख्या मानने में कोई सबल युक्ति नहीं है। इस दृष्टि से गुण-संख्या-विषयक भरत, दण्डी आदि का मत ही मान्य है। दूसरे सम्प्रदाय में गुणों की तीन संख्या स्वीकृत हुई है। इस सम्प्रदाय में गुण को रस-धर्म मानने वाले सभी ध्वनिवादी आचार्य आते हैं। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा की यह मान्यता उचित है कि गुणों की संख्या की दृष्टि से भामह ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन के अग्रगामी ठहरते हैं।[२] समास की दीर्घता तथा लघुता के आधार पर ओज, प्रसाद आदि के स्वरूप-निर्धारण के सिद्धान्त को शर्मा जी ने अमान्य सिद्ध किया है। उनकी मान्यता है कि ओज आदि गुणों की व्यञ्जना विशिष्ट वर्णों से हो सकती है, पदों के समास से नहीं। भामह ने गुणों के स्वरूप-विधान में वर्णों का विचार नहीं कर केवल समास पर विचार किया है। फलतः, उनका गुण-लक्षण निर्दोष नहीं हो सका। उनके ओज गुण के उदाहरण को शर्मा जी वस्तुतः माधुर्य गुण का उदाहरण मानते हैं। काव्यालङ्कार की भूमिका में गुण के अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन में भी शर्मा जी के व्यापक अध्ययन तथा तथ्यातथ्यविवेक का परिचय मिलता है। आनन्दवर्धन ने अकाट्य तर्क से गुण के सङ्घटनाश्रयत्व के सिद्धान्त का खण्डन किया है। इस आलोक में भामह की गुण-धारणा की सीमा के सम्बन्ध में आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के विचार का औचित्य देखा जा सकता है।

छन्दबद्ध ग्रन्थ लिख कर प्राचीन विचार को ही नवीनता के छद्मवेष में प्रस्तुत करने वाले आधुनिक रीतिकारों में जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने काव्य-गुणों का विवेचन नहीं कर केवल पाठ-गुणों का विवरण दिया है। (१) बिहारी लाल भट्ट ने अपने 'साहित्यसागर' में माधुर्य आदि तीन गुणों को स्वीकार कर उन्हीं में दस गुणों को अन्तर्भुक्त माना है। गुण-विवेचन में इन रीतिकारों का कोई मौलिक योगदान नहीं।

साहित्य-समीक्षा के नवीन मूल्य-मान के आधार पर काव्य की शैली तथा आत्मा में अवस्थित उत्कर्षाधायक गुणों के मूल्याङ्कन एवं स्वरूप-निर्धारण का आयास करनेवाले आधुनिक आलोचकों की गुण-विषयक-मान्यता का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है—

---

१. देवेन्द्रनाथ शर्मा, हिन्दी काव्यालङ्कार, भूमिका पृ० ३९

२. वही, पृ० ३९

अचार्य रामचन्द्र शुक्ल

रसवाद के समर्थक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के लिए काव्यगुण मुख्य विवेच्य नहीं था। उन्होंने काव्य की शैली के विवेचन-क्रम में प्रसङ्गात् काव्यगुण के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त किया है। यद्यपि उन्होंने साहित्य-शास्त्र में प्रयुक्त किसी गुण के व्यपदेश का उल्लेख नहीं किया है; तथापि काव्य-भाषा के तत्त्वों के सम्बन्ध में उनकी मान्यता के आधार पर उनकी काव्य-गुण-विषयक धारणा समझी जा सकती है। शुक्लजी ने काव्य-भाषा के चार मूल तत्त्व स्वीकार किये हैं—(१) गोचर रूप विधान करने वाले अर्थात् वर्ण्य वस्तु या व्यापार को मूर्तरूप में प्रस्तुत करने वाले शब्द, (२) सामान्य या जाति का सङ्केत करने वाले नहीं, वरन् विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्द, (३) वर्ण-विन्यास अर्थात् श्रुतिकटु वर्णों का त्याग, अन्त्यानुप्रास आदि नाद-सौन्दर्य के साधन, तथा (४) साभिप्राय विशेषण।

डॉ० नगेन्द्र ने इनमें से प्रथम तत्त्व को—मूर्त रूप का विधान करने वाले शब्द-प्रयोग को—दण्डी के समाधि गुण से अभिन्न सिद्ध किया है। दण्डी की समाधि की तरह गोचर रूप-विधान करनेवाली शब्दावली भी लाक्षणिक प्रयोग पर अवलम्बित है। उन्होंने द्वितीय एवं चतुर्थ तत्त्वों को—विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्द-प्रयोग और साभिप्राय विशेषण-प्रयोग को वामन के अर्थ-गुण ओज की अर्थ-प्रौढि भेद से अपृथक् माना है। उनकी मान्यता है कि अर्थ-प्रौढि में कभी विशेष को उभारने के लिए व्यास और समास-पद्धतियों का ग्रहण किया जाता है, और कभी साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग होता है। स्पष्टतः, शुक्लजी ने उक्त द्वितीय एवं चतुर्थ काव्य-भाषा-तत्त्वों में वामन की अर्थ-प्रौढि के समान धारणा व्यक्त की है। काव्य-भाषा के तृतीय तत्त्व का अन्तर्भाव भी प्राचीन आचार्यों के शब्दगत माधुर्य, उदारता, कान्ति आदि गुणों में सम्भव है। अतः डॉ० नगेन्द्र ने निष्कर्ष रूप में कहा है—'इस प्रकार शुक्लजी के शैली-तत्त्व रीतिवादियों के रीति-तत्त्वों से भिन्न नहीं हैं—यद्यपि उनका दृष्टिकोण सर्वथा विपरीत रहा है।' स्पष्ट है कि शुक्लजी रसवादी होने पर भी शब्द एवं अर्थ में उत्कर्ष का आधान करने वाले काव्यगुणों को उपेक्षणीय नहीं मानते थे।

श्यामसुन्दर दास

काव्य की शैली के स्वरूप-प्रतिपादन के सन्दर्भ में श्यामसुन्दर दास ने गुण, रीति एवं वृत्ति का पारस्परिक सम्बन्ध निरूपित किया है। माधुर्य, ओज एवं प्रसाद गुणों का सम्बन्ध उन्होंने क्रमशः मधुरा, परुषा तथा प्रौढा वृत्तियों से

माना है। माधुर्य गुण के लिए मधुरा वृत्ति तथा वैदर्भी रीति, ओज गुण के लिए परुषा वृत्ति और गौडी रीति तथा प्रसाद गुण के लिए प्रौढा वृत्ति एवं पाञ्चाली रीति आवश्यक मानी गयी है। गुण, रीति तथा वृत्ति का यह पारस्परिक सम्बन्ध-निरूपण कुछ नवीन रूप में किया गया है। रीतिवादी आचार्यों ने गुण और रीति का अविभाज्य सम्बन्ध माना था; किन्तु उन्होंने शब्दार्थगत दस गुणों को दृष्टि में रख कर वैदर्भी, गौडी आदि रीतियों से उनका सम्बन्ध-निर्धारण किया था।

श्यामसुन्दर दास की रचना में वामन की समग्रगुणा वैदर्भी केवल माधुर्यगुण-सम्पन्ना बन गयी। उनकी माधुय-सौकुमार्य-विशिष्टा पाञ्चाली केवल प्रसाद-गुणमयी रीति के रूप में स्वीकृत हुई। माधुर्य आदि तीन गुणों के क्रमशः वैदर्भी आदि रीतियों में नियत निवास की कल्पना नवीन है। गुणों का वृत्तियों के साथ सम्बन्ध-निरूपण मम्मट के काव्यप्रकाश में किया जा चुका था; किन्तु श्यामसुन्दर दास ने गुण-वृत्ति-सम्बन्धी मम्मट की मान्यता का भी पूर्णतः अनुसरण नहीं किया है। उन्होंने इस विचार में भी कुछ नवीनता लाने का प्रयास किया है। मम्मट ने उपनागरिका, कोमला आदि वृत्तियों का उल्लेख किया था। श्यामसुन्दर दास ने मम्मट की उपनागरिका; के स्थान पर मधुरा और कोमला के स्थान पर प्रौढा नामक वृत्ति का उल्लेख किया है। मम्मट की उपनागरिका माधुर्य-गुण-विशिष्ट वृत्ति थी। श्यामसुन्दर दास की माधुर्य-गुण-विशिष्ट मधुरा वृत्ति का स्वरूप उससे अभिन्न है। इसी प्रकार श्यामसुन्दर दास की प्रसाद-गुणमयी प्रौढा वृत्ति की प्रकृति मम्मट की कोमला के समान है। मधुरा एवं प्रौढा वृत्तियों के व्यपदेश नवीन नहीं हैं। रुद्रट के काव्यालङ्कार में परिगणित पाँच वृत्तियों में उक्त दो वृत्तियों का भी उल्लेख है। वहीं से मधुरा एवं प्रौढा व्यपदेश श्यामसुन्दर दास ने ग्रहण किये; किन्तु उन्होंने इन वृत्तियों के रुद्रट-प्रदत्त लक्षण को स्वीकार नहीं किया। रुद्रट ने काव्यगुण को रीति या वृत्ति का विधायक नहीं माना था। श्यामसुन्दर दास ने मम्मट के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए गुण और वृत्ति का नियत सम्बन्ध स्वीकार किया है। उन्होंने रुद्रट से मधुरा की संज्ञा तथा मम्मट से उपनागरिका की परिभाषा लेकर दोनों को सम्बद्ध कर दिया और उनके (रुद्रट के) प्रौढा अभिधान के साथ मम्मट के कोमला-लक्षण को मिला दिया।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि श्यामसुन्दर दास ने वामन, रुद्रट तथा मम्मट की गुण-रीति-वृत्ति-धारणा को मिला कर समन्वयात्मक दृष्टि से शैली के

स्वरूप का विवेचन किया है। वे रीतिवादी नहीं थे। उन्होंने काव्य में भाव, कल्पना एवं विचार को मुख्य माना है; फिर भी शैली को उपेक्षणीय नहीं माना है। काव्य की शैली का काव्य-गुण से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। गुण शैली के विधायक ही हैं; अतः गुण-रहित काव्य-शैली की कल्पना नहीं की जा सकती। श्यामसुन्दर दास ने गुण, वृत्ति, शब्दशक्ति तथा वाक्य-रचना को शैली का आधार माना है। मम्मट आदि के मतानुसार उन्होंने तीन ही गुण स्वीकार किये हैं। वामन ने जहाँ दस गुणों को रीति का विधायक माना था, वहाँ दास जी ने तीन गुणों को ही तीन रीतियों का विधायक स्वीकार किया है। मम्मट की माधुर्य-विशिष्टा वृत्ति के लिए उपनागरिका के स्थान पर मधुरा संज्ञा ही अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। निष्कर्ष यह कि श्यामसुन्दर दास ने प्राचीन आचार्यों की गुण-धारणा का नवीन दृष्टि से विवेचन कर आधुनिक मनीषियों के द्वारा मान्य काव्य-शैली के स्वरूप-विधान में काव्य-गुणों का महत्त्व प्रतिपादित किया है।

डॉ० नगेन्द्र

डॉ० नगेन्द्र रसवाद के समर्थ व्याख्याता तथा सबल समर्थक हैं। अतः, रस-ध्वनिवादी आचार्यों की गुण-विषयक मान्यता का उनके द्वारा अनुमोदन स्वाभाविक था। फिर भी, उन्होंने किसी सिद्धान्त का अन्धानुसरण नहीं कर पूर्वाग्रह-मुक्त उदार दृष्टि से विभिन्न सम्प्रदाय के आचार्यों की गुण-धारणा का सार ग्रहण किया है। उन्हें काव्य की आत्मा रस के उत्कर्षाधायक माधुर्य आदि गुणों की उपादेयता तो स्वीकार्य है ही, काव्य के बाह्य व्यक्तित्व शब्द-अर्थ में उत्कर्ष लानेवाले श्लेष आदि गुणों की भी उपयोगिता मान्य है। उन्होंने ध्वनिवादी आचार्यों की तरह गुण को चित्तवृत्ति-रूप भी माना है तथा रीतिवादी आचार्यों की तरह शब्दार्थ का धर्म भी—"गुण, रस और शब्दार्थ दोनों का ही धर्म है। रस का धर्म होने के नाते वह चित्तवृत्ति-रूप है और शब्दार्थ का धर्म होने के नाते उसे वर्णगुम्फ और शब्दगुम्फ पर आश्रित भी मानना पड़ेगा। गुण के स्वरूप-निरूपण में वर्ण, समास आदि का अनिवार्य आधार मानना इसका प्रमाण है। यह मान्यता सर्वथा समीचीन है। हमने यह सिद्ध किया है कि ध्वनिवादी आचार्यों के रसगत गुणों की सत्ता रीतिवादी आचार्यों के शब्दार्थगत गुणों के अस्तित्व का अपलाप नहीं कर सकती। रसगत एवं शब्दार्थगत गुणों का समन्वित सद्भाव स्वीकार कर ही काव्य के समग्र बाह्याभ्यन्तर उत्कर्ष का परीक्षण सम्भव है।

गुण-विमर्श में डॉ० नगेन्द्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति के निर्धारण में है। ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य के गुणों को भावक की चित्त वृत्तियों से सम्बद्ध माना था। डॉ० नगेन्द्र ने आधुनिक मनोविज्ञान के चिन्तन के आलोक में उन चित्तवृत्ति-रूप रस-निष्ठ गुणों के स्वरूप एवं उनकी मनोवैज्ञानिक स्थिति के स्पष्टीकरण का स्तुत्य प्रयास किया है। काव्यास्वाद में गुण और रस—धर्म और धर्मी—के कार्य में अत्यन्त सूक्ष्म भेद की ओर निर्देश कर उन्होंने एक कठिन समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। ध्वनिवादी आचार्यों की गुण-धारणा के विवेचन-क्रम में हम देख चुके हैं कि आनन्दवर्धन से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक गुण, रस तथा चित्तवृत्ति के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अनेक प्रकार की मान्यताएँ व्यक्त की गयी हैं। कुछ आचार्यों ने गुण को द्रुति, दीप्ति आदि चित्तवृत्ति का रूप माना था तो कुछ ने चित्त की द्रुति आदि का हेतु। जगन्नाथ आदि ने गुण को द्रुति आदि चित्तवृत्ति का प्रयोजक स्वीकार किया था। डॉ० नगेन्द्र ने गुण, चित्तवृत्ति तथा रस का पारस्परिक सम्बन्ध-निरूपण करने वाले उक्त मतों की समीक्षा की है। वे अभिनव गुप्त की मान्यता का इस अंश में तो समर्थन कर सकते हैं कि गुण चित्तवृत्ति-स्वरूप हैं; किन्तु रस और गुण में कारण-कार्य-सम्बन्ध उन्हें अमान्य है। वे गुण को चित्तवृत्ति का कारण मानने वाले मम्मट के सिद्धान्त से भी सहमत नहीं। गुण, चित्तवृत्ति तथा रस; तीनों को अभिन्न मान लेने वाले विश्वनाथ की स्थापना को भी वे युक्तिसङ्गत नहीं मानते। गुण और रस एक दूसरे के पर्याय नहीं। दोनों की पृथक् सत्ता स्वीकार की जानी चाहिए। चित्तवृत्ति और गुण में प्रयोज्य-प्रयोजक सम्बन्ध स्वीकार कर प्रयोजकता-सम्बन्ध से दोनों को अभिन्न भी कह देने वाले पण्डितराज के मत को डॉ० नगेन्द्र ने सदोष माना है। उनका आक्षेप है कि "एक ओर तो पण्डितराज गुण को वस्तु रूप में ही रस और शब्दार्थ, दोनों का धर्म मानते हैं और दूसरी ओर प्रयोजक-प्रयोज्य सम्बन्ध से उसे चित्तवृत्ति-रूप भी मानते हैं। रस-धर्म होने के नाते तो यह गुण चित्तवृत्तिरूप अवश्य हो सकता है; परन्तु शब्दार्थ का धर्म होने के नाते यह सम्भव नहीं है; क्योंकि द्रुति आदि चित्तवृत्तियों की आह्लाद-रूप रस में तो स्थिति सम्भव है; परन्तु शब्द और अर्थ में उनकी अवस्थिति कैसे मानी जा सकती है ?"[१]

मेरी विनम्र मान्यता है कि आपाततः पण्डितराज के मत में जितनी असङ्गति प्रतीत होती है उतनी तत्त्वतः नहीं है। वे वस्तुतः गुण और चित्तवृत्ति

१. नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २ पृष्ठ ६३

को अभिन्न नहीं मानते। दोनों की सत्ता पृथक्-पृथक् है। उन दोनों में प्रयोज्य-प्रयोजक सम्बन्ध है। प्रयोज्य से प्रयोजक की स्वतन्त्र सत्ता अवश्य रहती है, फिर भी व्यवहार में कभी-कभी प्रयोजक और प्रयोज्य को एक कह दिया जाता है। आयुर्वेद में वाजिगन्धा को उष्णता का प्रयोजक माना गया है; किन्तु व्यवहार में 'वाजिगन्धा उष्णा' (अर्थात् वाजिगन्धा उष्ण होती है) का प्रयोग होता है। वस्तुतः वाजिगन्धा उष्ण नहीं होती, उष्णता का प्रयोजकमात्र होती है, फिर भी जिस प्रकार उसे उष्ण कहा जाता है उसी प्रकार द्रुति आदि चित्त-वृत्तियों के प्रयोजक माधुर्य आदि गुणों को चितवृत्तिरूप कहा जा सकता है। कोमल-कठोर वर्ण भी चित्तवृत्ति के प्रयोजक होते हैं; अतः उन्हें भी व्यवहार में प्रयोजकता सम्बन्ध से चितवृत्तिरूप कह देने में कोई अनुपपत्ति पण्डितराज को नहीं जान पड़ी होगी; तात्त्विक दृष्टि से तो वे गुणों को चित्तवृत्ति रूप मानते भी नहीं।

डॉ० नगेन्द्र की मान्यता है कि रस और गुण; दोनों ही मनःस्थितियाँ हैं। दोनों में भेद यह है कि रस प्रमाता की अखण्ड आनन्दात्मक चित्त-स्थिति है, जिसमें सभी वृत्तियाँ अन्वित हो जाती हैं; किन्तु गुण चित्त के द्रवीभाव, दीप्तत्व तथा व्यापकत्व की वृत्ति है। विशेष प्रकार के शब्दों से भी चित्त में द्रुति, दीप्ति आदि विकार सम्भव होते हैं; किन्तु इन विकारों को पूर्णतः आह्लादरूप नहीं कहा जा सकता। ये मनःस्थितियाँ चित्त के वैशद्य या रस-परिपाक की ठीक पूर्ववर्तिनी होती हैं, जिनका वस्तु-तत्त्व निःशेष नहीं हुआ रहता। इसमें चित्तवृत्तियाँ उत्तेजित होकर अन्विति की ओर बढ़ती हैं। भट्टनायक ने चित्त की द्रुति, दीप्ति तथा विकास अवस्थाओं को भोजकत्व व्यापार या रसास्वाद की पुरोगामिनी कहा था। वे इसे भावकत्व की उत्तरवर्ती तथा भोज-कत्व की प्रारम्भिक स्थिति मानते थे। भट्टनायक के मत को स्वीकार करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने निष्कर्षरूप में कहा है—"गुण को अनिवार्यतः आह्लादरूप न मानकर केवल चित्त की एक दशा ही माना जाय, तो उसे सरलता से रस-परिपाक की प्रक्रिया में रस-दशा से ठीक पहली स्थिति माना जा सकता है जहाँ हमारी चित्तवृत्तियाँ पिघलकर, दीप्त होकर, या परिव्याप्त होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं।"[1]

निश्चय ही डॉ० नगेन्द्र का यह विवेचन तर्क-पुष्ट एवं प्रौढ़ है। गुण को चित्तवृत्तिरूप, चित्तवृत्ति का कारण, अथवा उसका प्रयोजक मानने में मत-

१. डॉ० नगेन्द्र, भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २ पृ० ६४

वैभिन्य हो सकता है; किन्तु उसे रसानुभूति के लिए मनोभूमि तैयार करने में सहायक मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकता। डॉ० नगेन्द्र की उक्त स्थापना में प्रायः सभी ध्वनिवादी आचार्यों के गुण-सिद्धान्त का सार समन्वित है। गुण को रस का उत्कर्षकारक धर्म स्वीकार कर आनन्दवर्धन, मम्मट तथा विश्वनाथ आदि ने उसे रस-परिपाक में अर्थात् चित्त की आनन्दमग्नता में सहायक स्वीकार किया था। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य की आत्मा रस को निर्गुण मानकर उसके उपाधिभूत भावों में ही गुण का सद्भाव स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने भाव में, जो रस-परिपाक की पूर्ववर्ती अवस्था में रहते हैं, गुण की अवस्थिति स्वीकार कर उसे (गुण को) चित्त की अखण्ड आनन्दात्मक स्थिति का पुरोगामी तथा चित्तवैशद्य में सहायक स्वीकार किया है।

आधुनिक आलोचकों की गुण-मीमांसा के इस विवेचन से स्पष्ट है कि आधुनिक काल में काव्यगुणों की संख्या, संज्ञा तथा परिभाषा की दृष्टि से किसी नवीन सिद्धान्त की स्थापना का प्रयास आवश्यक नहीं समझा गया। संस्कृत-आचार्यों ने गुण के नाम-रूप के सम्बन्ध में जितने ऊहापोह किये थे, उन्हें तटस्थ आलोचक-बुद्धि से समन्वित कर एक स्वस्थ गुण-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की आवश्यकता थी। संस्कृत काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने सम्प्रदाय की काव्य-विषयक मान्यता का पूर्वाग्रह लेकर काव्य-तत्त्वों का निरूपण किया था। फलतः, उनमें किसी काव्य-तत्त्व के सम्बन्ध में मतैक्य का अभाव था। काव्यगुण के विषय में भी यही बात सत्य है। गुणों की संख्या तथा प्रकृति, उसके आधारतत्त्व आदि के सम्बन्ध में भरत, दण्डी, भामह, वामन, भोज, अग्निपुराणकार, कुन्तक, आनन्दवर्धन मम्मट तथा जगन्नाथ आदि की स्वतन्त्र मान्यताएँ इसका प्रमाण हैं। रीतिकालीन हिन्दी-आचार्यों ने इस मतवैभिन्य में समन्वय की स्थापना का प्रयास नहीं कर तत्तत् चिन्तनपद्धतियों के अनुसरण में ही अपने आचार्यत्व की सफलता मान ली। कुछ आचार्यों ने दण्डी, वामन आदि की तरह दस शब्दार्थगुणों का लक्षण-निरूपण किया; कुछ ने मम्मट आदि के मतानुसार माधुर्य आदि तीन रसगत गुणों की परिभाषा दी तथा अन्य आचार्यों ने अपने कर्त्तव्य-निर्वाह के लिए दस शब्दार्थगत एवं तीन रसगत गुणों का पूर्वाचार्यों की मान्यता के अनुसार स्वरूप-निर्धारण कर दिया। आधुनिक आलोचकों ने सभी सिद्धान्तों का समीक्षात्मक अध्ययन कर समग्र भारतीय

वाङ्मय के लक्ष्य ग्रन्थों को दृष्टि में रखते हुए काव्यगुण के व्यापक स्वरूप की कल्पना की आवश्यकता समझी। विभिन्न सम्प्रदाय के संस्कृत आचार्यों की गुण-धारणा में काव्यगुण के बहुत व्यापक स्वरूप की सम्भावना निहित थी। उन आचार्यों के गुण-सिद्धान्त का सार ग्रहण कर काव्यगुण के सर्वाङ्गीण स्वरूप की कल्पना में ही आधुनिक आलोचकों के श्रम की सार्थकता है। आधुनिक युग में काव्य में भाव, कल्पना, विचार आदि के साथ शैली का महत्त्व भी निर्विवाद रूप से स्वीकृत है। अतः, भाव या रस में उत्कर्ष का आधान करने वाले रसगत गुण भी ग्राह्य हैं और शैली के उत्कर्षाधायक शब्दगत गुण भी स्वीकार्य हैं। शब्दार्थगत गुणों के व्यापक स्वरूप का निर्धारण विभिन्न आचार्यों की गुण-परिभाषा के सारतत्त्व से सम्भव है।

संस्कृत तथा हिन्दी काव्यशास्त्र के विकास के स्थूल रूप से उक्त तीन काल-खण्डों में गुण-विवेचन के क्षेत्र में तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हैं। संस्कृत-भाषा-काल में भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक गुण-विषयक स्वतन्त्र उद्भावनाएँ होती रहीं। काव्यगुणों के नवीन-नवीन स्वरूपों की कल्पना होती रही और खण्डन-मण्डन की पद्धति पर स्वगत की स्थापना का प्रयास चलता रहा। हिन्दी के रीति-काल में गुण-धारणा का पिष्टपेषण होता रहा। प्राचीन मान्यता को नवीन परिधान में प्रस्तुत कर उसपर स्वमत के मिथ्यारोप का प्रयास चलता रहा। कहीं-कहीं तो प्राचीनों के कुछ गुण-लक्षण को नहीं समझ सकने के कारण उसे विकृत रूप में प्रस्तुत कर दिया गया। हाँ, इस बात के लिए रीतिकालीन आचार्य अवश्य श्रेय के अधिकारी हैं कि उन्होंने हिन्दी में गुण के लक्षण-उदाहरण देकर उसे अधिकाधिक पाठकों के लिए सुबोध बनाया। उन्हें विषय को भाषाबद्ध करने मात्र का श्रेय है, मौलिकता का नहीं। आधुनिक काल में किसी विशेष आचार्य के मतानुसार गुण के स्वरूप को गद्य की प्रौढ़ शैली में स्पष्ट करने वाले, किसी विशेष आचार्य की गुण-धारणा का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले तथा गुण-विषयक सभी सिद्धान्तों के समन्वित अध्ययन से प्राप्त निष्कर्ष के आधार पर गुण के व्यापक स्वरूप की स्थापना करने वाले आचार्यों ने काव्य-गुण-मीमांसा में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।



अध्याय २

काव्य में गुण का स्थान

भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि-प्रस्थान की स्थापना के पूर्व काव्य के विभिन्न तत्त्वों का सापेक्ष मूल्य निर्धारित नहीं हो पाया था। प्राक्-ध्वनि-प्रस्थानों में काव्य के एक-एक तत्त्व को लेकर उसके महत्त्व की प्रतिष्ठा का प्रयास देखा जाता है। अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति आदि में से एक-एक के महत्त्व की स्थापना में विशेष आग्रह होने के फलस्वरूप भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्य अलङ्कार-प्रस्थान, रीति-प्रस्थान आदि का प्रवर्त्तन कर चुके थे। अलङ्कार-प्रस्थान में काव्य के सौन्दर्य को अलङ्कार कहकर उसे काव्य में सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया।[1] रीति प्रस्थान के आचार्यों ने काव्य की शैली की सुन्दरता पर बल देते हुए पदों की सङ्घटना रीति को ही काव्य की आत्मा स्वीकार कर लिया।[2] आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में काव्य के सभी तत्त्वों की उपादेयता दिखाकर काव्य में उनका स्थान निरूपित किया। शब्द और अर्थ (वाच्य) काव्य के शरीर माने गये, जैसाकि दण्डी ने माना था। रसादि ध्वनि उसकी आत्मा के रूप में स्वीकृत हुई। गुण आत्मा के उत्कर्षाधायक धर्म मान्य हुए तथा रीति को अवयव का सङ्घटन माना गया। काव्य-सौन्दर्य के मानदण्ड के सम्बन्ध में इस दृष्टि-भेद के कारण काव्यशास्त्र के विभिन्न प्रस्थानों में काव्य-गुणों के मूल्याङ्कन में मत-वैभिन्न्य का होना स्वाभाविक ही है। प्रस्तुत अध्याय में काव्य के अलङ्कार, रीति, औचित्य, लक्षण आदि तत्त्वों के साथ गुण के सम्बन्ध का परीक्षण एवं काव्य में उसकी उपादेयता का निरूपण किया जायगा।

गुण और अलङ्कार

काव्यशास्त्र में गुण और अलङ्कार का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। आनन्दवर्धन से पूर्व गुण और अलङ्कार के आश्रय की भिन्नता का स्पष्ट निरूपण नहीं हो पाया था। वामन के पूर्व तो किसी आचार्य ने गुण एवं

१. सौन्दर्यमलङ्कारः।—वामन, काव्यालङ्कार सूत्र १, १, २
२. 'रीतिरात्मा काव्यस्य।"—वही० १, २, ६

अलङ्कार के स्वरूप के पार्थक्य-प्रतिपादन का प्रयास भी नहीं किया था। भरत की गुण-धारणा की विवेचना के क्रम में हम देख चुके हैं कि भरत ने गुण की कोई परिभाषा नहीं दी और न अलङ्कार से उसका भेद ही स्पष्ट किया। उन्होंने प्रकारान्तर से गुण तथा अलङ्कार के समानाश्रयत्व का समर्थन ही किया है। समता गुण की एक परिभाषा में भरत ने गुण और अलङ्कार के परस्पर विभूषण होने पर बल दिया है।[1] हेमचन्द्र का कथन है कि दण्डी इससे सहमत नहीं। उनके अनुसार गुण और अलङ्कार के आश्रय भिन्न-भिन्न हैं। अतः, एक का दूसरे को विभूषित करना सम्भव नहीं।[2] वस्तुतः हेमचन्द्र ने अपनी मान्यता पर दण्डी के नाम की मुहर लगाकर उसे यहाँ प्रस्तुत किया है। दण्डी ने स्वयं गुण एवं अलङ्कार के आश्रय का भेद स्पष्ट नहीं किया है। आनन्दवर्धन के अनुयायी होने के कारण हेमचन्द्र गुण को रस पर आश्रित तथा अलङ्कार को शब्द एवं अर्थ पर आश्रित मानते हैं। भरत और दण्डी ने यद्यपि गुण के आश्रय का स्पष्टीकरण नहीं किया तथापि यह देखा जा सकता है कि उनके कुछ गुण शब्दगत हैं, कुछ अर्थगत एवं कुछ उभयगत। वामन ने दसो गुणों को शब्दगत भी माना और अर्थ-गत भी। अलङ्कार भी शब्द-गत एवं अर्थगत माने गये हैं। दोनों के आश्रय के भेद की अस्पष्टता का परिणाम यह हुआ कि प्राचीन आचार्यों के कुछ गुण पीछे चल कर अलङ्कार के रूप में स्वीकार कर लिये गये। उनके कुछ अलङ्कारों को भी परवर्ती आचार्यों ने गुण के रूप में परिगणित कर लिया। वामन के अर्थगत अर्थव्यक्ति गुण को मम्मट ने स्वभावोक्ति अलङ्कार में अन्तर्भूत कर लिया तथा अर्थगत कान्ति को रसवदलङ्कार या गुणीभूत व्यङ्ग्य से अभिन्न मान लिया।[3] दूसरी ओर भोज ने दण्डी आदि आचार्यों के प्रेय, ऊर्जस्वी तथा भाविक अलङ्कारों को गुण के रूप में ग्रहण कर लिया है।[4] दण्डी ने अनुप्रास का उल्लेख गुण के प्रसङ्ग में किया है। श्रत्यनुप्रास माधुर्य उनके अनुसार वैदर्भ मार्ग का गुण है,

१. अन्योन्यसदृशा यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणाः।
अलङ्कारा गुणाश्चैव समाः स्युः समता मताः॥— भरत, ना०शा० १६, १०१

२. भिन्नाधिकरणा हि गुणालङ्कारास्तत्कथमन्योन्यं भूषयेयुरिति दण्डी।
— हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, व्याख्या, पृ० २३५

३. अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलंकारेण रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याभ्यां च वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा अर्थव्यक्तिः दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृता।
—मम्मट काव्यप्रकाश ८ पृ० १९५

४. द्रष्टव्य भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, प्रथम परिच्छेद

जबकि गौड वर्णानुप्रास में रुचि रखते हैं।[१] यह वर्णानुप्रास अलङ्कार के रूप में स्वीकृत है। श्रुत्यनुप्रास भी अन्य आचार्यों के द्वारा अलङ्कार के रूप में ही मान्य हैं। अतः गुण और अलङ्कार का पारस्परिक सम्बन्ध दो दृष्टियों से विचारणीय है—(क) सामान्य रूप से गुण और अलङ्कार के स्वरूप के अन्योन्य सम्बन्ध की दृष्टि से तथा (ख) कुछ विशेष गुणों और विशेष अलङ्कारों के परस्पर सम्बन्ध की दृष्टि से। जिन गुणों एवं अलङ्कारों के गुणत्व या अलङ्कारत्व का निर्णय सन्दिग्ध या विवादास्पद है उनपर गुण और अलङ्कार के स्वरूप का निर्धारण कर लेने के उपरान्त विचार करना उचित होगा। अतः, पहले हम गुण एवं अलङ्कार के स्वभाव के सम्बन्ध में आचार्यों की मान्यताओं का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं।

भरत

दण्डी के पूर्व गुण और अलङ्कार के भेद-निरूपण का प्रयास नहीं पाया जाता। भरत ने गुण और अलङ्कार के सामान्य स्वरूप की न तो कोई परिभाषा दी और न उनके पारस्परिक स्वरूप-भेद की ओर ही सङ्केत किया। उनके अनुसार गुण, अलङ्कार आदि सभी तत्त्वों की उपादेयता वाचिक अभिनय की श्री-वृद्धि में है। ये दोनों शब्द एवं अर्थ के वैभव को बढ़ाने वाले धर्म हैं। भरत की गुणालङ्कार-धारणा के आधार पर दोनों का स्वरूपगत भेद निर्धारित नहीं किया जा सकता।

भामह

भामह के काव्यालङ्कार में माधुर्य ओज एवं प्रसाद गुणों का उल्लेख हुआ है किन्तु उन्हें कहीं भी गुण-संज्ञा से अभिहित नहीं किया गया है। काव्यालङ्कार में गुण का कोई सामान्य लक्षण नहीं दिया गया है। गुण शब्द का प्रयोग भामह ने जिस सन्दर्भ में किया है उसमें उसका अर्थ उन्हें अलङ्कार अभिमत था। भाविक को उन्होंने प्रबन्ध-गुण कहा है।[२] उसे वे वस्तुतः अलङ्कार मानते थे। इसीलिए उसका उल्लेख अलङ्कार वर्णन के प्रसङ्ग में हुआ है। दण्डी आदि परवर्ती आचार्यों ने भी भाविक का उल्लेख अलङ्कार-वर्णन के प्रसङ्ग में ही किया है। स्पष्टतः, भामह ने गुण और अलङ्कार के बीच भेद प्रदर्शित करने का प्रयास नहीं किया। यह नहीं कहा जा सकता कि भामह माधुर्य, ओज और प्रसाद को उपमा आदि अलङ्कार से अभिन्न मानते थे; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि

---

३. इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः।—दण्डी, काव्यादर्श, २, ५४

४. भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।—भामह, काव्याल० ३, ५३

उनके माधुर्य आदि गुण उनके अलङ्कारों से सादृश्य रखते हैं। काव्य में दोनों के कार्य प्रायः समान हैं। भामह ने माधुर्यादि का विवेचन 'काव्यालङ्कार' के पृथक् परिच्छेद में नहीं कर अलङ्कार-विश्लेपण के ठीक पूर्व किया है। इसके आधार पर डॉ० एस० के० डे ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भामह गुणों को अलङ्कार से भिन्न मानते थे, किन्तु दोनों का सादृश्य भी उन्हें मान्य था। गुण भी काव्य को अलङ्कृत करते हैं। अतः भामह के अनुसार उन्हें भी अलङ्कार कहा जा सकता है। दण्डी ने भी आगे चलकर गुण आदि तत्त्वों को वृहत अर्थ में अलङ्कार कहा है किन्तु दण्डी की धारणा से भामह की मान्यता का भेद इस बात में है कि जहाँ दण्डी गुणों को मार्ग-विभाजक या असाधारण अलङ्कार कहकर मार्गद्वयगत या साधारण उपमा आदि अलङ्कारों से उनका भेद स्पष्ट कर देते हैं वहाँ भामह गुण और अलङ्कार में सैद्धान्तिक रूप में कोई भेद नहीं करते।[१]

दण्डी

भारतीय काव्यशास्त्र में गुण एवं अलङ्कार का भेद निरूपण सर्वप्रथम आचार्य दण्डी के काव्यादर्श में दिखाई पड़ता है। दण्डी ने काव्य में शोभा का आधान करने वाले सभी तत्त्वों को सामान्यतः अलङ्कार कह दिया है।[२] इस प्रकार उनके अनुसार गुण, अलङ्कार, वृत्ति आदि काव्य के सभी तत्त्व अलङ्कार हैं। गुण को अलङ्कार कहने पर भी दण्डी दोनों को अभिन्न नहीं मानते थे। काव्यादर्श में उनके पारस्परिक भेद की ओर सङ्केत किया गया है, जिसकी व्याख्या करते हुए टीकाकारों ने गुण और अलङ्कार के स्वरूप का भेद स्पष्ट किया है। दण्डी की व्यापक अलङ्कार-धारणा को दृष्टि में रखते हुए डॉ० पी० व्ही० काणे ने यह मान लिया कि दण्डी ने गुण और अलङ्कार का भेद-निरूपण नहीं किया है।[३] डॉ० काणे की इस मान्यता को युक्तिसङ्गत नहीं माना जा

१. Bhamaha would not hesitate to take them in the wider acceptation of an Alamkara as that which embellishes just in the same way as Dandin does (2. 1.-3). But he cannot be concerned with Dandin's distinction between sadharana (or Marga-dvaya-gata) and visesa (or Eka-marga-gata) Alamkara....
— (S. K. De Some Prob. of skt. Poetics पृ० ६०

२. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।—दण्डी, काव्यादर्श २, १

३. "Dandin's work... makes no distinction between the gunas and the Alamkaras."—Dr. P. V. kane. Hist. of Sanskrit Poetics पृ० ३६२

सकता। दण्डी काव्यगुणों को काव्य के सौन्दर्य का हेतु होने के कारण अलङ्कार तो मानते हैं; किन्तु उपमा आदि अलङ्कारों को वे गुण नहीं मानते। स्पष्ट है कि दण्डी गुण की अलङ्कार से पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं। यहाँ दण्डी के मतानुसार गुण और अलङ्कार का भेद-निरूपण अभीष्ट है। दण्डी अलङ्कार के व्यापक अर्थ में गुण को भी अलङ्कार कहते हैं, किन्तु वे गुण को मार्ग-विभाजक असाधारण धर्म मानते हैं और अलङ्कार को साधारण धर्म। काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में दण्डी ने वैदर्भ एवं गौड मार्गों का उल्लेख करते हुए दोनों का विभाजन गुणों के आधार पर किया है। श्लेष आदि दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं और गौड मार्ग में प्रायः इन गुणों का विपर्यय रहा करता है।[1] इस कथन के औचित्य की परीक्षा की जा चुकी है।[2] वैदर्भ मार्ग के सभी गुणों का विपर्यय गौड मार्ग में नहीं पाया जाता। कुछ गुणों को दण्डी ने स्वयं दोनों मार्गों के गुण स्वीकार किये हैं। काव्य-सर्वस्व समाधि गुण तथा उदारता आदि गुण इसके निदर्शन हैं। इसी लिए दण्डी ने विपर्यय के साथ 'प्रायः' शब्द का प्रयोग किया है। प्रथम परिच्छेद में श्लेष आदि दस गुणों का विवेचन कर लेने के उपरान्त दण्डी ने द्वितीय परिच्छेद में कहा है कि पहले 'मार्ग-विभाजक' अलङ्क्रिया का वर्णन किया गया है और अब साधारण अलङ्कारों का वर्णन किया जाता है।[3] यहाँ पूर्ववर्णित मार्ग-विभाजक अलङ्क्रिया से दण्डी का अभिप्राय श्लेष आदि गुणों का है। टीकाकार तरुण वाचस्पति ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शोभाकर होना अलङ्कार का लक्षण है। श्लेष आदि गुण भी काव्य के शोभाकर धर्म हैं। अतः, उन्हें भी अलङ्कार कहा जाता है।[4] इस धारणा के अनुसार दण्डी का अभिमत यह है कि रूपकादि अलङ्कार मार्गद्वयगत हैं, जबकि श्लेष आदि गुण केवल वैदर्भ-मार्गगत हैं। गुण वैदर्भ मार्ग के विशिष्ट अलङ्कार हैं, पर रूपक आदि दोनों मार्गों के सामान्य अलङ्कार हैं।

---

१. ···इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणा स्मृता।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ।।—दण्डी, काव्यादर्श १, ४२

२. द्रष्टव्य प्रस्तुत पुस्तक पृ० २८

३. काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताःप्रागप्यलङ्क्रियाः।
साधारणमलङ्कारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ।।—दण्डी, काव्यादर्श २, ३

४. शोभाकरत्वं हि अलंकारलक्षणम्, तल्लक्षणयोगात् तेऽपि (श्लेषादयो दश गुणाअपि) अलंकाराः ···· गुणा अलंकारा एव इत्याचार्याः।
—काव्यादर्श २,३ पर तरुण वाचस्पति की टीका

कुछ टीकाकार मार्ग-विभाजक 'अलङ्क्रिया' का अर्थ 'गुण' नहीं मानकर 'अलङ्कार' ही मानना चाहते हैं। उनकी मान्यता है कि दण्डी के कुछ अलङ्कार मार्गविभाजक या एक-मार्ग-गत हैं तथा शेष मार्गद्वयगत। पण्डित रङ्गाचार्य शास्त्री ने काव्यादर्श की प्रभा टीका में दण्डी के कथन की व्याख्या करते हुए लिखा है कि श्रुत्यनुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा यमक आदि शब्दालङ्कार मार्ग-विभाजक हैं। उनके आधार पर गौड एवं वैदर्भ मार्गों का भेद स्पष्ट होता है। वैदर्भ मार्ग में श्रुत्यनुप्रास स्वीकृत होता है; किन्तु गौड मार्ग के कवि वृत्त्यनुप्रास में रुचि रखते हैं। अतः, अनुप्रास वैदर्भ मार्ग का गौड मार्ग से भेद प्रतिपादित करने वाला अलङ्कार है।[1] रङ्गाचार्य की प्रस्तुत व्याख्या बहुत सङ्कीर्ण दृष्टि का परिचय देती है। दण्डी के अनुसार श्रुत्यनुप्रास माधुर्य गुण का अङ्ग है। अत: माधुर्य को वैदर्भ मार्ग का वैशिष्ट्य न मानकर उसके अङ्ग श्रुत्यनुप्रास को उसमें वैशिष्ट्य लाने वाला धर्म मानना उचित नहीं। दण्डी ने श्रुत्यनुप्रास एवं वृत्त्यनुप्रास अलङ्कारों के आधार पर मार्ग-विभाजन नहीं किया है। उन्होंने स्पष्टतः श्लेष आदि गुणों को वैदर्भ का प्राण कहा है। अतः वे गुणों के आधार पर मार्ग का विभाजन करते थे, इसमें सन्देह के लिए अवकाश नहीं।

दण्डी के 'अलङ्क्रिया' शब्द के व्यापक अर्थ पर विचार नहीं करने के कारण ही सम्भवतः पण्डित रङ्गाचार्य ने उसका सङ्कुचित अर्थ अनुप्रास आदि अलङ्कार मान लिया है। दण्डी गुण को भी एक अर्थ में अलङ्कार मानते थे; इसका एक प्रमाण यह भी है कि वे कुछ दोषों के परिहार को गुण मानने पर भी अलङ्कार कह देते हैं। ससंशय दोष के वर्णन के प्रसङ्ग में दण्डी ने यह मान्यता प्रकट की है कि जहाँ संशय उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही कवि सन्देहयुक्त वाक्य का प्रयोग करता है, वहाँ ससंशय दोष न होकर अलङ्कार बन जाता है।[2] पुनरुक्त दोष को भी अतिशय अनुकम्पा आदि की विवक्षा होने पर अलङ्क्रिया स्वीकार

---

१. "काश्चित् श्रुत्यनुप्रास वृत्त्यनुप्रासयमकादयः। अलंक्रियाः शब्दालंकाराः। मार्ग-विभागार्थम् गौडवैदर्भमार्गयोर्वैसादृश्यद्योतनार्थम्। प्रागपि प्रथमपरिच्छेदे। उक्ताः।··· तत्प्रयोजनं तु श्रुत्यनुप्रासो वैदर्भैरङ्गीकृतः न गौडीयैरित्यादिना मार्ग-भेदकथनम्।"—काव्यादर्श, प्रभा, टीका पृ० ११४

२. ईदृशं संशयायैव यदि जातु प्रयुज्यते।
स्यादलङ्कार एवासौ न दोषस्तत्र तद्यथा॥—दण्डी काव्यादर्श ३, १४१

किया गया है।[1] उक्त स्थलों में 'अलङ्कार' अथवा 'अलङ्क्रिया' का प्रयोग गुण के पर्याय के रूप में हुआ है; क्योंकि दण्डी काव्य-दोषों को स्थिति-विशेष में काव्य के गुण मानते हैं। देश, काल, कला, आगम आदि के विरोध-रूप दोषों के स्वरूप-वर्णन के अनन्तर उन्होंने कहा है कि ये सभी विरोध कवि-कौशल से दोष-मुक्त होकर गुण की सीमा में आ जाते हैं।[2] इससे यह सिद्ध है कि दोष-विपर्यय को गुण मानकर भी दण्डी कहीं-कहीं उसे अलङ्कार कहते हैं। गुण को अलङ्कार कहने में दण्डी के मतानुसार कोई अनुपपत्ति नहीं; क्योंकि उनके अनुसार गुण भी एक अर्थ में अलङ्कार ही हैं। दण्डी की इस धारणा को समझ लेने पर रङ्गाचार्य की व्याख्या की अपूर्णता स्पष्ट हो जाती है। निष्कर्ष-रूप में कहा जा सकता है कि श्लेषादि गुण को दण्डी मार्ग-विभाजक अलङ्कार मानते थे तथा रूपक आदि अलङ्कार को मार्गद्वयगत साधारण अलङ्कार। दोनों में दूसरा भेद यह है कि गुण को वैदर्भ मार्ग का आवश्यक अङ्ग स्वीकार किया गया है; पर अलङ्कार (रूपक आदि मार्गद्वयगत अलङ्कार) को काव्य का आवश्यक तत्त्व नहीं माना गया है। रूपक आदि अलङ्कार दोनों मार्गों में रह भी सकते हैं और नहीं भी; किन्तु दस गुणों के अभाव में वैदर्भ मार्ग की सत्ता नहीं रह सकती। वैदर्भ मार्ग से दण्डी का अभिप्राय उत्तम शैली के काव्य का है। श्री एस० पी० भट्टाचार्य की यह धारणा उचित ही जान पड़ती है कि दण्डी ने वैदर्भ मार्ग का प्रयोग उपलक्षण के रूप में किया है। वह सभी सुन्दर शैलियों के लिए प्रयुक्त है।[3] अतः, यह कहना अनुचित नहीं होगा कि दण्डी गुण को उत्तम काव्य का आवश्यक धर्म मानते थे। उनकी दृष्टि में अलङ्कार का उतना महत्त्व नहीं है, जितना गुण का। वामन ने भी गुण को काव्य का आवश्यक तत्त्व माना है। डॉ० सुशील कुमार डे ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि यद्यपि दण्डी ने गुण और अलङ्कार का भेद सैद्धान्तिक रूप से स्पष्ट नहीं किया है, तथापि रीति-सम्प्रदाय में दोनों के भेद की जो विवेचना

---

१. अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद्विवक्ष्यते।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलङ्क्रिया॥—दण्डी, काव्यादर्श, ३, १३७

२. विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते॥—वही, ३, १७९

३. डॉ० भट्टाचार्य, The Gaudi riti in Theory and Practice
—I. H. Q Vol. III पृ० ३७९

हुई है उसका मार्ग उन्होंने ही प्रशस्त कर दिया था।[1] मेरी मान्यता है कि दण्डी काव्य में गुण को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते थे। उन्होंने गुण को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकृति दी है। काव्यादर्श में इष्ट अर्थ से युक्त पदावली को काव्य शरीर माना गया है।[2] इस काव्य-शरीर की आत्मा का स्पष्ट कथन नहीं हुआ है। काव्य के दो मार्गों में से वैदर्भ मार्ग के प्राण के रूप में श्लेप आदि दस गुणों का उल्लेख हुआ है। इनमें कुछ गुण गौड मार्ग के भी प्राण-भूत हैं। ओज गुण को दोनों मार्गों के गद्य का प्राण माना गया है।[3] समाधि गुण को काव्य-सर्वस्व कहा गया है जो दोनों मार्गों के कवियों द्वारा काव्य की आत्मा के रूप में समादृत होता है।[4] इससे स्पष्ट है कि दण्डी ने काव्यगुणों को काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है।

प्रश्न यह उठता है कि जब दण्डी ने समाधि, ओज आदि गुणों को मार्गद्वयगत या साधारण अलङ्कार मान लिया तो उन्हें मार्गविभाजक कैसे माना जा सकता है? यदि वे मार्ग-विभाजक नहीं हैं तो रूपक आदि मार्ग-द्वय-साधारण अलङ्कारों से उनकी भिन्नता का आधार क्या है?

दण्डी की समीक्षा-पद्धति पर विचार करने से प्रथम प्रश्न का समाधान मिल सकता है। संस्कृत-समालोचना में पीछे चलकर जिस प्रकार एक-एक शब्द के औचित्य पर विचार कर उसके प्रयोग की प्रवृत्ति पायी जाती है उस प्रकार का प्रयत्न काव्यादर्श में नहीं पाया जाता। जहाँ दण्डी ने कुछ असावधानी से यह कह दिया है कि श्लेष आदि दसो गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं तथा गौड मार्ग में प्रायः इनका विपर्यय रहा करता है, वहाँ सिद्धान्त-वाक्य के अर्थ की अनिश्चयात्मकता स्पष्ट है। न तो दसो गुण वैदर्भ काव्य के प्राण ही माने जा

१. "Dandin practically foreshadows, if he does not theoretically develop the rigid differentiation between the guna and the Alamkara of the riti school" —Dr. De. Hist. of skt. Poetics Vol II पृ० ८४

२. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।— दण्डी, काव्यादर्श १, १०

३. ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।—वही, १, ८०

४ तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।
कविसार्थः समग्रोऽपि तमेनमनुगच्छति॥—वही, १ १००

सकते और न उनके विपर्यय को गौड मार्ग की आत्मा के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता। 'विपर्यय' शब्द का अर्थ भी विवादास्पद है। इस विषय पर गुण और रीति के सम्बन्ध-विवेचन के क्रम में विस्तार से विचार किया गया है।[१] प्रस्तुत सन्दर्भ में इतना ही विचारणीय है कि दण्डी के कुछ वाक्यों के अर्थ अनिश्चित हैं और उनके अर्थ-निर्धारण के लिए 'काव्यादर्श' में इतस्ततः व्यक्त उनके सिद्धान्तों का सहारा लेना आवश्यक है। अर्थ के अनिश्चय का कारण सम्भवतः पुस्तक का पद्य-बद्ध होना है। आलोचना की भाषा गद्य में जितनी प्रौढ हो सकती है उतनी पद्य में नहीं। इस विचार का उद्देश्य गुण को मार्ग-विभाजक या एकमार्गगत मानने वाले मत के औचित्य का परीक्षण है। दण्डी के दस गुणों में से श्लेष, प्रसाद, समता, कान्ति एवं सुकुमारता केवल वैदर्भ मार्ग के गुण हैं। इन्हें मार्ग-विभाजक मानने में विवाद का अवकाश नहीं। ओज वैदर्भ मार्ग के केवल गद्य में गुण माना जाता है, पद्य में नहीं; जबकि गौड पद्य में भी इसे गुण-रूप में स्वीकार करते हैं। अतः इसमें भी आंशिक मार्ग-विभाजकत्व माना जा सकता है। माधुर्य का श्रुत्यनुप्रास भेद भी एकमार्गगत है। शेष गुण दोनों मार्गों में साधारण हैं। इस प्रकार गुण को मार्ग-विभाजक कहने का आधार प्राधान्य-मात्र है। अधिकांश गुण एकमार्ग-गत हैं। उन्हीं के आधार पर दोनों मार्गों का विभाजन होता है। अतः, गुणों को सामान्यतः दण्डी ने मार्ग-विभाजक अलङ्क्रिया कह दिया है।

दूसरा प्रश्न मार्गद्वय-साधारण गुणों के सम्बन्ध में है। रूपक आदि अलङ्कार भी साधारण हैं और अर्थव्यक्ति, उदार तथा समाधि गुण भी। दोनों दण्डी के अनुसार काव्य के अलङ्करण हैं। अतः, दोनों को अभिन्न क्यों नहीं माना जाय? दण्डी सम्भवतः इस शङ्का के प्रति सजग थे। अतः, उन्होंने इन साधारण गुणों के लक्षण में साधारण अलङ्कारों से भेद का सङ्केत कर दिया है। उन्होंने किसी भी साधारण अलङ्कार को काव्य का आवश्यक अङ्ग नहीं कहा है। किसी अलङ्कार के अभाव में काव्यत्व की हानि नहीं होती; किन्तु इन साधारण गुणों के अभाव में काव्यत्व ही नष्ट हो जाता है। समाधि को काव्य-सर्वस्व कह कर काव्य में उसकी अनिवार्य सत्ता की स्थापना की गयी है।[१] उदारता गुण से काव्य-पद्धति सनाथ होती है।[२] अतः, वह भी दण्डी

---

१. तदेतत्काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः ।—दण्डी, काव्यादर्श १, १००

२. तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः ।।—वही, १, ७६

के अनुसार काव्य का आवश्यक धर्म है। अर्थव्यक्ति गुण नेयत्व दोष का अभाव है। इसके अभाव में नेयत्व दोष के कारण काव्यत्व की हानि होती है।[१] अतः अर्थव्यक्ति भी काव्य का नित्य धर्म है। माधुर्य गुण के अग्राम्यता भेद के विश्लेषण-प्रसङ्ग में दण्डी ने अलङ्कार के अनित्य-काव्य-धर्मत्व तथा अग्राम्यता माधुर्य के नित्य काव्य-धर्मत्व का स्पष्ट निर्देश किया है। उनकी मान्यता है कि सभी शब्दार्थगत अलङ्कार अपने आश्रयभूत अर्थ में स्थित रस की व्यञ्जकता में उत्कर्ष का आधान करते हैं; किन्तु अग्राम्यता का रसोत्कर्ष में अलङ्कार की अपेक्षा अधिक योग रहता है।[२] (रस शब्द का प्रयोग यहाँ सामान्य अर्थ में हुआ है, पारिभाषिक अर्थ में नहीं।) स्पष्ट है कि दण्डी काव्य में अलङ्कार की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। दण्डी के उक्त कथन पर टिप्पणी देते हुए पण्डित रङ्गाचार्य ने स्पष्ट किया है कि अलङ्कार रस का कुछ पोषण अवश्य करते हैं; पर अग्राम्यता वह कार्य बाहुल्य से करती है। अलङ्कार के अभाव में भी शब्दार्थ में रसपोषकता देखी जाती है।[३] इस विवेचन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि दण्डी गुण और अलङ्कार में निम्न-लिखित भेद मानते थे :—

(१) गुण भी काव्य के शोभाकर धर्म होने के कारण अलङ्कार कहे जा सकते हैं; पर वे मुख्यतः वैदर्भ मार्ग में रहते हैं जबकि अलङ्कार दोनों मार्गों में साधारणतया रह सकते हैं। गुण के आधार पर मार्ग में वैशिष्ट्य आता है। अतः, वे मार्ग-विभाजक विशिष्ट अलङ्कार हैं, पर अलङ्कार काव्य के सामान्य धर्म हैं।

(२) कुछ गुण भी मार्गद्वय-साधारण हैं। उनका अलङ्कार से भेद यह है कि वे काव्य के अनिवार्य धर्म हैं; पर अलङ्कार का उसकी अपेक्षा कम महत्त्व है। अलङ्कार के अभाव में काव्यत्व की हानि नहीं होती; पर उन गुणों के अभाव में काव्यत्व नष्ट हो जाता है।

---

१. नहि प्रतीतिः सुभगा शब्दन्यायविलङ्घिनी ॥—दण्डी, काव्यादर्श, १, ७५

२. कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ॥—वही, १, ६२

३. अलंकाराः यथाकथंचिद्रसं परिपोषयन्ति। अग्राम्यता तु तदेव बाहुल्येनानुतिष्ठति। दृश्यते हि निरलंकारयोरपि विशुद्धयोः शब्दार्थयोः रसपरिपोषकता।
—काव्यादर्श, प्रभा-टीका, पृ० ६७

(३) दोनों अपने आश्रयभूत अर्थ में स्थित रस का पोषण करते हैं; पर अग्राम्यता माधुर्य गुण यह कार्य अधिक करता है। अतः वह अलङ्कार से अधिक महत्त्व का भागी है।

उद्भट

गुण और अलङ्कार के सम्बन्ध-निरूपण की दृष्टि से उद्भट की स्थापना सर्वथा मौलिक है, यद्यपि यह सिद्धान्त किसी भी उत्तरवर्ती आचार्य के द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ है। उद्भट ने नवीन दृष्टि से दोनों का अभेद सिद्ध करने का प्रयास किया है। अपने मत की पुष्टि के लिए, सम्भव है, उद्भट ने और भी युक्तियाँ दी हों; पर वे उपलब्ध नहीं हैं। वे गुण को सङ्घटना पर आश्रित मानते थे तथा गुण और अलङ्कार को समवाय सम्बन्ध से काव्य में स्थित मानकर दोनों के भेद-निरूपण को व्यर्थ समझते थे। उनकी मान्यता को उद्धृत कर आनन्दवर्धन ने उसका खण्डन किया है। अभिनव गुप्त ने भी ध्वन्यालोक-लोचन में उस मत को उद्धृत किया है।[1] काव्यप्रकाश में मम्मट ने उक्त मत का खण्डन किया है। माणिक्यचन्द्र ने काव्यप्रकाश में उद्धृत उस मत को उद्भट का मत स्वीकार किया है।[2] हेमचन्द्र भी उसे उद्भट का ही मत मानते हैं।[3] उद्भट ने अपने 'काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह' में गुणों का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने अपनी गुणालङ्कार-धारणा भामह की रचना पर 'भामह-विवरण' नामक टीका लिखने के क्रम में व्यक्त की है, जो उत्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत है। ध्वन्यालोक, लोचन तथा काव्यप्रकाश आदि में उद्धृत भामह-विवरण के अंश में उद्भट की स्थापना मूलतः यह है कि गुण और अलङ्कार, दोनों काव्य के शोभाकारक धर्म हैं। अतः, दोनों में कोई भेद नहीं। उद्भट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के गुण-अलङ्कार के भेद के आधार को अस्वीकार किया है। उनके अनुसार लौकिक उदाहरण के आधार पर जो गुण और अलङ्कार का भेद प्रतिपादित होता रहा है, उसमें आचार्यों

---

१. सङ्घटनाया धर्मा गुणा इति भट्टोद्भटादय, धर्माश्च धर्म्याश्रिता इति प्रसिद्धो मार्गः।—अभिनव, लोचन, २ पृ० ३१०-११

२. शब्दार्थालङ्काराणां गुणवत्समवायेन स्थितिरिति भामहवृत्तौ भट्टोद्भटेन भणनमसत्।—काव्यप्रकाश, माणिक्यचन्द्र-कृत-टीका मैसूर-संस्करण, पृ० २८९

३. इह तु उभयेषां समवायेन स्थितिरिति अभिधाय 'तस्मात् गड्डरिकाप्रवाहेण गुणालङ्कारभेद' इति भामह-विवरणे यद् भट्टोद्भटोऽभ्यधात्, तन्निरस्तम्।
—हेम० काव्यानुशासन व्याख्या, पृ० २०

की गतानुगतिकता मात्र है, मौलिक चिन्तन नहीं। जो बात लोक में सत्य हो, वही काव्य में भी सत्य हो; यह आवश्यक नहीं। लोक में यह देखा जाता है कि शूरता आदि गुण का व्यक्ति के साथ समवाय-सम्बन्ध रहता है। व्यक्ति से अलग कर शूरता को नहीं रखा जा सकता। दूसरे शब्दों में, गुण का व्यक्ति के साथ अविभाज्य सम्बन्ध रहता है; किन्तु अलङ्कार व्यक्ति के शरीर पर संयोग-सम्बन्ध से रहा करते हैं। हार आदि अलङ्कार को, जो संयोग-सम्बन्ध से व्यक्ति के शरीर पर रहते हैं, शरीर से अलग किया जा सकता है। अर्थात् लोक में गुण नित्य एवं अलङ्कार अनित्य शोभाकर तत्त्व हैं। इसी के सादृश्य पर आचार्यों ने यह कल्पना कर ली है कि काव्य के गुण भी उसमें समवाय सम्बन्ध से रहते हैं और अलङ्कार संयोग-सम्बन्ध से। अर्थात् काव्य-गुण काव्य के नित्य शोभाहेतु हैं और काव्यालङ्कार अनित्य शोभा-हेतु। उद्भट की मान्यता है कि लौकिक गुण शूरता आदि का व्यक्ति से समवाय-सम्बन्ध तथा हार आदि का संयोग-सम्बन्ध अवश्य है और इसीलिए शूरता आदि गुण हार आदि अलङ्कार से भिन्न हैं; किन्तु काव्य में गुण की तरह अलङ्कार भी समवाय सम्बन्ध से ही रहा करते हैं। अतः, गुण और अलङ्कार में भेद मानने का कोई आधार नहीं। एक बार किसी आचार्य ने शरीर के साथ गुण और अलङ्कार के नित्य और अनित्य सम्बन्ध के सादृश्य के आधार पर काव्यगुणों को नित्य एवं काव्यालङ्कारों को अनित्य मानने की भूल कर दी और अन्य आचार्य मेष-प्रवाह की तरह बिना विचारे उसी मार्ग पर चलते रहे। वस्तुतः, गुण और अलङ्कार दोनों काव्य में समवाय वृत्ति से ही रहा करते हैं।[१] अतः उद्भट के द्वारा गुण और अलङ्कार में अभेद मानने के दो आधार हैं—(क) दोनों ही काव्य के शोभाकर धर्म हैं तथा (ख) दोनों की काव्य में समवाय-वृत्ति से स्थिति रहा करती है।

उद्भट की उक्त स्थापना का खण्डन ध्वनि-प्रस्थान के आचार्यों ने जिन युक्तियों से किया है उनपर आगे विचार किया जायगा। उद्भट गुण और अलङ्कार के आश्रय का भेद निरूपित नहीं कर सके थे। अतः, उनकी दृष्टि में दोनों का स्वरूपगत भेद नहीं आ सका। ध्वनि-प्रस्थान में गुण का आश्रय रस तथा अलङ्कार का आश्रय शब्दार्थ निर्णीत हो जाने पर दोनों का भेद स्पष्ट हो

---

१. एवं च—"समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः, ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डरिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः। —काव्यप्रकाश में उद्धृत, ८ पृ० १९१

गया। उद्भट ने मानव-शरीर से अलङ्कार के संयोग-सम्बन्ध तथा काव्य-शरीर से अलङ्कार के समवाय सम्बन्ध के भेद की जो कल्पना की है वह युक्तिसङ्गत ही है। ध्वनिवादी आचार्य भी अलङ्कार को काव्य का अनित्य तत्त्व सिद्ध करने के लिए काव्यालङ्कार की उपमा हार आदि लौकिक अलङ्कार से देते हैं। यह उचित नहीं जान पड़ता। प्रश्न यह है कि जैसे मानव-शरीर पर संयोग-सम्बन्ध से रहने वाले हार आदि अलङ्कार को स्वेच्छा से उतार कर रख दिया जाता है और अवसर पर उन्हें स्वेच्छा से धारण कर लिया जाता है, क्या उसी प्रकार काव्य से उपमा, रूपक आदि को स्वेच्छा से हटाया या जोड़ा जा सकता है? इस प्रश्न पर विस्तृत विवेचन अपेक्षित है। ध्वनिवादी आचार्यों की गुणालङ्कार-धारणा की समीक्षा के क्रम में इस विषय पर सविस्तर विचार किया जायगा।

भरत, भामह एवं दण्डी की गुणालङ्कार-धारणा के विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने दोनों के भेद-निरूपण का आयास नहीं किया। दण्डी में गुण और अलङ्कार के भेद का सङ्केत अवश्य मिल जाता है, पर सैद्धान्तिक रूप में उन्होंने दोनों के पारस्परिक भेद का उल्लेख नहीं किया है। उद्भट ने दोनों में अभेद सिद्ध करने का जो प्रयास किया है और उनके स्वरूप में भेद मानने वाले जिस सिद्धान्त को उन्होंने उद्धृत किया है उससे स्पष्ट है कि उनके पूर्व भी अनेक आचार्यों ने गुण को अलङ्कार की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण काव्य-धर्म स्वीकार किया था। वे गुण को काव्य का नित्य धर्म मानते थे तथा अलङ्कार को अनित्य धर्म। किन्तु उद्भट ने यह स्पष्ट नहीं किया कि गुण को समवाय-वृत्त्या काव्य से सम्बद्ध तथा अलङ्कार को उससे संयोग-वृत्त्या सम्बद्ध मानने वाले कौन-कौन आचार्य थे। उद्भट के पूर्ववर्ती आचार्यों की उपलब्ध रचनाओं में इस प्रकार के सिद्धान्त की स्थापना का प्रयास नहीं पाया जाता।

वामन

सर्वप्रथम वामन ने गुण और अलङ्कार का तात्त्विक भेद स्पष्ट किया। वे उद्भट के समकालीन थे। डॉ० ह्वी० राघवन की मान्यता है कि वामन ने उद्भट के सिद्धान्त के खण्डन के लिए गुण और अलङ्कार में भेद प्रदर्शित किया।[१] डॉ० राघवन की इस मान्यता का आधार स्पष्ट नहीं। आनन्दवर्धन, मम्मट आदि आचार्यों ने जिस प्रकार उद्भट के सिद्धान्त को उद्धृत कर युक्तियों से उसका खण्डन किया है, उस प्रकार का प्रयत्न वामन ने नहीं किया। यदि

१ डॉ० ह्वी० राघवन, Bhoja's Sringara Pakasa, पृ० ३०५

उद्भट के मत का खण्डन उन्हें अभिप्रेत होता तो पूर्वपक्ष के रूप में उसे वे अवश्य उपस्थित करते। उद्भट के द्वारा निर्दिष्ट गुण और अलङ्कार के बीच भेद मानने वाले सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए यह मानना अधिक युक्तिसङ्गत होगा कि वामन के बहुत पूर्व से गुण और अलङ्कार के बीच भेद-निरूपण का प्रयास चल रहा था। वामन ने उस विचार को सुसम्बद्ध रूप देकर अपने 'काव्यालङ्कार सूत्र' में प्रस्तुत किया। उद्भट के पूर्व दण्डी भी प्रकारान्तर से गुण और अलङ्कार का भेद दिखा चुके थे। वामन में दण्डी के मत का भी पल्लवन हुआ।

वामन ने अलङ्कार शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है। सामान्य अर्थ में काव्य का सौन्दर्य अलङ्कार है।[1] अलङ्कार के इस व्यापक अर्थ में काव्य-सौन्दर्य के सभी उपादान अलङ्कार हैं। अतः इस दृष्टि से गुण भी अलङ्कार हैं। अलङ्कार की सत्ता से ही काव्य ग्राह्य होता है।[2] इस कथन में अलङ्कार सौन्दर्य का पर्याय है। वामन ने कहा है कि काव्य में दोष-हान तथा गुण एवं अलङ्कार के आदान से वह अलङ्कार सम्पन्न होता है।[3] यहाँ एक अलङ्कार का प्रयोग सामान्य अर्थ में तथा दूसरे का विशेष अर्थ में हुआ है। विशेष अर्थ में उपमा, रूपक आदि काव्य के अलङ्कार हैं, जो उसे अलङ्कृत कर उसकी शोभा की वृद्धि करते हैं। इस विशेष अर्थ में ही प्रयुक्त अलङ्कार का गुण से भेद-निरूपण सम्भव है। वामन के गुण और अलङ्कार के लक्षण पर विचार करने से दोनों का पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। वामन के अनुसार काव्य की शोभा के हेतुभूत धर्म गुण हैं।[4] अलङ्कार काव्य की शोभा की वृद्धि करने वाले धर्म हैं।[5] स्पष्ट है कि गुण के अभाव में काव्य में सौन्दर्य नहीं रह सकता। अलङ्कार काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। वे काव्य में शोभा के रहने पर उसकी वृद्धि मात्र कर सकते हैं। काव्य में सौन्दर्य के नहीं रहने पर अलङ्कार व्यर्थ हैं। गुण से काव्य में सौन्दर्य आता है और अलङ्कार उसे अभिवृद्ध करते हैं। अतः गुण के रहने पर ही काव्य में अलङ्कार की उपादेयता है। काव्य-सौन्दर्य के लिए गुण अनिवार्य हैं। अतः वे काव्य के नित्य धर्म हैं।[6] अलङ्कार के अभाव में भी काव्य में सौन्दर्य रह सकता है। अतः, अलङ्कार

१. 'सौन्दर्यमलङ्कारः।'—वामन, काव्यालंकारसूत्र १, १, २
२. 'काव्यं ग्राह्यम् अलङ्कारात्।'– वही १, १, १
३. स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्।– वही, १, १, ३
४. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।—वही, ३: १, १,
५. तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।—वही, ३, ३, २
६. पूर्वे नित्याः। वही, ३, १,३ पूर्वे गुणा नित्याः। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः।
—वही, वृत्ति पृ० ११८

काव्य के अनित्य धर्म हैं। अपनी इस मान्यता की पुष्टि के लिए वामन ने लौकिक सौन्दर्य की उपमा दी है। जिस प्रकार युवती का सहज सौन्दर्य अलङ्कार के अभाव में भी मन में आह्लाद उत्पन्न करता है, और वह गुण-युक्त रूप अलङ्कृत होने पर भी चित्त को आह्लादित करता है, उसी प्रकार गुणयुक्त काव्य अलङ्कार के भाव एवं अभाव, दोनों ही अवस्थाओं में मनोज्ञ होता है। किन्तु, स्वाभाविक लावण्य से शून्य स्त्री के शरीर पर जिस प्रकार अलङ्कार भद्दे लगते हैं, उसी प्रकार काव्य के शरीर में भी गुण-जनित सौन्दर्य का अभाव रहने पर उपमा आदि अलङ्कार असुन्दर जान पड़ते हैं।[1]

उक्त विवेचन के आधार पर वामन के मतानुसार गुण और अलङ्कार की पारस्परिक स्थिति इस प्रकार स्पष्ट की जा सकती है। दोनों में इस दृष्टि से साम्य है कि दोनों ही शब्दार्थ के धर्म हैं तथा दोनों ही काव्य में उत्कर्ष का आधान करते हैं। दोनों में वैषम्य यह है कि—(क) काव्य में शोभा गुण के कारण आती है. जबकि अलङ्कार से शोभा का अतिशय होता है। (ख) गुण शब्द एवं अर्थ के नित्य धर्म हैं; पर अलङ्कार अनित्य। काव्य-सौन्दर्य का हेतु होने के कारण गुण की काव्य में अनिवार्य सत्ता रहती है; किन्तु अलङ्कार की सार्वत्रिक सत्ता आवश्यक नहीं। (ग) केवल अलङ्कार काव्य की शोभा की सृष्टि नहीं कर सकते। गुण के रहने पर ही वे सौन्दर्यातिशय के लिए उपादेय होते हैं; पर अलङ्कार के अभाव में भी गुण के सद्भाव से काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि हो जाती है। अतः, उद्भट की मान्यता के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि गुण काव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं तथा अलङ्कार संयोग सम्बन्ध से। वामन काव्य में अलङ्कार की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार गुण और अलङ्कार अभिन्न नहीं। डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है कि 'वामन

---

१. युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं,
स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
बिहितप्रणयं निरन्तराभिः॥
सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः,
यदि भवतिवचश्च्युतं गुणेभ्यो,
वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं,
नियतमलङ्काराणि संश्रयन्ते॥—वामन, काव्यालङ्कारसूत्र, पृ० ११७

का यह पार्थक्य प्रदर्शन उनके अपने सिद्धान्त के अनुसार सर्वथा स्पष्ट और निर्भ्रान्त है।'[1] उनका यह कथन उचित ही है।

प्रतिहारेन्दुराज

उद्भट के काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने गुण-अलङ्कार के पार्थक्य का विवेचन वामन की धारणा के अनुरूप किया है। उनके अनुसार गुण के अभाव में काव्य की सत्ता सम्भव नहीं। गुण के अभाव में अलङ्कार भी असुन्दर लगने लगते हैं। गुण जब काव्य में शोभा का आधान कर देते हैं तब अलङ्कार उस शोभा की वृद्धि करते हैं। गुण-रहित काव्य में उपमा आदि अलङ्कार की योजना वृद्धा के शरीर पर धारण किये हुए हार आदि आभूषण की तरह भद्दी जान पड़ती है। प्रतिहारेन्दुराज ने गुण और अलङ्कार के भेद-निरूपण-क्रम में वामन के श्लोक को उद्धृत किया है। स्पष्टतः, वामन की तरह प्रतिहारेन्दुराज भी गुण को काव्य का नित्य एवं अलङ्कार को अनित्य धर्म मानते हैं। किन्तु, यह नहीं मान लिया जाना चाहिए कि अनित्य धर्म होने के कारण काव्य में अलङ्कार की कोई उपादेयता नहीं। प्रतिहारेन्दु ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार हार आदि लौकिक अलङ्कार गुणवान शरीर की शोभा-वृद्धि में उपयोगी होते हैं, उसी प्रकार रूपक आदि काव्यालङ्कार भी काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाने के कारण उपादेय हैं।[2]

गुण और अलङ्कार के भेद को स्पष्ट करने के लिए प्रतिहारेन्दुराज ने वामन का सूत्र उद्धृत किया है तथा अमरुशतक से एक श्लोक उद्धृत कर यह दिखाया है कि अलङ्कार के अभाव में भी गुण के सद्भाव से काव्यत्व की सिद्धि हो जाती है। प्रतिहारेन्दु के द्वारा उद्धृत अमरु के श्लोक में कोई अलङ्कार

१. द्रष्टव्य—डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालङ्कार सूत्र की भूमिका, पृ० १८

२ यद्येवमिदानीं गुणैरेव कृतकृत्यत्वात् काव्यस्य अलङ्कारणां तत्र निरुपयोगता प्राप्नोति। नैवम्। गुणाहितशोभे काव्ये अलङ्काराणां शोभातिशयविधायित्वात् लौकिकालङ्कारवत्। ××× न खलु निर्गुणे काव्ये निबध्यमानानामलङ्काराणां जरद्योषिदलङ्कारवत् शोभाविधायित्वं दृश्यते। ×××तथा काव्यालङ्काराणामपि निर्गुणे काव्ये निबध्यमानानां काव्य-शोभाहेतुत्वाभावः स्वशोभाहानि भवति। यदवोचद्भट्टवामनः "युवतेरिव+सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः॥ यदि भवति वपुश्च्युतं गुणेभ्यः+दुर्भगत्वं नियतमलङ्काराणि संश्रयन्ते। ××× अत एवालङ्काराणामनित्यता गुणरहितं हि काव्यमकाव्यमेव भवति, न त्वलङ्काररहितम्। अलङ्काराणां गुणोपजनितशोभे काव्ये शोभातिशयविधायित्वात्। —प्रतिहारेन्दु, राघवन Sr. Pr. में उद्धृत पृ० ३०६

नहीं है, फिर भी उसमें माधुर्य और ओज से पुष्ट प्रसाद गुण की सत्ता होने के कारण उसे अकाव्य नहीं कहा जा सकता।[1]

प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार गुण काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण धर्म है। अपनी इस धारणा के अनुरूप उन्होंने काव्य की परिभाषा देते हुए शब्दार्थ-रूप शरीर के गुण-संस्कृत होने में काव्यत्व माना है।[2] अलङ्कार आदि भी काव्य के शरीर शब्द एवं अर्थ का संस्कार करते हैं; किन्तु मुख्य वृत्ति से गुण ही उसका संस्कार करते हैं। अतः, गुण से संस्कृत शब्दार्थ-शरीर ही काव्य है। माधुर्य ओज और प्रसाद गुण काव्य के शब्दार्थ-रूप शरीर में रहते हैं, आत्मभूत रस में नहीं। यह शरीरस्थ माधुर्य और ओज से पुष्ट प्रसाद रस की अभिव्यक्ति में सहायक होता है। गुण को भी रस की तरह काव्य का नित्य धर्म माना गया है। भेद केवल इतना है कि गुण शब्दार्थ का धर्म है, जिसकी आत्मा रस है। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गुणों की संख्या एवं उनके लक्षण की धारणा में वामन से असहमत होने पर भी प्रतिहारेन्दुराज गुण-अलङ्कार के भेद-निरूपण में उनके अनुयायी हैं; पर गुणों की संख्या में आनन्दवर्धन से सहमत होने पर भी गुण को रसाश्रित एवं अलङ्कार को शब्दार्थ पर आश्रित मानकर दोनों के भेद-निरूपण की उनकी पद्धति का अनुगमन नहीं करते।

भोज

गुण और अलङ्कार की पारस्परिक स्थिति के सम्बन्ध में भोज की धारणा वामन की धारणा से मिलती-जुलती है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में भोज ने रस के अवियोग की तरह गुण के योग को काव्य में नित्य माना है; किन्तु अलङ्कार-योग अनित्य माना गया है।[3] उनकी मान्यता है कि गुणवत् काव्य में ही अलङ्कार रहता है। अतः, काव्य में जहाँ-कहीं अलङ्कार की सत्ता रहेगी, वहाँ गुण के साथ उसका सङ्कर अवश्य रहेगा।[4] गुण नित्य होने के कारण प्रत्येक अलङ्कृत या अनलङ्कृत काव्य में अनिवार्यतः रहता है।

---

१. लक्ष्ये च अलंकाररहितमपि केवलगुणसंस्क्रियमाणशब्दार्थशरीरं काव्यं दृश्यते, यथा अमरुकस्य कवेः अनिबद्धशृङ्गाररसस्यन्दी श्लोकः 'कथमपि कृतप्रत्यासत्तौ'
—प्रतिहारेन्दु, राघवन Bhoja's Sr. Pr. में उद्धृत, पृ० ३०६

२. काव्यं खलु गुणसंस्कृतशब्दार्थशरीरत्वात्।—वही पृ०, ३०७

३. नित्यो हि काव्ये गुणयोग इव रसादियोगः।—भोज, स० क० आ० ५ पृ० ६६१
'कदाचिदलंकारयोगोऽपि त्यज्यते, न तु रसादियोगः गुणयोगश्च व्यभिचरित-सम्बन्धाविति।—वही, ५ पृ० ७७१

४. गुणवत्येव वाक्येऽलंकारयोगः।—वही, ५ पृ० ६९१

उनके अनुसार कुछ अलङ्कार गुणों से ही बनते हैं। अतः, उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध रहता है। उदाहरणार्थ, रीति नामक शब्दालङ्कार श्लेष आदि गुणों पर ही आधृत हैं।[1]

वामन की तरह भोज ने भी गुण को काव्य का अनिवार्य अङ्ग मानकर उसे अलङ्कार से अधिक महत्त्व प्रदान किया है। गुण-हीन काव्य अलङ्कृत होने पर भी सुन्दर नहीं होता। अतः, काव्य में अलङ्कार-योग की अपेक्षा गुण योग की प्रधानता है।[2] शृङ्गारप्रकाश में भी भोज ने यह धारणा व्यक्त की है कि काव्य में गुण की योजना अनिवार्य है; पर अलङ्कार-योजना कवि की इच्छा पर निर्भर है। कवि स्वेच्छा से अलङ्कार का त्याग कर भी सुन्दर काव्य की रचना कर सकता है; किन्तु गुण का त्याग कर काव्य-रचना सम्भव नहीं। यही गुण और अलङ्कार का भेद है।[3] भोज वामन के इस सिद्धान्त से सहमत हैं कि गुण से उत्पन्न शोभा की ही वृद्धि अलङ्कार से होती है। अलङ्कार स्वयं काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि नहीं करते। इस मत की पुष्टि के लिए वामन के उक्त दो श्लोकों को तो 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में उद्धृत किया ही गया है; एक नवीन श्लोक की भी रचना की गयी है। भोज का कहना है कि सभी अलङ्करण सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं, सृष्टि नहीं। अञ्जन रमणी के दीर्घ अपाङ्ग वाले नेत्र की ही श्रीवृद्धि करता है, हार उसके उन्नत उरोज की शोभा बढाता है, तन्वङ्गी की क्षीण कटि पर ही चोली की छटा निखरती है तथा गुरु नितम्ब पर काञ्ची की कान्ति दीख पड़ती है।[4] स्पष्ट है कि भोज अलङ्कार को

---

१. गुणैर्हि गुणभूतैरेव अलंकाराः प्राय आरभ्यन्ते।
तद्यथा—अस्पृष्टा दोषमात्राभि....—शृङ्गार प्रकाश पृ० २२-२३; उद्धृत Bhoja's Sr. Pr. पृ० ३०८

२. "अलङ्कृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः॥"—भोज, सरस्वतीकण्ठा० १,५९

३. "तत्र गुणोपादान-अलंकारयोगयोः गुणोपादानं गरीयः। अयमेव गुणालंकार-योर्विशेषः यद्गुणोपादाने नियमः अलंकारयोगे तु कामाचार इति।
—भोज, शृ० प्र०, डॉ० राघवन द्वारा उद्धृत Bhoja's Sr. Prakas Vol. I पृ० ३०९

४. दीर्घापाङ्गं नयनयुगलं भूषयत्यञ्जनश्रीः
तुङ्गाभोगौ प्रभवति कुचावर्चितुं हारयष्टिः।
मध्ये क्षामे वपुषि लभते (लगति) स्थान कूर्पासलक्ष्मीः
श्रोणीबिम्बे गुरुणि रशनादाम शोभां बिभर्ति।
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, १ पृ० १३९

शोभातिशयमात्र का हेतु मानते हैं। निस्तेज एवं छोटी-छोटी आँखों की शोभा अञ्जन क्या बढायगा? गलित वक्ष पर रखा हुआ हार उसकी शोभा तो क्या बढायगा—स्वयं भी कान्तिहीन हो जायगा। गुण-हीन काव्य में प्रयुक्त अलङ्कार की भी वही दशा होगी।

सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकार रत्नेश्वर की धारणा है कि भोज न तो कश्मीरी आचार्यों की तरह रसाश्रित तीन गुण मानते हैं और न वामन की तरह गुण को काव्य का सौन्दर्यहेतु और अलङ्कार को सौन्दर्यातिशयहेतु। उनके अनुसार भोज आनन्दवर्धन के मत को अंशतः स्वीकार करते हैं और तीन गुणों को तीन रसों से सम्बद्ध मानते हैं।[1] रत्नेश्वर की यह मान्यता युक्ति-सङ्गत नहीं जान पड़ती। भोज की गुणालङ्कार-धारणा के विवेचन से यह स्पष्ट है कि वे वामन की तरह गुण को काव्य का नित्य एवं अलङ्कार को अनित्य धर्म मानते हैं। सरस्वतीकण्ठाभरण में यह मान्यता स्पष्ट है कि अलङ्कार शोभाजनक नहीं, शोभावर्धक मात्र हैं। अतः, मुझे डॉ० राघवन की यह मान्यता तर्कसङ्गत जान पड़ती है कि भोज ने गुण को मुख्य एवं अलङ्कार को अमुख्य कहकर वामन के मत को ही स्वीकार किया है।[2]

रत्नेश्वर

सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकार रत्नेश्वर ने भोज की धारणा के अनुरूप गुण को काव्य का मुख्य शोभाहेतु तथा अलङ्कार को अमुख्य शोभाहेतु कहा है। जैसा कि भोज की गुणालङ्कार-धारणा के विवेचन-क्रम में देखा जा चुका है, रत्नेश्वर ध्वनिवादी आचार्यों की इस स्थापना को अनुचित बताते हैं कि गुण रस के धर्म हैं तथा अलङ्कार शब्दार्थ के धर्म। उनकी युक्ति यह है कि रस की काव्य में सार्वत्रिक स्थिति नहीं होती; किन्तु गुण काव्य में सर्वत्र रहते हैं। यदि गुण को रस का धर्म मान लिया जाय तो वह भी रस की तरह काव्य का अनित्य धर्म हो जायगा। गुण को रसावलम्बी या रस का

---

१. रसालम्बिनो गुणाः, शब्दार्थालम्बिनस्तु अलङ्कारा इति काश्मीरकाः। तदगमकन्। तथा हि। यदि काव्यस्य रसप्रधानात्मकतामाश्रित्यायं विभागः। अलंकारा अपि तर्हि तत्प्रवण एव। अथ नायन्नियमो यत् सर्वत्र रसः प्रधानमिति तदा अत्र गुणेषु अपि कथं तदालम्बननियमः॥ × × काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्तु अलङ्कारा इत्यन्ये। तदपि न। अस्य रसादिवदव्याप्तेः। × × × —सरस्वतीकण्ठाभरण, रत्नेश्वरकृत टीका १ पृ० ४९

२. डॉ० राघवन, Bhoja's Sr. Pr. पृ० ३०८-९

उद्बोधक कहकर भी अलङ्कार से उसका पार्थक्य सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि अलङ्कार भी रस को उद्बुद्ध करते हैं और इसलिए उन्हें भी रसावलम्बी कहा जाना चाहिए। रत्नेश्वर ने वामन की गुण-अलङ्कार-सम्बन्धी मान्यता के खण्डन का भी प्रयास किया है। वे गुण को काव्य का शोभा-हेतु तथा अलङ्कार को शोभातिशय-हेतु नहीं मानते। उनके अनुसार दोनों ही काव्य के शोभाकर धर्म हैं। उनकी मान्यता है कि दोनों के शोभाकर धर्म होने के कारण ही भोज ने गुण को अलङ्कार भी माना है। रत्नेश्वर का सिद्धान्त भोज के मत से इस अंश में साम्य रखता है कि वे भी गुण को काव्य का मुख्य एवं अलङ्कार को अमुख्य धर्म मानते हैं। गुण और अलङ्कार में रत्नेश्वर के अनुसार काव्य के मुख्य और अमुख्य धर्मत्व-मात्र का भेद है।[1]

अग्निपुराणकार

अग्निपुराण के अलङ्कार-खण्ड में गुण और अलङ्कार की पारस्परिक स्थिति के सम्बन्ध में भोज से मिलती-जुलती धारणा व्यक्त की गयी है। गुण को अलङ्कार की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान किया गया है। गुण की सत्ता रहने पर ही काव्य में अलङ्कार उपादेय होते हैं, अन्यथा वे व्यर्थ हैं। अग्निपुराणकार का मत है कि गुण को दोषाभाव-मात्र कहकर उसके महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। गुण भावात्मक हैं, अभावात्मक नहीं।[2]

विद्यानाथ

प्रतापरुद्रयशोभूषण में विद्यानाथ ने गुण और अलङ्कार का पारस्परिक भेद दिखाया है। गुण-धारणा में भोज के सिद्धान्त से बहुलांश में प्रभावित होने पर भी विद्यानाथ ने अर्थ-गुण का सद्भाव नहीं माना है। वे गुण को शब्द या सङ्घटना पर आश्रित मानते हैं। अलङ्कार शब्दार्थ पर आश्रित रहते हैं; अतः उनके अनुसार आश्रय भेद से गुण और अलङ्कार का भेद स्पष्ट है।[3] उन्होंने गुण और

---

१. उद्भूतगुणं तु स्फुटालङ्कारहीनमपि चमत्कारमावहत्येव। ×× यतो गुणयोगो मुख्यः ततः प्रथममुद्दिष्टो लक्षितश्च।
—सरस्वतीकण्ठाभरण, रत्नेश्वरकृत टीका पृ० ४९,५०

२. अग्निपुराण, अध्याय ३४६, श्लोक संख्या २,२

३. एतेषां गुणानामर्थगतत्वमपि केचिदिच्छन्ति। प्राचामाचार्याणां मतेन सङ्घटनाश्रयत्वमेव गुणानाम्। तदुक्तमलंकारसर्वस्वे 'सङ्घटनाधर्मत्वेन शब्दार्थधर्मत्वेन गुणालंकाराणां व्यवस्थानम्' इति। अनयैव भङ्ग्या गुणालंकाराणां निरूपितः, स्वरूपभेदः। —विद्यानाथ, प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० ३३४

अलङ्कार; दोनों को काव्य का शोभाकर धर्म माना है। इस प्रकार विद्यानाथ के अनुसार गुण और अलङ्कार में साम्य यह है कि दोनों काव्य के शोभाकर धर्म हैं; पर दोनों में वैषम्य यह है कि एक सङ्घटना पर आश्रित है और दूसरा शब्दार्थ पर। विद्यानाथ आनन्दवर्धन की तरह गुण को रसधर्म नहीं मानते। उन्होंने आनन्दवर्धन के तीन गुणों को स्वीकार नहीं कर प्राचीन आचार्यों के श्लेषादि गुणों को मान्यता प्रदान की है; किन्तु एक जगह उन्होंने अलङ्कार को हार आदि की तरह तथा गुण को शौर्य आदि की तरह कहा है, जिसमें आनन्दवर्धन की गुणालङ्कार-धारणा की स्पष्ट प्रतिध्वनि है। इस कथन के आधार पर टीकाकार कुमारस्वामी ने यह माना है कि विद्यानाथ प्राचीन आचार्यों के गुण-सिद्धान्त के अनुयायी होने पर भी हृदय से आनन्दवर्धन की मान्यता के पक्षपाती थे। उनके श्लेषादि गुणों का परस्पर अन्तर्भाव हो सकता है और उनकी संख्या तीन की जा सकती है। इस प्रकार उन तीन गुणों का रसधर्मत्व प्रतिपादित किया जा सकता है। अतः, यह कहा जा सकता है कि विद्यानाथ आनन्दवर्धन की तरह गुण को रसधर्म एवं अलङ्कार को शब्दार्थ-धर्म मानकर दोनों का भेद स्वीकार करते थे।[१] वस्तुतः, विद्यानाथ में विचार की एकरूपता का अभाव है। वे स्पष्टतः गुण को सङ्घटनाश्रित तथा अलङ्कार को शब्दार्थाश्रित कहते हैं; पर प्रकारान्तर से गुण का रसधर्मत्व भी स्वीकार कर लेते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि वे दोनों दशाओं में गुण और अलङ्कार में पार्थक्य मानते हैं।

केशव मिश्र

अलङ्कारशेखर में केशव मिश्र ने गुण और अलङ्कार के पार्थक्य-निरूपण में भोज की धारणा का अनुसरण किया है। काव्य में अलङ्कार की अपेक्षा गुण का अधिक महत्त्व है। उनका स्पष्ट कथन है कि यदि काव्य में गुण नहीं रहे तो अलङ्कारों की कोई उपयोगिता नहीं होती।[२] इस कथन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि केशव मिश्र काव्य का शोभाहेतु गुण को ही मानते हैं।

---

१. वस्तुतस्तु × × अन्तर्भावे श्लेषादिगुणानां रसधर्मत्वम्। अलङ्काराणां तु शब्दार्थधर्मत्वमिति विद्यत एव स्वरूपभेद इति रहस्यम्। अतएव स्वयमेवोक्तवान् काव्यप्रकरणे—हारादिवदलङ्कारास्तत्र स्युरुपमादयः। श्लेषादयो गुणास्तत्र शौर्यादय इव स्थिताः॥ आत्मोत्कर्षवहा,—वही पृ० ३३५

२. गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयोः।
और—अलङ्कारसहस्रैः किं गुणो यदि न विद्यते।—केशव, अलङ्कारशेखर ३, १

अलङ्कार काव्य में सौन्दर्य का आधान नहीं कर सकते, वे शोभा की केवल वृद्धि कर सकते हैं।

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन के पूर्व गुण और अलङ्कार की पारस्परिक स्थिति तथा काव्य में उनके सापेक्ष महत्त्व का विवेचन स्पष्ट नहीं हो पाया था। उद्भट आदि आचार्य गुणालङ्कार को काव्य-शरीर से समवाय-वृत्त्या सम्बद्ध मानकर दोनों का अभेद सिद्ध करने का प्रयास कर चुके थे। विद्यानाथ ने उद्भट की ही तरह गुण को सङ्घटनाश्रित तथा अलङ्कार को शब्दार्थ पर आश्रित माना। वामन आदि आचार्य गुण को शोभाहेतु तथा अलङ्कार को शोभातिशय-हेतु कहकर दोनों में भेद स्वीकार करते थे; किन्तु दोनों का आश्रय शब्द और अर्थ को ही मानते थे। आश्रय के भेद का निर्णय नहीं हो पाने के कारण गुणालङ्कार के स्वरूप का भेद पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाया था। आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम काव्य के गुण, अलङ्कार आदि अवयवों का स्थान निर्णीत किया तथा उनके सापेक्ष महत्त्व का निर्धारण किया। उन्होंने ध्वन्यालोक में यह प्रतिपादित किया कि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि अर्थात् रसादिरूप अर्थ काव्य की आत्मा है। शब्द और अर्थ उसके शरीर हैं। आत्मा और शरीर के भेद-निरूपण के उपरान्त आनन्दवर्धन के लिए गुण और अलङ्कार का पार्थक्य-विवेचन सरल हो गया। उनके अनुसार गुण आत्मा के धर्म हैं। वे काव्य के आत्मभूत रसादिरूप अर्थ में रहकर उसका उत्कर्ष-साधन करते हैं। अलङ्कार मानव-शरीर के कटक-कुण्डल आदि आभूषण की तरह हैं। वे काव्य के शरीर शब्द और अर्थ को आभूषित करते हैं।[1] इस कथन के आधार पर आनन्दवर्धन की गुण एवं अलङ्कार सम्बन्धी मान्यता को समझा जा सकता है। लोक में आभूषण व्यक्ति के शरीर को विभूषित कर अन्तर के भाव को उद्बुद्ध करने में सहायक होते हैं। वे शरीर की शोभा बढ़ाते है। यदि शरीर सहज सुन्दर हो तो अलङ्कार की कोई आवश्यकता नहीं रहती। हृदय में भाव के रहने पर अलङ्कार उसकी व्यञ्जना में सहायक होते हैं। किन्तु अन्तर के भावशून्य होने पर अलङ्कार व्यर्थ सिद्ध होते हैं; यदि अन्तर भावपूर्ण हो तो अलङ्कार के अभाव में भी भाव की आभा कान्ति को बढ़ा देती है। भाव के एकान्त अभाव तथा उसके प्राचुर्य की दशा में अलङ्कार की व्यर्थता स्पष्ट है। कृष्णकर्णामृत में

---

१. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥—आनन्द, ध्वन्यालोक, २,६

इसी दशा को लक्ष्य कर यह कहा गया है कि प्रिय के अनुरक्त रहने पर तथा उसके विरक्त रहने पर नारी का आभूषण निरर्थक है।[१] यदि प्रिय का उस पर अनुराग है तो उसके अलङ्कार धारण नहीं करने पर भी उसके राग की अभिव्यक्ति होगी ही और यदि वह विरक्त है तो उत्तमोत्तम आभूषण भी उसके अन्तर में भाव नहीं जगा सकता। कभी-कभी तो भावाभिव्यक्ति में बाधक होने के कारण अलङ्कार अग्राह्य हो जाते हैं। कामकेलि के समय कान्ता के आभूषण अग्राह्य हो जाते हैं। हनुमन्नाटक में कवि ने अलङ्कार की व्यर्थता की ओर सङ्केत किया है। विरह की दशा में राम कहते हैं कि मैं प्रिया से विश्लेष के भय से पहले गले में हार भी नहीं डालता था।[२] अलङ्कार के भार से कभी-कभी शरीर का सहज सौन्दर्य भी दब जाता है। आवश्यकता से अधिक अलङ्कार शरीर के सौन्दर्य की वृद्धि करने के स्थान पर उसकी सहज कान्ति को ही मलिन कर देते हैं। बिहारी ने नायिका के स्वभाव-सुन्दर शरीर पर अलङ्कार को शीशे के मुरचे के समान अवाञ्छनीय बताया है। स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन के अनुसार अलङ्कार काव्य के आवश्यक धर्म नहीं हैं। काव्य के शब्दार्थ-रूप शरीर को आभूषित कर उसके माध्यम से काव्य की प्रधान वस्तु रस के उपकार करने में ही उसकी सार्थकता है। रस के नहीं रहने पर वे व्यर्थ सिद्ध होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि वे सदा रस का उपकार ही करते हों। कभी-कभी वे भाव के बाधक भी हो जाते हैं। अतः, ऐसे स्थल में अलङ्कार अग्राह्य हैं।

अलङ्कार को कहीं-कहीं अनुपादेय, यहाँ तक कि अग्राह्य मानने पर भी आनन्दवर्धन ने उसे सर्वत्र निन्द्य नहीं माना है। वे अलङ्कार की उपादेयता समझते थे। उनकी यह मान्यता उचित ही है कि जहाँ कवि काव्य की मुख्य वस्तु रस के परिपाक को भूलकर अलङ्कार-योजना में अलग से श्रम करने लगता है, वहाँ पृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार काव्य के सौन्दर्य की वृद्धि करने में अक्षम होते हैं; किन्तु रससिद्ध प्रतिभावान कवि जब काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है तो अनेक अलङ्कार स्वतः उसकी काव्यसृष्टि में समाविष्ट हो जाते हैं।

---

१. रक्ते विरक्ते च वरे वधूनां।
 निरर्थकः कुंकुमपत्रभङ्गः॥—लीलाशुक, कृष्णकर्णामृत, २,१००

२. 'हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा।'— हनुमन्नाटक, ५,२५

कवि को अलङ्कार-योजना के लिए अतिरिक्त श्रम नहीं करना पड़ता। ऐसा लगता है, जैसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि की कृति में स्थान पाने के लिए अलङ्कारों में होड़-सी लग गयी हो। अनायास अलङ्कारों की योजना काव्य में होती जाती है। ये अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार वाच्य-वैभव की वृद्धि करते हैं। ऐसे अलङ्कार रस के व्यञ्जक वाच्य-वाचक के सौन्दर्य को बढ़ाकर रस का उपकार करते हैं। उसीमें उनकी उपादेयता है।[1] स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन रूपकादि अलङ्कार की सफल योजना के लिए कवि की सहज प्रतिभा को आवश्यक मानते हैं।

आनन्दवर्धन ने काव्यालङ्कार को सामान्यतः कुण्डल आदि आभूषण के समान कह दिया है; पर वे सभी अलङ्कारों को लौकिक आभूषण की तरह वहिरङ्ग नहीं मानते। रसाक्षिप्त या अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार बहिरङ्ग नहीं।[2] वैसे अलङ्कारों को हाव, भाव आदि नायिका-अलङ्कारों के समान ही माना जाना चाहिए। इतना ही नहीं, आनन्दवर्धन के अनुसार अलङ्कार कभी-कभी शरीरी या काव्य की आत्मा भी बन जाते हैं। अलङ्कार के वाच्य होने पर उन्हें काव्य के शरीर से सम्बद्ध माना जाता है; पर जहाँ वे वाच्य न होकर ध्वनित होते हैं वहाँ शरीरी बन जाते हैं।[3] आनन्दवर्धन ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं। काव्य में वस्तु, अलङ्कार तथा रस-भाव आदि की ध्वनि होती है। जहाँ स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध अथवा कविनिबद्धप्रौढोक्ति-सिद्ध वस्तु से या अलङ्कार से अलङ्कार ध्वनित होता है, वहाँ ध्वनित अलङ्कार काव्य का प्राण होता है।

अलङ्कार की योजना में औचित्य का होना आवश्यक है। आनन्दवर्धन ने अनौचित्य को रस-भङ्ग का एकमात्र कारण माना है।[4] काव्य में अलङ्कार्य

---

१. अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेः अहंपूर्विकया परापतन्त। × × × युक्तं चैतत्। यतो रसा वाच्यविशेषैरेव आक्षेप्तव्याः, तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैः, तत्प्रतिपादिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलङ्काराः।—आनन्द० ध्वन्यालोक, पृ० १३१-३२

२. तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ।—वही, पृ० १३२

३. शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः॥—वही, २, २१ पृ० २१४

४. अनौचित्यादृते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्।—वही, ३, पृ० ३०२

रस है। अतः, उसके सद्भाव में ही अलङ्कार की सार्थकता है।[1] निष्कर्षतः, आनन्दवर्धन की यह मान्यता है कि सरस काव्य में अलङ्कार की उचित योजना होने पर ही वह शोभावर्धक होता है। रस, भाव आदि काव्य के मुख्य तत्त्व का उपकारक अलङ्कार ही ग्राह्य होता है। व्यवहार में भी आभूषण को धारण करना या उसे उतार कर रख देना विशेष प्रकार के मानसिक भाव का सूचक होता है। सामान्यतः, शोक-दशा में लोग अलङ्कार धारण नहीं करते। सुन्दर वस्त्र और आभूषण मनुष्य के मन के उल्लास की व्यञ्जना करते हैं। इसी प्रकार काव्य के अलङ्कार को भी भाव की व्यञ्जना में सहायक होना चाहिए। रस, भाव आदि की व्यञ्जना के लिए जहाँ अलङ्कार की योजना हो, वहीं वे सच्चे अर्थ में अलङ्कार हैं।[2] अलङ्कार-योजना के विषय में आनन्दवर्धन का मूल सिद्धान्त यह है कि काव्यालङ्कार को रसव्यञ्जक होना चाहिए, वह कवि के रस-व्यक्ति-यत्न के साथ उत्पन्न हो, उसकी योजना स्वाभाविक और सरल हो तथा उसकी योजना में कवि का अतिरिक्त श्रम न लगे।[3] इस प्रकार की अलङ्कार-योजना काव्य की श्रीवृद्धि करती है।

काव्य के गुण को मनुष्य के शौर्य आदि के समान काव्य की आत्मा रस का धर्म कहा गया है। शूरता, वीरता आदि गुण आत्मा में रहते हैं। काव्य गुण भी काव्य के अङ्गी रस का अवलम्बन लेकर रहते हैं। शब्द आदि को मधुर कहना आनन्दवर्धन के अनुसार उपचार मात्र है। माधुर्य वस्तुतः शृङ्गार एवं करुण रसों का धर्म है। बहुधा माधुर्य की व्यञ्जना कोमल वर्णों से होती हैं। अतः, उपचार से माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों को ही मधुर कह दिया जाता है। इसी प्रकार ओज के रौद्र आदि रस के धर्म होने पर भी उपचार से ओज-व्यञ्जक वर्ण-योजना को ओजस्वी कहा जाता है। इस प्रकार गुण को शब्दगत कहने पर भी अनुप्रास आदि शब्दालङ्कार से भिन्न और व्यापक माना गया है। गुण अर्थ से सम्बद्ध रह कर रस पर आश्रित

---

१. ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥—आनन्द० ध्वन्या०, २,१८ पृ० ११४

२ रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्।—वही, २,६ पृ० १०५

३. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥—वही, २, १७

रहता है। अतः, उसे उपचार से ही शब्दगत माना जाता है, जैसे आत्मा के धर्म, शौर्य आदि को उपचार से शरीर-धर्म मान लिया जाता है।[1] इस प्रकार आनन्दवर्धन ने अलङ्कार को शब्दार्थ पर आश्रित तथा गुण को रस पर आश्रित मानकर दोनों का पार्थक्य स्पष्ट कर दिया। उन्होंने उद्भट एवं विद्यानाथ आदि के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है कि गुण सङ्घटना पर आश्रित रहते हैं। इस विषय पर आनन्दवर्धन की गुण और सङ्घटना-विषयक धारणा के विवेचन-क्रम में विस्तार से विचार किया जायगा।

वामन आदि आचार्य गुण और अलङ्कार के आश्रय-भेद को स्पष्ट नहीं कर पाये थे। आनन्दवर्धन ही इस श्रेय के अधिकारी हैं कि उन्होंने दोनों की आश्रयगत भिन्नता का निरूपण कर उनका पारस्परिक भेद निर्भ्रान्त रूप से प्रतिपादित कर दिया।

अभिनव गुप्त

ध्वन्यालोक-लोचन में अभिनव गुप्त ने आनन्दवर्धन की धारणा को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार काव्य में रसाक्षिप्त, सुश्लिष्ट या अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार शरीर पर लगाये हुए कुंकुमलेप के समान होता है।[2] अलङ्कार का प्रयोजन रस का उपकार करने में सिद्ध होता है। यदि काव्य में रस का अभाव हो तो वह निष्प्राण होता है। उस स्थिति में अलङ्कार की कोई उपयोगिता नहीं। जिस प्रकार मनुष्य के निष्प्राण शरीर पर कटक, कुण्डल आदि अलङ्कार व्यर्थ होते हैं, उसी प्रकार रस-हीन काव्य में अलङ्कार निरर्थक सिद्ध होते हैं। वस्तुतः, आत्मा ही अलङ्कार्य है, शरीर नहीं। अतः, अलङ्कार्य के अभाव में अलङ्कार शरीर की शोभा नहीं बढ़ा सकते। काव्य की शोभावृद्धि के लिए अलङ्कार-योजना में औचित्य का होना आवश्यक है। अनौचित्य से अलङ्कार हास्यास्पद हो जाते हैं। संन्यासी के शरीर का अलङ्करण अनुचित

१. अथवा भवन्तु शब्दाश्रया एव गुणाः। न चैषामनुप्रासादितुल्यत्वम्। यस्मादनुप्रासादयोऽनपेक्षितार्थविस्ताराः शब्दधर्मा एव। शब्दधर्मत्वं चैषाम् अन्याश्रयत्वेऽपि शरीराश्रयत्वमिव शौर्यादीनाम्।—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, ३ पृ० २६२

२. एतदुक्तं भवति—सुकविः विदग्धपुरन्ध्रीवत् भूषणं यद्यपि श्लिष्टं योजयति तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसंपाद्या, कुंकुमपीतिकाया इव। आत्मतायास्तु का संभावना। एवंभूता चेयं व्यंग्यता, पदप्रधानभूतापि वाच्यमात्रालंकारेभ्यः उत्कर्षमलंकाराणां वितरति। बालक्रीडायामपि राजत्वमिवेत्यमुमर्थं मनसि कृत्वाह—तन्नेति।—अभिनव, लोचन, पृ० ११७-१८

स्थान पर होने के कारण हास्यास्पद होता है।[1] अभिनव ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि अलङ्कार्य ध्वनिरूप आत्मा ही है। उपमा वाच्य अर्थ को अवश्य अलङ्कृत करती है; किन्तु उसका अलङ्कारत्व इस बात में है कि वह वाच्य को व्यङ्ग्य अर्थ की व्यञ्जना में समर्थ बनाती है। केयूर आदि लौकिक अलङ्कार भी शरीर को अलङ्कृत कर उसके माध्यम से विशेष मनोभाव को सूचित करते हुए आत्मा को ही अलङ्कृत करते हैं।[2] अभिनव ने आनन्दवर्धन की इस मान्यता को स्पष्ट किया है कि अलङ्कार अङ्गभूत शब्द एवं अर्थ पर आश्रित रहते हैं तथा गुण अङ्गीभूत रस पर। अतः, दोनों परस्पर भिन्न हैं।[3] वस्तुतः माधुर्य आदि गुण रस के ही धर्म हैं। उन्हें उपचार से ही शब्दगत मानकर शब्द के लिए मधुर आदि का प्रयोग होता है। अतः, शृङ्गार मधुर होता है और उस मधुर रस को अभिव्यक्त करने की शब्दार्थ की शक्ति माधुर्य है।[4] अभिनव गुप्त की मान्यता के इस विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने गुण और अलङ्कार के पार्थक्य के सम्बन्ध में किसी नवीन सिद्धान्त की स्थापना नहीं की है। आनन्दवर्धन की तत्सम्बन्धी धारणा का स्पष्टीकरण ही उनका उद्देश्य रहा है।

मम्मट

आनन्दवर्धन के उपरान्त आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में गुण और अलङ्कार का भेद निरूपित किया है। उन्होंने मूलतः आनन्दवर्धन के तद्विषयक सिद्धान्त को ही स्वीकार किया है, फिर भी सिद्धान्त-स्थापना की यौक्तिक पद्धति में उनकी मौलिकता स्पष्ट है और यही उनके श्रेय का कारण है। उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्य उद्भट आदि की मान्यता का खण्डन किया है।

मम्मट ने गुण और अलङ्कार के स्वरूप का विवेचन करने के क्रम में उनके भेदक तत्त्वों पर भी प्रकाश डाला है। वे दोनों को काव्य का धर्म स्वीकार

---

१. तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति अलंकार्यस्य अनौचित्यात्।
—अभिनव लोचन, पृ० ५७

२. उपमया यद्यपि वाच्योऽर्थोऽलंक्रियते, तथापि तस्य तदेवालंकरणम्, यद् व्यङ्ग्यार्थाभिव्यञ्जनसामर्थ्याधानमिति। वस्तुतो ध्वन्यात्मैव अलंकार्यः। कटककेयूरादिभिरपि हि शरीरसमवायिभिः आत्मैव तत्तच्चित्तवृत्तिविशेषौचित्यसूचनात्मतया अलङ्क्रियते।—वही, पृ० ७४–७५

३. गुणालंकारव्यवहारश्च गुणिन्यलंकार्ये च सति। स च अस्मत्पक्ष एवोपपन्न इत्यभिप्रायेणाह।—वही, पृ० ७८

४. एतदुक्तं भवति—वस्तुतो माधुर्यं नाम शृङ्गारादेः रसस्यैव गुणः। तन्मधुराभिव्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरुपचरितम्। मधरशृङ्गार-रसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि तल्लक्षणम्।—वही, पृ० ७९

करते हैं; किन्तु गुण की तरह अलङ्कार को उसका आवश्यक धर्म नहीं मानते। उनके काव्य-लक्षण में भी उनका यह अभिमत स्पष्ट है। वे दोषरहित, गुण-सहित तथा प्रायः सालङ्कार; किन्तु कभी-कभी अलङ्काररहित शब्दार्थ को काव्य कहते हैं।[१] स्पष्टतः, उन्होंने काव्य में अलङ्कार की अनिवार्यता का निषेध किया है, साथ ही गुण के नियत काव्य-धर्मत्व की स्थापना भी की है। वे अलङ्कार-हीन शब्दार्थ को भी काव्य कहते हैं; पर काव्य-पद की प्राप्ति के लिए शब्दार्थ का सगुण होना आवश्यक समझते हैं।

मम्मट के मतानुसार गुण एवं अलङ्कार के स्वरूप को समझने तथा उनके भेदक तत्वों को जानने के लिए उनकी परिभाषाओं पर विचार करना वाञ्छनीय होगा। काव्यप्रकाश में गुण की परिभाषा में कहा गया है कि व्यक्ति की आत्मा में अचल भाव से रहकर उसका उत्कर्ष-साधन करनेवाले शौर्य आदि धर्म की तरह जो धर्म काव्य के अङ्गी रस में अविचल भाव से रहते हुए उसमें उत्कर्ष का आधान करते हैं, वे गुण कहे जाते हैं।[२] अपनी वृत्ति में मम्मट ने इस धारणा को और भी स्पष्ट किया है। जिस प्रकार शूरता-वीरता आदि धर्म आत्मा में ही निवास करते हैं, उन्हें शरीर का धर्म नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रस के ही धर्म हैं, उन्हें काव्य के शरीर शब्द और अर्थ का धर्म मानना उचित नहीं। व्यवहार में यह देखा जाता है कि लोग किसी व्यक्ति के सुपुष्ट शरीर को देखकर उसे 'शूर' मान लेते हैं, इसके विपरीत किसी की क्षीण देह को देखकर उसे 'अशूर' समझ लेते हैं। यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब शौर्य आदि का निर्णय शरीर-धर्म के रूप में हो सकता है तो माधुर्य आदि को भी शब्दार्थ का धर्म क्यों नहीं माना जाय? मम्मट ने इस शङ्का का समाधान इस युक्ति से किया है कि शारीरिक पुष्टता और क्षीणता के आधार पर व्यक्ति में वीरता के सद्भाव तथा अभाव के निर्णय का लोक-व्यवहार निर्भ्रान्त नहीं। क्षीण काय में शूरता के सद्भाव तथा पुष्ट शरीर में उसके अभाव के भी असंख्य उदाहरण लोक में पाये जाते हैं। काव्य-जगत में भी यही सत्य है। कोमल वर्णों में भी ओज-जैसे दीप्त गुण का सद्भाव पाया जा सकता है तथा कहीं-कहीं कठोर पदों से माधुर्य आदि की व्यञ्जना के भी उदाहरण देखे जा सकते हैं। लोक में सुपुष्ट शरीर के लिए शूर तथा काव्य

१. 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।'
—मम्मट, काव्यप्र० १, ४ पृ० ४

२. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ —वही, ८, ६६ पृ० ३८७-८८

में कोमल वर्णों के लिए मधुर आदि व्यवहार अकारण नहीं है। उसके कारण पर मम्मट ने विचार किया है। लोक में बहुधा यह देखा जाता है कि हृष्ट-पुष्ट शरीर में शूर आत्मा का निवास रहता है। इसके विपरीत क्षीण शरीर में रहने वाली आत्मा में प्राय: शौर्य आदि गुणों का अभाव रहता है। इस आधार पर लोग शौर्य आदि को शरीर का ही धर्म मान लेते हैं। इसीलिए लोग पुष्ट शरीर वाले शूर के सादृश्य के आधार पर पुष्ट शरीर वाले अशूर को भी शूर मान बैठते हैं। इसी प्रकार काव्य में भी बहुधा माधुर्य की व्यञ्जना कोमल वर्णों से होती है। अतः, कोमल वर्णों को ही माधुर्य गुण-युक्त मान लिया जाता है। यह पद्धति यौक्तिक नहीं। तर्क-शास्त्र में कुछ उदाहरणों के सादृश्य के आधार पर निष्कर्ष रूप में किसी सिद्धान्त की स्थापना को दोष माना जाता है। मम्मट ने कुछ हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले वीर के सादृश्य पर अन्य हृष्ट-पुष्ट शरीर वालों को भी वीर समझ लेने वाले लोगों को अदूरदर्शी माना है। उनके अनुसार रसाभिव्यक्ति के मर्म को नहीं समझ सकने वाले असहृदय ही माधुर्य के व्यञ्जक कोमल वर्णों को मधुर, तथा ओज-व्यञ्जक कठोर वर्णों को ओजस्वी कहते हैं। जो सहृदय रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया को समझते हैं, वे यह जानते हैं कि वस्तुतः माधुर्य, ओज आदि शृङ्गार, रौद्र आदि रसों में रहते हैं और प्राय: उनकी व्यञ्जना कोमल एवं कठोर आदि वर्णों से होती है।[1] कोमल वर्णों से माधुर्य की व्यञ्जना का तथा कठोर वर्णों से ओज की व्यञ्जना का नियम सार्वत्रिक नहीं। माधुर्यादि गुणों को वर्ण-धर्म मानने वाले सिद्धान्त में व्यभिचार दोष होता है। अतः, वह सिद्धान्त मान्य नहीं।

आनन्दवर्धन ने गुणों को रसधर्म मानकर माधुर्य आदि के व्यञ्जक वर्णों के लिए मधुर आदि व्यवहार को औपचारिक प्रयोग स्वीकार किया था। मम्मट ने उसे विवेकशून्य व्यक्ति का भ्रान्त प्रयोग-मात्र माना। काव्यप्रदीप में पण्डित गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की मान्यता पर टिप्पणी लिखते हुए यह विचार

---

१. आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम्। क्वचित्तु शौर्यादिसमुचितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनात्, 'आकार एवास्य शूरः' इत्यादेर्व्यवहारादन्यत्राशूरेऽपि विततकृतित्वमात्रेण 'शूर' इति क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेण 'अशूरः' इति अविश्रान्तप्रतीतयो यथा व्यवहरन्ति तद्वन्मधुरादिव्यञ्जकसुकुमारादिवर्णानां मधुरादिव्यवहारप्रवृत्तेरमधुरादिरसाङ्गानां वर्णानां सौकुमार्यादिमात्रेण माधुर्यादिमधुरादिरसोपकरणानां तेषामसौकुमार्यादेरमाधुर्यादि रसपर्यन्ताविश्रान्तप्रतीतिवन्ध्या व्यवहरन्ति। अत एव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः।

—मम्मट, काव्यप्रकाश, ८, पृ० १८८

प्रकट किया है कि अविवेकी कुछ हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले वीर व्यक्तियों के सादृश्य पर, दूसरे वस्तुतः वीरतारहित व्यक्ति को भी केवल पुष्ट शरीर के आधार पर वीर कहने की भ्रान्ति कर दिया करते हैं। इसी प्रकार वे क्षीण-काय व्यक्ति को सदा शूरतारहित समझ बैठने का भी भ्रम किया करते हैं; किन्तु गुण को आत्मा का धर्म समझने वाले विवेकी व्यक्ति भी उपचार से उसे शरीरगत कहते हैं। इस प्रकार जिस शरीर की आत्मा में वीरता का निवास हो, उस शरीर को भी उपचार से वीर कहा जाता है।[1] अतः, गोविन्द ठक्कुर के अनुसार जहाँ वस्तुतः माधुर्य आदि गुण नहीं हों, वहाँ केवल कोमल वर्णों को देखकर यदि उसे मधुर कहा जाय तो उसे मम्मट विवेक-शून्य व्यक्ति की भ्रान्त धारणा मानेंगे; किन्तु मधुर रस के रहने पर उसके व्यञ्जक कोमल वर्णों को यदि मधुर कहा जाय तो उसे औपचारिक प्रयोग माना जायगा।

काव्यप्रकाश के टीकाकार चण्डी दास की मान्यता है कि मम्मट के अनुसार रस का धर्म होना मात्र गुण का लक्षण है। उनके अनुसार मम्मट यह मानते थे कि जो रस का धर्म हो वह गुण है। उन्होंने अपनी कारिका में जो 'उत्कर्ष हेतु' कहा है वह गुण के लक्षण का अङ्ग नहीं, उसकी प्रवृति का द्योतक है। गोविन्द ठक्कुर ने इस मत का खण्डन किया है। उनकी युक्ति है कि यदि उत्कर्ष-हेतु होना गुण का लक्षण नहीं माना जाय और रस के धर्मत्व को ही अविशेष रूप से गुण का लक्षण मान लिया जाय तो केवल माधुर्य आदि तीन गुणों तक ही परिभाषा की व्याप्ति नहीं रह जायगी, सभी रसों के धर्मों तक उसकी अतिव्याप्ति हो जायगी। शृङ्गारत्व शृङ्गार रस का धर्म है। अतः, रस-धर्म होने से शृङ्गारत्व भी गुण में परिगणित होने लगेगा। इसी प्रकार करुण वीर आदि रसों के धर्म करुणत्व, वीरत्व आदि भी गुण वन जायंगे।[2] मम्मट

---

१. क्वचिच्छूरव्यवहारविषये वितताकृतिदर्शनादाकार एवास्य शूर इत्यौपचारिक-व्यवहाराच्चाभियुक्तानामाकार एवैतादृशः शूरपदवाच्य इति विपर्यासाददूरदर्शिनस्तथा व्यवहरन्ति। तत्वज्ञास्तु क्वचिदुपचारत इति वक्तव्यम्। हन्तैवं मधुरादि-रसयोगिनि सुकुमारादिवर्णयुक्ते मधुरादिव्यवहाराद्वर्ण एवायं मधुरादिरित्यौप-चारिकव्यपदेशाच्चाभियुक्तानां वर्ण एवैतादृशो माधुर्यभागिति विपर्ययाद्रसपर्य-न्तावगाहिबुद्धिविधुरा व्यवहरन्ति तत्त्वालोचिनस्तु क्वचिदुपचारादिति तुल्यमेतत्।
— गोविन्द ठक्कुर, काव्यप्रदीप, १ पृ० २७४

२. चण्डीदासस्तु रसधर्ममात्रं लक्षणं, उत्कर्षहेतुत्वं गुणशब्दप्रवृत्तिबीजम्' इत्याह। तदयुक्तम्। शृङ्गारत्वादौ धर्मेऽतिव्याप्तेः।"—वही ८ पृ० २७४

को यह अभीष्ट नहीं था। अतः, उन्होंने रसधर्मत्व के साथ रस का उत्कर्ष-हेतुत्व भी गुण-लक्षण में आवश्यक माना। माधुर्य आदि से शृङ्गारत्व आदि को भिन्न करने वाला विशेषण उत्कर्षहेतुत्व ही है। दोनों रस के धर्म हैं, किन्तु एक रस के उत्कर्ष का हेतु है; अतः वह काव्य का गुण कहा जाता है। दूसरा रस का उत्कर्षाधायक नहीं होने के कारण गुण नहीं माना जाता।

मम्मट की गुण-परिभाषा के उक्त विवेचन से गुण की निम्नलिखित तीन विशेषताएँ मानी जा सकती हैं :—

(१) गुण काव्य के अङ्गी रस के धर्म हैं,

(२) वे रस के उत्कर्ष के हेतु हैं तथा

(३) रस के साथ उनकी अचल या अनिवार्य स्थिति रहती है।

गुण को रस का धर्म मान लेने मात्र से रस के साथ उसकी अव्यभिचारी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। गुण धर्म है और रस धर्मी। धर्मी से पृथक् धर्म नहीं रह सकता; अतः गुण सदा रस के ही साथ रहते हैं। रस के अभाव में गुण के सद्भाव की कल्पना नहीं की जा सकती। मम्मट ने इसी तथ्य को विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिए गुण को रस का 'अचलस्थिति-धर्म' कहा है। इस विवेचन से उनका यह अभिमत व्यक्त है कि 'रस की स्थिति रहने पर गुण की भी सत्ता अनिवार्यतः रहती है तथा रस के अभाव में गुण का भी अभाव रहता है। गुण सदा काव्य के अङ्गी रस का उत्कर्ष-साधन करते हैं।

मम्मट ने अलङ्कार को काव्य के शरीरभूत शब्द एवं अर्थ का धर्म माना है। काव्य के उपमा, रूपक आदि अलङ्कार लोक के हार आदि अलङ्कार के समान हैं, जो शरीर को अलङ्कृत कर उसमें रहने वाली आत्मा का उपकार करते हैं। अलङ्कार की सामान्य परिभाषा में कहा गया है कि जिस प्रकार हार आदि आभूषण शरीर के माध्यम से आत्मा का उपकार करते हैं, उसी प्रकार काव्य में रस के रहने पर जो शब्दार्थ के माध्यम से उसका यदा-कदा उपकार करते हैं, वे उपमा आदि अलङ्कार हैं।[१] लौकिक अलङ्कार भी शरीर पर धारण किये जाते हैं और उनसे मनुष्य के शरीर की ही शोभा बढती है; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अलङ्कार से आत्मा का भी उपकार होता है। इस विषय पर पहले ही विचार किया जा चुका है। मम्मट ने यह माना है कि जिस काव्य में रस नहीं रहता उसमें अलङ्कार की योजना से केवल उक्ति-

१. 'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥—मम्मट, काव्यप्र० ८, ६७ पृ० १८८-८९

वैचित्र्य की सृष्टि होती है।[१] चित्र काव्य में—जिसे रसवादी आचार्यों ने अधम काव्य कहा है—अलङ्कार केवल उक्ति चमत्कार का सृजन करते हैं। कहीं-कहीं रस के रहने पर भी अलङ्कार उसका उपकार नहीं करते।[२] मम्मट की उक्त परिभाषा में अलङ्कार के निम्नलिखित तीन वैशिष्ट्य देखे जा सकते हैं :—

(१) अलङ्कार रस का उपकार करते हैं,

(२) वे काव्य में रस के रहने पर ही उसका उपकार करते हैं, तथा

(३) वे यदा-कदा ही रस का उपकार करते हैं।

गुण और अलङ्कार के उक्त वैशिष्ट्यों को दृष्टि में रखते हुए उनके भेदक तत्त्वों पर विचार किया जा सकता है। गोविन्द ठक्कुर ने दोनों की भिन्नता पर इस प्रकार विचार किया है—"गुण रस में उत्कर्ष का आधान करते हैं; अतः वे रस के धर्म हैं। रसधर्म होने के कारण रस के साथ उनकी अव्यभिचारी या अचल स्थिति है तथा वे अनिवार्यतः रस का उपकार करते हैं; किन्तु अलङ्कार रस से अलग रहकर उसका उपकार करते हैं, रस के साथ उनकी व्यभिचरित स्थिति है अर्थात् वे रस के सद्भाव-स्थल में रह भी सकते हैं और नहीं भी। वे रस के न रहने पर भी काव्य में रह सकते हैं। उनका रसोपकारक होना भी नियत नहीं।[३] वे कहीं रस का उपकार करते हैं, कहीं न तो उपकार करते हैं, न अपकार; पर कहीं वे रस के अपकारक भी हो जाते हैं।

स्पष्ट है कि मम्मट के अनुसार काव्य में अलङ्कार की अपेक्षा गुण अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। अलङ्कार रस का उपकार-मात्र करते हैं, जबकि गुण उसमें उत्कर्ष का आधान करते हैं। उपकार केवल बाह्य साहाय्य का द्योतक है; किन्तु उत्कर्ष-साधन आन्तरिक योग का सूचक है। अलङ्कार शब्दार्थ पर आश्रित रहकर रस का उपकार करते हैं; पर गुण रस में ही रह कर उसका उत्कर्ष बढ़ाते हैं।

---

१. यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः... । —'मम्मट, काव्यप्र० ८ पृ० १८६

२. ..."क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति ।— वही ८ पृ० १८६

३. एवं च रसोत्कर्षहेतुत्वे सति रसधर्मत्वं, तथात्वे सति रसाव्यभिचारिस्थितित्वं अयोगव्यवच्छेदेन रसोपकारकत्वं चेति लक्षणत्रयं गुणानां द्रष्टव्यम्। × × × × एतावता रसावृत्तित्वं चलस्थितित्वं च दर्शितम्। तथा च रसोपकारकत्वे सति तद्वृत्तित्वं, तथात्वे सति रसव्यभिचारित्वं, अनियमेन रसोपकारकत्वं चेति सामान्यलक्षणत्रयमलङ्काराणाम्।" —गोविन्द, काव्यप्रदीप, ८ पृ० २७४-७५

दोनों में दूसरा भेद यह है कि अलङ्कार की रस के साथ अनिवार्य स्थिति नहीं रहती। वे काव्य में रस के रहने पर उसका उपकार करते हैं अन्यथा उक्तिवैचित्र्य की सृष्टि करते हैं। उनकी रस से स्वतन्त्र सत्ता है; किन्तु गुण रस के धर्म हैं; अतः उनकी रस से पृथक् सत्ता नहीं रह सकती। दूसरे शब्दों में, रस के साथ अलङ्कार की चल-स्थिति है और गुण की अचल-स्थिति।

दोनों में तीसरा अन्तर यह है कि अलङ्कार रस के साथ रहने पर भी यदा-कदा ही उसका उपकार करते हैं; किन्तु गुण के द्वारा रस का उत्कर्ष-साधन सार्वत्रिक नियम है। रसमय काव्य में अलङ्कार के रहने पर तीन स्थितियाँ हो सकती हैं—(क) अलङ्कार रस का उपकार कर सकते हैं, (ख) वे तटस्थ रह सकते हैं, अर्थात् उनसे रस का न तो उपकार हो सकता है न अपकार और (ग) वे कहीं-कहीं रस के अपकारक हो सकते हैं। आनन्दवर्धन ने भी सभी अलङ्कारों को रसोपकारक नहीं माना है। वे केवल रसाक्षिप्त या अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार को ही ग्राह्य मानते हैं। मम्मट ने कई उदाहरणों से इसे स्पष्ट किया है कि कहीं अलङ्कार शरीर के माध्यम से रस का उपकार करते हैं और कहीं रस के साथ रहने पर उनसे रस का उपकार नहीं होता। शब्दालङ्कार वाचक को अलङ्कृत करते हुए रस का उपकार करते हैं तथा अर्थालङ्कार वाच्यमुखेन उसका उपकार करते हैं। कहीं शब्दालङ्कार केवल शब्द को तथा अर्थालङ्कार केवल अर्थ को अलङ्कृत कर विरत हो जाते हैं। उनसे रस का कोई उपकार नहीं होता। यदि शृङ्गार आदि कोमल रस से युक्त काव्य में कठोर वर्णों के अनुप्रास की योजना हो तो उस अलङ्कार से रस का उपकार न होकर अपकार ही होगा। उपमा आदि अलङ्कार में अप्रस्तुत-योजना प्रकृत भाव को उद्दीप्त करने के लिए होनी चाहिए। कहीं-कहीं अप्रस्तुत प्रस्तुत भाव का उत्कर्ष न कर अपकर्ष ही करते हैं। ऐसी स्थिति में उपमा आदि अर्थालङ्कार वाच्य को तो अलङ्कृत करते हैं; किन्तु रस का उपकार करने के स्थान पर उसका अपकार ही करते हैं। रस के प्रतिकूल वर्णों के अनुप्रास का उदाहरण कर्पूरमञ्जरी से उद्धृत किया गया है। विप्रलम्भ शृङ्गार के सन्दर्भ में टवर्ग के अनुप्रास की योजना से रस का अपकर्ष दिखाया गया है।[1] उपमा अलङ्कार के एक उदाहरण में दिखाया गया है कि उपमान प्रकृत भाव का बाधक होने से रस का उपकार

१. "चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि सा गुणेसु सेज्जासु लोट्टदि विसट्टदि दिम्मुहेसु।
बोलम्मि वट्टदि पवट्टदि कव्वबन्धे झाणेण टुट्टदि चिरं तरुणी तरट्टी॥
इत्यादौ वाचकमेव।"—मम्मट, काव्यप्रकाश, ८ पृ० १९०

नहीं करता। इसके उदाहरण में वियोगी चकवा की दशा का वर्णन करने के क्रम में यह कल्पना की गयी है कि सूर्य के अस्त हो जाने पर जब कमल-वन में शोक छा गया, उस समय प्रिया-वियुक्त चक्रवाक शोक-सन्तप्त होने के कारण बिस-लता को न तो खा ही सका और न उसका त्याग ही कर सका। विरह की असह्य वेदना से निकलते हुए प्राण के बन्धन की तरह वह उसे अपने गले में धारण किये रहा। इस उदाहरण में उपमा से केवल वाच्य अर्थ उपकृत होता है, विप्रलम्भ शृङ्गार नहीं। बिसलता में बान्धने की शक्ति नहीं रहा करती। अतः, उसे प्राण-निरोध के लिए अर्गला के समान मानने में प्रकृत भाव उद्दीप्त नहीं होता।[१] शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार से रस के पोषण के पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये गये हैं।[२] सत्काव्य में इसके असंख्य उदाहरण देखे जा सकते हैं। वस्तुतः, महाकवियों की रचना में अलङ्कार की योजना प्रकृत रस के पोषण के लिए ही हुआ करती है। रामचरित मानस के पुष्पवाटिका-प्रसङ्ग में सीता की सखियों के सामने राम और लक्ष्मण के लताभवन से प्रकट होने के समय जो तुलसी दास ने यह उत्प्रेक्षा की कि मानो जलदपटल के बीच से दो सुन्दर चन्द्रमा एक साथ निकल आये हों,[३] वह उत्प्रेक्षा सौन्दर्यानुभूति को तीव्र बनाकर प्रकृत शृङ्गार रस का उपकार करती है। उसी प्रसङ्ग में तुलसी ने शृङ्गार के अनुरूप कोमल वर्णों के अनुप्रास की योजना की है :—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि।।[४]

यहाँ अनुप्रास शब्दालङ्कार प्रकृत शृङ्गार रस का पोषक है। लोक में भी आभूषण भाव-व्यञ्जना के साधक और बाधक—दोनों हुआ करते हैं। उल्लास

---

१. "मित्रे क्वापि गते सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु वीक्ष्य दयितासन्नं पुरः सारसम्।
चक्राह्वेन वियोगिना बिसलता नास्वादिता नोज्झिता
कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः।।
इत्यादौ वाच्यमेव न तु रसम् अत्र बिसलता न जेवं रोद्धुं क्षमेति प्रकृताननुगुणोपमा।"—मम्मट, काव्यप्रकाश, ८ पृ० १९०

२. वही, ८ पृ० १८९

३. लताभवन तें प्रकट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग विमल विधु, जलदपटल बिलगाइ।।
—तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड

४. वही।

की मनोदशा में अलङ्करण उत्कर्ष करने वाले होते हैं; किन्तु विषाद की दशा में उनसे मनोभाव की व्यञ्जना में सहायता नहीं मिलती, प्रत्युत् उसमें बाधा ही उत्पन्न होती है। ऐसी मनोदशा में अलङ्कार असुन्दर और त्याज्य होते हैं। काव्य में भी अलङ्कार की यही स्थिति है। रस की अभिव्यक्ति में सहायक अलङ्कार ही ग्राह्य हैं, उसमें बाधक अलङ्कार त्याज्य। गुण सार्वत्रिक रूप से रस का उत्कर्ष करते हैं; अतः वे सर्वथा ग्राह्य हैं। इस प्रकार मम्मट ने गुण एवं अलङ्कार का भेद स्पष्ट कर गुण को अलङ्कार की अपेक्षा अधिक महत्व-पूर्ण तत्त्व सिद्ध किया।

अपने सिद्धान्त की स्थापना के उपरान्त मम्मट ने उद्भट, वामन आदि आचार्यों की गुणालङ्कार-सम्बन्धी मान्यताओं की त्रुटियों की ओर निर्देश किया है। उद्भट की धारणा के विवेचन-क्रम में यह देखा जा चुका है कि वे गुण और अलङ्कार—दोनों का काव्य से समवाय सम्बन्ध मान कर दोनों का अभेद सिद्ध करना चाहते थे। गुण की काव्य के साथ अव्यभिचारी या नित्य स्थिति तथा अलङ्कार की व्यभिचारी या अनित्य स्थिति सिद्ध हो जाने पर उद्भट के सिद्धान्त की निःसारता स्पष्ट हो जाती है। इसलिए मम्मट ने केवल इतना कह दिया कि उद्भट की इस मान्यता में कोई सार नहीं कि गुण और अलङ्कार—दोनों काव्य में समवाय वृत्ति से रहने के कारण परस्पर अभिन्न स्वभाव के हैं।[1]

गुण और अलङ्कार के सम्बन्ध में वामन की धारणा का मम्मट ने खण्ड किया है। वामन ने दोनों के पार्थक्य का प्रतिपादन किया है। मम्मट भी दोनों का पार्थक्य स्वीकार करते हैं; पर वामन ने गुण और अलङ्कार; दोनों को शब्दार्थ पर आश्रित मान लिया है। उन्होंने दोनों का भेद केवल इस आधार पर निरूपित किया है कि गुण काव्य में शोभा की सृष्टि करते हैं; किन्तु अलङ्कार काव्य-शोभा की केवल वृद्धि करते हैं।[2] वामन की इस मान्यता को मम्मट ने अमान्य बताया है। वे इस सिद्धान्त को युक्तिसङ्गत नहीं मानते कि

---

१. एवं च "समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवेषां भेदः" इत्यभिधानमसत्।

—मम्मट, काव्यप्रकाश, ८ पृ० १९१

२. काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।

—वामन, काव्यलङ्कार, ३, १, १-२

गुण काव्य के शोभाकारक धर्म हैं। उनकी युक्ति है कि यदि वामन के अनुसार गुण को काव्य में शोभा का आधान करने वाला धर्म मान लिया जाय तो प्रश्न यह होगा कि क्या प्रत्येक गुण अलग-अलग काव्य में सौन्दर्य-सृष्टि की क्षमता रखता है या सभी गुणों के एक साथ काव्य में रहने से सौन्दर्य का सृजन होता है ? यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक गुण अलग-अलग काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है। यदि ऐसा होता तो ऐसे सभी वाक्य, जिनमें एक भी गुण पाया जाता, काव्य मान लिये जाते; किन्तु ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं जिनमें वामन के एक-दो गुणों की सत्ता पायी जा सकती है; फिर भी उन्हें काव्य नहीं माना जा सकता। मम्मट ने एक वाक्य उद्धृत कर यह दिखाया है कि उसमें वामन का गाढबन्ध-रूप शब्द ओज वर्त्तमान है; किन्तु वह उसमें शोभा का आधान कर उसे काव्यत्व प्रदान कर सकने में अक्षम है। एक गुण को सौन्दर्य-हेतु मानने पर उक्त वाक्य में भी उसकी अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि सभी गुणों के एक साथ रहने पर काव्य में सौन्दर्य-सृजन का सिद्धान्त माना जाय तो उसमें अव्याप्ति दोष होगा। वामन की गौडी रीति काव्य की सीमा से बहिष्कृत हो जायगी। वामन के अनुसार गौडी में ओज और कान्ति; ये दो ही गुण पाये जाते हैं। इस प्रकार समग्र गुणों के अभाव में गौडी रीति को अकाव्य मानना होगा। फलतः, वामन का काव्य-सम्बन्धी मूल सिद्धान्त ही विनष्ट हो जायगा। उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना है। इस प्रकार उनके अनुसार गौडी रीति भी काव्य की आत्मा है। सकल गुणों की सत्ता में काव्यत्व मानने पर गौडी में उसकी अव्याप्ति हो जाती है। पाञ्चाली में भी माधुर्य और सौकुमार्य; दो ही गुण रहते हैं। अतः, उसे भी काव्य की आत्मा नहीं माना जा सकेगा।[1] इन युक्तियों से मम्मट ने गुण के सौन्दर्याधायकत्व का खण्डन किया था। अलङ्कार को केवल काव्य-शोभा की वृद्धि करने वाला तत्त्व मानना भी मम्मट उचित नहीं मानते। उनकी मान्यता है कि कहीं-कहीं केवल अलङ्कार भी सौन्दर्य का आधान करते हैं। उन्होंने एक उदाहरण में

---

१. यदप्युक्त "काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः" इति तदपि न युक्तम् यतः किं समस्तैर्गुणैः काव्यव्यवहार उत कतिपयैः। यदि समस्तैः तत्कथमसमस्तगुणा गौडी पाञ्चाली च रीति काव्यस्यात्मा। अथ कतिपयैः ततः—

अद्रावत्र प्रज्ज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः। इत्यादावोजः प्रभृतिषु गुणेषु सत्सु काव्यव्यवहारप्राप्तिः।

—मम्मट, काव्यप्रकाश, ८ पृ० १६१

दिखाया है कि गुण के अभाव में भी विशेषोक्ति और व्यतिरेक अलङ्कार के सद्भाव से वह श्लोक सुन्दर बनकर काव्य कहलाने का अधिकारी हो गया है। कवि ने यह वर्णन किया है कि उत्तम नारी की प्राप्ति इसी देह से स्वर्ग का लाभ है। इसके अधर का रस अमृत का भी तिरस्कार करता है। इसमें गुण नहीं। इसका सौन्दर्य अलङ्कारों के कारण है।[1] यहाँ पर प्रश्न हो सकता है। कि यहाँ प्रसाद आदि गुणों की सत्ता तो है ही फिर गुण-निरपेक्ष अलङ्कार को काव्य का शोभा-हेतु कैसे माना जा सकता ? दूसरी आपत्ति यह होगी कि यदि गुणहीन केवल अलङ्कार-युक्त वाक्य भी काव्य हो सकते हैं तो मम्मट की काव्य-परिभाषा ही असिद्ध हो जायगी, जिसमें सगुण शब्दार्थ को काव्य कहा गया है। मम्मट इसका समाधान यह कहकर करेंगे कि उक्त श्लोक में वामन के समग्र गुण नहीं हैं और कुछ गुणों से काव्य-शोभा की सृष्टि मानी ही नहीं जा सकती। अतः, यहाँ काव्यत्व का हेतु अलङ्कार ही है।[2] इस प्रकार मम्मट ने यह माना है कि वामन-प्रदत्त गुण और अलङ्कार की परिभाषा एवं दोनों में भेद मानने का आधार भ्रान्तिपूर्ण है।

वामन और मम्मट इस बात में एकमत हैं कि काव्य में गुण का नित्य एव अलङ्कार का अनित्य निवास रहता है। मम्मट का वामन से मुख्य मतभेद यह है कि वे गुण को काव्य का शोभाकारक तथा अलङ्कार को शोभातिशयकारक धर्म नहीं मानते। वे वामन की तरह गुण को शब्दार्थ पर आश्रित नहीं मानकर रस पर आश्रित मानते हैं। अलङ्कार शब्दार्थ पर आश्रित रहते हैं।

यहाँ वामन और मम्मट के गुणालङ्कार-विषयक दृष्टि-भेद पर ध्यान दिया जाना चाहिए। मम्मट गुण को रसाश्रित मानते हैं। अतः, रसहीन काव्य में गुण का सत्ता वे स्वीकार नहीं करते; किन्तु वामन के गुण शब्द और अर्थ पर

---

१. स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी।
अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम्॥
इत्यादौ विशेषोक्तिव्यतिरेकौ गुणनिरपेक्षौ काव्यव्यवहारस्य प्रवर्तकौ।
—मम्मट, काव्यप्रकाश, ८ पृ० १९१

२ नन्वत्रापि प्रसादादेर्वर्तमानत्वात्कथम् गुणानपेक्षत्वमलंकारयोः। किं च निर्गुणत्वे कथं त्वन्मतेऽपि काव्यव्यवहारः। सगुणत्वविशेषणत्वाभावादिति चेत् अस्त्येवात्र गुणः तथा ज्ञानं च। परंतु किंचिद् गुणवत्त्वस्य शोभाहेतुत्वेऽति प्रसङ्गात् समस्तगुणवत्त्वं तथा वक्तव्यं। न चात्र तत्साम्यम्। तथा च गुणजन्यां शोभामनपेक्ष्यैवालंकाराभ्यां शोभासंपत्तिरिति तात्पर्यम्।
—गोविन्द, काव्यप्रदीप, पृ० २७८-७९

आश्रित हैं। वे नीरस काव्य में भी रह सकते हैं। अतः, मम्मट जिस काव्य को गुणरहित समझ कर उसके काव्यत्व का श्रेय अलङ्कार को देते हैं और उसके आधार पर अलङ्कार को सौन्दर्यातिशय मात्र का हेतु मानने वाले वामन के मत का खण्डन करते हैं, उस काव्य में भी वामन के अनुसार किसी-न-किसी शब्दार्थगत गुण की सत्ता मानी जा सकती है और इस प्रकार उस काव्य के सौन्दर्य का हेतु अलङ्कार को न मानकर गुण को माना जा सकता है। उदाहरणार्थ, गुण के अभाव में केवल अलङ्कार से काव्यत्व दिखाने के लिए जो श्लोक काव्यप्रकाश में उद्धृत है, उसमें वामन की शब्दगत समता की स्थिति मानी जा सकती है तथा मम्मट का प्रसाद गुण भी वहाँ वर्तमान ही है।

वस्तुतः, गुण को शब्दार्थगत मानने वाला सिद्धान्त नितान्त उपेक्षणीय नहीं। जिस प्रकार आत्मा में माधुर्य, ओज आदि गुणों की अपेक्षा रहती है उसी प्रकार भव्य व्यक्तित्व के लिए आकृति में भी मृदुता, तेज आदि गुणों की अपेक्षा होती है। इस विषय पर अपरत्र विस्तार से विचार किया जायगा। आनन्दवर्धन मम्मट आदि के माधुर्यादि तीन गुण रसाश्रित हैं। अतः उनका शब्दार्थगत अलङ्कार से भेद स्पष्ट है। वामन ने गुण और अलङ्कार दोनों को शब्दार्थगत माना है। अतः दोनों के पार्थक्य-निरूपण के लिए उनका आधार शोभाधायक होना तथा शोभातिशयकारक होना माना गया है।

विश्वनाथ

विश्वनाथ ने गुण और अलङ्कार के पारस्परिक भेद की विवेचना में आनन्दवर्धन और मम्मट के ही मत को स्वीकार किया है। उन्होंने गुण, अलङ्कार और रीति; तीनों को काव्य के उत्कर्ष का हेतु कहा है।[१] गुण और अलङ्कार—दोनों के काव्योत्कर्षकारक होने पर भी दोनों में भेद यह है कि गुण काव्य की आत्मा रस के धर्म हैं।[२] अतः, उसमें अविचल भाव से रहते हैं; किन्तु अलङ्कार शब्द और अर्थ के साथ अनित्य रूप से रहा करते हैं। वे काव्य की शोभा की वृद्धि करने वाले धर्म हैं तथा रस का उपकार करते हैं।[३] स्पष्ट है कि मम्मट की तरह विश्वनाथ भी गुण को काव्य का नित्य एवं अलङ्कार को

१. उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः—विश्वनाथ, साहित्यद० १ पृ० २२

२. रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।
गुणाः ....।—वही, ८ पृ० ५३४

३. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥—वही, १० पृ० ५५७

अनित्य धर्म मानते हैं। गुण को रसाश्रित या आत्मधर्म तथा अलङ्कार को शब्दार्थाश्रित या शरीर-धर्म मानने में भी आनन्दवर्धन एवं मम्मट की मान्यता की ही स्वीकृति है। विश्वनाथ ने इस विषय में न तो किसी नवीन सिद्धान्त की स्थापना की और न पूर्व-स्थापित सिद्धान्त की पुष्टि के लिए किसी नवीन युक्ति की ही सृष्टि की। अतः, उनकी मान्यता का यह संक्षिप्त परिचय ही पर्याप्त होगा।

पण्डितराज जगन्नाथ

रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट के ही बहुमान्य सिद्धान्तों को बहुलांशतः स्वीकार कर यौक्तिक पद्धति पर उनकी स्थापना की है। काव्य में गुण की स्थिति पर उन्होंने कुछ नवीन दृष्टि से विचार किया है तथा अपनी धारणा की पुष्टि के लिए नव्य न्याय की तार्किक सरणि का अनुसरण किया है। उनकी गुण-सम्बन्धी मान्यता के विवेचन-क्रम में हम देख चुके हैं कि वे गुण को तात्त्विक दृष्टि से रस का धर्म नहीं मानते। आत्मा की तरह काव्य की आत्मा रस भी निर्गुण है। रति आदि काव्यात्मभूत रस की उपाधियाँ हैं और माधुर्य आदि गुण इन्हीं उपाधियों के धर्म हैं। किन्तु, इस में कोई प्रमाण नहीं। दूसरी आपत्ति इस धारणा में यह होगी कि एक गुण में दूसरे गुण की सत्ता मानना भी युक्तिसङ्गत नहीं। न्यायदर्शन में गुण को निर्गुण कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि गुण में दूसरे गुण की सत्ता नहीं मानी जाती है।[1] अतः, यह सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि शृङ्गार में यदि माधुर्य नहीं रहता तो उसे मधुर कैसे कहा जाता है? इसका उत्तर पण्डितराज ने प्रयोजकता-सम्बन्ध के आधार पर दिया है। रस वस्तुतः माधुर्यादि गुण के प्रयोजक हैं। अतः, उन्हें मधुर कह दिया जाता है। यह प्रयोजकत्व शब्द, अर्थ, सङ्घटना और रस में रहता है। यह इतना व्यापक है कि शब्द और अर्थगत गुण के व्यवहार को इसके आधार पर सरलता से समझा जा सकता है। गुण को शब्दार्थगत कहने में जो उपचार की कल्पना आनन्दवर्धन ने की उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ, रचना और रस सब मिल कर माधुर्य आदि गुण को उत्पन्न करते हैं, जो चित्त की विशेष अवस्था है। गुण न तो रस के धर्म हैं, न शब्दार्थ या सङ्घटना के। इस मत के औचित्य पर विचार किया जा चुका है।

---

१. अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः।

—कारिकावली, मुक्तावली, ८६ पृ० ३३२

हेमचन्द्र

हेमचन्द्र ध्वनिप्रस्थान के आचार्यों के अनुयायी हैं। उन्होंने अपने काव्यानुशासन में आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट की गुणालङ्कार-धारणा की ही स्थापना की है। उन्होंने गुण और अलङ्कार में गुण को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। काव्य की परिभाषा में मम्मट के काव्य-लक्षण को ही शब्द-भेद से उपस्थापित कर हेमचन्द्र ने यह स्पष्ट किया है कि कहीं-कहीं अलङ्काररहित शब्दार्थ भी गुण हो सकते हैं; किन्तु काव्यत्व के लिए शब्दार्थ का दोषमुक्त एवं गुण-युक्त होना आवश्यक है।[1] इसे स्पष्ट करते हुए काव्यानुशासन-व्याख्या में उन्होंने कहा है कि काव्य में गुण की स्थिति अनिवार्य मानी जाती है। क्योंकि, गुण की सत्ता रहने पर अलङ्कार के अभाव में भी काव्य रोचक होता है; किन्तु अलङ्कार के सद्भाव में भी गुण के न रहने पर काव्य सुन्दर नहीं होता।[2] काव्य में गुण और अलङ्कार की स्थिति के सम्बन्ध में अपनी मान्यता को और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि अलङ्कार के त्याग और ग्रहण पर वाक्य का अपकर्ष और उत्कर्ष निर्भर नहीं है।[3] अलङ्कार के न रहने पर भी काव्य में उत्कर्ष रह सकता है और उसके रहने पर भी काव्य में सौन्दर्य का अभाव सम्भव है। किन्तु, काव्य में गुण के त्याग-ग्रहण का प्रश्न ही नहीं उठता।[4] वह काव्य का आवश्यक लक्षण है। उसके अभाव में काव्यत्व ही सम्भव नहीं। काव्य में गुण की अनिवार्य स्थिति है। अलङ्कार उनका अनित्य धर्म है।

आनन्दवर्धन आदि की तरह दोनों में दूसरा भेद यह माना गया है कि गुण रस के उत्कर्ष के कारण हैं। उन्हें शब्दार्थगत भी मानना लाक्षणिक प्रयोग मात्र है।[5] अलङ्कार काव्य के अङ्ग शब्द और अर्थ पर आश्रित रहते हैं।[6]

---

१. "अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।"
वृत्ति—चकारो निरलङ्कारयोरपि शब्दार्थयोः क्वचित्काव्यत्वख्यापनार्थः।
—हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, १ पृ० १९

२. अनेन काव्ये गुणानामवश्यंभावमाह—तथा हि अनलंकृतमपि गुणवद्वचः (बहवः ?) स्वदते। यथोदाहरिष्यमाणं 'शून्यं वासगृहम—'इत्यादि। अलंकृतमपि निर्गुणं न स्वदते। —वही, व्याख्या, पृ० १९

३. न चालंकृतीनामपोद्धाराहाराभ्यां वाक्यं दुष्यति पुष्यति वा।
—वही, व्याख्या, पृ० २०

४. गुणानामपोद्धाराहारौ तु न सम्भवत इति। —वही, पृ० २०

५. रसस्योत्कर्षापकर्षहेतू गुणदोषौ भक्त्या शब्दार्थयोः। —वही, पृ० १९

६. अङ्गाश्रिता अलंकाराः। —वही, पृ० २०

हेमचन्द्र ने गुण का रसाश्रयत्व सिद्ध करने के लिए अन्वय-व्यतिरेक की तार्किक प्रक्रिया का सहारा लिया है। अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा गुण की रसाश्रयत्व-सिद्धि का आधार आनन्दवर्धन का एक श्लोक एवं उसपर अभिनव की टीका है। आनन्दवर्धन ने काव्य-दोष का रसधर्मत्व दिखाया है।[1] हेमचन्द्र की युक्ति है कि गुण रस के ही धर्म हैं। जहाँ दोष रहते हैं वहीं गुण भी। दोष रस के धर्म हैं। अतः गुण भी रस के ही धर्म हैं। दोष को शब्दगत या अर्थगत नहीं माना जा सकता। यदि वे शब्दार्थगत होते तो कष्टत्व आदि दोष बीभत्स आदि रस में गुण कैसे बन जाते? इसी प्रकार अश्लीलत्व आदि दोषों को हास्य आदि रसों में गुण कैसे माना जाता? स्पष्ट है कि कष्टत्व, अश्लीलत्व आदि के गुणत्व एवं दोषत्व का निर्णय रस के आधार पर होता है, शब्दार्थ के आधार पर नहीं। इसीलिए दोषों को अनित्य माना जाता है। जिस रस के जो दोष हैं वे उस रस के रहने पर ही दोष माने जाते हैं। दूसरे रसों में वे दोष नहीं रह जाते। इसीलिए शृङ्गार रस के कष्टत्व आदि दोष शृङ्गार के अभाव में दोष नहीं माने जाते, उसके सद्भाव में ही वे दोष रहते हैं। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से दोष एवं गुण का रसाश्रयत्व सिद्ध है।[2]

हेमचन्द्र ने उद्भट एवं वामन के गुणालङ्कारविषयक सिद्धान्त का मम्मट की पद्धति पर खण्डन किया है। उनके अनुसार उद्भट की यह मान्यता उचित नहीं कि गुण और अलङ्कार काव्य में समवाय वृत्ति से ही रहते हैं अतः उनमें पार्थक्य नहीं माना जा सकता।[3]

---

१. श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥—आनन्दव० ध्वन्या० २ पृ० १२६

२. ते च रसस्यैव धर्मा उपचारेण तु तदुपकारिणोः शब्दार्थयोरुच्यन्ते। रसाश्रयत्वं च गुणदोषयोरन्वयव्यतिरेकानुविधानात्। तथा हि यत्रैव दोषास्तत्रैव गुणाः, रसविशेषे च दोषा न तु शब्दार्थयोः यदि हि तयोः स्युस्तर्हि बीभत्सादौ कष्टत्वादयो गुणा न भवेयुर्हास्यादौ चाश्लीलत्वादयः। अनित्याश्चैते दोषाः। यतो यस्याङ्गिनस्ते दोषास्तदभावे न दोषास्तद्भावे तु दोषा इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां गुणदोषयो रस एवाश्रयः। —वही, पृ० १९-२०

३. एतावता—'शौर्यादिसदृशा गुणाः, केयूरादितुल्या अलंकाराः' इति विवेकमुक्त्वा 'संयोगसमवायाभ्यां शौर्यादीनामस्ति भेदः। इह तूभयेषां समवायेन स्थितिरित्यभिधाय 'तस्माद्गड्डुरिकाप्रवाहेण गुणालंकारभेदः' इति भामहविवरणे यद्भट्टोद्भटोऽभ्यधात् तन्निरस्तम्। —वही, व्याख्या, पृ० २०

गुण को काव्यशोभा का तथा अलङ्कार को उसके शोभातिशय का हेतु मानने वाले वामन के मत का भी हेमचन्द्र ने खण्डन किया है। उनके अनुसार न तो गुण को काव्य के सौन्दर्य का हेतु कहना उचित है, चूँकि गुण के अभाव में भी काव्य-सौन्दर्य रह सकता है और कहीं-कहीं उसके रहने पर भी काव्यत्व का अभाव हो सकता है; और न अलङ्कार को काव्य-सौन्दर्य के अतिशय मात्र का हेतु कहना ही उचित है, क्योंकि गुण-निरपेक्ष केवल अलङ्कार से भी काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि के उदाहरण देखे जा सकते हैं।[1]

स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने मम्मट की चिन्तन-पद्धति का ही अनुगमन किया है। ध्वनि-प्रस्थान के सभी आचार्यों ने काव्य में गुण को महत्त्वपूर्ण माना है। गुण केवल काव्य के अङ्गी रस का धर्म होने के कारण उसकी तुलना में गौण है और रस के उत्कर्ष-साधन में ही उसकी सार्थकता है। वह अलङ्कार आदि की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण काव्य-तत्त्व है। ध्वनिप्रस्थान में अलङ्कार उपेक्षित हो गया। आनन्दवर्धन ने रसाक्षिप्त या अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार को ध्वनि में काम्य माना था; किन्तु परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने सभी अलङ्कारों को बहिरङ्ग मानकर काव्य में उनकी अनिवार्य स्थिति का निषेध कर दिया। अलङ्कार-प्रस्थान में जो गौरव काव्यालङ्कार को प्राप्त था वह उससे छिन गया। ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना के बाद अप्पय्य दीक्षित, जयदेव आदि आचार्यों ने एक बार पुनः अलङ्कार के महत्त्व की स्थापना का प्रयास किया। मम्मट आदि के काव्य-लक्षण को लक्ष्य कर यहाँ तक कहा गया कि अलङ्काररहित शब्दार्थ को काव्य कहना उष्णतारहित आग की कल्पना करने के समान है।[2] जयदेव के इस कथन में भी अलङ्कार का

१. तथा 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः' इति वामनेन यो विवेकः कृतः सोऽपि व्यभिचारी। तथा हि- 'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः' इत्यादौ प्रसादश्लेषसमतामाधुर्यसौकुमार्यार्थ-व्यक्तीनां गुणानां सद्भावेऽपि काव्यव्यवहाराप्रवृत्तेः। अपि काचिच्छ्रुता वार्ता तस्यौत्सिद्ध्यविधायिनः। इतीव प्रष्टुमायाते तस्याः कर्णान्तमीक्षणे ॥ 'इत्युत्प्रेक्षा-लंकारमात्रादविवक्षितत्रिचतुरगुणात्काव्यव्यवहारदर्शनात्।—

—हेमचन्द्र काव्यानुशासन व्याख्या, पृ० २०-२१

२. "अङ्गीकरोति यः काव्य शब्दार्थावनलंकृती
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥ — जयदेव, चन्द्रालोक, १, ८ पृ० ६

(अनलंकृती, अनलं कृती के यमक का) लोभ स्पष्ट है। वस्तुतः आग की उष्णता की तरह अलङ्कार को काव्य का अनिवार्य धर्म मानना युक्तिसङ्गत नहीं। यदि ऐसा हो तो अनेक महान कवियों की रसमय किन्तु अलङ्कार-रहित कृतियाँ काव्य की सीमा से बहिष्कृत हो जायें। अलङ्कार का भी काव्य में अपना महत्त्व है। किन्तु, उसी को काव्यत्व का विधायक मान लेना काव्य के बहिरङ्ग सौन्दर्य मात्र पर मुग्ध होने की प्रवृत्ति का परिचायक है। इसी लिए इन आचार्यों की स्थापना बहुमान्य नहीं हो सकी और इनके प्रयत्न के उपरान्त भी ध्वनि सिद्धान्त का महत्त्व कम नहीं हुआ।

गुण एवं अलङ्कार के पारस्परिक सम्बन्ध एवं काव्य में उनके सापेक्ष महत्त्व के सम्बन्ध में आचार्यों की मान्यताओं के उक्त विवेचन से एतद्विषयक मुख्य तीन सिद्धान्त सामने आते हैं।

(१) काव्य में दोनों को समवायवृत्त्या सम्बद्ध मानकर दोनों में अभेद की कल्पना करने वाला भट्टोद्भट प्रभृति आचार्यों का सिद्धान्त। इसमें अलङ्कार को शब्दार्थ का धर्म तथा गुण को भी शब्दार्थ या सङ्घटना का धर्म माना गया है।

(२) वामन आदि आचार्यों का गुण को काव्यशोभा का तथा अलङ्कार को काव्यशोभा के अतिशय का हेतु मानकर दोनों में पार्थक्य मानने वाला सिद्धान्त, जिसमें अलङ्कार की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्वपूर्ण काव्य-तत्त्व माना गया है।

(३) आनन्दवर्धन, मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों का गुण को रसाश्रित एवं अचल--स्थिति धर्म तथा अलङ्कार को काव्य-शरीर शब्दार्थ पर आश्रित एवं चलस्थिति धर्म मानकर दोनों का भेद-निरूपण करने वाला सिद्धान्त। इसमें भी गुण को अलङ्कार की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है।

प्रथम सिद्धान्त का सुसम्बद्ध रूप उपलब्ध नहीं है। उस मत को आनन्दवर्धन आदि आचार्यों ने पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत किया है। जितना अंश प्राप्त है उसके आधार पर गुण और अलङ्कार; दो पृथक् तत्त्वों में अभेद मान लेना युक्तिसङ्गत नहीं जान पड़ता। अतः, वामन आदि रीति सम्प्रदाय के आचार्यों तथा आनन्दवर्धन आदि ध्वनिवादी आचार्यों की तद्विषयक मान्यताएँ ही परीक्ष्य हैं।

दोनों विचार-धाराओं के आचार्यों की गुण-अलङ्कार-विषयक धारणा में यह साम्य है कि वे काव्य में गुण का नियत निवास मानते हैं तथा अलङ्कार का अनियत निवास। अतः, गुण को अलङ्कार से काव्य का अधिक महत्त्वपूर्ण अङ्ग मानने में वे एकमत हैं।

दोनों मतों में मुख्य वैषम्य यह है कि वामन आदि रीतिवादी आचार्य गुण को शब्दार्थगत मानते हैं; पर आनन्दवर्धन आदि ध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार वह रसगत है।

मम्मट आदि आचार्यों ने सबल युक्तियों से गुण का रसाश्रयत्व सिद्ध कर उसका शब्दार्थगतत्व मानने वाले मत का खण्डन किया है। यह उचित नहीं। गुण के दोनों विभाग ग्राह्य हैं। गुण रसाश्रित भी होते हैं और शब्दार्थाश्रित भी। दोनों में कोई विरोध नहीं। लोक के जिस उदाहरण के आधार पर काव्य में गुण के स्थान-निरूपण का प्रयास हुआ है उस पर ध्यान देने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि शूरता आदि गुण आत्मा के धर्म अवश्य हैं; किन्तु आकृति में भी कान्ति, सुकुमारता आदि गुण रहते हैं। ये अङ्गगत गुण भी उपेक्षणीय नहीं। यह ठीक है कि कभी-कभी अङ्गगत मृदुता आदि गुणों के अभाव में भी आत्मा के उत्कर्ष से व्यक्तित्व का महत्त्व अक्षुण्ण रहता है, पर इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भव्य व्यक्तित्व के निर्माण में अङ्गगत गुणों का भी योग रहता है। मधुर व्यक्तित्व के लिए आत्मस्थ माधुर्य के साथ रूपगत मृदुता की भी अपेक्षा होती है। रूक्ष आकृति में भाव-गत कोमलता अभिव्यक्ति नहीं पा सकती। ध्वनिवादी आचार्यों ने कोमल वर्णों से दीप्त रस की अभि-व्यक्ति के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इसी प्रकार कठोर वर्णों से कोमल भाव की व्यञ्जना के उदाहरण भी पाये जा सकते हैं; किन्तु प्रश्न यह है कि यदि कोमल भाव की व्यञ्जना के लिए कोमल वर्णों की ही योजना हो तो क्या वे उस भाव को व्यक्त करने में कठोर वर्णों की अपेक्षा अधिक सहायक नहीं होंगे? आनन्दवर्धन आदि आचार्यों ने इस शङ्का के समाधान के लिए माधुर्य आदि रसस्थ गुणों की व्यञ्जना के लिए अनुकूल वर्णों की कल्पना की है। किन्तु, इस कल्पना से वामन आदि के शब्दार्थगत गुणों की उपादेयता का परिहार नहीं किया जा सकता। उनके कुछ गुणो का अलङ्कार आदि भिन्न तत्त्व में अन्तर्भाव उचित नहीं।

काव्य में भाव और आकार का अपना-अपना महत्त्व है। दोनों में से किसी एक की उपेक्षा कर दूसरे पर बल देने से समीक्षा एकाङ्गी हो जाती है। रीति-सम्प्रदाय में भाव-पक्ष की उपेक्षा कर केवल रूप-विधान (form) पर बल दिया गया था। ध्वनि-प्रस्थान में अङ्गी रस के साथ अङ्गभूत शब्दार्थ आदि का भी महत्त्व अवश्य स्वीकृत हुआ, किन्तु उसे जितना महत्त्व मिलना चाहिए उतना महत्त्व नहीं दिया गया। फलतः, अङ्गी के गुणों से पृथक् अङ्ग के गुणों की कल्पना को अनावश्यक मान लिया गया। ध्वनिप्रस्थान में अङ्ग पर आश्रित अलङ्कारों के महत्त्व की उपेक्षा का भी यही रहस्य है। भाव और रूप-विधान के सापेक्ष मूल्याङ्कन में आनन्दवर्धन की दृष्टि अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक व्यापक थी। उन्होंने कवि की कृति में सहज भाव से समाविष्ट हो जाने वाले रसाक्षिप्त अलङ्कारों का महत्त्व समझा था। वस्तुतः काव्य के विधान का महत्त्व भाव के प्रभाव को बढ़ाने में ही है और अलङ्कार आकार को प्रभावशाली बनाकर वस्तु की प्रभाव-वृद्धि करते हैं। काव्य में उक्ति की वक्रता अपेक्षित होती है। प्रतिदिन व्यवहार में आने वाली वस्तु भी जब कुछ वक्रता के साथ वर्णित होती है तो वह चमत्कारपूर्ण होकर काव्य का रूप ग्रहण कर लेती है। शिवलीलार्णव में विन्यास की भङ्गी के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए नीलकण्ठ दीक्षित ने कहा है कि हम लोग व्यवहार में जो शब्द और अर्थ बोलते और लिखते हैं उन्हीं शब्दार्थों के भव्य विन्यास से कवि संसार को मुग्ध कर देता है।[1] बेन (Bain) ने काव्य में प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से अलङ्कार को महत्त्वपूर्ण माना है।[2] मम्मट आदि की यह मान्यता, कि अलङ्कार हार आदि की तरह बहिरङ्ग हैं, युक्तिसङ्गत नहीं। शरीर से अलङ्कार को निकाल कर अलग रखा जा सकता है; पर किसी काव्य से उसके सौन्दर्य को नष्ट किये बिना अलङ्कार को नहीं हटाया जा सकता। आनन्दवर्धन की यह मान्यता ही उचित है कि रसाक्षिप्त अलङ्कार अन्तरङ्ग हैं, पृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार बहिरङ्ग। भाव को तीव्र बनाने में योग देने वाले

---

१. यानेव शब्दान् वयमालपामः यानेव चार्थान् वयमालिखामः।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति॥

नीलकंठ दीक्षित शिव-लीलार्णव १,१३

२. A figu e of speech is a devietion from the plain and ordinary mode of speaking for the sake of greater effect, it is an unusual form of spe ch—Bain, Rhetoric and comp, पृष्ठ २

अलङ्कार महत्त्वपूर्ण हैं। गुण को अलङ्कार से अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए माना जाता है कि वे अनिवार्यतः भाव का उत्कर्ष साधन करते हैं।

निष्कर्षतः भरत, दण्डी तथा वामन के दस शब्दार्थगत गुण तथा आनन्दवर्धन आदि आचार्यों के तीन रसगत गुण काव्य के गुण हैं। उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं। दस का तीन में अन्तर्भाव मानना उचित नहीं। गुण अलङ्कार से अधिक महत्त्वपूर्ण केवल इस दृष्टि से हैं कि रस के उत्कर्ष में उनका योग सर्वधिक है। जहाँ अलङ्कार की योजना से रस में उत्कर्ष आता है, चाहे वह शब्दार्थ के माध्यम से ही क्यों न हो, वहाँ अलङ्कार का भी महत्त्व कम नहीं। इसीलिए रसाक्षिप्त या सहज अलङ्कार गुण के समान ही महत्त्व के अधिकारी हैं।

कुछ आचार्यों के शब्दार्थगत गुण अन्य आचार्यों के द्वारा अलङ्कार में अन्तर्भूत कर लिये गये हैं। इसके विपरीत कुछ अलङ्कार अन्य आचार्यों के द्वारा गुण रूप में गृहीत हुए हैं। वैसे विवादग्रस्त गुणालङ्कार के सम्बन्ध में आचार्यों की तत्तद् धारणाओं का परीक्षण एवं उनके गुणत्व या अलङ्कारत्व का निर्णय वाञ्छनीय है। भोज ने गुणों की संख्या सबसे अधिक मान ली है। प्राचीन आचार्यों के दस शब्दार्थगत गुणों के अतिरिक्त चौदह नवीन गुणों की कल्पना उन्होंने की है। इन नवीन गुणों में प्राचीनों के कुछ अलङ्कार भी समेट लिये गये हैं। उदाहरणार्थ, उनके भाविक, प्रेय तथा और्जित्य गुण दण्डी आदि आचार्यों के क्रमशः भाविक, प्रेय तथा ऊर्जस्वी अलङ्कार हैं। भोज के उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी उन्हें गुण न मानकर अलङ्कार में ही परिगणित किया है। यहाँ हम भोज के उक्त गुणों के सम्बन्ध में आचार्यों की मान्यताओं का विश्लेषण करेंगे।

भाविक—आचार्य भरत ने भाविक का उल्लेख न तो गुण के प्रसङ्ग में किया है, न अलङ्कार के प्रसङ्ग में। लास्य के बारह अङ्गों के विवेचन-क्रम में उन्होंने उसके एक अङ्ग को 'भाव' तथा 'भावित' कहा है जिसका स्वरूप परवर्ती आचार्यों के 'भाविक' के स्वरूप से मिलता-जुलता है। भरत के अनुसार यह एक प्रकार का काल्पनिक प्रत्यक्षीकरण है। भरत ने इसकी परिभाषा में कहा है कि जहाँ प्रिय को स्वप्न में देख कर कामाग्नि से दग्ध नायिका विविध

भावों का प्रदर्शन करती है, उसे भावित कहा जाता है।[1] अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में लास्य के दस ही अङ्ग स्वीकार किये हैं। उन्होंने भरत के भावित का भाविक नाम से उल्लेख किया है और यह कहा है कि कुछ लोग चित्रपद और भाविक को भी लास्य का अङ्ग मानते हैं।

भामह ने भाविक को प्रबन्ध-गुण कहा है। उनके अनुसार यह भूत एवं भावी अर्थों को प्रत्यक्ष कर देने वाला सम्पूर्ण प्रबन्ध का गुण है।[2] 'प्रबन्ध-गुण' कहने पर भी भामह 'भाविक' को अलङ्कार मानते थे, यह इस बात से स्पष्ट है कि उन्होंने उसका उल्लेख माधुर्यादि गुण के सन्दर्भ में नहीं कर अलङ्कार के सन्दर्भ में किया है। यहाँ गुण शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में हुआ है, पारिभाषिक अर्थ में नहीं।

उद्भट ने भाविक को अलङ्कार माना है और उसके लक्षण में यह धारणा प्रकट की है कि उसमें वाणी की अनाकुलता रहती है और भूत एवं भावी अर्थ प्रत्यक्ष-से दीख पड़ते हैं।[3] प्रतिहारेन्दुराज ने उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह की टीका में उसके स्वरूप में प्रसाद और अर्थव्यक्ति गुणों के स्वरूप को समाहित कर लिया है। उद्भट के 'वाचामनाकुल्य' की व्याख्या प्रसिद्ध पदों के प्रयोग से झटिति अर्थ-प्रतीति-कारित्व के रूप में की गयी है।[4]

उद्भट पर राजानक तिलक की टीका में भाविक को स्वभावोक्ति तथा रसवत् से अभिन्न माना गया है। टीकाकार के अनुसार इसमें परोक्ष वस्तु प्रत्यक्ष हो जाती है; अतः यह स्वभावोक्ति है। इसमें सहृदय के हृदय में

---

१. दृष्ट्वा स्वप्ने प्रियं यत्र मदनानलतापिता।
करोति विविधान् भावान् तद्वै भावितमुच्यते ।।—भरत, ना० शा० २०,१५२

२. भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः ।।—भामह, काव्यालं० ३,५३

३ प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः।
अत्यद्भुताः स्यात्तद्वाचामनाकुल्येन भाविकम् ।।
—उद्भट, काव्यालं०सार सं० ६,१२

४. तत्र वाचामनाकुलता व्यस्तसम्बन्धरहितलोकप्रसिद्धशब्दोपनिबन्धनात् झगित्यर्थ-प्रतीतिकारिता। —वही प्रतिहारेन्दुराज की टीकाः पृ० ७६

प्रविष्ट हो जाने का गुण है; अतः यह रसवदादि अलङ्कार से अभिन्न है।[१]

विद्याचक्रवर्ती के अनुसार मम्मट स्वभावोक्ति और भाविक में कालजनित भेद मानते हैं। भाविक में या तो भूत वस्तु का स्फुट वर्णन होता है या भावी वस्तु का; किन्तु स्वभावोक्ति में किसी वर्तमान वस्तु के ही स्वरूप का या उसकी क्रिया का वर्णन होता है।[२]

रुय्यक ने उनका पारस्परिक पार्थक्य दूसरे आधार पर निरूपित किया है। उनके अनुसार भाविक में भूत तथा भावी अर्थ का योगलक्षण सन्निकर्ष के सदृश प्रत्यक्षीकरण होता है; पर स्वभावोक्ति में यह बात नहीं होती। जिस प्रकार योगी देश-काल की सीमा का अतिक्रमण कर परोक्ष वस्तु का मानस प्रत्यक्षीकरण कर लेता है, उसी प्रकार भाविक अलङ्कार में भूत एवं भावी वस्तुओं का साक्षात्कार पाठक को हो जाता है। रुय्यक सामान्यतः भाविक में अद्भुत और लोकोत्तर अर्थ की सत्ता मानते हैं; किन्तु कहीं-कहीं वे उसमें साधारण घटना का प्रत्यक्षीकरण भी स्वीकार करते हैं।[३] स्वभावोक्ति में साधारण घटना का ही वर्णन रहता है। इस प्रकार भाविक और स्वभावोक्ति में अर्थ के प्रत्यक्षीकरण का साम्य होने पर भी वैषम्य यह है कि (क) भाविक में भूत एवं भावी अर्थों का प्रत्यक्षीकरण होता है, जबकि स्वभावोक्ति में वर्तमान अर्थ का तथा (ख) भाविक में साधारणतः अद्भुत एवं लोकोत्तर घटना का वर्णन होता है; पर स्वभावोक्ति में साधारण घटना वर्णित रहती है, यद्यपि यह नियम कठोर नहीं है।

---

१. भूतभाविशब्दस्य परोक्षत्वोपलक्षणत्वे परोक्षाणां पुरःस्फुरद्रूपहेतुत्वमिति व्याख्याने स्वभावोक्तिः। (सहृदय) हृदयप्रवेशक्षमत्वमिति व्याख्यायां रसवदाद्यलंकारतापत्तिः। —काव्यालङ्कार सारसं० पृ० ५१

२. अतीतानागतयोर्भूतभाविनोरर्थयोरलौकिकत्वेनात्यद्भुतत्वाद् व्यत्यस्तसम्बन्धरहितशब्दसन्दर्भसमर्पितत्वाच्च प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकं × × × क्वचित्तु लौकिकानामपि वस्तूनां स्फुटत्वेन प्रतीतौ भाविकस्वभावोक्त्योः समावेशः स्यात्। —रुय्यक, अलङ्कारसूत्र, पृ० २२१-२५

३. नापीयं सूक्ष्मवस्तुस्वभाववर्णनात् स्वभावोक्तिः। तस्यां लौकिकवस्तुगतसूक्ष्मधर्मवर्णने साधारण्येन हृदयसंवादसम्भवात्। इह लोकोत्तराणां वस्तूनां तादरूप्येन च प्रतीतेः। —वही पृ० २२४

भाविक के स्वरूप पर विचार करने से वह व्यापक अलङ्कार जान पड़ता है। उसका सम्बन्ध वस्तु-विधान से है। वर्ण्यवस्तु को पाठक के सामने प्रत्यक्ष कर देने में ही कवि-कर्म की सफलता है। भोज ने भाविक-नामक गुण का उल्लेख किया है। शब्दगत भाविक गुण में भावानुरूप वाक्य-विन्यास पर बल दिया गया है तथा अर्थगत भाविक को व्याजोक्ति माना गया है। स्पष्ट है कि भोज का भाविक गुण भामह आदि के भाविक अलङ्कार से नाम्ना साम्य रखने पर भी प्रकृत्या भिन्न है। उनके गुण को, जो भावानुरूप वाक्यभेद तथा व्याजोक्ति है, गुण न मान कर अलङ्कार मानना ही उचित जान पड़ता है।

प्रेय

भोज ने भामह, दण्डी आदि आचार्यों के प्रेय अलङ्कार को गुण बना दिया है। उनके शब्दगत प्रेय गुण का स्वरूप पूर्ववर्ती आचार्यों के उसी नाम के अलङ्कार के स्वरूप से अभिन्न है। भामह ने प्रेय की परिभाषा नहीं दी; किन्तु उनके द्वारा प्रदत्त उसके उदाहरण से उनकी धारणा स्पष्ट हो जाती है। वे प्रिय लगने वाली बात के कथन में प्रेय अलङ्कार मानते थे। दण्डी ने प्रेय के लक्षण में प्रियतर आख्यान को प्रेय कहा है।[1] उद्भट ने भी काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह में प्रेय को अलङ्कार माना है; किन्तु उसके स्वरूप की उन्होंने सर्वथा नवीन कल्पना की है। उनके अनुसार रति आदि भाव की सूचना देने वाले अनुभाव आदि के वर्णन में प्रेय अलङ्कार माना जाता है। वृत्तिकार ने इसे स्पष्ट करते हुए यह माना है कि यहाँ रति से अभिप्राय देव, गुरु, नृप आदि-विषयक रति का है। कान्ता-विषयक रति की सूचना रसवत् अलङ्कार में रहती है।[2] रुय्यक ने भावनिबन्धनात्मक प्रेय को अलङ्कार ही माना है।[3] विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में भाव के गौण हो जाने में प्रेय अलङ्कार माना है। भारतीय काव्यशास्त्र में केवल भोज ने प्रेय को गुण माना है। उन्होंने उसके स्वरूप की

१. प्रेयः प्रियतराख्यानं । - दण्डी, काव्यादर्श २ २७५

२. रत्यादिकानां भावानमनुभावादि सूचने ।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ॥
रतिरिह देवगुरुनृपादिविषया गृह्यते। कान्ताविषयायास्तु रतेः सूचने रसवदलङ्कारो वक्ष्यते।—उद्भट काव्यालङ्कारसारसंग्रह, पृ० ३२

३. रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धे रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितानि।
—रुय्यक, काव्यालङ्कार सूत्र, पृ० २२९

नवीन कल्पना नहीं कर दण्डी के प्रेय अलङ्कार के लक्षण को ही प्रकारान्तर से शब्दगत प्रेय गुण की परिभाषा में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार चाटूक्ति में प्रयुक्त प्रियतर आख्यान प्रेय गुण है। प्राचीन आचार्यों के अलङ्कार को गुण में परिगणित कर लेने में कोई युक्ति नहीं जान पड़ती। गुण की संख्या-वृद्धि के लोभ-मात्र से भोज ने प्रेय को गुण मान लिया है।

और्जित्य—भोज का अर्थगत और्जित्य गुण दण्डी के ऊर्जस्वी अलङ्कार से भिन्न नहीं। भामह के ऊर्जस्वी अलङ्कार के उदाहरण से उनकी ऊर्जस्वी-धारणा दण्डी की तद्विषयक धारणा से मिलती-जुलती ही जान पड़ती है। उद्भट ने भी ऊर्जस्वी को अलङ्कार ही माना है; किन्तु उसका स्वरूप सर्वथा भिन्न है। वे काम, क्रोध आदि के कारण अनौचित्य-युक्त भाव एवं रस के वर्णन में ऊर्जस्वी अलङ्कार मानते हैं।[1] रुय्यक की ऊर्जस्वी-धारणा उद्भट की धारणा के समान है। वे रसाभास आदि के निबन्धन में ऊर्जस्वी अलङ्कार मानते हैं। उद्भट, रुय्यक आदि के ऊर्जस्वी अलङ्कार के स्वरूप को ही परवर्ती विश्वनाथ, अप्पय्यदीक्षित आदि आचार्यों ने स्वीकार किया है। भोज ने दण्डी के ऊर्जस्वी अलङ्कार का लक्षण लेकर और्जित्य गुण की कल्पना कर ली है। दण्डी के अलङ्कार को गुण मानने में उन्होंने कोई युक्ति नहीं दी है।

उदात्त— भरत ने उदारत्व एवं उदात्तत्व में भेद नहीं किया है। उन्होंने दस गुणों के वर्णन-क्रम में उदारत्व की परिभाषा देते हुए एकत्र उसे उदारत्व गुण कहा है तथा अपरत्र उदात्तत्व। नाट्यशास्त्र के दो पाठों में उदारता के अलग-अलग लक्षण प्राप्त होते हैं। एक में उसी गुण को उदारत्व कहा गया है तथा दूसरे में उदात्तत्व। भामह ने उदात्तत्व को अलङ्कार माना है। उस अलङ्कार की परिभाषा नहीं देने पर भी उन्होंने उसके उदाहरणों से उसके सम्बन्ध में अपना अभिमत स्पष्ट कर दिया है। उसके एक उदाहरण में पिता का वचन पालन करने के लिए राम के वन जाने का वर्णन दिखाकर आशय के महत्त्व में उदात्तत्व की मान्यता प्रकट की गयी है तथा दूसरे में नाना प्रकार के रत्नों के वर्णन में उदात्तत्व मानकर विभूति के महत्त्व के वर्णन में भी उदात्त अलङ्कार

---

१. अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते।—उद्भट, काव्यालं० पृ० ३५

माना गया है ।[1] इस प्रकार दण्डी की उदात्त अलङ्कार-धारणा भामह की उदात्त अलङ्कार-धारणा से अभिन्न सिद्ध होती है। दण्डी ने आशय और विभूति के महत्त्व-वर्णन में उदात्त अलङ्कार माना है।[2] भरत का उदारत्व दण्डी के द्वारा गुण के रूप में स्वीकृत है; पर उसी का पर्याय उदात्त दण्डी की रचना में अलङ्कार बन गया है। किन्तु उसके स्वरूप की कल्पना दण्डी ने स्वतन्त्र रूप से की है। वस्तु सम्पत् के वर्णन को मम्मट ने भी उदात्त अलङ्कार माना है।[3] कुवलयानन्द में दण्डी की तरह अप्पय्य दीक्षित ने समृद्धि एवं श्लाघ्य चरित के वर्णन में उदात्त अलङ्कार माना है।[4] भोज ने समृद्धि के उत्कर्ष वर्णन को उदारता तथा आशय के उत्कर्ष को उदात्तता कहा है।[5] ये दोनों नाम भरत से गृहीत हैं, जिनका प्रयोग गुण के सन्दर्भ में पर्यायवाची शब्द के रूप में उन्होंने किया था; किन्तु दोनों के लक्षण भामह, दण्डी आदि के उदात्तत्व अलङ्कार के लक्षण से गृहीत हैं। भोज के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती; सभी आचार्यों ने आशय के उत्कर्ष एवं समृद्धि के वर्णन में उदात्तता नामक अलङ्कार ही माना है।

अनुप्रास :—भारतीय काव्यशास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों ने अनुप्रास को शब्दालङ्कार माना है। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य देव ने अनुप्रास और यमक को अलङ्कार न मानकर गुण माना है और परम्परागत दस गुणों के साथ इन दोनों को मिलाकर गुणों की संख्या बारह कर दी है। अनुप्रास प्राचीनतम अलङ्कारों में से एक है। यद्यपि आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में अनुप्रास अलङ्कार का उल्लेख नहीं हुआ है, तथापि उनके यमक के व्यापक स्वरूप में अनुप्रास अलङ्कार की धारणा का बीज पाया जा सकता है। वस्तुतः, अनुप्रास और यमक में तात्त्विक भेद नहीं है। यमक में पद की आवृत्ति होती है और अनुप्रास में वर्णों की। भामह ने अनुप्रास और यमक के जो लक्षण दिये हैं,

---

१. भामहविरचित काव्यालङ्कार, व्याख्याता—आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृ० ७२

२. आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम् ।
उदात्तं नाम तं प्राहुरलङ्कारं मनीषिणः ॥—दण्डी, काव्यादर्श २, ३००

३. उदात्तं वस्तुनः सम्पत् । – मम्मट, काव्यप्रकाश, १० पृ० २७०

४. उदात्तमृद्धेश्चरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम् ।
—अप्पय्य, कुवलयानन्द १६२ पृ० १७७

५. भूत्युत्कर्ष उदारता । ×× आशयस्य य उत्कर्षस्तदुदात्तत्वमिष्यते ।
—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ७७ ७८

उनसे दोनों का पार्थक्य स्पष्ट नहीं हो पाता। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने काव्यालङ्कार के भाष्य में इस तथ्य का उद्घाटन किया है कि 'वस्तुतः इस कारिका के पूर्वार्द्ध में अनुप्रास-विषयक जो निर्देश है, उसमें यमक का लक्षण घटित हो जाता है। अर्थभेद और अक्षर-साम्य; ये ही दो तो यमक के निष्पादक तत्त्व हैं। भामह का यह कथन अनुप्रास के क्षेत्र को यमक से संकीर्ण कर देता है। इस प्रकार दोनों का विषय-विभाजन उलझ गया है।'[1] अनुप्रास और यमक में स्वरूपगत साम्य के कारण ही भामह इस उलझन में पड़ गये हैं तथा भरत ने अनुप्रास का पृथक् उल्लेख नहीं किया है। दण्डी ने अनुप्रास के एक भेद श्रुत्यनुप्रास को माधुर्य गुण का एक अङ्ग मान लिया है। इस प्रकार श्रुत्यनुप्रास दण्डी के मतानुसार वैदर्भ मार्ग का गुण है। उन्होंने वर्णानुप्रास को श्रुत्यनुप्रास से सर्वथा भिन्न माना है। गौड़ वर्णानुप्रास में रुचि रखने के कारण माधुर्य (श्रुत्यनुप्रास) की उपेक्षा करते हैं।[2] परवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने अनुप्रास अलङ्कार के कई भेदों में श्रुत्यनुप्रास को भी एक भेद माना है। वस्तुतः, श्रुत्यनुप्रास में भी समान ध्वनि की आवृत्ति ही होती है। अतः, वर्णानुप्रास से उसे पृथक् करने का कोई सबल आधार नहीं। उसे अनुप्रास का एक भेद मान कर अलङ्कार मानना ही उचित है।

सूक्ष्म :—भामह के पूर्व हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलङ्कार के रूप में स्वीकृति मिल चुकी होगी। इसका प्रमाण यह है कि भामह ने उनके अलङ्कारत्व का खण्डन किया है। उनमें भामह के अनुसार वक्रोक्ति नहीं रहती और वक्रोक्ति के अभाव में अलङ्कारत्व असम्भव है।[3] दण्डी ने भामह की धारणा को अस्वीकार कर उक्त अलङ्कारों को वाणी का उत्तम आभूषण कहा है।[4] उन्होंने इङ्गित से अभिप्राय की सूचना देने में सूक्ष्म अलङ्कार माना है।[5] मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित आदि ने दण्डी की सूक्ष्म-सम्बन्धी धारणा को ही स्वीकार किया

१. आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, भामह विरचित काव्यालं पृ० ३१-३२
२. इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः ।—दण्डी, काव्यादर्श १ ५४
३. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ।—भामह, काव्यालङ्कार, २, ८६
४. हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम् ।—दण्डी, काव्यादर्श २, २३५
५. इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः ।—वही, २, २६०

है।[1] रुय्यक भी इङ्गित तथा आकार से सूक्ष्म अर्थ के प्रकाशन में सूक्ष्म अलङ्कार मानते हैं।[2] भोज ने सूक्ष्म नामक गुण की कल्पना की है। उन्होंने शब्दों के अन्तःसंजल्पत्व में शब्दगत सौक्ष्म्य गुण तथा सूक्ष्म अर्थ के दर्शन में अर्थगत सौक्ष्म्य गुण माना है। सूक्ष्म अर्थ-दर्शन की धारणा अन्य आचार्यों की सूक्ष्मालङ्कार-धारणा से मिलती-जुलती है। सूक्ष्म के लिए भोज की काव्य-गुणत्व की कल्पना काव्यशास्त्र में मान्य नहीं हुई। वह अलङ्कार ही बना रहा।

अर्थव्यक्ति :—प्राचीन आचार्यों के दस गुणों में अर्थव्यक्ति गुण भी परिगणित है। इसके स्वरूप का स्वभावोक्ति अलङ्कार से कुछ साम्य देखकर मम्मट आदि आचार्यों ने इसे स्वभावोक्ति में ही अन्तर्भूत कर लिया है।[3] मम्मट के अनुयायी हेमचन्द्र ने इसे जाति या स्वभावोक्ति अलङ्कार से अभिन्न माना है।[4] कुछ आचार्यों ने दोनों के पार्थक्य-निरूपण के लिए युक्तियाँ दी हैं। इस मत-वैभिन्य को देखते हुए दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। भरत ने सुप्रसिद्ध धातु से लौकिक क्रिया के वर्णन में अर्थव्यक्ति गुण माना था। दण्डी ने उसे नेयत्व दोष का अभाव माना; किन्तु वामन उनसे सहमत नहीं हुए। उन्होंने वस्तु के स्वभाव की स्फुटता में अर्थगत अर्थव्यक्ति गुण स्वीकार किया।[5] वामन के उक्त लक्षण से अर्थव्यक्ति स्वभावोक्ति अलङ्कार के समीप पहुँच गयी। जाति या स्वभावोक्ति अलङ्कार में भी वस्तु-स्वभाव के स्फुट वर्णन पर ही बल दिया जाता है।[6] इसी आधार पर ध्वनि-वादी आचार्यों ने स्वभावोक्ति अलङ्कार से पृथक् इस गुण की कल्पना को अनावश्यक बताया। भोज ने दोनों की पारस्परिक भिन्नता का प्रतिपादन किया

---

१. संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेङ्गितेन वा।
कयापि सूच्यते भङ्ग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते॥
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण ८, १० पृ० ७८४; मम्मट, काव्यप्रकाश १०, १२२ पृ० १२१ भी द्रष्टव्य।
और—सूक्ष्मं पराशयाभिज्ञेतरसाकूतचेष्टितम्।—अप्पय्य० कुवलया० १८१ पृ० १६८

२. संलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम्।—रुय्यक, अलं० सू० ७५ पृ० २१४

३. अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलंकारेण रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याभ्यां च वस्तुस्वभाव-स्फुटत्वरूपा अर्थव्यक्तिः दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृता।
—मम्मट, काव्यप्रकाश ८ पृ० १९५

४. जातिर्नामायमलङ्कारः इति।—हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, व्याख्या, पृ० ३२९

५. वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः।—वामन, काव्यालं सू० ३, २, १४

६. सूक्ष्मवस्तुस्वभावस्य यथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः।
—रुय्यक, काव्यालं० सू० ७७, पृ० २२०

है। जाति या स्वभावोक्ति की परिभाषा में उन्होंने यह मान्यता प्रकट की है कि विभिन्न अवस्थाओं में वस्तुओं की प्रकृति के अनुरूप उनके जैसे रूप होते हैं, उन रूपों का वर्णन जाति अलङ्कार है। इससे अर्थव्यक्ति गुण से इसका भेद स्पष्ट हो जाता है। अर्थव्यक्ति में वस्तु के सार्वकालिक स्वरूप का वर्णन हो सकता है।[१] इस प्रकार भोज दोनों में वस्तुस्वभाव के स्फुट वर्णन की दृष्टि से समता मानते हैं, किन्तु दोनों में वे यह विषमता मानते हैं कि स्वभावोक्ति में वस्तु के अवस्था-विशेष में जायमान स्वरूप का वर्णन होता है, जबकि अर्थ-व्यक्ति में उसके सार्वकालिक स्वरूप का वर्णन होता है। पहले में आगन्तुक स्वरूप का वर्णन रहता है और दूसरे में सार्वकालिक स्वरूप का। अग्निपुराण में दोनों प्रकार के वर्णन को स्वभावोक्ति अलङ्कार ही माना गया है। अग्नि-पुराणकार की धारणा है कि वस्तु का स्वभाव ही उसका स्वरूप कहा जाता है। उसके दो प्रकार होते हैं—निज और आगन्तुक।[२] भोज ने प्रथम को सार्वकालिक माना है, जिसका वर्णन अर्थव्यक्ति में होता है; पर अग्निपुराणकार उसके वर्णन को भी स्वभावोक्ति ही मानते हैं। अर्थव्यक्ति और स्वभावोक्ति को अभिन्न मानना युक्तिसङ्गत नहीं। अर्थव्यक्ति गुण है और स्वभावोक्ति अलङ्कार। स्वभावोक्ति में भी अर्थ की व्यक्ति रह सकती है। किन्तु, दोनों काव्य के अलग-अलग तत्त्व हैं। अतः, दोनों में अभेद की सम्भावना भी नहीं हो सकती। इसीलिए दोनो के पार्थक्य-प्रतिपादन के भोज के प्रयत्न को डॉ० वी० राघवन ने अनुचित बताया है। जहाँ दो वस्तुओं में अभेद की सम्भावना नहीं हो, वहाँ भेद-निरूपण का प्रयास युक्तिसङ्गत नहीं माना जाता है।[३]

श्लेष :—श्लेष की स्थिति अन्य गुणों और अलङ्कारों से कुछ भिन्न है।

---

१. नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुनः।
   स्वेभ्यो स्वेभ्यो निसर्गेभ्यः तानि जातिं प्रचक्षते॥
   अर्थव्यक्तेरियं भेदम् इयता प्रतिपद्यते।
   जायमानमियं वक्ति रूपं सा सार्वकालिकम्॥ —भोज, सर० कण्ठा० ३, ४-५

२. स्वभाव एव भावानां स्वरूपमभिधीयते।
   निजमागन्तुकं चेति द्विविधं तदुदाहृतम्॥
   सांसिद्धिक निजं नैमित्तिकमागन्तुकं तथा।—अग्निपुराण, ३४४, ३

३. It is rather illogical to distinguish two things of two different classes one a Guna and another an Alamkara.
   —डॉ० राघवन, Some Concepts of Alamkara Shastra पृ० १०७

हम यह देख चुके हैं कि एक आचार्य के कुछ अलङ्कारों के नाम दूसरे आचार्यों ने गुण के सन्दर्भ में प्रयुक्त किये हैं। कुछ गुण भी दूसरे आचार्यों के द्वारा अलङ्कारों में परिगणित कर लिये गये हैं; पर श्लेष अधिकांश आचार्यों के द्वारा गुण भी माना गया है और अलङ्कार भी। समान संज्ञा होने पर भी आचार्यों ने गुण और अलङ्कार के रूप में उसके भिन्न लक्षणों की कल्पना की है। श्लेप अलङ्कार में एक पद से अनेक अर्थ का बोध अभिधा व्यापार से होता है[1]; पर श्लेप गुण में अनेक पदों के होने पर भी ध्वनि-साम्य के आधार पर एकपदता का भान होता है।[2] दोनों का स्वरूप परस्पर भिन्न है। अतः, उनके पारस्परिक सम्बन्ध के निरूपण के लिए इतना विवेचन प्रर्याप्त है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्यों में गुण और अलङ्कार के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त मतवैभिन्न्य है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, गुण और अलङ्कार के आश्रय के अभेद के कारण कहीं-कहीं दोनों के बीच अभिन्नता की भ्रान्ति कुछ आचार्यों को हो गयी। कुछ गुण कहीं अलङ्कार मान लिये गये और कुछ अलङ्कार गुण की सीमा में खींच लाये गये। इतना होने पर भी भरत, दण्डी एवं वामन के दस शब्दार्थगत गुण ही बहुमान्य रहे हैं। उन दस गुणों की संख्या के औचित्य पर हम आगे विचार करेंगे। दस गुणों को तीन गुणों में समाहित कर लेने का प्रयास उचित नहीं। रसाश्रित माधुर्यादि तीन गुण अवश्य ग्राह्य हैं; पर इससे शब्दार्थाश्रित दस गुणों की उपादेयता का अपलाप नहीं हो सकता। रसाश्रित तीन गुणों का अलङ्कारों से भेद स्पष्ट है। आश्रय-भेद के कारण उनकी पारस्परिक अभिन्नता का भ्रम किसी को नहीं होता। विवाद शब्दार्थाश्रित गुणों को ही लेकर है। विशेष गुण और अलङ्कार के स्वरूप पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके लक्षण में भेदक तत्त्वों का उल्लेख आचार्यों ने कर दिया है। अतः, एक गुण का स्वरूप दूसरे गुण तथा अलङ्कार से पृथक् किया जा सकता है।

गुण और अलङ्कार की सीमा-रेखा की इस अस्पष्टता का एक कारण यह भी है कि काव्य में उनके अलग-अलग कार्य का निर्णय नहीं हो पाया। यह मान लेने से भी कि गुण काव्य की शोभा के हेतु हैं और अलङ्कार शोभातिशय

---

१. स धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेषः।—वामन, काव्यालं०, सू० ४, ३, ७

२. मसृणत्वं श्लेषः।—वही, ३, १, ११। मसृणत्वं नाम यस्मिन् सति बहून्यपि पदान्येकवद्भासन्ते।—वही, वृत्ति पृ० १२३ और—घटना श्लेषः

—वही, ३, २, ४

के, व्यावहारिक कठिनाई दूर नहीं होती। उदाहरणार्थ, जिस काव्य में अर्थ-व्यक्ति गुण और स्वभावोक्ति अलङ्कार, दोनों की युगपत् स्थिति हो, वहाँ यह कहने का क्या आधार होगा कि उसके सौन्दर्य का कारण अर्थव्यक्ति ही है? दोनों के स्वभाव में इतना कम अन्तर है कि यदि अर्थव्यक्ति सौन्दर्य की सृष्टि कर सकती है तो स्वभावोक्ति को उसमें अक्षम नहीं माना जा सकता। कोई गुण है, इसलिए उससे काव्य में सौन्दर्य आया होगा और कोई अलङ्कार है; अतः उसने शोभा की वृद्धि की होगी, इस प्रकार का निर्णय एकान्त अयौक्तिक होगा। किसी तत्त्व के गुणत्व या अलङ्कारत्व के निर्णय के लिए यह निर्धारित करना पड़ेगा कि काव्य में गुण कौन-सा कार्य करता है, जो अलङ्कार नहीं कर सकता और अलङ्कार का कौन-सा कार्य गुण से नहीं हो पाता। जब तक इसका निर्धारण नहीं होता, गुण और अलङ्कार के बीच विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती।

गुण को काव्य-सौन्दर्य का तथा अलङ्कार को उसके शोभातिशय का हेतु मानने में एक आपत्ति यह भी हो सकती है कि यह मानने पर जहाँ अधिकाधिक अलङ्कार की योजना हो, वहाँ अधिकाधिक काव्य-सौन्दर्य की कल्पना करनी होगी। गुणजनित शोभा की वृद्धि यदि अलङ्कार पर निर्भर मानी जाय तो उसके अभाव में गुण के सद्भाव से भी काव्य में अपुष्ट सौन्दर्य की ही सत्ता माननी पड़ेगी। इस प्रकार काव्य की उत्कृष्टता का निर्णायक अलङ्कार ही बन बैठेगा। अलङ्कार के आधार पर काव्य की श्रेष्ठता का निर्धारण स्वयं वामन आदि को अभीष्ट नहीं था। काव्य-सौन्दर्य की सार्थकता सहृदय के अन्तर में आनन्द के उद्बोध में है। भारतीय काव्यशास्त्र के रस सम्प्रदाय में काव्यानन्द या रसानुभूति को आत्मस्थ आनन्द का ही अखण्ड आस्वाद माना गया है। काव्य का सौन्दर्य सहृदय को अपने ही अन्तर में निहित असीम आनन्द की अनुभूति की शक्ति प्रदान करता है। पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य के अङ्गों को चिति के आवरण-भङ्ग में सहायक मात्र माना है।[१] आइ० ए० रिचर्ड ने सौन्दर्य को वस्तुनिष्ठ नहीं मानकर आत्मनिष्ठ माना है। उनके अनुसार किसी वस्तु को सुन्दर कहने का अभिप्राय यह होता है कि वह हृदय में सौन्दर्य-बोध को जाग्रत करने की क्षमता रखती है।[२] काव्य-सौन्दर्य या काव्यानन्द

---

१. व्यञ्जकविभावादिचर्वणाया आवरणभङ्गस्य वा उत्पत्तिविनाशाभ्यामुत्पत्ति विनाशौ रस उपचर्येते।—जगन्नाथ, रसगंगाधर, पृ० १६

२. We are accustomed to say that a picture is beautiful, instead of saying that it Causes an experience in us which is valuable in Certain ways.
—Richard, Principles of Literary criticism पृ० २०

की अलङ्कारकृत कोटियाँ मानने से उसके सम्बन्ध में मूल धारणा ही व्याहत हो जाती है। अलङ्कार को शोभातिशय का हेतु मानने पर यह कल्पना करनी पड़ेगी कि काव्य में सौन्दर्य गुण से आता तो है; पर उसमें उत्कर्ष नहीं रहता, वह मन्द रहता है। अलङ्कार के रहने पर गुणजनित शोभा में उत्कृष्टता आती है। परिणामतः, यह मानना पड़ेगा कि जिस काव्य में जितने अधिक तथा सुन्दर अलङ्कारों की योजना होती है वह उतना ही सुन्दर होता है।

अतः, गुण को शोभा-हेतु तथा अलङ्कार को शोभातिशय-हेतु मानकर दोनों का भेद करना कठिन है। एक को अन्तरङ्ग और दूसरे को बहिरङ्ग मान कर भी किसी काव्य में उनके कार्य का निर्धारण नहीं किया जा सकता। अलङ्कार अन्तरङ्ग भी हो सकते हैं और बहिरङ्ग भी। आनन्दवर्धन की यह धारणा उचित ही है कि रसाक्षिप्त या अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार काव्य के अन्तरङ्ग धर्म हैं और वे अनिवार्यतः ध्वनि का उत्कर्ष करते हैं।[१] इस प्रकार गुण और अलङ्कार, दोनों काव्य में उत्कर्ष का आधान कर सकते हैं। अतः; दोनों के स्वभाव के भेद को ठीक-ठीक समझने के लिए काव्य में उनके कार्य का निर्धारण आवश्यक है। गुण को काव्य का नित्य एवं अलङ्कार को अनित्य धर्म मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती; किन्तु जहाँ अलङ्कार उपस्थित हो, वहाँ गुण से उसके स्वभाव का भेद कैसे किया जा सकेगा, यह विचारणीय है।

ऊपर कुछ विशेष गुणों और विशेष अलङ्कारों का रूपगत साम्य देखा जा चुका है। इसपर विचार किया जा चुका है कि उनके स्वरूपगत सादृश्य, आश्रयगत अभिन्नता तथा कार्य-भेद की अनिश्चयात्मकता के कारण उनके गुणत्व या अलङ्कारत्व के निर्णय में आचार्यों में मतैक्य का अभाव रहा है। उन दोनों के सद्भाव में उनके कार्य-भेद का निर्णय कठिन है; पर उनके अभाव की स्थिति की कल्पना करने पर उनका पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। गुण काव्य के नित्य धर्म हैं। अतः, काव्य में उनके समग्र अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती, फिर भी सभी गुणों का सर्वत्र सद्भाव सम्भव नहीं। दण्डी और वामन ने वैदर्भी रीति में समग्र गुणों की सत्ता अवश्य मानी पर; हम यह देख चुके हैं कि उन सबों का एकत्र निवास कठिन है। वामन की गौडी एवं

१. युक्तं चैतत्। यतो रसा वाच्यविशेषैरेव आक्षेप्तव्याः तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैः तत्प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलंकाराः। तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ।—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, पृ० १३२

पाञ्चाली रीतियों में तो कुछ ही गुण रहते हैं। अतः, काव्य में कुछ गुणों के अभाव-स्थल में उसके महत्त्व को तथा अलङ्कार से उसके भेद को समझा जा सकता है। गुण का विपर्यय सदा दोष में पर्यवसित होता है; पर अलङ्कार के विपर्यय से काव्य में सदोषता नहीं आती। वामन ने भी गुण के विपर्यय को दोष कहा है। भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में चौबीस गुण मानने पर भी प्राचीन आचार्यों के दस गुणों में से समाधि को छोड़ शेष नौ गुणों के विपर्यय में दोषत्व दिखाया है।[1] समाधि गुण का विपर्यय दोष नहीं माना गया है। भोज ने शब्दसमाधि की धारणा में दण्डी का अनुसरण करते हुए अन्य धर्म का अन्यत्र आरोप समाधि में माना है।[2] उनका अर्थगत समाधि गुण व्याजावलम्बन है[3] जो वस्तुतः वाक्य का गुण नहीं। वामन ने शब्दगत समाधि को आरोह-अवरोह का क्रम कहा है[4] तथा अर्थगत समाधि को अर्थदृष्टि[5]। इसका विपर्यय अवश्य ही काव्य का दोष होगा। अतः, गुण और अलङ्कार के स्वरूपगत भेद को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है:—

गुण काव्य का वह नित्य धर्म है, जो उसमें अनिवार्यतः सौन्दर्य का आधान करता है और जिसके विपर्यय का पर्यवसान सदा काव्य-दोष के रूप में होता है।

अलङ्कार काव्य का वह अनित्य धर्म है, जिसकी भावानुरूप योजना काव्य का उत्कर्ष करती है; पर जिसका अभाव काव्य की असुन्दरता का हेतु नहीं होता।

गुण और अलङ्कार के उक्त लक्षण के आधार पर शब्दार्थ पर आश्रित दस गुणों का अलङ्कारों से पार्थक्य-निरूपण सहज ही किया जा सकता है। स्वभावोक्ति और अर्थव्यक्ति के ऐक्य के भ्रम का निवारण इस आधार पर हो सकता है कि अर्थव्यक्ति काव्य का नित्य-धर्म है। जहाँ वर्ण्यवस्तु का स्पष्ट चित्रण नहीं हो सका और वस्तु का स्वभाव स्फुट नहीं हो पाया, वहाँ काव्य की असफलता मानी जायगी। अर्थव्यक्ति के अभाव में वह काव्य सदोष होगा;

---

१. गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः।
अरीतिमदिति प्राहुस्तत्त्रिधैव प्रचक्षते॥—भोज, सरस्वतीकण्ठा० पृ० २७

२. समाधिः सोऽन्यधर्माणां यदन्यत्राधिरोपणम्।—वही, गुणप्रकरण, ८४ पृ० ६१

३. व्याजावलम्बनं यत्तु स समाधिरिति स्मृतः।—वही १०९, पृ० ८०

४. आरोहावरोहक्रमः समाधिः।—वामन, काव्यालङ्कार सूत्र ३, १, १

५. अर्थदृष्टिः समाधिः।—वही, ३, २, ७

किन्तु स्वभावोक्ति के अभाव में अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति आदि से भी काव्य में सौन्दर्य आ सकता है। किसी अलङ्कार के न रहने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती। श्लेष गुण एवं श्लेष अलङ्कार में यह भेद स्पष्ट है कि वाक्य में श्लेष गुण के अभाव में शैथिल्य दोष आ जाता है; पर श्लेष अलङ्कार का अभाव किसी दोष की सृष्टि नहीं करता। भोज ने अन्य आचार्यों के प्रेय, भाविक तथा ऊर्जस्वी अलङ्कारों को जो गुण मान लिया है उसका अनौचित्य भी इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है।

गुण और रीति

भारतीय काव्यशास्त्र में रीति का गुण के साथ अविभाज्य सम्बन्ध रहा है। रीति के सम्बन्ध में मुख्यतः तीन प्रकार की धारणाएँ उपलब्ध हैं। आरम्भ में रीति पर भौगोलिक दृष्टि से विचार होता था। वह काव्य की देशगत शैली समझी जाती थी। धीरे-धीरे देश से उसका सम्बन्ध छूट गया और विषय के आधार पर उसके स्वरूप का निर्धारण होने लगा। कुन्तक की रीति-धारणा में कुछ और विकास दिखाई पड़ता है। उन्होंने उसका सम्बन्ध कवि के स्वभाव या व्यक्तित्व से जोड़ दिया है। इन सभी विचारधाराओं में रीति और गुण के पारस्परिक सम्बन्ध पर किसी-न-किसी रूप में अवश्य विचार किया गया है। यहाँ रीति और गुण के अन्योन्य सम्बन्ध एवं काव्य में उनके सापेक्ष महत्त्व का निर्धारण हमारा उद्देश्य है।

आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में काव्य की रीतियों का उल्लेख नहीं किया है; किन्तु देशगत शैली का सङ्केत उनकी चार प्रवृत्तियों में पाया जा सकता है। भरत ने विभिन्न देशों के वेश, भाषा एवं आचार की वार्त्ता को व्यक्त करने वाले तत्त्व को प्रवृत्ति कहा है।[१] भाषा की वार्त्ता का सम्बन्ध काव्य की रीति या शैली से है। उनके अनुसार प्रवृत्तियाँ चार हैं—(१) आवन्ती, (२) दाक्षिणात्या, (३) पाञ्चाली तथा (४) औड्रमागधी।[२] आवन्ती भारत के पश्चिम में स्थित अवन्ती की प्रवृत्ति है। दक्षिण भारत की प्रवृत्ति को दाक्षिणात्या कहा गया है। मध्यदेश की प्रवृत्ति पाञ्चाली है तथा उड़ीसा

---

१. भरत, ना० शा० अध्याय १३, पृ० २०५-७

२. चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रमागधी॥
—भरत, ना० शा० १३, ३७

और मगध की ओड्रमागधी। इस प्रकार भारत के चार भागों की आचारगत एवं भाषा-शैलीगत विशेषताओं के आधार पर उक्त चार प्रवृत्तियों की कल्पना की गयी है। नाट्यशास्त्र में कैशिकी, सात्वती, आरभटी तथा भारती वृत्तियों का उल्लेख हुआ है। इनका सम्बन्ध नाट्य-प्रयोगों से है। ये मसृण एवं उद्धत प्रयोग कोमल तथा दीप्त रसों से सम्बद्ध हैं। रीतियों से इनका विशेष सम्बन्ध नहीं। हाँ, वैदर्भी, गौडी आदि के मधुर एवं दीप्त स्वरूप की कल्पना पर इनका कुछ प्रभाव माना जा सकता है।

बाणभट्ट ने हर्षचरित की प्रस्तावना में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण की काव्य-शैलियों का उल्लेख किया है। यद्यपि उन्होंने भी भरत की तरह देश के आधार पर ही शैलियों का विभाजन किया है; पर उन्होंने उनका सम्बन्ध गुणों के साथ भी जोड़ दिया है। विभिन्न प्रदेशों की शैलियों के वैशिष्ट्य के रूप में कुछ गुणों एवं अलङ्कारों का निर्देश किया गया है। उनकी मान्यता है कि उत्तर भारत के लोग श्लेष में रुचि रखते हैं। अतः, उनकी शैली में श्लेष की प्रधानता रहती है; पश्चिम भारत के कवि काव्य में अर्थ-गौरव पर बल देते हैं; दक्षिण के कवि को उत्प्रेक्षा प्रिय है तथा गौड प्रदेश के कवियों का झुकाव अक्षराडम्बर की ओर रहता है।[1] इस प्रकार चार शैलियों का उल्लेख कर बाण ने अपना यह अभिमत व्यक्त किया है कि इन चारों शैलियों के वैशिष्ट्यों का एकत्र सन्निवेश काव्य को श्रेष्ठता प्रदान करता है। यद्यपि यह कार्य कठिन है; किन्तु उत्तम काव्य की रचना के लिए यह आवश्यक है। उनके अनुसार नूतन अर्थ-सौन्दर्य, ग्राम्य-दोष-रहित जाति या स्वभावोक्ति, क्लिष्टता दोष-मुक्त श्लेष, प्रस्फुट रस तथा विकट अक्षरबन्ध—ये सब एकत्र, दुर्लभ हैं।[2] स्फुट रस तथा विकट अक्षरबन्ध को पीछे चलकर वामन ने क्रमशः कान्ति एवं उदारता गुण कहा है। स्पष्टतः बाण सुन्दर काव्य की शैली में उक्त गुणों को काम्य मानते थे। अतः यह कहा जा सकता है कि बाण ने कुछ गुणों और अलङ्कारों को रीति का नियामक तत्त्व स्वीकार किया है।

---

१. श्लेषप्रायमुदीच्येषु, 　प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
　उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु, गौडेष्वक्षरडम्बरः॥ 　—बाण, हर्षचरित, १, ८

२. नवोऽर्थो, जातिरग्राम्या, श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
　विकटाक्षरबन्धश्च, कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥ 　—वही १, ९

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में सर्वप्रथम भामह ने शास्त्रीय रीति से रीति का विवेचन किया एवं उसके साथ काव्यगुण के सम्बन्ध की ओर इङ्गित किया। काव्य की शैली के सम्बन्ध में भामह का दृष्टिकोण सर्वथा नवीन था। उन्होंने शैली के विभाजन के देशगत आधार को अमान्य बताया। 'रीति' या 'मार्ग' शब्द का उल्लेख भी काव्यालङ्कार में नहीं हुआ है। भामह देश के आधार पर काव्य का वर्गों में विभाजन उचित नहीं मानते थे। उन्होंने काव्य के भेद के रूप में गौड एवं वैदर्भ काव्य की चर्चा की है। गौड एवं वैदर्भ मार्ग के काव्य के सम्बन्ध में परम्परागत धारणा का भामह ने खण्डन किया है। उनके पूर्व, सम्भवतः, यह धारणा फैली हुई थी कि वैदर्भ मार्ग उत्तम है तथा गौड मार्ग हेय। भामह ने उक्त धारणा को निराधार सिद्ध किया है।

वैदर्भ और गौड काव्य के सम्बन्ध में भामह की धारणा के परीक्षण से गुण और रीति के विषय में उनकी मान्यता का स्पष्टीकरण हो सकता है। उनका कथन है कि कुछ विद्वान काव्य के वैदर्भ भेद को गौड से पृथक् मानकर गौड काव्य की अपेक्षा उसे श्रेष्ठ समझते हैं। इस प्रकार का विभाजन अन्ध गतानुगतिकता का ही परिणाम है।[1] देश के आधार पर काव्य का विभाग युक्तिसङ्गत नहीं। दोनों काव्यों में उत्कृष्टता-निकृष्टता का निरूपण भामह अवैज्ञानिक मानते हैं। काव्य की उत्कृष्टता उसके वैशिष्ट्यों के आधार पर ही निर्धारित होनी चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि वैदर्भ मार्ग का काव्य सदा सुन्दर ही हो। इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं कि गौड काव्य सदा असुन्दर ही हो। वैदर्भ काव्य स्पष्ट, सरल तथा कोमल होता है; किन्तु इन वैशिष्ट्यों के होने पर भी यदि उसमें अर्थगाम्भीर्य और वक्रोक्ति का अभाव हो तो वह सच्चे अर्थ में काव्य न होकर केवल श्रुतिमधुर सङ्गीत हो जायगा।[2] इसके विपरीत गौड काव्य भी अलङ्कारयुक्त, ग्राम्यत्व दोष-मुक्त, अर्थवान्, न्याय-

---

१. वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे ।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम् ॥
गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक् ।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ॥—भामह, काव्यालङ्कार १, ३१-३२

२. अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम् ।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ॥ —वही, १, ३४

सङ्गत तथा अनाकुल अर्थात् दीर्घसमासरहित होने पर सुन्दर होता है; परन्तु इन गुणों के अभाव में वैदर्भ काव्य भी सुन्दर नहीं होता।[१]

भामह की इस धारणा से ठीक मिलती-जुलती धारणा काव्य-शैली के सम्बन्ध में विन्चेस्टर ने व्यक्त की है। उन्होंने दो शैलियों के स्वभाव का उल्लेख कर यह कहा है कि उनमें से किसी एक को दूसरे से सुन्दर नहीं कहा जा सकता।[२] उनकी दो शैलियाँ भामह के वैदर्भ एवं गौड काव्य-रूपों से मिलती-जुलती ही है।

इस विवेचन के आधार पर भामह के मतानुसार गुण और रीति का पारस्परिक सम्बन्ध दिखाने का प्रयास किया जा सकता है। भामह ने देश के आधार पर काव्य की रीतियों का उल्लेख नहीं किया, फिर भी वैदर्भ काव्य एवं गौड काव्य को क्रमशः वैदर्भी रीति एवं गौडी रीति के काव्य के समकक्ष माना जा सकता है। डॉ० नगेन्द्र की यह मान्यता है कि 'उन्होंने गुण और रीति का कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं माना—माधुर्यादि विदर्भ या गौडीय के गुण न होकर सत्काव्य के गुण हैं।'[३] डॉ० व्ही० राघवन ने अपना यह मन्तव्य प्रकट किया है कि भामह ने वैदर्भ मार्ग में कोमलत्व, श्रुतिपेशलत्व तथा प्रसन्नत्व को अपेक्षित माना है तथा गौडी रीति का अनाकुल होना अर्थात् अतिदीर्घ-समास-हीन होना वाञ्छनीय बताया है।[४] किन्तु विचार करने से

---

१. अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयामपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा॥ —भामह, काव्यालङ्कार १, ३५

२. "But while individuality is not to be classified it may be said that there are, in general, two opposite tendencies in personal expression : on the one hand to clearness and precision, on the other to largeness and profession. The one makes upon you the impression of greater delicacy, temperance, charm : the other, the impression of greater mass, complexity, power. We are not called upon to pronounce either manmer absolutely better than the other."
—Winchester, Principles of Literary Criticism, Chap-IV

३. डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालङ्कार सूत्र की भूमिका — पृ० ३३

४. डॉ० व्ही राघवन, Some Concepts of Alankara Sastra, Riti.

यह स्पष्ट हो जाता है कि भामह अनाकुलत्व को केवल गौड काव्य का ही गुण नहीं मानते, उसे वैदर्भ में भी वाञ्छनीय मानते हैं। जिन गुणों के सद्भाव में भामह गौड काव्य को सुन्दर मानते हैं, उनका सद्भाव वैदर्भ काव्य की सुन्दरता के लिए भी अनिवार्य मानते हैं। भामह के कथन पर ध्यान देने से उनका यह मन्तव्य स्पष्ट हो जाता है कि अलङ्कारयुक्त, ग्राम्यता-रहित, अर्थवान्, न्यायसङ्गत तथा अनाकुल काव्य सुन्दर होता है। उन्होंने कहा है कि अलङ्कार आदि के योग से गौड काव्य भी अच्छा होता है, अन्यथा वैदर्भ काव्य भी अच्छा नहीं होता। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने 'अन्यथा' का अर्थ 'इन गुणों से वञ्चित' किया है। उनके अनुसार भामह के मन्तव्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—'अलङ्कारयुक्त, ग्राम्यतारहित, अर्थवान्, न्यायसङ्गत, अनाकुल (जटिलता आदि दोषों से मुक्त) गौडीय (मार्ग) भी अच्छा है, अन्यथा (इन गुणों से वंचित) वैदर्भ भी नहीं (अच्छा है)।[1]

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि भामह वैदर्भ एवं गौड मार्गों के काव्य में कुछ गुणों को साधारण मानते हैं। उक्त अलङ्कारत्व आदि गुण दोनों मार्गों के सत्काव्य के लिए सामान्य रूप से अपेक्षित हैं; पर कोमलत्व, श्रुतिपेशलत्व एवं प्रसन्नत्व केवल वैदर्भ मार्ग के गुण हैं।

भामह ने माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों का उल्लेख किया है। वे काव्य के तीन ही गुण मानते थे। उन गुणों का मार्ग के नियामक के रूप में कहीं उल्लेख नहीं हुआ है। उनके अनुसार वस्तुतः वैदर्भ काव्य का नियामक कोमलत्व, श्रुतिपेशलत्व एव प्रसन्नत्व को ही माना जा सकता है। अतः, यह कहा जा सकता है कि भामह ने माधुर्यादि गुणों का मार्ग से सम्बन्ध प्रतिपादित नहीं करने पर भी वैदर्भ एवं गौड काव्य के वैशिष्ट्य के रूप में सामान्य अर्थ में कुछ गुणों का उल्लेख कर दिया है। पीछे चलकर दण्डी, वामन आदि ने जिन मार्ग-विभाजक गुणों का वर्णन किया है, उनमें से कई गुणों का उल्लेख भामह वैदर्भ काव्य के सन्दर्भ में कर चुके थे। भामह ने दोनों मार्गों में अनाकुलता पर बल दिया है। दण्डी अनाकुल और हृद्य ओज को वैदर्भ मार्ग में ग्राह्य मानते हैं। उनके प्रसन्नत्व, श्रुतिपेशलत्व आदि को अन्य आचार्यों के प्रसाद, माधुर्य आदि से अभिन्न माना जा सकता है। यद्यपि भामह ने उक्त गुणों के लक्षण नहीं दिये हैं तथापि उनके नाम से ही उनके सम्बन्ध में भामह की धारणा स्पष्ट हो जाती है।

---

१. देवेन्द्रनाथ शर्मा, भामह-विरचित काव्यालङ्कार, पृ० १८

भामह के गुणों के स्वरूप पर ध्यान देने से एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने गुणों का सम्बन्ध अंशतः सङ्घटना से भी जोड़ दिया है। वे माधुर्य तथा प्रसाद गुणों में अल्प-समास रचना तथा ओज गुण में दीर्घ-समास-रचना पर बल देते हैं।[1] यह ठीक है कि केवल समास की अल्पता एवं दीर्घता के आधार पर तीनों गुणों का स्वरूप-निर्धारण नहीं किया गया है; पर इतना स्पष्ट है कि भामह ने गुणों के लक्षण में समास पर सर्वाधिक बल दिया है। ओज का लक्षण तो केवल दीर्घ-समासत्व है। उसमें वर्ण आदि के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ भी नियम निर्धारित नहीं किया गया है। ओज के उदाहरण में जो श्लोक उद्धृत किया गया है, उसमें केवल समास की दीर्घता के आधार पर ओज का सद्भाव माना गया है।[2] उस उदाहरण को लक्ष्य कर आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने उचित ही कहा है कि ...... "जो उदाहरण दिया गया है वह समास-बाहुल्य रहने पर भी ओज के बदले माधुर्य गुण का उदाहरण हो गया है।[3] माधुर्य और प्रसाद गुणों मे भी उनके अन्य वैशिष्ट्यों के साथ समास की अल्पता को आवश्यक माना गया है। इन दोनों में अल्प-समास-सङ्घटना होती है। दोनों में भेद इतना है कि माधुर्य में अल्प-समास घटना के साथ श्रव्यत्व का होना आवश्यक है तो प्रसाद में अल्प-समास-रचना के साथ सर्व-जन-सुबोध पदों की योजना अनिवार्य है। स्पष्ट है कि भामह ने गुणों के स्वरूप के नियामक के रूप में पदों की घटना को भी एक तत्त्व माना है, इतना ही नहीं, वह तत्त्व गुणों के स्वरूप-विधायक तत्त्वों में प्रधान माना गया है। समास की अल्पता एवं बहुलता के आधार पर गुणों के स्वरूप का निर्धारण इस दृष्टि से ध्यातव्य है कि आगे चलकर उद्भट आदि आचार्यों ने गुण को सङ्घटना पर ही आश्रित मान लिया है, जिसका खण्डन आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में तथा अभिनव ने लोचन में किया है। इसपर यथास्थान विचार किया जायगा। प्रस्तुत सन्दर्भ में इतना निर्देश कर देना पर्याप्त होगा कि भामह के

---

१. माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादञ्च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते ॥
केचिदोऽजोभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि। —भामह, काव्यालं० २, १-२

२ यथा मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका।—वही, २, २

३. आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा, भामह विरचित काव्यालं० भूमिका पृ० ३८

काव्यालङ्कार में गुण और रीति के पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्ट विवेचन नहीं होने पर भी उस सम्बन्ध में कुछ विचार बीज रूप में निहित थे, जो परवर्ती आचार्यों की कृतियों में पल्लवित हुए हैं। वैदर्भ एवं गौड काव्य के कुछ गुणों की चर्चा भामह ने कर दी थी। सम्भव है, दण्डी ने उसी के आधार पर वैदर्भ मार्ग के गुणों की कल्पना सुव्यवस्थित रूप में की हो। भरत ने दस गुणों के स्वरूप की स्थापना कर दी थी। भामह ने उनमें से कुछ गुणों को काव्य के धर्म के रूप में उल्लिखित किया। दण्डी ने भरत के दसो गुणों को स्वरूप-भेद से वैदर्भ मार्ग का प्राण घोषित कर दिया। दूसरी ओर काव्यालङ्कार में समास के आधार पर गुणों के स्वरूप-निर्णय का सङ्केत पाकर उद्भट आदि ने गुण के सङ्घटनाश्रित होने का सिद्धान्त स्थापित कर दिया। अतः, यह कहा जा सकता है कि गुण को मार्ग का नियामक मानने वाले तथा उसे सङ्घटनाश्रित मानने वाले मतों की सम्भावना भामह के काव्यालङ्कार में ही निहित थी।

दण्डी

सर्वप्रथम दण्डी ने ही गुण और रीति के पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्ट विवेचन किया है। उन्होंने रीति का नाम्ना उल्लेख नहीं किया है। वे काव्य के अनेक मार्ग मानते थे, जो परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। उनका पारस्परिक भेद बहुत सूक्ष्म है। उन मार्गों में वैदर्भ और गौड; इन दो मार्गों का पारस्परिक भेद अत्यन्त स्फुट है।[1] दण्डी का यह मार्ग अन्य आचार्यों की रीति से अभिन्न है। इन दो रीतियों के सन्दर्भ में ही दण्डी ने दस गुणों के स्वभाव पर विचार किया है। ये गुण रीति के नियामक हैं। उनके अनुसार श्लेष आदि दस गुण मार्ग-विभाजक अलङ्कार हैं।[2] दस गुणों को दो मार्गों का अवच्छेदक धर्म इस दृष्टि से माना गया है कि उक्त गुण वैदर्भ मार्ग के काव्य के प्राणभूत हैं, जबकि गौड मार्ग में इन गुणों का प्रायः विपर्यय रहा करता है।[3] दण्डी का यह कथन कुछ उलझन उत्पन्न करता है। इसपर विचार किया जा चुका है कि

---

१. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥ —दण्डी, काव्यादर्श. १,४०

२ काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रिया । —वही २, ३

३. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥ —वही १,४२

उक्त गुणों में से सब का विपर्यय गौड मार्ग में नहीं पाया जाता। कुछ गुणों को स्वयं दण्डी ने दोनों मार्गों में समान रूप से समादृत बताया है। समाधि, औदार्य, अर्थव्यक्ति आदि गुण इसके निदर्शन हैं। दूसरी बात यह है कि गुण का विपर्यय प्रायः दोष होता है। प्रश्न यह होगा कि क्या गौड कवि गुणों के विपर्यय दोषों में रुचि रखते हैं? यह तो माना ही नहीं जा सकता कि कोई कवि काव्य-दोष को रुचिकर समझेगा। इसका उत्तर यह कहकर दिया जा सकता है कि दण्डी के मतानुसार गौड एवं वैदर्भ मार्ग के काव्य की प्रकृति भिन्न है। अतः एक के गुण का विपर्यय दूसरे में दोष नहीं माना जा सकता। वैदर्भ मार्ग के गुणों का विपर्यय उसी मार्ग में दोष होगा अन्य मार्ग में वह गुण भी हो सकता है। अपने-अपने आदर्श के अनुकूल धर्म को ही लोग गुण मानते हैं तथा प्रतिकूल धर्म को दोष। अतः, कभी-कभी एक का गुण ही दूसरे का दोष बन जाता है तथा उसके गुण का विपर्यय गुण। लोक-धर्म के उदाहरण से इस मान्यता को और भी स्पष्ट किया जा सकता है। विरति, करुणा आदि संन्यासी के विशिष्ट गुण हैं; किन्तु इन्हें सिपाही का उत्कृष्ट गुण नहीं माना जा सकता। दोनों के जीवन के आदर्श की भिन्नता के कारण एक ही धर्म एकत्र गुण हो जाता है तो अपरत्र दोष। गौड कवियों के काव्य का आदर्श वैदर्भ काव्य से भिन्न है। अतः, वैदर्भ गुणों में से कुछ का विपर्यय यदि गौड मार्ग में गुण के रूप में स्वीकृत हो तो इसमें कोई असङ्गति नहीं।

उक्त स्थल पर दण्डी का कथन कुछ अनिश्चयात्मक है, जिसके कई व्याख्यान सम्भव हैं। जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है श्लेष आदि दस गुणों को वैदर्भ मार्ग के प्राण कहकर दण्डी ने यह कह दिया है कि 'इनका प्रायः विपर्यय गौड मार्ग में दीख पड़ता है।' दण्डी के कथन में एषां (इनका) तथा 'विपर्यय' शब्दों के अर्थ को लेकर उनके टीकाकारों में मतभेद है। यहाँ विभिन्न टीकाकारों की तत्सम्बन्धी धारणाओं का समीक्षण तथा दण्डी के कथन का उचित अर्थ-निर्धारण वाञ्छनीय है।

टीकाकार तरुणवाचस्पति ने विपर्यय का अर्थ 'वैपरीत्य' किया है। उनकी युक्ति है कि दण्डी दस गुणों के प्रायः विपर्यय का गौड मार्ग में सद्भाव मानते हैं।[१]

---

१. द्रष्टव्य—दण्डी, काव्यादर्श १, ४२ पर तरुण वाचस्पति की टीका।

काव्यादर्श की हृदयङ्गमा टीका में 'विपर्यय' का अर्थ 'अन्यथात्व' किया गया है और 'एषां' का 'गुणानाम्'।[१] इस प्रकार टीकाकार ने अपना यह मन्तव्य प्रकट किया है कि काव्यगुणों के सम्बन्ध में गौड कवियों की धारणा वैदर्भ कवियों से भिन्न है। अतः, गौड मार्ग के काव्य में वैदर्भ काव्य के श्लेष आदि गुणों का अन्यथात्व रहा करता है। प्रभा व्याख्या में पण्डित रङ्गाचार्य ने इसी मत को स्वीकार किया है।[२]

दण्डी के उक्त कथन की तीसरी व्याख्या यह प्राप्त होती है कि दण्डी गौड काव्य के प्राण का वैदर्भ काव्य के प्राण से भिन्न ही रूप मानते थे; अतः उक्त कथन में 'एषां' का अर्थ है 'प्राणानां' तथा 'विपर्ययः' का अर्थ है 'अन्यथात्व'।[३]

उक्त तीनों मतों में बहुत बड़ा तात्त्विक अन्तर नहीं है। सभी मतों में यह स्वीकार किया गया है कि काव्य-सौन्दर्य का मानदण्ड दोनों मार्गों में भिन्न है। अतः, अपने आदर्श के अनुसार गौड कवि शैथिल्य आदि को भी अपना लेते हैं। शैथिल्य आदि को गौड मार्ग का गुण नहीं माना जा सकता। दण्डी ने यह स्पष्टतः कहा है कि गौड अनुप्रास के लोभ से श्लेष का त्याग कर शैथिल्य को भी अपना सकते हैं।[४] अतः, उनके काव्य के आदर्श का अङ्ग अनुप्रास को ही माना जा सकता है, शैथिल्य को नहीं। अपने काव्य के आदर्श की उपलब्धि में योग देने के कारण ही गौड अत्युक्ति आदि को काव्य का गुण मान लेते हैं; वस्तुतः उनका आदर्श व्युत्पन्नत्व आदि ही है।

उक्त मार्गों में गुणों की स्थिति के सम्बन्ध में दण्डी के मन्तव्य के उक्त तीनों व्याख्यानों का परीक्षण यहाँ आवश्यक है। तरुण वाचस्पति की व्याख्या के विरुद्ध यह आक्षेप किया जा सकता है कि दस गुणों के विपर्यय दोष होंगे फिर उन्हें गौड काव्य में ग्राह्य किस प्रकार माना जा सकता है? यदि उक्त गुणों के वैपरीत्य की सत्ता गौड मार्ग में मानी जाय, तो दोषमय मार्ग वस्तुतः काव्य कहलाने का अधिकारी ही नहीं रह जायगा। दूसरी बात यह है कि काव्यादर्श में उद्धृत गौड मार्ग के काव्य के सभी उदाहरण सदोष या

---

१. दण्डी, काव्यदर्श १,४२ पर हृदयङ्गमा टीका।
२. वही, १, ४२ पर प्रभा व्याख्या।
३. डॉ० लाहिरी, Concepts of Riti and Guna, पृ० ६०
४. इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः; —दण्डी, काव्यादर्श, १, ५४

गर्हित काव्य के ही उदाहरण नहीं हैं, फिर यह कैसे मान लिया जाय कि दण्डी गौड मार्ग में दस गुणों के वैपरीत्य की सत्ता मानते थे ?

इस शङ्का का समाधान सरल है। हम इसपर विचार कर चुके हैं कि एक मार्ग के गुणों का वैपरीत्य दूसरे मार्ग में अनिवार्यतः दोष ही नहीं हो जाता। वैदर्भ मार्ग के प्रसाद का विपर्यय व्युत्पन्नशब्दत्व, कान्ति का विपर्यय अत्युक्ति तथा सुकुमार का विपर्यय दीप्तत्व दोष नहीं माना जा सकता। समता का विपर्यय वैषम्य भी, जो सर्वकोमल या सर्वकठोर पद-योजना है, सर्वत्र दोष नहीं। अनुप्रास-युक्त शिथिल पद-योजना भी गौड मार्ग में गुण ही माना जा सकता है। वामन ने भी ओज के साथ रहने पर बन्ध के शैथिल्य को गुण माना है।[१] उनका शब्दगत प्रसाद गुण बन्ध का शैथिल्य ही है। ध्वनि-प्रस्थान में तो यह धारणा और भी स्पष्ट हो गयी कि बन्ध की गाढ़ता या शिथिलता अपने आप में न गुण है न दोष। उनका गुणत्व या दोषत्व भाव की अनुकूलता या प्रतिकूलता पर निर्भर है। निष्कर्षतः, वैदर्भ मार्ग के गुणों के विपर्यय को दोष मानकर तरुण वाचस्पति के मत का खण्डन युक्तिसङ्गत नहीं। वैदर्भ मार्ग के प्रसाद, कान्ति, सुकुमार समता तथा श्लेष के विपर्यय क्रमशः व्युत्पन्नत्व, अत्युक्ति, दीप्तत्व, वैषम्य तथा शिथिल को उन गुणों का वैपरीत्य मानना ही उचित जान पड़ता है। डॉ० नगेन्द्र ने भी दण्डी के गुणों के स्वभाव की परीक्षा कर उक्त मत का ही समर्थन करते हुए लिखा है—"निष्कर्ष यह है कि 'एषां' से दण्डी का आशय दश गुणों का और 'विपर्यय' से वैपरीत्य का ही है।"[२]

इस स्पष्टीकरण से 'विपर्यय' का अर्थ 'अन्यथात्व' मानने वाली धारणा की व्यर्थता स्पष्ट हो जाती है। विपर्यय का 'अन्यथात्व' अर्थ करने वाले दो सिद्धान्त हैं। एक के अनुसार गौड मार्ग में इन गुणों का अन्यथात्व रहता है तथा दूसरे के अनुसार वैदर्भ के प्राण का अन्यथात्व रहता है। पहला सिद्धान्त हृदयङ्गमा टीका तथा प्रभा व्याख्या में उपस्थापित किया गया है। गुणों के वैपरीत्य में दोषत्व की कल्पना से ही गुणों के अन्यथात्व की दूरारूढ कल्पना की गयी है। यह स्पष्ट हो जाने पर कि गुणवैपरीत्य सर्वथा दोष नहीं; इस कल्पना की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। दण्डी ने स्वयं गुण-

१. 'शैथिल्यं प्रसादः।' गुणः सम्प्लवात्।—वामन, काव्यालं० ३, १, ६-७
२. डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालंकार सूत्र की भूमिका, पृ० ३६

विपर्यय के रूप में वैषम्य आदि जिन तत्वों का उल्लेख किया है, उन्हें समता आदि का अन्यथात्व-मात्र मानने की अपेक्षा वैपरीत्य मानना ही युक्ति-सङ्गत है।

गौड मार्ग के प्राण वैदर्भ मार्ग के प्राण से भिन्न हैं, यह अर्थ करने वाला सिद्धान्त इस मान्यता पर आधृत है कि दोनों मार्गों के काव्य में उत्कृष्टता-निकृष्टता का निर्धारण दण्डी ने नहीं किया है। यह ठीक है कि दण्डी वैदर्भ मार्ग के काव्यादर्श से गौड मार्ग के काव्य का आदर्श कुछ भिन्न मानते थे; पर इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वे वैदर्भ मार्ग के काव्य को गौड मार्ग के काव्य की अपेक्षा अधिक सुन्दर मानते थे। डॉ० सुशील कुमार डे ने यह मानते हुए भी कि दण्डी गौड काव्य की शैली का मूल तत्त्व वैदर्भ काव्य से भिन्न मानते थे, यह स्वीकार किया है कि दण्डी का वैदर्भ मार्ग के प्रति पक्षपात तथा गौड मार्ग से थोड़ी अरुचि स्पष्ट है।[१] अतः, गौड मार्ग के काव्य के मूल तत्त्व को वैदर्भ मार्ग के काव्य के मूल तत्त्व से केवल भिन्न सिद्ध करने के लिए 'एषां' का अर्थ 'प्राण का (प्राणानां) तथा 'विपर्यय' का अर्थ अन्यथात्व' करना क्लिष्ट कल्पना-मात्र है।

श्री एस० पी० भट्टाचार्य ने यह मान्यता प्रकट की है कि दण्डी के काव्यादर्श में वैदर्भ मार्ग का प्रयोग उपलक्षण के रूप में हुआ है। वह सभी सुन्दर शैलियों के लिए प्रयुक्त है।[२] श्री भट्टाचार्य की यह कल्पना उचित ही जान पड़ती है। दण्डी रीति के अनेक भेद स्वीकार करते थे; किन्तु उनमें से उन्होंने दो ही रीतियों के स्वरूप का विश्लेषण किया है। उन्होंने सुन्दर शैली के आदर्श के रूप में वैदर्भ मार्ग का उल्लेख किया है। इस प्रकार उनकी धारणा का निष्कर्ष यह होगा कि श्लेष आदि दस गुण उत्तम रचना के आवश्यक धर्म हैं। रीति की उत्कृष्टता और निकृष्टता गुण के आधार पर ही निर्णीत होती है।

३.·······Dandin shows a decided partiality for the Vaidarbhi Marga and a mild aversion to the Gauda. —डॉ० एस० के० डे Some Problems of Skt. Poetics. पृ० ६२

४. श्री एस० पी० भट्टाचार्य, The Gauda Riti in Theory and Practice —I. H. Q. Vol. III पृ० ३७६

गुण के आधार पर रीति के उत्कृष्ट एवं निकृष्ट स्वरूपों की दण्डी की इस कल्पना के समान ही शोपेनहावर (Schopenhaur) ने शैली के सम्बन्ध में अपनी धारणा व्यक्त की है। उन्होंने शैली के दो रूप माने हैं—पहला सुन्दर (Good) एवं दूसरा असुन्दर (Bad)। दूसरी शैली के कवियों के सम्बन्ध में उनका कहना है कि वे शब्दाडम्बर से तुष्ट होते हैं। उनकी रचना सामान्यतः दीप्त, कृत्रिम अत्युक्तिपूर्ण एवं प्रहेलिका-प्राय होती है।[1] सुन्दर शैली कृत्रिमता-रहित या अनलङ्कृत होती है। शोपेनहावर की यह धारणा दण्डी की वैदर्भी एवं गौडी रीति-सम्बन्धी धारणा से अभिन्न है। दण्डी नैकान्तमधुर, दुष्कर उल्बण अनुप्रास को हेय मानते हैं। अलङ्कार का आडम्बर भी वे अग्राह्य मानते हैं। वे काव्य के अकृत्रिम सौन्दर्य को ही श्रेयस्कर समझते है। अतः, सुकुमारता गुण के उदाहरण में उन्होंने कहा है कि अनूर्जित अर्थ तथा अलङ्कार का अभाव होने पर भी सुकुमारता के कारण ही यह काव्य सहृदयों के द्वारा समादृत है।[2] शोपेनहावर ने भी ठीक ऐसा ही मन्तव्य प्रकट किया है। उनके अनुसार कवि को अनावश्यक अलङ्करण से तथा व्यर्थ के विस्तार से बचना चाहिए। जिस प्रकार वास्तुकला में सजावट की 'अति' हानिकारक होती है, उसी प्रकार काव्य में अलङ्कार के भार को शोपेनहावर हानिकारक समझते हैं। उनके अनुसार अकृत्रिमता सभी कलाओं में वाच्छनीय होती है।[3] डेमेट्रियस (Demetrius) ने कृत्रिम या अलङ्कृत शैली की निन्दा की है।[4] उनकी Frigid और Affected शैली दण्डी की हेय गौडी रीति के समकक्ष है। स्पष्ट है कि दण्डी ने जिस प्रकार श्लेष, प्रसाद, सुकुमारता आदि कुछ गुणों के सद्भाव तथा अभाव के आधार पर रीति की उत्कृष्टता तथा निकृष्टता का निर्णय किया है, उसी प्रकार

---

1. Schopenhaur; Essay on Authorship and Style.

२. इत्यनूर्जित एवार्थो नालंकारोपि तादृशः ।
सुकुमारतयैवैतदारोहति सतां मनः ॥—दण्डी, काव्यादर्श १, ७१

३. An author should guard against using all unnecessary theoretical adornment, all useless amplification. and in general just as in architecture he should guard, against an excess of decoration, all superfluity of expression—in other words, he should aim at chastity of style. Everything redundant has a harmful effect. The law of simplicity and naivete applies to all fine art, for it is compatible with what is most sublime.
—Schopenhaur, Essay on Authorship and style.

४. द्रष्टव्य—डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालङ्कार की भूमिका, पृ० ११५

डेमेट्रियस, शोपेनहावर आदि ने भी शैली की सुन्दरता-असुन्दरता का निर्णय कुछ गुणों के भाव-अभाव के आधार पर ही किया है।

वामन

रीतिवादी आचार्य वामन ने गुण और रीति के पारस्परिक सम्बन्ध की स्पष्ट विवेचना की है उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना है।[1] रीति के स्वरूप-विश्लेषण के क्रम में उन्होंने रीति का विधायक तत्त्व गुण को ही स्वीकार किया है। उन्होंने विशिष्ट पद-रचना को रीति कहा है।[2] इसका स्पष्टीकरण करते हुए वामन ने गुणविशिष्ट अर्थात् गुण-सम्पन्न पद-रचना को रीति बताया है।[3] निष्कर्षतः, वामन गुण से युक्त पद रचना को रीति कहते हैं, जो उनके अनुसार काव्य की आत्मा है। इस प्रकार वामन के मतानुसार रीति का गुण के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध है। वामन की गुण-धारणा के विवेचन में हम देख चुके हैं कि वामन ने दस शब्दगत एवं दस अर्थगत गुण माने हैं। बन्ध के गुण शब्दगत गुण हैं। वामन की धारणा है कि अर्थगत गुण रीति के महत्त्व को बढ़ा देते हैं।[4] उनके कुछ अर्थगुणों का स्वरूप बहुत व्यापक है। यह देखा जा चुका है कि वामन ने रस आदि को भी अपने गुण की सीमा में समेट लिया है। कान्ति गुण रसमय काव्य का गुण है।[5] अतः यह निर्विवाद है कि वामन ने गुणों के व्यापक स्वरूप के सद्भाव से वैदर्भी रीति के बड़े व्यापक स्वरूप की कल्पना की है। वामन रीति की श्रेष्ठता का आधार गुण-सद्भाव को मानते हैं। वैदर्भी रीति में सभी गुण रहते हैं; अतः वह श्रेष्ठ रीति मानी गयी है।[6] गौडी और पाञ्चाली रीतियों में कुछ गुणों का अभाव रहता है। वैदर्भी की अपेक्षा उन दोनों रीतियों में कम गुण होने के कारण उन्हें वामन ने अग्राह्य माना है।[7] गुणों के सद्भाव-अभाव के आधार पर ही रीति का विभाजन हुआ है। वामन की रीतियों के नाम भी विदर्भ, गौड एवं पाञ्चाल प्रदेशों से सम्बद्ध हैं; किन्तु यह स्पष्ट है कि यह वर्गीकरण देश के आधार पर

१. रीतिरात्मा काव्यस्य। —वामन, काव्यालङ्कारसूत्र १, २, ६
२. विशिष्टा पदरचना रीतिः। —वही १, २, ७
३. विशेषो गुणात्मा। —वही, १, २, ७
४. तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या। सापीयमर्थगुणसम्पद् वैदर्भीत्युक्ता। —वही, १, २, २० तथा १, २, २२ की वृत्ति पृ० ३०-३३
५. दीप्तरसत्वं कान्तिः। —वही, ३, २, १५
६. तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात्। —वही, १, २, १४
७. न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात्। —वही, १, २, १५

नहीं हुआ है। दण्डी की तरह वामन ने भी गुणों को ही रीति का विधायक माना है। देश के आधार पर रीतियों के नामकरण के कारण का स्पष्टीकरण करते हुए वामन ने कहा है कि विदर्भ आदि देशों में विशेष रूप से उन-उन रीतियों के पाये जाने के कारण विदर्भादि देश के ही अनुरूप उनका नामकरण हुआ है।[१] वस्तुतः, उनके स्वरूप का विधायक गुण ही है। वामन के गुणों के स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए उन्हें उत्तम रीति का गुण माना जा सकता है। दण्डी ने भी अपने दस गुणों को वैदर्भ मार्ग का गुण कहा है। हम यह देख चुके हैं कि दण्डी वैदर्भी का प्रयोग उत्तम काव्य-मार्ग के लिए उपलक्षण के रूप में करते थे। वामन की धारणा इस अंश में दण्डी की धारणा के समान है कि वे समग्र गुण-गुम्फिता वैदर्भी रीति को श्रेष्ठ रीति मानते हैं। गौडी रीति के सम्बन्ध में वामन की मान्यता दण्डी से नितान्त भिन्न है। दण्डी ने वैदर्भ काव्य से गौड काव्य के विपरीत स्वभाव की कल्पना की थी। इसीलिए उन्होंने वैदर्भ मार्ग के प्रायः सभी गुणों के विपर्यय का सद्भाव गौड मार्ग में मान लिया। वामन की मान्यता है कि वैदर्भी के अधिकांश गुण गौडी रीति में भी रहते हैं। इस प्रकार दोनों में समान गुणों के सद्भाव की कल्पना कर लेने पर वामन ने गौडी के अवच्छेदक धर्म के रूप में उन्हीं गुणों में से ओज और कान्ति के प्राधान्य को स्वीकार कर लिया। उनके अनुसार गौडी रीति में केवल माधुर्य और सौकुमार्य गुणों का अभाव रहता है तथा ओज और कान्ति गुण प्रधान रहते हैं। गौडी रीति के लक्षण में वामन ने केवल इतना कहा है कि वह ओज और कान्ति गुणों से युक्त होती है।[२] इस आधार पर यह मान लेना उचित नहीं होगा कि केवल उक्त दो गुणों का ही सद्भाव गौडी रीति में उन्हें अभिप्रेत था। अपनी वृत्ति में गौडी के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा है कि उसमें माधुर्य और सौकुमार्य गुणों का अभाव रहने से समासबहुलता तथा अत्युल्बणपदता रहती है।[३] समासबहुलता ओज है तथा अत्युल्बणता कान्ति; यद्यपि वामन ने स्वयं ओज एवं कान्ति की परिभाषा उक्त रूप में नहीं दी है। इस कथन पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वामन वैदर्भी के दस गुणों में से केवल दो का अभाव गौडी में मानते थे, आठ गुणों में से दो वहाँ प्रधान रहते हैं। शेष छह गुण भी सामान्य रूप से वर्त्तमान रहते हैं। डॉ० व्ही० राघवन की इस मान्यता से सहमत होना कठिन है कि वामन के अनुसार गौडी में वैदर्भी के सभी गुण रहते हैं। भेद केवल यह है कि इसमें ओज और कान्ति गुण माधुर्य और

१. विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या। — वामन, काव्यालङ्कारसूत्र, १, २, १०
२. ओजः कान्तिमती गौडीया। — वही १, २, १२
३. माधुर्यसौकुमार्ययोरभावात् समासबहुला अत्युल्बणपदा च।—वही वृत्ति, पृ० २३

सौकुमार्य को दबा लेते हैं।[1] डॉ० राघवन ने गौडी मेंअप्रधान रूप से माधुर्य और सौकुमार्य का भी सद्भाव माना है। उन्होंने वामन की वृत्ति के 'अभाव' का अर्थ सम्भवतः ईषत् भाव मान लिया है। अभाव के अर्थ की इस दूराकृष्ट कल्पना का कोई सबल आधार नहीं जान पड़ता। अतः, मेरी विनम्र मान्यता है कि वामन गौडी रीति में माधुर्य और सौकुमार्य का अभाव तथा शेष आठ गुणों का सद्भाव मानते थे, जिनमें से ओज और कान्ति की प्रधानता वे वहाँ स्वीकार करते थे। वैदर्भी रीति से गौडी के स्वरूप को पृथक् करने के लिए वामन ने गौडी के सन्दर्भ में ओज और कान्ति के साथ क्रमशः समासबहुलता तथा अत्युल्वणपदता का सम्बन्ध जोड़ दिया है। वैदर्भी के दस गुणों के स्वरूप-विश्लेषण-प्रसङ्ग में समासबहुलता एवं उल्बणपदता का कहीं उल्लेख नहीं हुआ है। इससे स्पष्ट है कि वैदर्भी को वे दीर्घ समासहीन ऋजु रचना मानते थे, जबकि गौडी उनके अनुसार समास-बहुल उल्बण रचना है। शेष धर्म दोनों में समान हैं।

दण्डी की उक्त दो रीतियों के अतिरिक्त वामन ने पाञ्चाली नामक एक नवीन रीति की कल्पना की है। इसका नामकरण भी देश के आधार पर हुआ है; पर गुणों को ही इसका भी विधायक माना गया है। इसका स्वभाव गौडी के स्वभाव से ठीक विपरीत है। इसे माधुर्य और सुकुमार गुणों से युक्त माना गया है।[2] इसमें ओज और कान्ति गुणों का अभाव रहता है। फलतः यह रीति अनुल्बण एवं विच्छाय होती है।[3] गौडी से इसका स्वभावगत वैपरीत्य स्पष्ट है। गौडी में ओज और कान्ति का प्राधान्य रहता है तथा माधुर्य और सौकुमार्य का अभाव। इसके विपरीत पाञ्चाली में माधुर्य और सौकुमार्य का प्राधान्य रहता है तथा ओज और कान्ति का अभाव। अन्य गुण भी इसमें रहते हैं, पर गौण रूप से। तीनों रीतियों के स्वरूप के उक्त विवेचन से तीनों का पारस्परिक सम्बन्ध समझा जा सकता है। माधुर्य, सौकुमार्य, ओज और कान्ति असाधारण या रीति-विभाजक गुण हैं, शेष छह गुण रीतित्रयगत या साधारण। वैदर्भी में सभी गुण रहते हैं। अतः, वह सबसे सुन्दर या ग्राह्य रीति है। गौडी और पाञ्चाली रीतियों में कुछ गुणों का अभाव रहता है। अतः, उनका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। इसलिए वे अग्राह्य हैं। ओज और कान्ति गुण गौडी रीति के अवच्छेदक धर्म हैं, जो उसे अन्य रीतियों से पृथक् करते हैं। माधुर्य और सौकुमार्य गुण पाञ्चाली के नियामक हैं। माधुर्य और सौकुमार्य के अभाव के कारण गौडी अत्युल्बण एवं समासबहुल हो जाती है। अतः, वह

---

१. डॉ० राघवन, Some concepts of Alamkara Shastra पृ० १४४

२. माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली। —वामन, काव्यालङ्कारसूत्र १, २, १३

३. ओजःकान्त्यभावादनुल्बणपदा विच्छाया च। —वही वृत्ति पृ० २५

वैदर्भी की तुलना में असुन्दर है। पाञ्चाली ओज और कान्ति गुणों के अभाव के फलस्वरूप अनुल्बण किन्तु विच्छाय है। इसलिए उसमें वैदर्भी-जैसा सौन्दर्य नहीं, वह अग्राह्य है। स्पष्ट है कि वामन के मतानुसार रीति का ग्राह्य एवं अग्राह्य होना गुणों के सद्भाव एवं अभाव पर निर्भर है। अतः, यह कहा जा सकता है कि गुण वामन की रीति के मूलभूत तत्त्व हैं। इस प्रकार जब वामन रीति को काव्य की आत्मा कहते हैं तो उसमें काव्य-सर्वस्व के रूप में गुण की स्वीकृति की ध्वनि भी स्पष्ट है।

रुद्रट

वामन के उपरान्त रुद्रट की रचना में गुण और रीति के सम्बन्ध में कुछ नवीन दृष्टि से विचार हुआ है। रुद्रट ने दण्डी और वामन की तरह रीति का विभाजक धर्म गुण को नहीं माना है। उन्होंने रीतियों का सम्बन्ध रस से जोड़ दिया है। इस प्रकार रीति का मूल तत्त्व गुण नहीं, रस स्वीकृत हुआ। रुद्रट ने चार रीतियाँ मानी हैं—(१) वैदर्भी, (२) पाञ्चाली, (३) लाटीया और (४) गौडी।[१] इनका सीधा सम्बन्ध शृङ्गार, करुण, भयानक, अद्भुत तथा रौद्र रसों के साथ माना गया है।[२] इस विवेचन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि अन्य आचार्यों की तरह रुद्रट ने भी पाञ्चाली को मधुर एवं गौडी को ओजस्वी रीति माना है। रस और अर्थ में माधुर्य या ओज रहा करता है। अतः विषयानुरूप या भावानुरूप रीति की योजना पर रुद्रट ने बल दिया है। भरत के वृत्ति-विवेचन के क्रम में हम देख चुके हैं कि उन्होंने रसानुरूप कैशिकी, आरभटी आदि वृत्तियों के स्वरूप का विश्लेषण किया है। रुद्रट की उक्त रीति-धारणा को भरत की वृत्ति-धारणा से प्रभावित माना जा सकता है।

नमिसाधु

रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने गुण और रीति के सम्बन्ध में नवीन विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने रीति को शब्द-गुण मान लिया है। नमिसाधु ने गुण का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में किया है। उनके अनुसार रस भी

---

१. पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः।

× × ×

वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव ॥—रुद्रट, काव्यालं० २. ४-६

२. वैदर्भीपाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।

लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद्यथौचित्यम् ॥ —वही १५, २०

सौन्दर्य आदि की तरह काव्य का सहज गुण है।[1] अलङ्कार को भी उन्होंने गुण कहा है। इस प्रकार रस, अलङ्कार, रीति आदि सभी तत्त्व काव्य के गुण हैं। रस सहज गुण है तथा शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार कृत्रिम गुण हैं। रीति भी गुण है। वह शब्दगत है।[2] इस प्रकार शब्दालङ्कार और रीति शब्दगत गुण हैं तथा अर्थालङ्कार अर्थगत गुण। नमिसाधु की यह गुण-धारणा दण्डी की अलङ्कार-धारणा के समान व्यापक है। दण्डी ने काव्य-सौन्दर्य को अलङ्कार कह कर सभी काव्य-तत्त्वों को उसका अङ्ग बना दिया है। नमिसाधु के गुण के व्यापक अर्थ में रस, अलङ्कार, रीति आदि सभी तत्त्व समाहित हैं।

उद्भट

गुण और रीति के पारस्परिक सम्बन्ध का उद्भट-कृत विवेचन सुसम्बद्ध रूप में उपलब्ध नहीं। इस सम्बन्ध में उनकी स्थापना का उल्लेख आनन्दवर्धन आदि के ग्रन्थ में पाया जाता है। उनकी मान्यता मूलतः यह थी कि गुण सङ्घटना पर आश्रित हैं। ध्वनिवादी आचार्यों ने गुण का रसाश्रयत्व सिद्ध करने के लिए उसको सङ्घटना पर आश्रित मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन किया है। उसी क्रम में उद्भट का मत पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत किया गया है। आनन्दवर्धन ने उद्भट की इस मान्यता का अन्वय-व्यतिरेक से खण्डन किया है। इस विषय पर हम यथाप्रसङ्ग विचार करेंगे।

भोज

भोज ने चौबीस गुणों का उल्लेख करने पर भी श्लेष आदि नौ गुणों को विशेष महत्त्व दिया है। उन्होंने यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि श्लेष आदि नौ गुणों का विपर्यय अरीतिमत् दोष कहा जाता है।[3] ये नौ गुण प्राचीन आचार्यों के दस गुणों में से समाधि को छोड़ शेष गुण हैं। इन गुणों के विपर्यय को अरीतिमत् दोष कहने में भोज का जो अभिप्राय है उससे उनके मतानुसार गुण और रीति का अन्योन्य सम्बन्ध समझा जा सकता है। प्राचीन आचार्यों ने दस गुणों को वैदर्भी रीति का प्राण कहा था और उन गुणों के विपर्यय में

---

१. × × रसास्तु सौन्दर्यादय इव सहजा गुणा इति भिन्नः तत्प्रकरणारम्भः।
— रुद्रट, काव्यालङ्कार टीका १२ पृ० १५०

२. एताश्च रीतयो नालङ्काराः, किं तर्हि शब्दाश्रयाः गुणा इति।
—वही २, पृ० १०

३. गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः।
अरीतिमदिति प्राहुस्तत्त्रिधैव प्रचक्षते॥ —भोज, सर० कण्ठा० पृ० २७

रीति को सदोष माना था। भोज ने भी श्लेष आदि नौ गुणों को रीति का प्राणभूत तत्त्व स्वीकार किया है। इसीलिए इन गुणों के विपर्यय में वे रीति का भङ्ग मानते हैं। सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकार रत्नेश्वर ने भोज के अभिमत को स्पष्ट करते हुए उसे वामन के मत से अभिन्न बना दिया है। रत्नेश्वर की मान्यता है कि श्लेष आदि नौ गुणों के अभाव में कोई उक्ति काव्याभास-मात्र बन जाती है। इसका कारण यह है कि इन गुणों के अभाव में रीति भग्न हो जाती है। गुणवत् रचना ही रीति है, अतः गुण के अभाव में रीतिभङ्ग स्वाभाविक है। रीति के भङ्ग होने पर काव्य का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। रीति ही काव्य की आत्मा है।[1] स्पष्ट है कि रत्नेश्वर ने वामन की तरह रीति को काव्य की आत्मा माना है तथा रीति का लक्षण गुण-युक्त पद-रचना स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त के मत की ओर निर्देश करते हुए रत्नेश्वर ने यह मान्यता प्रकट की है कि रीति नौ गुणों का पानक-रस-सा मिश्रण है, जिससे चित्रास्वाद उत्पन्न होता है।[2] रत्नेश्वर की इस व्याख्या के आधार पर भोज की गुण-रीति-धारणा को वामन की तद्विषयक धारणा से अभिन्न माना जा सकता है। भोज की गुणालङ्कार-सम्बन्धी धारणा के विवेचन में हम देख चुके हैं कि वे वामन की गुणालङ्कार-धारणा के अनुयायी हैं। गुण और रीति के पारस्परिक सम्बन्ध के विवेचन में भी वे वामन के ही अनुयायी जान पड़ते हैं।

रत्नेश्वर

भोज की गुण और रीति-विषयक धारणा को स्पष्ट करते हुए रत्नेश्वर ने गुण को रीति का विधायक तो माना ही है, रीति को वक्रता का पर्याय भी मान लिया है। उनके अनुसार रीति काव्य का सार है; वह गुणों से उत्पादित वक्रता है। वक्रता-रहित वाक्य को रत्नेश्वर काव्य नहीं मानते।[3] अतः, उनकी सम्मति में गुणों को काव्य का मूलभूत तत्त्व माना जाना चाहिए।

---

१. तेषां गुणानां भङ्गः काव्याभासत्वपर्यवसायी दोषः। ते (गुणाः) च श्लेषादयो नवैव। तेषामन्यतमाभावे काव्यस्याभासत्वात्। तेषां हि विपर्यये रीतिरवश्यं भज्यते। तस्या गुणवत्पदरचनारूपत्वात् × × × रीतिः साररूपतया काव्यस्यात्मेत्युच्यते। —भोज, सरस्वती० रत्नेश्वर की टीका पृ० २७

२. × × अतएव पानकरसन्यायेन सम्भूय चित्रास्वादपर्यवसानक्षमं गुण-सम्वलनमेव रीतिरिति लोचनकारः × × —वही पृ० २७

३. नहि वक्रतामन्तरेण काव्यपदवी प्राप्तिः। × × अवक्रयोः शब्दार्थयोः वचनमात्रत्वात्।—सरस्वतीकण्ठाभरण-टीका पृष्ठ ३४

विद्यानाथ

विद्यानाथ ने प्रतापरुद्रयशोभूषण में गुण और अलङ्कार का पार्थक्य-निरूपण करने के प्रसङ्ग में रीति और गुण के पारस्परिक सम्बन्ध की ओर सङ्केत किया है। गुण-रीति के विषय में उनकी धारणा उद्भट की धारणा से अभिन्न है। वे उद्भट की ही तरह गुण को सङ्घटना पर आश्रित मानते हैं। इसीलिए उन्होंने अर्थगत गुणों को अस्वीकार कर दिया है।[1] विद्यानाथ की इस धारणा की निस्सारता आनन्दवर्धन के द्वारा गुण के सङ्घटनाश्रयत्व के खण्डन से स्पष्ट हो जाती है। आनन्दवर्धन की गुण-सङ्घटना-विषयक विवेचना के प्रसङ्ग में ही इस पर विचार किया जायगा।

राजशेखर

राजशेखर की गुण-धारणा के विवेचन में यह देखा जा चुका है कि उनकी काव्यमीमांसा का गुण-अध्याय उपलब्ध नहीं। उनकी अन्य कृतियों में काव्य की कुछ रीतियों की चर्चा हुई है और उस सन्दर्भ में कुछ गुणों का भी उल्लेख हुआ है। उन रीतियों का सम्बन्ध प्रदेश-विशेष से होने पर भी उनके नियामक कुछ गुण ही माने गये हैं। 'बालरामायण' के तृतीय अङ्क में वैदर्भी रीति में माधुर्य गुण की प्रधानता मानी गयी है।[2] दशवें अङ्क में भी वैदर्भी रीति का वर्णन आया है। उस स्थल पर उसे माधुर्य और प्रसाद गुणों से युक्त तथा रसमय कहा गया है।[3] बालरामायण में मैथिली नामक नवीन रीति का उल्लेख हुआ है। राजशेखर के पूर्व मैथिली रीति की चर्चा कहीं नहीं पायी जाती। मिथिला की काव्य-शैली के वैशिष्ट्य के रूप में राजशेखर ने कुछ गुणों का उल्लेख किया है। यह शैली अर्थ-प्रचुर, अत्युक्ति-रहित तथा योगपरम्परा से युक्त रहती है।[4] काव्यमीमांसा में गौडी रीति के वैशिष्ट्य के रूप में योग-

---

१. एतेषां गुणानामर्थगतत्वमपि केचिदिच्छन्ति। प्राचामाचार्याणां मतेन संघटनाश्रयत्वमेव गुणानाम्। तदुक्तमलङ्कारसर्वस्वे 'सङ्घटनाधर्मत्वेन शब्दार्थधर्मत्वेन गुणालङ्काराणां व्यवस्थानम्' इति। अनयैव भङ्ग्या गुणालङ्काराणां निरूपितः स्वरूपभेदः।—विद्यानाथ, प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० ३३४

२. राजशेखर, बालरामायण, ३

३. तदस्मिन्मधुरं प्रसादि रसवत् कान्तं च काव्यामृतं,
सोऽयं सुभ्रु पुरो विदर्भविषयः सारस्वती जन्मभूः।—वही १०,७४

४. यत्रार्थातिशयोऽपि सूत्रितजगन्मर्यादया मोदते,
सन्दर्भश्च समासमासलवदप्रस्तारविस्तारितः।
उक्तिर्योगपरम्परापरिचिता काव्येषु चक्षुष्मतां
सा रम्या नवचंपकांगि भवतु त्वन्नेत्रयोः प्रीतये॥
—वही १०, ९५

परम्परा का उल्लेख हुआ है । योगपरम्परा का अर्थ समास की दीर्घता माना जा सकता है । इस प्रकार मैथिली रीति के काव्य में अर्थगाम्भीर्य, लोकमर्यादा के भीतर वर्णन (जिसे दण्डी का कान्ति-गुण माना जा सकता है) तथा रचना की समासबहुलता आदि विशेषताएँ पायी जाती हैं ।

श्रीहर्ष

नैषधीय चरित में श्रीहर्ष ने विदर्भ की राजकुमारी दमयन्ती के गुणों का वर्णन किया है । उसमें वैदर्भी रीति के गुणों का भी श्लेष से वर्णन हुआ है । वैदर्भी सुन्दर गुणों के कारण आकर्षक है ।[1] अपरत्र कवि ने उसे श्लेष से सर्वगुणसम्पन्ना तथा रसों से स्फीत कहा है ।[2] स्पष्टतः, हर्ष वैदर्भी के श्रेय के दो कारण मानते हैं— समग्रगुणसम्पन्न होना तथा रसमय होना । वैदर्भी की यह धारणा वामन की समग्रगुणा वैदर्भी की धारणा से अभिन्न है । वामन की वैदर्भी के समग्र-गुण-सम्पन्न होने में रसमय होने का भाव भी निहित है । कान्ति आदि गुण में ही वामन ने दीप्तरसत्व आदि की कल्पना कर ली थी । अतः, श्रीहर्ष की गुण-युक्ता एवं रसमयी वैदर्भी वामन की वैदर्भी से भिन्न नहीं । वामन की तरह श्रीहर्ष भी रीति का प्रमुख तत्त्व गुण को मानते हैं ।

कुन्तक

कुन्तक की गुण एवं रीति-धारणा सर्वथा मौलिक है । उन्होंने दो मार्गों के लिए सुकुमार और विचित्र—इन नवीन संज्ञाओं की कल्पना की है । दोनों के बीच मध्यम मार्ग है ।[3] उन्होंने कुछ गुणों को मार्गों का धर्म माना है । माधुर्य को सुकुमार मार्ग का प्रथम गुण माना गया है ।[4] इसके अतिरिक्त प्रसाद आदि गुण उसमें रहते हैं । विचित्र मार्ग में वैचित्र्य या कृत्रिमता की प्रधानता रहती है । मध्यम मार्ग में दोनों मार्गों के स्वभाव का मिश्रण रहता है । इन रीतियों के गुणों के स्वरूप भी भिन्न-भिन्न हैं । प्रसाद आदि मार्ग-विभाजक असाधारण गुणों के अतिरिक्त कुन्तक ने दो साधारण गुणों का भी उल्लेख किया है । वे हैं—औचित्य और सौभाग्य । ये साधारण गुण पद, वाक्य,

१. धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
—श्री हर्ष, नैषधीय चरित ३, ११६

२. गुणानामास्थानी नृपतिलक नारीति विदिता,
रसस्फीतामन्तः तव च तव वृत्ते च कवितुः । —वही १४, ८८

३. सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ॥
—कुन्तक, वक्रोक्तिजी०, १,२४ पृ० ९८

४. माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः । —वही १,३० पृ० ११४

प्रकरण तथा प्रबन्ध के गुण माने गये हैं।[1] इन गुणों को कुन्तक ने काव्य-जीवित माना है। इस प्रकार कुन्तक ने गुण और रीति का अविभाज्य सम्बन्ध माना है।

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में गुण और सङ्घटना के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन करते हुए तार्किक पद्धति पर दोनों का पार्थक्य प्रतिपादित किया है। सङ्घटना तीन प्रकार की मानी गयी है—असमासा, मध्यम-समासा तथा दीर्घसमासा।[2] असमासा सङ्घटना अन्य आचार्यों की वैदर्भी रीति के समान, मध्यमसमासा सङ्घटना पाञ्चाली रीति के समान और दीर्घ-समासा सङ्घटना गौडी रीति के समान मानी जा सकती है। उनमें से प्रथम को उपनागरिका वृत्ति, द्वितीय को कोमला वृत्ति एवं तृतीय को परुषा वृत्ति के समकक्ष भी माना जा सकता है। वस्तुतः, उक्त सङ्घटनाओं, वैदर्भी आदि रीतियों एवं उपनागरिका आदि वृत्तियों में कोई तात्त्विक भेद नहीं। इसीलिए मम्मट आदि आचार्यों ने रीति एवं वृत्ति को पर्याय मान लिया है।[3] सङ्घटन के स्वभाव का विश्लेषण करते हुए ध्वनिकार ने यह मान्यता प्रकट की है कि वह माधुर्य आदि गुणों का आश्रय लेकर रहती है तथा रस की व्यञ्जना करती है। वह वक्ता और वाच्य के औचित्य से नियमित होती है।[4] आनन्दवर्धन ने इसका विश्लेषण करते हुए यह माना है कि सङ्घटना के गुणाश्रित होने की मान्यता के तीन व्याख्यान सम्भव हैं—

(क) गुण और सङ्घटना में ऐक्य है।
(ख) सङ्घटना गुण पर आश्रित रहती है तथा
(ग) गुण सङ्घटना पर आश्रित रहते हैं।[5]

---

१. एतत्त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्त्तते।।—कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित १, ५७ पृ० १६३

२. असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता।। —आनन्दव०, ध्वन्या० ३, ५ पृ० ३०६

३. एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भी-गौडी-पाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः।
—मम्मट, काव्यप्रकाश, ९, पृ० २०३

४. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान् स्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः।।—वही ३, ६ पृ० ३१०

५. अत्र च विकल्प्यं गुणानां सङ्घटनायाश्चैक्यं व्यतिरेको वा। व्यतिरेकेऽपि द्वयी गतिः। गुणाश्रया सङ्घटना, सङ्घटनाश्रया वा गुणा इति। -आनन्दव०, ध्वन्यालोक, ३ पृ०३१०

प्रथम व्याख्यान में गुण और सङ्घटना में अभेद की कल्पना है। शेष दो व्याख्यान दोनों के पार्थक्य की स्वीकृति पर आधृत हैं। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने गुण और सङ्घटना में भेद और अभेद मानने वाले मतों को उक्त तीन पक्षों में उपस्थित कर उनका परीक्षण किया है। उन व्याख्यानों के अनुसार ध्वनि-कार की कारिका के निम्नलिखित तीन अर्थ होंगे—

(१) सङ्घटना अपने से अभिन्न गुण पर आश्रित रहकर रस, भाव आदि की व्यञ्जना करती है।

(२) वह गुण पर आश्रित रहती है अर्थात् उसकी मुखापेक्षिणी रहकर रसादि की व्यञ्जना करती है। गुण पर आश्रित रहने से अभिप्राय गुण के अधीन रहने का या उसके प्रति परतन्त्र रहने का है।

(३) वह गुण का आधार रहती है। इस प्रकार अपने आधेयभूत गुण का अवलम्बन लेकर रस आदि की व्यञ्जना करती है।

प्रथम अर्थ के सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जा सकता है कि गुण को सङ्घटना से अभिन्न मान लेने पर उसका गुण पर आश्रित रहना कैसे माना जा सकता है ? कोई वस्तु अपने से भिन्न वस्तु पर ही आश्रित रह सकती है। आश्रयाश्रयी भाव सम्बन्ध के लिए आश्रय की आश्रयी से पृथक् सत्ता का होना अनिवार्य है। अपने से अभिन्न पर आश्रित रहने—इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए यह कहें कि अपने आप पर आश्रित रहने—की कल्पना क्या असङ्गत नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक की 'लोचन' टीका में दिया है। उनका मन्तव्य है कि कभी-कभी वस्तु के स्वभाव का प्रतिपादन करने के लिए उससे अभिन्न वस्तु में भी भेद की कल्पना कर ली जाती है। इस प्रकार स्वाश्रयत्व का कथन सम्भव होता है। आत्माश्रयत्व के कथन में भेद तात्त्विक नहीं; कल्पित-मात्र होता है। एक उदाहरण से इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। व्यवहार में यह कहा जाता है कि शिंशपा में वृक्षत्व है। इसमें शिंशपा को वृक्षत्व का आश्रय माना गया है। तात्त्विक रूप से शिंशपा और वृक्षत्व में भेद नहीं। शिंशपा वृक्ष विशेष है; अतः वह वृक्षत्व जाति का आश्रय कहा जाता है। जाति और व्यक्ति में मौलिक भेद नहीं। इसलिए मूलतः शिंशपा और वृक्षत्व अभिन्न हैं, फिर भी शिंशपा को वृक्षत्व का आश्रय कहने के समय अभेद में भेद की कल्पना कर ली जाती है। इस दृष्टान्त से अभिनव ने यह निष्कर्ष निकाला है कि जिस प्रकार शिंशपा और वृक्षत्व के अभेद में भेद की कल्पना कर शिंशपा को वृक्षत्व

का आश्रय कहने का व्यवहार सम्भव होता है; उसी प्रकार सङ्घटना और गुण में अभेद मानने वाले व्यक्तियों के द्वारा उसके स्वभाव के प्रतिपादन के लिए अभेद में भेद की कल्पना कर सङ्घटना का गुणाश्रयत्व या आत्माश्रयत्व-कथन भी सम्भव है।[1]

ध्यातव्य है कि गुण और सङ्घटना के तात्त्विक अभेद एवं उसमें कल्पित भेद के प्रतिपादन के लिए अभिनव गुप्त के द्वारा दिये गये उक्त दृष्टान्त में शिंशपा और वृक्षत्व में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। शिंशपा व्याप्य है और वृक्षत्व व्यापक प्रत्येक व्याप्य में व्यापक का सद्भाव अवश्य रहता है। अतः, यह तो कहा जा सकता है कि शिंशपा में सार्वत्रिक रूप से वृक्षत्व है; किन्तु इसके विपरीत यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ-जहाँ वृक्षत्व रहता है वहाँ-वहाँ शिंशपा भी अवश्य रहता है। इस दृष्टान्त के व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध को दृष्टिगत रखते हुए यह मानना होगा कि गुण और सङ्घटना में ऐक्य मानने वाले दोनों में व्यापय-व्यापक सम्वन्ध मानते हैं। किन्तु, आनन्दवर्धन ने गुण-सङ्घटना में अभेद मानने वाले जिस पक्ष को प्रस्तुत किया है, उसकी मान्यता आनन्दवर्धन के अनुसार यह होगी कि जो गुण है वही सङ्घटना है, तथा जो सङ्घटना है वही गुण है। इसलिए गुण और सङ्घटना अभिन्न है। उनके स्वभाव के स्पष्टीकरण के लिए जो भेद कथित होता है, वह मात्र कल्पित है, तात्त्विक नहीं। इस प्रकार के अभेद में भी भेद की कल्पना की जाती है। इसे दूसरे दृष्टान्त से स्पष्ट किया जा सकता है। अद्वैत वेदान्त में आत्मा और परमात्मा में अभेद माना जाता है। उसके अनुसार जीव ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं।[2] माया या अविद्या का आवरण हटते ही जीव ब्रह्म में मिल जाता है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए कबीर ने यह कल्पना की कि नदी की धारा में घड़े को डुबा देने से उसके भीतर और बाहर सर्वत्र पानी-ही-पानी रहता है। घड़े के फूट जाने पर (घड़े का) जल (नदी के) जल में ही मिल जाता है। यही गति जीव और ब्रह्म की है।[3] इस कथन में 'जल का जल में समा जाना' प्रयोग विचारणीय है। कोई वस्तु किसी वस्तु में मिले, इसके लिए दो वस्तुओं की पृथक् सत्ता अपेक्षित होगी।

---

१. स्वभावस्य कल्पनया प्रतिपादनार्थं प्रदर्शितभेदस्य स्वाश्रयवाचोयुक्तिर्दृश्यते शिंशपाश्रयं वृक्षत्वमिति। —अभिनव, लोचन, पृ० ३१०

२. 'जीवो ब्रह्मैव नापरः।'—ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य १ पृ० ८९४

३. फूटा घट जल जलहि समाना यह तत बूझे ज्ञानी ॥ —कबीर, साखी

नदी की धारा में रखे हुए घट के भीतर तथा बाहर स्थित जल में कोई तात्त्विक भेद नहीं; फिर भी घट के भीतर जल का बाहर के जल से मिलने की जो कल्पना की गयी है, वह असङ्गत नहीं कही जा सकती। वस्तु-स्वभाव के स्पष्टीकरण के लिए अभेद में भेद की यह कल्पना आवश्यक हो जाती है। यही बात गुण एवं सङ्घटना में अभेद मानने वाले सिद्धान्त के सम्बन्ध में कही जा सकती है। वे दोनों में तत्त्वतः अभेद मानते हैं; किन्तु उनके स्वभाव के स्पष्टीकरण के लिए कल्पित भेद को अवाञ्छनीय भी नहीं समझते।

गुण पर सङ्घटना को आश्रित मानने वाले मत का भी स्पष्टीकरण अपेक्षित है। जिस प्रकार किसी आधार पर कोई अधेय आश्रित रहता है उस प्रकार सङ्घटना को गुण पर आश्रित नहीं माना जाता; अर्थात् उन दोनों के आश्रय-आश्रयीभाव से अभिप्राय दोनों के आधाराधेय भाव सम्बन्ध से नहीं है। 'सङ्घटना गुणाश्रित रहती है' इस कथन का अभिप्राय यह है कि सङ्घटना गुण के अधीन रहती है, वह परतन्त्र है। अभिनव गुप्त ने एक दृष्टान्त से इस कथन को स्पष्ट किया है। राजपुरुष को जब राजाश्रित कहा जाता है तो उसका अर्थ यह होता है कि वे राजा के मुखापेक्षी हैं, उनके अधीनस्थ हैं। राजकर्मचारी को राजा पर आश्रित कहने से दोनों के बीच जिस सम्बन्ध का बोध होता है वैसे ही सम्बन्ध की कल्पना सङ्घटना को गुणाश्रित मानने वाले व्यक्ति दोनों के बीच करते हैं।[1]

भट्टोद्भट की गुण-रीति-विषयक धारणा के विवेचन में हम देख चुके हैं कि वे गुण को सङ्घटना पर आश्रित मानते थे। आनन्दवर्धन ने गुण को सङ्घटना का धर्म मानकर उसपर आश्रित मानने वाले मत को यहाँ एक पक्ष के रूप में उपस्थित किया है। अभिनवगुप्त ने इसे भट्टोद्भट प्रभृति विद्वानों का ही मत कहा है। इस मत के अनुसार सङ्घटना और गुण में आधाराधेय भाव सम्बन्ध है। सङ्घटना धर्मी है और गुण उसका धर्म। धर्म सदा धर्मी पर आश्रित रहता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि धर्मी और धर्म में आधाराधेय-भाव सम्बन्ध रहता है। धर्मी आधार होता है और धर्म

---

१. अत्र नाधाराधेयभाव आश्रयार्थः नहि गुणेषु सङ्घटना तिष्ठतीति। तेन राजाश्रयः प्रकृतिवर्ग इत्यत्र यथा राजाश्रयौचित्येनामात्यादिप्रकृतय इत्ययमर्थः, एवं गुणेषु परतन्त्रस्वभावा तदायत्ता तन्मुखापेक्षिणी सङ्घटनेत्ययमर्थो लभ्यत इति भावः।—अभिनव, लोचन ३ पृ० ३११

आधेय। सङ्घटना धर्मी है, अतः वह आधार है गुण धर्म है; अतः वह आधेय है। इस प्रकार सङ्घटना पर गुण को आश्रित मानने वाले भट्टोद्भट आदि दोनों में आधाराधेय भाव सम्बन्ध मानते हैं।[1]

उक्त तीन मतों को उपस्थापित कर ध्वन्यालोक में प्रत्येक के औचित्य की परीक्षा की गयी है। गुण तथा सङ्घटना को अभिन्न मानने वाले तथा गुण को सङ्घटना पर आधृत मानने वाले सिद्धान्तों का समीक्षण एक साथ हुआ है। उक्त मतों के विरुद्ध आपत्ति यह है कि उन्हें मान लेने पर गुण को भी सङ्घटना की ही तरह अनियत विषय स्वीकार करना पड़ेगा।[2] यदि गुण सङ्घटना से अभिन्न हैं तो सङ्घटना का योग-क्षेम ही गुणों का भी योग-क्षेम होगा। यदि गुण सङ्घटना के धर्म हैं तो भी धर्मी से अलग उनकी सत्ता नहीं रहेगी। इस प्रकार जहाँ जो सङ्घटना रहे; वहाँ उससे अपृथक् या उसका धर्म-भूत गुण भी अवश्य रहना चाहिए। किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। गुण का विषय नियत है, पर सङ्घटना का विषय अनियत। कौन-सा गुण किन-किन रसों में रहता है, इसका निर्णय आनन्दवर्धन ने कर दिया है; किन्तु विशेष प्रकार की सङ्घटना रसविशेष के साथ रहती है, इसका निर्धारण नहीं किया जा सकता। आनन्दवर्धन के अनुसार माधुर्य गुण सम्भोग शृङ्गार, विप्रलम्भ शृङ्गार एवं करुण रसों में रहता है। इन रसों में क्रमशः माधुर्य का प्रकर्ष पाया जाता है। ओज गुण रौद्र आदि रसों में रहता है। प्रसाद सभी रसों में रहता है। इस प्रकार गुण का रसविषयत्व निर्णीत है। सङ्घटना-विशेष का रस-विशेष के साथ नियत निवास नहीं। उदाहरणार्थ—शृङ्गार रस में साधारणतः असमासा सङ्घटना रहा करती है; किन्तु शृङ्गार के साथ उस सङ्घटना की अनिवार्य स्थिति नहीं मानी जा सकती। दीर्घसमासा सङ्घटना भी शृङ्गार रस की व्यञ्जना कर सकती है। दीर्घसमासा घटना से शृङ्गार की व्यञ्जना के दो उदाहरण दिये गये हैं। एक में नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि इसके अलक मन्दार पुष्प के पराग से धूसर हैं—'मन्दार-कुसुमरेणु

---

१. सङ्घटनाया धर्मा गुणा इति भट्टोद्भटादयः धर्माश्च धर्म्याश्रिता इति प्रसिद्धो मार्गः। —अभिनवगुप्त, लोचन, ३ पृ० ३१०-११

२. यदि गुणाः सङ्घटना चेत्येकं तत्त्वं सङ्घटनाश्रया वा गुणाः तदा सङ्घटनाया इव गुणानामनियतविषयत्वप्रसङ्गः।—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, ३, पृ० ३११ तथा प्रथमपक्षे तादात्म्येन समानयोगक्षेमत्वादितरत्र तु धर्मत्वेनेति भावः। --वही, लोचन पृ० ३११

पिञ्जरितालका।' इस वर्णन में सभी पद एक साथ समस्त हो गये हैं, फिर भी नायिका के रूप का वर्णन होने से शृङ्गार व्यञ्जित होता है। दूसरे उदाहरण में मानिनी के ईर्ष्या-विप्रलम्भ की व्यञ्जना दीर्घसमासा सङ्घटना से दिखायी गयी है।[१] रौद्र आदि रसों के साथ भी किसी विशेष सङ्घटना की अचल स्थिति नहीं पायी जाती। यह ठीक है कि बहुधा रौद्र, वीर आदि दीप्त रसों की व्यञ्जना में दीर्घसमासा सङ्घटना देखी जाती है; किन्तु असमासा सङ्घटना से भी रौद्र आदि रसों की व्यञ्जना के उदाहरण प्राप्त होते हैं।[२] स्पष्ट है कि सङ्घटना अनियत-विषय है, जबकि गुण नियत-विषय। दोनों के अभिन्न होने पर अथवा दोनों में धर्मी-धर्म सम्बन्ध होने पर एक का अनियत-विषयत्व तथा दूसरे का नियत-विषयत्व सम्भव नहीं होता। इस प्रकार यह सिद्ध है कि गुण न तो सङ्घटना-स्वरूप हैं न सङ्घटना पर आश्रित।[३]

यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि गुण सङ्घटना पर आश्रित नहीं रहते तो उनका आश्रय किसे माना जाय; उनका कुछ आधार तो माना ही जाना चाहिए। निराधार आधेय की कल्पना उचित नहीं। आनन्दवर्धन ने काव्य के अङ्गी रस को गुणों का आश्रय माना है। गुण वस्तुतः काव्य की आत्मा रस के धर्म हैं। उपचार से उन्हें शब्द-धर्म भी मान लिया जाता है। अतः, शब्द को भी गुण का आश्रय कहने में आनन्दवर्धन को आपत्ति नहीं। यह शङ्का निर्मूल होगी कि गुण को शब्द पर आश्रित मान लेने पर शब्दाश्रित अनुप्रास, यमक आदि अलङ्कारों से उसका भेद नहीं रह जायगा। समान आश्रय पर रहने वाली सभी वस्तुएँ परस्पर अभिन्न नहीं हो जातीं। दोनों को शब्दाश्रित मानने पर भी गुण और अलङ्कार का स्वभाव-भेद स्पष्ट रहेगा। अनुप्रास आदि अलङ्कार अर्थ-निरपेक्ष होकर केवल शब्द पर आश्रित रहते हैं। उनके स्वरूप के निर्णय में विशेष प्रकार के शब्द-विन्यास पर ही ध्यान दिया जाता है। किन्तु,

---

१. गुणानां हि माधुर्यप्रसादप्रकर्षः करुणविप्रलम्भ शृङ्गार विषय एव। रौद्राद्भुतादि-विषयमोजः। माधुर्यप्रसादौ रसभावतदाभासविषयावेवेति विषयनियमो व्यवस्थितः, सङ्घटनायास्तु स विघटते। तथाहि शृङ्गारेऽपि दीर्घसमासा दृश्यते × × ×× यथा वा—अनवरतनयनजललवनिपतनपरिमुषितपत्त्रलेखं ते।
करतलनिषण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति॥
—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक ३ पृ० ३११-१२

२. तथा रौद्रादिष्वप्यसमासा दृश्यते। यथा—'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादौ। —आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक २३ पृ० ३१३

३. तस्मान्न सङ्घटनास्वरूपाः, न च सङ्घटनाश्रया गुणाः। —वही पृ० ३१२

गुणों का स्वभाव इससे भिन्न है। उनका सम्बन्ध अर्थ की व्यञ्जना से है।[1] अतः, जो गुणों को शब्दाश्रित भी मानना चाहेंगे, उन्हें गुण का लक्षण यह मानना पड़ेगा कि गुण शब्द के ऐसे धर्म हैं जो विशेष प्रकार के व्यङ्ग्य अर्थ को अवभासित करने वाले वाच्य अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ होते हैं। व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का आधार वाच्य अर्थ ही होता है। उस वाच्य अर्थ का साक्षात् सम्बन्ध शब्दों से होता है। अतः गुण को शब्दधर्म मानने वाले का यह सिद्धान्त होगा कि शब्दों की विशिष्ट योजना से जो वाच्य अर्थ उपलब्ध होता है, उसमें व्यङ्ग्यार्थ-बोध कराने की शक्ति रहती है। शब्द-योजना का वह वैशिष्ट्य ही गुण है। इस प्रकार गुण को शब्दगत स्वीकार करने पर भी शब्द-गत अलङ्कारों से उसका भेद स्पष्ट ही रहेगा। आनन्दवर्धन स्वयं गुण को शब्द-धर्म नहीं मानते। वे तो उसे रस-धर्म ही मानते हैं और आत्मस्थ शौर्य आदि को शरीर-धर्म कहने की तरह उसके शब्दार्थ-धर्मत्व की मान्यता को औपचारिक प्रयोग मात्र मानते हैं। उपचार को नहीं समझ सकने वाले अविवेकी ही गुण को शब्द-धर्म मानते हैं। अतः अविवेकी के गुण को शब्दाश्रित मानने वाले सिद्धान्त को ही यहाँ उपस्थित कर उसपर विचार किया गया है।[2] निष्कर्षतः, आनन्दवर्धन की यह स्थापना है कि तात्त्विक रूप से गुण रसाश्रित हैं, उपचार से उन्हें शब्द-धर्म कहा जा सकता है। अविवेकी उन्हें शब्द-धर्म मान लेते हैं; उसमें भी विशेष क्षति नहीं किन्तु उन्हें सङ्घटना का धर्म तो उपचार से भी नहीं माना जा सकता।

यह युक्ति दी जा सकती है कि जब गुण को शब्द पर आश्रित मान लिया गया (उपचार से ही सही) तब उसका सङ्घटनारूपत्व या सङ्घनाश्रयत्व तो स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। असङ्घटित शब्द गुण के आश्रय नहीं बन सकते। सङ्घटना के बिना अलग-अलग शब्द व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराने वाले वाच्य अर्थ का

---

१. ननु यदि सङ्घटनागुणानां नाश्रयस्तत्किमालम्बना एते परिकल्प्यन्ताम्। उच्यते—प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम्।—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥ इति॥

अथवा भवन्तु शब्दाश्रया एव गुणाः, न चैषामनुप्रासादितुल्यत्वम्। यस्मादनुप्रासादयोऽनपेक्षितार्थशब्दधर्मा एव प्रतिपादिताः। गुणास्तु व्यङ्ग्यविशेषावभासिवाच्यप्रतिपादनसमर्थशब्दधर्मा एव। —आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, पृ० ३१२-१३

२. न चायं मम स्थितः पक्षः, अपि तु भवत्वेषामविवेकिनामभिप्रायेणापि शब्दधर्मत्वं शौर्यादीनामिव शरीरधर्मत्वम्। अविवेकी हि औपचारिकत्वविभागं विवेक्तुमसमर्थः तथापि न कश्चिद्दोष इत्येवम्परमेतदुक्तमित्येतदाह।- अभिनव, लोचन, पृ० ३१३।

अभिधान नहीं कर पाते। इस प्रकार, रस पर आश्रित माधुर्य आदि की व्यञ्जना असङ्घटित पद से नहीं होती। माधुर्यादि गुणों की व्यञ्जना शब्द से नहीं, पदों की सङ्घटना से होती है। अतः, मधुर आदि का प्रयोग माधुर्यादि के व्यञ्जक सङ्घटना के लिए ही उचित होगा। फलतः, सङ्घटना को ही माधुर्य आदि गुणों का आधार माना जाना चाहिए। इस प्रकार गुण धर्म होंगे और सङ्घटना धर्मी। इस से दो प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—(क) धर्म और धर्मी में ऐक्य माननेवाले के अनुसार गुण और सङ्घटना में अभेद माना जायगा तथा (ख) धर्म और धर्मी में अनैक्य मानने वाले के मतानुसार सङ्घटना को गुण का आश्रय माना जायगा।

आनन्दवर्धन इस युक्ति को नि.सार मानते हैं। उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि वर्ण एवं पद आदि से भी रस की व्यञ्जना होती है। रस की व्यञ्जना वाक्य से ही हो, यह आवश्यक नहीं। सङ्घटना-रहित शब्द, वर्ण आदि से भी गुण व्यञ्जित होता है।[1] गुण-व्यञ्जना के आधार के रूप में सङ्घटना को स्वीकृति नहीं मिल सकती। यदि यह मान भी लिया जाय कि वाक्य रूप में सङ्घटित पद-समूह या वर्ण-समूह ही रस तथा रसाश्रित माधुर्यादि गुण की व्यञ्जना करते हैं, तो भी सङ्घटना को गुण का आश्रय सिद्ध नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि रस की व्यञ्जना में सङ्घटना की नियत व्यवस्था नहीं है। इसलिए रस-व्यञ्जना में नियत शब्द ही उपचार से गुण के आश्रय माने जा सकते हैं।[2]

यह कहना उचित नहीं होगा कि माधुर्य गुण की व्यञ्जना के लिए तो सङ्घटना नियत नहीं है; पर ओज गुण की व्यञ्जना कभी असमासा सङ्घटना से नहीं होती। अतः, ओज की व्यञ्जना में दीर्घसमासा घटना को नियत आश्रय माना जाना चाहिए। आनन्दवर्धन ने पहले ही असमासा सङ्घटना से रौद्र रस की व्यञ्जना का उदाहरण दिखा दिया है। उस स्थल पर दीर्घसमास से निरपेक्ष

---

१. ननु यदि शब्दाश्रया गुणास्तत्सङ्घटनारूपत्वं तदाश्रयत्वं वा तेषां प्राप्तमेव। न ह्यसङ्घटिताः शब्दा अर्थविशेषप्रतिपाद्यरसाद्याश्रितानां गुणानामवाचकत्वादाश्रया भवन्ति। नैवम्; वर्णपद व्यङ्ग्यत्वस्य रसादीनां प्रतिपादितत्वात्।
—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, ३ पृ० ३१३-१४

२. अभ्युपगते वा वाक्यव्यङ्ग्यत्वे रसादीनां न नियता काचित्सङ्घटना तेषामाश्रयत्वं प्रतिपद्यत इत्यनियतसङ्घटनाः शब्दा एव गुणानां व्यङ्ग्यविशेषानुगता आश्रयाः।
—वही, ३ पृ० ३१५

होकर ओज रौद्र रस में वर्त्तमान है। रौद्र रस तथा ओज गुण में असमासा सङ्घटना भी सहृदय को अरुचिकर नहीं लगती। स्पष्टतः, ओज में भी सङ्घटना अनियत ही रहती है।[1] अतः गुण का व्यञ्जक सङ्घटना को नहीं मानकर शब्द को मानना ही उचित है। निष्कर्ष यह कि गुण और सङ्घटना पृथक्-पृथक् हैं। गुण सङ्घटना पर आश्रित नहीं रहते। इन युक्तियों से आनन्दवर्धन ने गुण को सङ्घटनाश्रित मानने वाले मत का खण्डन किया है।

दूसरा मत गुण को सङ्घटनारूप मानता है। आनन्दवर्धन ने इस सिद्धान्त का भी युक्तियों से खण्डन किया है। न्याय की तार्किक प्रणाली से पूर्वपक्ष गुण और सङ्घटना में तादात्म्य सम्बन्ध की स्थापना करता है। शब्दों से सङ्घटना का अवयवावयवी-भाव सम्बन्ध है। गुण का उससे व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव सम्बन्ध है। अतः, दोनों में शब्द-धर्मत्व है। दोनों समान अधिकरण में रहते हैं। ऐसी स्थिति में दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध दुर्निवार है।[2] इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—रस को व्यञ्जित करने वाली शब्द की शक्ति ही शब्दगत गुण है। शब्द में वह शक्ति उसकी सङ्घटना से ही आती है। अतः गुण सङ्घटना-रूप ही है, उससे पृथक् नहीं। न्याय-सिद्धान्त के प्रसिद्ध प्रतिष्ठाता जगदीश ने जागदीशी में यह स्थापना की है कि समान अधिकरण में रहने वाले प्रकारत्व, विशेष्यत्व आदि विषय के धर्मों में परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध रहता है।[3] अर्थात् एक ही पदार्थ की विशेष्यता तथा प्रकारता मूलतः अभिन्न होती है। गुण और सङ्घटना; दोनों शब्द की वृत्तियाँ है, दोनों का अधिकरण समान है; अतः दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध माना जाना चाहिए। इस प्रकार गुण सङ्घटना से भिन्न नहीं, सङ्घटना-रूप ही हैं। इस मत के अनुसार गुण को नियत-विषय एवं सङ्घटना को अनियत-विषय मानकर दोनों का पार्थक्य-निरूपण उचित नहीं। एक-दो उदाहरण में किसी लक्षण का अपवाद दिखाकर लक्षण को ही गलत

---

१. ओजसः कथमसमासा सङ्घटना नाश्रयः। यतो रौद्रादीन् हि प्रकाशयतः काव्यस्य दीप्तिरोज इति प्राक्प्रतिपादितम्। तच्चौजो यद्यसमासायामपि सङ्घटनायां स्यात्तत् को दोषो भवेत्। न चाचारुत्वं सहृदयहृदयसंवेद्यमस्ति। तस्मादनियतसङ्घटनशब्दाश्रयत्वे गुणानां न काचित्क्षतिः।
—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक पृ० ३१५-१६

२. अथवा सङ्घटनारूपा एव गुणाः।—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक तथा—
वस्तुतस्तु शब्देषु सङ्घटनाया अवयवावयविभावेन, गुणानां च व्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वेन वृत्तित्वमिति तदभेदपक्षो दुरुपपाद एव।—ध्वन्यालोक, दीधिति व्याख्या पृ० २९८

३. जागदीशी

मान लेना यौक्तिक पद्धति नहीं। पतञ्जलि ने महाभाष्य में इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि लक्षण के विपरीत एक लक्ष्य को दिखाकर लक्षण को अशुद्ध प्रमाणित नहीं किया जा सकता।[१] वस्तुतः प्रत्येक लक्षण के कुछ अपवाद लक्ष्य में मिल ही जाते हैं; इससे लक्षण अप्रामाणिक नहीं हो जाते। जहाँ लक्षण से भिन्न-धर्मा कुछ लक्ष्य प्राप्त होते हों वहाँ लक्षण के अनुरूप लक्ष्य को सुधारना ही युक्तिसङ्गत है। इस प्रकार गुण-सङ्घटना में अभेद मानने वाले की यह युक्ति है कि वस्तुतः रौद्र आदि रसों में दीर्घसमासा सङ्घटना तथा शृङ्गार आदि रसों में असमासा सङ्घटना का होना ही नियम है। इस नियम में व्यभिचार दिखाने के लिए रौद्र रस में असमासा तथा शृङ्गार रस में दीर्घसमासा सङ्घटना के जो उदाहरण दिखाये गये हैं वे लक्ष्य ही सदोष हैं। यदि रौद्र रस वाले उदाहरण में दीर्घसमासा सङ्घटना होती और शृङ्गार वाले उदाहरण में दीर्घसमासा के स्थान पर असमासा सङ्घटना होती तो वे पद्य और भी अधिक हृदयावर्जक होते। यह नहीं कहा जा सकता कि उन पद्यों में कोई दोष नहीं है; क्योंकि वे सहृदयों के हृदय का रञ्जन करने में समर्थ हैं। वहाँ रसानुरूप सङ्घटना के नहीं होने का दोष तो है ही, यह दूसरी बात है कि कवि की प्रतिभा से वह दोष दब गया है। कवि की सहज प्रतिभा के प्रकर्ष से कभी-कभी अव्युत्पत्ति-जनित दोष तिरोहित हो जाते हैं। कवि की रचना में दो प्रकार के दोष होते हैं। एक प्रकार के दोष का कारण कवि में प्रतिभा का अभाव होता है। यह दोष काव्य को असुन्दर बनाता है। दूसरे प्रकार के दोष का हेतु कवि में व्युत्पत्ति अर्थात् शिक्षा, अभ्यास आदि का अभाव होता है। यह दोष प्रतिभा-सम्पन्न कवि की रचना में तिरोहित हो जाता है।[२] उसकी सहज प्रतिभा काव्य में जिस मनोहारिता की सृष्टि कर देती है, उससे भाव-विभोर पाठक की दृष्टि अव्युत्पत्ति-जनित दोष पर जा ही नहीं पाती। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सङ्घटना भी नियत-विषय है। इसके व्यभिचार के जो उदाहरण मिलते हैं,

---

१. पतञ्जलि, महाभाष्य, १, १, ३८ पृ० ३३२

२. यत्तूक्तम्—सङ्घटनावद्गुणानामप्यनियतविषयत्वं प्राप्नोति। लक्ष्ये व्यभिचार-दर्शनात् इति। तत्राप्येतदुच्यते—यत्र लक्ष्ये परिकल्पितव्यभिचारस्तद्विरूपमेवास्तु। कथमचारुत्वं तादृशे विषये सहृदयानां नावभातीति चेत्? कविशक्तितिरोहितत्वात्। द्विविधो हि दोषः—कवेरव्युत्पत्तिकृतोऽशक्तिकृतश्च। तत्राव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तितिरस्कृतत्वात्कदाचिन्न लक्ष्यते। यस्त्वशक्तिकृतो दोषः स झटिति प्रतीयते।—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, ३, पृ० ३१६

वे दोषपूर्ण हैं; वे अपवाद हैं। उनके आधार पर सङ्घटना का नियत-विषयत्व खण्डित नहीं होता। अतः, सङ्घटना और गुण को परस्पर भिन्न मानने का कोई कारण नहीं।

गुण और सङ्घटना में अभेद मानने वाले की उक्त युक्तियों का आनन्दवर्धन ने खण्डन किया है। उनकी मान्यता है कि गुण और सङ्घटना में अभेद की स्थापना का आग्रह रखने वाले व्यक्ति को कई प्रकार की दूराकृष्ट एवं असङ्गत कल्पनाएँ करनी पड़ी हैं, जो किसी प्रकार का स्वस्थ निष्कर्ष देने के स्थान पर केवल उलझन ही उत्पन्न करती हैं। उदाहरण के लिए, असमासा सङ्घटना से ओज गुण की व्यञ्जना वाले उदाहरण-श्लोक से जब गुण और सङ्घटना में अभेद मानने वाले सिद्धान्त में व्यभिचार उपस्थित हुआ तो उक्त मत के अनुयायी को यह कल्पना करनी पड़ी कि लक्ष्य-श्लोक ही सदोष है। बात यहीं समाप्त नहीं हुई; जब यह देखा गया कि उक्त लक्ष्य में सहृदय की रसानुभूति में विघ्न उपस्थित करने वाला वस्तुतः कोई दोष नहीं, तो यह दूरारूढ़ कल्पना की गयी कि दोष तो वहाँ अवश्य है; किन्तु कवि की प्रतिभा के बल से वह तिरोहित हो गया है।[१] इस प्रकार अपने पूर्वाग्रहयुक्त मत के पोषण के लिए अदृष्ट दोष के सद्भाव का जो निराधार अनुमान किया गया है वह चिन्तन की शास्त्रीय पद्धति नहीं है। अतः आनन्दवर्धन गुण और सङ्घटना में अभेद मानने वाले मत को समीचीन नहीं मानते।

उक्त विवेचन के आधार पर आनन्दवर्धन के मतानुसार दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को समझा जा सकता है।

(१) गुण रस पर आश्रित रहते हैं, सङ्घटना पर नहीं। उपचार से गुण को शब्द पर आश्रित कहा जा सकता है; पर उन्हें सङ्घटनाश्रित उपचार से भी नहीं कहा जा सकता।

(२) गुण नियत-विषय हैं, पर सङ्घटना अनियत-विषय है। दोनों की पृथक् सत्ता है।

(३) नियत-विषय होने से गुण का नियामक रस है; किन्तु अनियत विषय सङ्घटना का नियामक रस नहीं हो सकता। अतः, वक्तृ वाच्य तथा विषय आदि

१. नन्वस्मिन् पक्षे 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति'—इत्यादौ किमचारुत्वम् ? अप्रतीयमानमेवारोपयामः। तस्माद् गुणव्यतिरिक्तत्वे गुणरूपत्वे च सङ्घटनाया अन्यः कश्चिन्नियम हेतुर्वक्तव्यः इत्युच्यते।—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, पृ० ३१८

के औचित्य को सङ्घटना का नियामक माना गया है। यह औचित्य इतना व्यापक नियामक है कि रस, गुण, सङ्घटना आदि सभी तत्त्वों का नियमन यही करता है।

(४) सङ्घटना गुण पर आश्रित रहती है। गुण-भेद के अनुरूप सङ्घटना-भेद होता है। सङ्घटना गुण को व्यञ्जित करती है और उसके माध्यम से गुण के आश्रयभूत रस को भी व्यञ्जित करती है।

आनन्दवर्धन ने सङ्घटना के नियामक वक्ता आदि के औचित्य पर विस्तार से विचार किया है।[१] उसकी परीक्षा प्रकृत विषय नहीं।

ओज, माधुर्य आदि गुणों को चित्त की दीप्ति आदि वृत्तियों से सम्बद्ध मानने पर भी आनन्दवर्धन ने उनके प्रकाशक शब्दों की तथा दीर्घसमास आदि रचना की चर्चा की है। इस आधार पर डॉ० सुशील कुमार डे ने यह मन्तव्य प्रकट किया है कि आनन्दवर्धन के गुणों के स्वरूप को स्वीकार कर लेने पर प्रायः सङ्घटना की धारणा ही अनावश्यक हो जाती है; क्योंकि समास-वृत्ति गुण-विशेष का विधायक तत्त्व ही है।[२] डॉ० डे के उक्त आक्षेप का आधार सबल नहीं जान पड़ता। यह ठीक है कि दीर्घसमास-रचना को ओज गुण का व्यञ्जक कहा गया है; पर उसे गुण का विधायक नहीं कहा गया है। सङ्घटना को भी गुण तथा रस का व्यञ्जक ही कहा गया है। मेरी मान्यता है कि ओज-व्यञ्जक रचना का एकत्र सङ्केत हो जाने से अपरत्र उसके स्वभाव के सुव्यवस्थित विवेचन की आवश्यकता समाप्त नहीं हो जाती। गुण के सन्दर्भ में उसकी व्यञ्जना करने वाली सङ्घटना का सङ्केत कर गुण और सङ्घटना के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना के क्रम में सङ्घटना के स्वरूप का विशद विश्लेषण किया गया है। उसे अनावश्यक कहकर उसके महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मम्मट

'काव्यप्रकाश' में मम्मट ने अनुप्रास अलङ्कार के सन्दर्भ में तीन वृत्तियों का उल्लेख किया है। वे हैं—उपनागरिका, कोमला और परुषा। मम्मट ने

---

१ द्रष्टव्य—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक पृ० ३१८-२८

२. It is clear that if Guna is accepted as explained by Anandavardhana in relation to Rasa, the Samghatana is, more or less, a superfluous concept, the Samasa-vritti being a constituent of the Guna in their variety.

—Dr. De; Some Problems of Sanskrit Poetics. पृ०६३

इन तीन वृत्तियों को पूर्ववर्ती आचार्यों की क्रमशः वैदर्भी, पाञ्चाली तथा गौडी रीतियों से अभिन्न माना है।[1] लाटी रीति के पर्याय-भूत किसी वृत्ति की स्वतन्त्र कल्पना आवश्यक नहीं मानी गयी। लाटी का वस्तुतः स्वतन्त्र अस्तित्व ही कहीं नहीं माना गया है। उसमें दो रीतियों के स्वरूप का मिश्रण मात्र रहता है। इसीलिए मम्मट ने तीन ही वृत्तियों की कल्पना की और उन्हें वामन की तीन रीतियों का पार्याय माना। वामन की तरह मम्मट वृत्तियों का विधायक तथा विभाजक तत्त्व गुण को नहीं मानते। उनके अनुसार गुण के व्यञ्जक वर्णों से वृत्तियों का निर्माण होता है। वृत्तियों का सम्बन्ध वर्णों से है, जो गुण की व्यञ्जना करते हैं। गुण के सम्बन्ध में वामन आदि आचार्यों से मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों की धारणा भिन्न है। अतः, गुण और रीति या वृत्ति के पारस्परिक सम्बन्ध के विवेचन में दृष्टि-भेद होना स्वाभाविक ही था। वामन के गुण शब्दगत एवं अर्थगत हैं; अतः वे पदसङ्घटना रूप रीति के विधायक या विभाजक हो सकते हैं, पर मम्मट के गुण चित्तवृत्ति से सम्बद्ध हैं; अतः वृत्तियों का उन गुणों के साथ साक्षात् सम्बन्ध न मानकर गुण-व्यञ्जक वर्णों के साथ ही सम्बन्ध माना जा सकता है।

मम्मट ने अपनी वृत्तियों को वामन की रीतियों से अभिन्न कहा है। यहाँ उनकी वृत्तियों एवं वामन की रीतियों के स्वरूप की परीक्षा कर दोनों के सारूप्य-वैरूप्य के सम्बन्ध में किसी निष्कर्ष पर पहुँचना वाञ्छनीय जान पड़ता है। वामन की गुण-रीति-धारणा के विवेचन-क्रम में यह देखा जा चुका है कि उनकी रीति का स्वरूप बड़ा व्यापक है। उनकी वैदर्भी रीति में सभी शब्दगत एवं अर्थगत गुण रहते हैं। उनके कान्ति आदि गुण के स्वरूप में समग्र भाव-सौन्दर्य की कल्पना निहित है। सभी शब्दार्थगत गुणों के स्वभाव पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें भाव-सौन्दर्य एवं उचितचमत्कार के व्यापक स्वरूप की कल्पना की गयी है। इस प्रकार समग्र-गुण-सम्पन्ना वैदर्भी रीति के उदात्त स्वरूप की कल्पना की जा सकती है। गौडी और पाञ्चाली रीतियों में भी अनेक गुणों के सद्भाव से स्वरूपगत व्यापकता रहती ही है। दूसरी ओर मम्मट की वृत्तियों के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका सम्बन्ध केवल वर्णों की योजना से है। यही कारण है कि मम्मट ने अपनी वृत्तियों को शब्दालङ्कार के एक भेद वृत्त्यनुप्रास के ही प्रकार

१. 'केषांचिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः। एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भी-गौडी पाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः।'— मम्मट, काव्यप्र० ९ पृ० २०३

के रूप में प्रस्तुत किया है। वामन की रीतियों के व्यापक स्वरूप को अलङ्कार का भेद नहीं माना जा सकता। वामन की रीतियों एवं मम्मट की वृत्तियों में साम्य केवल यह है कि—

१. दोनों का सम्बन्ध मुख्यतः पदों या वर्णों की घटना से है।

२. वैदर्भी रीति एवं उपनागरिका वृत्ति में मधुरिमा, गौडी रीति एवं परुषा वृत्ति में परुषता तथा पाञ्चाली रीति और कोमला वृत्ति में कोमलता समान रूप में पायी जाती है।

दोनों में उक्त समता के होने पर भी विषमता यह है कि—

१. वामन की रीतियों के स्वरूप-निर्धारण में शब्द के साथ अर्थ पर विचार भी किया गया है। मम्मट की वृत्तियाँ केवल गुण-व्यञ्जक वर्णों पर आधृत हैं।

२. रीतियों में रस, भाव आदि काव्य के व्यापक तत्त्व भी समाहित हैं; किन्तु वृत्तियाँ शब्दगत अलङ्कार के भेद-मात्र हैं। और इसीलिए—

३. वामन की रीतियों को काव्य की आत्मा होने का गौरव प्राप्त हो सका था, जब कि मम्मट की वृत्तियाँ काव्य को अलङ्कृत करने वाले बाह्य उपादान के अङ्ग के रूप में ही स्वीकृति पा सकी हैं।

इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि मम्मट की वृत्तियों को वामन की रीतियों से अभिन्न मानना समीचीन नहीं। दोनों में बाह्य रूप का ही थोड़ा साम्य है। यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि मम्मट ने रीतियों का ही वर्णन वृत्ति नाम से किया है। उनकी दृष्टि में रीति और वृत्ति पर्याय हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक का मन्तव्य यह है कि मम्मट की उपनागरिका आदि वृत्तियों को रीति संज्ञा से तो अभिहित किया जा सकता है; किन्तु उन्हें वामन की रीतियों से अभिन्न धर्मा सिद्ध नहीं किया जा सकता।

मम्मट की उक्त वृत्तियों के स्वरूप का निर्धारण माधुर्य आदि गुणों के व्यञ्जक वर्णों के आधार पर हुआ है। हम देख चुके हैं कि माधुर्य आदि गुणों को रस-धर्म मानने पर भी मम्मट आदि आचार्यों ने गुण के व्यञ्जक वर्णों की कल्पना की है। विशेष प्रकार के वर्ण विशेष गुण की व्यञ्जना करते हैं। अतः, गुण-व्यञ्जक वर्णों से सम्बद्ध वृत्तियों को प्रकारान्तर से गुण से सम्बद्ध माना जा सकता है। वृत्तियाँ तीन हैं, जो तीन प्रकार के गुण-व्यञ्जक वर्णों से सम्बद्ध हैं। माधुर्य गुण के व्यञ्जक वर्णों से युक्त वृत्ति उपनागरिका संज्ञा

से अभिहित होती है ।[1] ओज-प्रकाशक वर्णों से युक्त वृत्ति परुषा तथा प्रसाद गुण-व्यञ्जक वर्णों से युक्त वृत्ति कोमला कही जाती है ।[2] इन गुणों के व्यञ्जक वर्णों पर अन्यत्र विचार किया जा चुका है ।

विश्वनाथ

'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथ ने वृत्ति और रीति पर पृथक्-पृथक् विचार किया है । उन्होंने 'वृत्ति' का प्रयोग नाट्याचार्य भरत की तरह नाट्य-प्रयोग के लिए किया है और उन्हीं की तरह कैशिकी, भारती, सात्वती एवं आरभटी नाम की चार वृत्तियाँ मानी हैं ।[3] उनकी वृत्ति मम्मट की वृत्ति से सर्वथा भिन्न है । मम्मट की वृत्ति के अर्थ में विश्वनाथ ने 'रीति' शब्द का प्रयोग किया है और रुद्रट की तरह रीतियों के चार भेद स्वीकार किये हैं । उनके अनुसार चार रीतियाँ ये हैं—वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली एवं लाटी ।[4] रसवादी आचार्यों में विश्वनाथ ने ही प्रथम बार प्राचीनों की वैदर्भी आदि का उल्लेख रीति नाम से किया है । आनन्दवर्धन ने रीति न कहकर पद की सङ्घटना का प्रायः उसी अर्थ में प्रयोग किया है तथा समास के आधार पर 'असमासा' 'दीर्घ समासा' आदि नाम से उसे अभिहित किया है । मम्मट ने उसी अर्थ में वृत्ति शब्द का प्रयोग कर उपनागरिका, परुषा तथा कोमला भेदों में उसे विभक्त किया है । विश्वनाथ ने रीति शब्द एवं उसके वैदर्भी आदि नाम प्राचीन आचार्यों से ग्रहण किये हैं; किन्तु उनकी रीति-धारणा प्राचीन आचार्यों की रीति-धारणा के समान नहीं होकर आनन्दवर्धन की सङ्घटना-धारणा तथा मम्मट की वृत्ति-धारणा के समान है । रीति के लक्षण में विश्वनाथ ने उसे पद की सङ्घटना कहा है, जो रस आदि का उपकार करती है ।[5] आनन्दवर्धन ने भी रस-व्यञ्जना में ही सङ्घटना की सार्थकता मानी है । वैदर्भी आदि रीतियों के लक्षण में भी आनन्द-वर्धन एवं मम्मट की सङ्घटना तथा वृत्ति की धारणा का ही अनुगमन हुआ है ।

---

१. माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ।—मम्मट, काव्यप्रकाश, ९ पृ० २०२

२. ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा, कोमला परैः ।—वही, ९,८० पृ० २०२

३. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ६ पृ० ३५३

४. ···सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ।
वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा ।।—वही ९ पृ० ५५०

५. पदसङ्घटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनाम् ।।—वही, ९ पृ० ५५०

वैदर्भी में माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों की असमासा या अल्पसमासा रचना रहती है। इसलिए इसे ललित रचना कहा गया है।[१] माधुर्यव्यञ्जक वर्णों की रचना को मम्मट ने उपनागरिका वृत्ति कहा है, जिसे उन्होंने वैदर्भी रीति से अभिन्न माना है। असमासा घटना आनन्दवर्धन की धारणा के अनुरूप है। ओज-व्यञ्जक वर्णों से आडम्बरपूर्ण तथा दीर्घ समास वाली रचना को गौडी रीति कहा गया है।[२] यह परुषा वृत्ति तथा दीर्घसमासा सङ्घटना से भिन्न नहीं। पाञ्चाली रीति में प्रसाद व्यञ्जक वर्णों की घटना स्वीकार की गयी है। इसमें मध्यम समासा सङ्घटना पर बल दिया गया है।[३] इस प्रकार विश्वनाथ की उक्त तीन रीतियों का स्वरूप आनन्दवर्धन की तीन सङ्घटनाओं तथा मम्मट की तीन वृत्तियों के आधार पर ही कल्पित है। लाटी रीति वैदर्भी और पाञ्चाली रीतियों की मध्यवर्तिनी है।[४] उसके स्वरूप का निर्माण उन दोनों के वैशिष्ट्यों के मिश्रण से होता है। उसके स्वरूप की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होने के कारण मम्मट आदि ने उसके समकक्ष किसी वृत्ति की कल्पना नहीं की है। विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन की तरह रीति का नियामक वक्ता आदि के औचित्य को माना है। अतः, वक्ता आदि की प्रकृति के अनुरूप रीतियों का स्वभाव-भेद वाञ्छनीय माना गया है।[५] वस्तुतः, प्रकृति-भेद से रीति-भेद की कल्पना ध्वनिवादी आचार्यों की बहुत बड़ी उपलब्धि है। रीति पर व्यक्तित्व का प्रभाव स्वाभाविक है। रीति या शैली का सम्बन्ध वक्ता के व्यक्तित्व से ही होता है। कुन्तक ने रीति को कवि से सम्बद्ध मानकर इसे विशेष रूप से स्पष्ट किया है; पर आनन्दवर्धन के रीति के नियामक के रूप में औचित्य की कल्पना करने में यह विचार बीज रूप से निहित था। काव्य-रूप के अनुरूप भी रीति-भेद उचित ही है।

गुण और रीति के सम्बन्ध में आचार्यों की मान्यताओं के उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आरम्भ में रीतियों का विभाजन एवं नामकरण देश के आधार पर होने पर भी गुण के साथ उसका अविभाज्य सम्बन्ध रहा है। बाण ने भी

---

१. माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ९ पृ० ५५१

२. ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः।
समासबहुला गौडी·······॥—वही, ९ पृ० ५५१

३. वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः। समस्तपञ्चषपदो बन्ध पाञ्चालिका मता ॥—वही, पृ० ५५२

४. लाटी तु रीतिर्वैदर्भी पाञ्चाल्योरन्तरा स्थिता ॥—वही, पृ० ५५३

५. क्वचिद्वक्त्राद्यौचित्यादन्यथा रचनादयः।—वही, पृ० ५५४

उदीच्य, प्रतीच्य आदि रीतियों से गुण-विशेष का अनिवार्य सम्बन्ध माना था। वामन ने तो इस तथ्य को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया कि रीतियों का स्वरूप-निर्णय वस्तुतः गुण के आधार पर ही होता है, देश के आधार पर नहीं। देश के आधार पर उनकी संज्ञा का रहस्य यह है कि देश-विशेष के कवियों की रुचि गुण-विशेष में रहा करती है। फलतः, उनकी रचनाओं में विशेष प्रकार के गुण का ही प्राधान्य रहा करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विदर्भ देश के कवि अधिकांशत· मधुर प्रकृति के होते थे। अतः, मधुर रीति वैदर्भ काव्य का प्रधान वैशिष्ट्य बन गयी। यह आवश्यक नहीं कि विदर्भ देश की सभी रचनाओं की रीति वैदर्भी ही कही जाय। वैदर्भी कहलाने के लिए रीति का समग्र-गुण-सम्पन्ना होना आवश्यक है। गौड देश के कवियों के स्वभाव के प्रधान वैशिष्ट्य के आधार पर ही आडम्बरपूर्ण शैली को गौडी रीति कहा जाने लगा होगा। रीति के स्वरूप का निर्धारण गुणों के ही भाव-अभाव के आधार पर होता है; किन्तु उसमें देशगत वैशिष्ट्य भी नितान्त उपेक्षणीय नहीं। एफ० एल० लुकस ने कुछ देश की काव्य-शैलियों की कुछ विशेषताओं की ओर निर्देश किया है।[1] पौर्वात्य तथा पाश्चात्य रीति-शास्त्रों में देश के आधार पर रीतियों के नामकरण से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि एक देश की शैली कुछ अंश में दूसरे देश की शैली से भिन्न होती है।[2] कारण यह है कि कवि की रुचि के निर्माण में देश के वातावरण का योग अवश्य रहता है। अतः, एक देश के कवि बहुधा अपनी शैली में समान गुणों की योजना करते हैं। परिणाम-स्वरूप एक देश की शैली दूसरे देश की शैली से कुछ भिन्न प्रकृति की होती है। डॉ० नगेन्द्र की यह मान्यता उचित ही है कि "प्रादेशिक आधार की कल्पना सर्वथा निराधार नहीं है—उसके पीछे व्यावहारिक तर्क है। परन्तु, इस प्रादेशिक आधार को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए—मनुष्य का स्वभाव अथवा व्यक्तित्व प्रादेशिकता में आबद्ध नहीं है, कवि का व्यक्तित्व तो वैसे भी असाधारण, प्रतिभावान और वैशिष्ट्य सम्पन्न होता है, अतएव उसके लिए तो

१. In France it is the writer that takes the trouble; in Germany, the reader; in England it is betwixt and between.—F. L. Lucas, style, Page 67 quoter from verbal authority.

२. यहाँ की वैदर्भी आदि की तरह ही पश्चिम में एटिक, एशियाटिक आदि शैलियों की कल्पना हुई है।—दे० क्विन्टिलियन।

प्रादेशिकता का बन्धन और भी दुर्बल पड़ता है।"[१] प्राच्य एवं प्रतीच्य दोनों शैलियों में गुणों पर विचार हुआ है। शैली में स्पष्टता आदि गुणों को सर्वत्र वाञ्छनीय माना जाता है। इस दृष्टि से दण्डी, वामन आदि का रीति-विवेचन बहुत ही सूक्ष्म एवं व्यापक है। आधुनिक साहित्य में शैली में कवि के व्यक्तित्व की व्यञ्जना को काम्य माना जाता है। कुन्तक ने रीति को कवि के व्यक्तित्व से सम्बद्ध कर उसका विशद विवेचन किया है। निष्कर्ष यह कि भारतीय रीति-शास्त्र के आचार्यों की दृष्टि में काव्यगुण रीति के आवश्यक तत्त्व हैं। वे ही उसके स्वरूप के विधायक हैं। देशगत कुछ वैशिष्ट्य भी कवि की रुचि को प्रभावित कर काव्य-रीति को प्रभावित करते हैं; किन्तु वह प्रभाव सार्वत्रिक नहीं।

रीति के अर्थ में मार्ग, सङ्घटना, वृत्ति आदि का प्रयोग भी होता रहा है। वृत्ति शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है—अर्थवृत्ति तथा शब्दवृत्ति के अर्थ में। अर्थवृत्ति भरत की नाट्यवृत्ति है, जिसके साथ रीति का सम्बन्ध बहुत कम है। मम्मट ने उपनागरिका आदि वर्णवृत्तियों को रीतियों से अभिन्न माना है। उद्भट ने वृत्ति को केवल वर्णगुम्फ माना है, आनन्दवर्धन उसे शब्दव्यवहार मानते हैं; इस अर्थ में वह रीति का पर्याय बन जाती है। हम यह विवेचन कर चुके हैं कि मम्मट आदि की वृत्ति को वामन आदि की रीति से अभिन्न नहीं माना जा सकता। दोनों का स्वरूपगत भेद मम्मट की गुण-रीति-धारणा के विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है। डॉ० नगेन्द्र की यह मान्यता उचित ही जान पड़ती है कि 'वृत्ति शब्द की इस अर्थ में उद्भावना और उसका अन्त तक प्रयोग उसके पृथक् अस्तित्व के प्रमाण हैं। वह वर्णव्यवहार—आधुनिक शब्दावली में वर्ण-संयोजना—रूप है और रीति का एक बाह्य अंग है।[२] आनन्दवर्धन ने रीति के समकक्ष सङ्घटना का उल्लेख किया है; पर उसका स्वरूप भी वामन की रीति के स्वरूप से अभिन्न नहीं। वामन की रीति में जहाँ शब्द के साथ अर्थ के सद्भाव पर भी विचार किया गया है वहाँ आनन्द की सङ्घटना में केवल पदों की घटना या समास आदि पर विचार किया गया है। अतः, उसे रीति का केवल बाह्य अङ्ग ही स्वीकार किया जा सकता है। दण्डी का मार्ग वामन की रीति का ही पर्याय है।

१. डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालङ्कार सूत्र की भूमिका पृ० ४५

२ वही, पृ० ५४

गुण और औचित्य

रुद्रट के पूर्व भारतीय काव्यशास्त्र में किसी आचार्य ने औचित्य का उल्लेख नहीं किया है; किन्तु यह मानने का सबल आधार है कि आरम्भ से ही सभी आचार्य काव्य में उसका महत्त्व समझते थे। काव्यगुणों के स्वरूप-निर्धारण में उसका बहुत बड़ा योग रहता है। औचित्य वह आधार-शिला है, जिस पर गुण का अस्तित्व टिका है। उसके अभाव में गुण की सत्ता सम्भव नहीं। औचित्य का सद्भाव दोष को भी गुण बना देता है और उसके अभाव में गुण भी दोष बन जाते हैं। इसीलिए सभी गुणों और दोषों को वैशेषिक माना गया है। एक अवस्था में जिसे दोष माना जाता है उसे ही अवस्था-विशेष में गुण माना जाता है। भोज ने उन दोष-गुणों को गुण के एक अलग वर्ग में रख कर उन पर विचार किया है। यह कहा जा सकता है कि जो एक अवस्था में अनुचित होने के करण दोष है, वही दूसरी अवस्था में उचित होने के कारण गुण हो जाता है। अपने आप में न कुछ दोष है, न गुण। शूरता गुण अवश्य है; किन्तु उसका प्रदर्शन रणक्षेत्र में ही गुण माना जायगा, असहाय अबला पर उसकी अभिव्यक्ति दोष ही होगी। माघ ने यह दिखाया है कि पुरुष का गुण कहीं पराक्रम होता है और कहीं क्षमा।[१] उदात्तचेता पुरुष के व्यक्तित्व में चञ्चलता दोष मानी जाती है, किन्तु वही युवती के आकर्षण की वृद्धि करती है और उसका गुण मानी जाती है।[२] अतः शौर्य, क्षमा, चञ्चलता आदि का गुण होना औचित्य-सापेक्ष है। रोबर्ट ब्रिज ने भी भारतीय विचारकों की तरह यह माना है कि उचित सन्निवेश होने पर काव्य में कोई तत्त्व दोष होता ही नहीं।[३] निष्कर्ष यह कि काव्य में कोई तत्त्व गुण हो सके, इसके लिए उसमें औचित्य का होना आवश्यक है। औचित्य से सर्वथा निरपेक्ष भाव से गुण पर विचार करना सम्भव ही नहीं। प्रस्तुत परिच्छेद में गुण और औचित्य-विषयक भारतीय धारणा का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जायगा।

क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा में 'उचित' की परिभाषा देते हुए कहा है कि जो जिसके अनुरूप हो वह उसके लिए 'उचित' माना जाता है।[४] उचित

---

१. अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषिताम्।
पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव॥—माघ, शिशुपालवध २, ४४

२. सामान्यसुन्दरीणां विभ्रममावहत्यविनय एव।
धूम एव प्रज्वलितानां मधुरो भवति सुरभिदारूणाम्॥
—प्राकृत गाथा की संस्कृत छाया

3. But in Aesthetic no property is absurd if it is in keeping.
R. Bridge, Poetic Diction.

४. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं खलु यस्य यत्। —क्षेमेन्द्र, औचित्यविचारचर्चा, श्लोक सं० ७

का भाव ही औचित्य है । अतः स्वभाव के अनुरूप होने का भाव ही औचित्य है । इस प्रकार गुण के सम्बन्ध में आचार्यों की धारणा मूलतः यह होगी कि जो धर्म वस्तु-प्रकृति के अनुरूप होने पर गुण माना जाता है, वही उसके प्रतिरूप होने पर दोष हो जाता है । इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि जो एकत्र वस्तु-स्वभाव के प्रतिकूल होने के कारण दोष माना जाता है, वही अन्यत्र उसके अनुकूल होने के कारण गुण बन जाता है ।

भरत के प्रवृत्ति-विचार में औचित्य के आधार पर गुणत्व एवं दोषत्व के निर्णय का सङ्केत प्राप्त होता है । उन्होंने प्रवृत्ति की धारणा में वेष-भूषा, भाषा-प्रयोग आदि के प्रादेशिक तथा जातीय वैशिष्ट्य का उल्लेख किया है। उन्होंने रस, भाव आदि के अनुरूप वेष-विन्यास पर बल दिया है । इसके अतिरिक्त देश-विशेष के अनुरूप भाषा-प्रयोग को भी वाञ्छनीय माना गया है। नाटक में किसी देश एवं काल के वातावरण को ठीक-ठीक प्रस्तुत कर देने के लिए यह आवश्यक है कि तत्कालीन एवं तद्देशीय, व्यवहार, भाषा-प्रयोग, वेष-भूषा आदि का मञ्च पर अवतरण हो । देश काल, पात्र आदि की प्रकृति के अनुरूप वेष-भूषा आदि की योजना ही शोभाकारक है; उसके प्रतिकूल होने पर सुन्दर वेष भी हास्यास्पद हो जाता है ।[१] आधुनिक काल में प्रादेशिक तथा जातीय संस्कार को यथारूप प्रस्तुत करने के लिए भाषा की देशगत विशेषता को काव्य में प्रश्रय दिया जाता है । व्यक्ति के अपने संस्कार के अनुरूप भाषा-प्रयोग को वाञ्छनीय माना जाता है । यदि किसी अशिक्षित पात्र का चरित्र प्रस्तुत करना हो तो उसके मुख से भाषा का अशुद्ध प्रयोग ही गुण माना जाता है । व्याकरण के नियम से रहित शब्दप्रयोग का च्युतसंस्कृतित्व दोष भी ग्राह्य बन जाता है । भारतीय नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने इसीलिए अनुकरण में दोषों को भी गुण ही माना है । इस विषय पर रुद्रट की धारणा के विवेचन में विस्तार से विचार किया जायगा । अँगरेजी के साहित्यकारों ने कथा-साहित्य में भी जाति तथा व्यक्ति की प्रकृति के अनुरूप भाषा-प्रयोग को काम्य माना है । वस्तुतः नाटक और कथा के पात्रों में तात्त्विक भेद नहीं; अतः नाटक की तरह कथा में भी प्रकृत्यनुरूप भाषा के प्रयोग को ही गुण माना जाना चाहिए। हार्डी आदि के उपन्यास के पात्रों की भाषा में देशगत वैशिष्ट्य तो रहता ही है, मूर्ख पात्रों के मुख से अशुद्ध उच्चारण कराने का कथाकार का आयास भी

१. अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति ।
मेखलोरसिबन्धे च हास्यायैवोपजायते ॥— भरत, ना० शा० २३, ६९

स्पष्ट रहता है। स्पिगार्न की यह मान्यता उचित ही है कि आधुनिक विचारकों की रुचि भाषा के सुन्दर प्रयोग में नहीं रहती। किसी प्रयोग को उसके सन्दर्भ के अनुकूल होने पर ही सुन्दर कहा जा सकता है तथा प्रतिकूल होने पर असुन्दर। कोई भी शब्द कला की दृष्टि से अपने आप में सदोष नहीं। मूर्ख पात्र के मुख से अशुद्ध शब्द का प्रयोग भी सुन्दर माना जाता है।[१] हिन्दी के अधुनातन कथा साहित्य में भी पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग होता है। पात्र के देशगत एवं व्यक्तिगत संस्कार के अनुरूप शब्दों का विकृत प्रयोग भी होता है। उसे कथमपि दोष नहीं माना जा सकता।

माघ

माघ कवि के 'शिशुपालवध' में रसानुरूप गुण-योजना पर बल दिया गया है। उनकी मान्यता है कि योग्य राजा में न तो केवल तेज रहता है और न ऐकान्तिक रूप से क्षमा ही। रस भाव आदि के मर्मज्ञ कवि की रचना में भी ओज या प्रसाद ऐकान्तिक भाव से नहीं रहता। रौद्र, वीर आदि दीप्त रसों में ओज गुण की योजना उचित होती है। उन रसों की दीप्ति के अनुरूप होने से ओज गुण का उन रसों के साथ रहना उचित है। चित्त की द्रुति की अवस्था में प्रसाद गुण अनुरूप होने से उचित होता है; अतः वही शोभाधायक माना जाता है। स्पष्ट है कि ओज, प्रसाद आदि अपने-आप में शोभाधायक नहीं। उनकी रसानुरूप या उचित योजना ही काव्य में शोभा का आधान करती है। रसानुरूप गुण-योजना को गुणौचित्य कहा जाता है।

भामह

भामह की दोष-धारणा के सन्दर्भ में गुण और औचित्य के पारस्परिक सम्बन्ध का सङ्केत मिलता है। उन्होंने दोषों को अनित्य माना है। स्थिति-विशेष में

१. It is inconceivable that a modern thinker should still adhere to the abstract tests of good expression, when it is obvious that we can only tell whether it is good or bad when we see it in its natural context. Is any word artistically bad in itself? Is not "ain't" an excellent expression when placed in the mouth of an illiterate character in a play or story?—Spingarn, Seven Arts and the Seven confusions.

२ तेजः क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपतेः।
नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः॥—माघ, शिशुपाल-वध, २,८३

दोष भी गुण बन जाते हैं। दोष-वर्णन के उपरान्त भामह ने कहा है कि ये दोप कभी-कभी काव्य में शोभाधायक बन जाते हैं। कहीं सन्निवेश के वैशिष्ट्य के कारण तथा कहीं आश्रय के सौन्दर्य के कारण दोष शोभाकर धर्म बन जाते हैं। मानसिक अवस्था के अनुरूप होने से भी सामान्य दशा के दोष गुण बन जाते हैं। उक्त कथन में भामह का यह अभिमत स्पष्ट है कि औचित्य ही गुणत्व का निर्णायक है। पुनरुक्ति सामान्य स्थिति में दोष है, किन्तु भय, शोक, ईर्ष्या, हर्ष विस्मय आदि मानसिक अवस्थाओं में वह स्वाभाविक है। अतः, उन भावों के अनुरूप होने के कारण द्विरुक्ति को भी दोष नहीं माना जाता।[1]

काव्य-दोषों का कारण अनौचित्य ही है। देश-विरोध, काल-विरोध, कला-विरोध आदि दोप देश, काल, कला आदि की प्रकृति की प्रतिकूलता या अनौचित्य के ही परिणाम हैं। इस प्रकार भामह ने अनौचित्य को दोषत्व का तथा औचित्य को गुणत्व का हेतु स्वीकार किया है।

दण्डी

दण्डी की दोष-विषयक मान्यता भामह की उक्त मान्यता के समान ही है। अपार्थ दोष के विवेचन के उपरान्त दण्डी ने यह मन्तव्य प्रकट किया है कि यह समुदाय-अर्थ से शून्य अपार्थ दोप उन्मत्त, मत्त एवं बच्चों की उक्ति में दोप नहीं माना जाता।[2] पागल की बात में पौर्वापर्य-क्रम नही रहा करता। एक वाक्य का दूसरे वाक्य के साथ सम्बन्ध नहीं होने के कारण सभी वाक्यों का सम्मिलित अर्थ उसके कथन में नहीं मिल पाता। बच्चों का भी परस्पर असम्बद्ध वाक्य बोलना स्वाभाविक ही है। उक्ति का समुदाय-अर्थ से रहित होना उनके स्वभाव के अनुकूल है। अतः, औचित्य के कारण अपार्थ दोप नहीं रह जाता। इस प्रकार दण्डी ने मनोदशा के अनुकूल कथन को ही गुण माना है। विरुद्धार्थ दोष भी सार्वत्रिक दोष नहीं है। दण्डी ने अभिषङ्ग की मनोदशा में विरुद्धार्थ-कथन को भी अनिन्दित माना है।[3] देश, काल, कला आदि के विरोध रूप दोप को लक्ष्य कर दण्डी ने यह कहा है कि ये सभी विरोध कवि के कौशल से गुण बन

---

१ भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तत् विदुः॥—भामह, काव्यालं० ४,१४

२. समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थमितीष्यते।
उन्मत्त-मत्त बालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति॥—दण्डी, काव्यादर्श, ३,१२८

३. अस्ति काचिदवस्था सा साभिषङ्गस्य चेतसः।
यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थापि भारती॥—वही, ३, १३३

जाते हैं।[1] कवि कौशल से देश, काल आदि के विरोध का भी जहाँ इस प्रकार वर्णन करता है कि वे उचित लगने लगें, वहाँ वे दोष नहीं गुण हो जाते हैं; अतः यह सिद्ध है कि औचित्य के कारण दोषों का गुणत्व दण्डी को मान्य था।

रुद्रट

सर्वप्रथम रुद्रट ने ही अपने काव्यालङ्कार में 'औचित्य' शब्द का उल्लेख एवं काव्य में उसके महत्त्व का निरूपण किया। उन्होंने दोष-वर्णन के प्रसङ्ग में औचित्य के कारण दोषों का गुणत्व प्रतिपादित किया है। ग्राम्य दोष-वर्णन के क्रम में विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों के सम्बोधन का औचित्य दिखाया गया है। उसी दोष के असभ्य भेद के सम्बन्ध में यह मन्तव्य प्रकट किया गया है कि जो पद सामान्यतः अनुचित समझे जाते हैं वे भी स्थिति-विशेष में उचित बन जाते हैं।[2] अनौचित्य से मुक्त होने पर वे पद दोष नहीं रहकर गुण बन जाते हैं। सभ्य समाज में भी कुछ स्थितियों में अनुचित पदों के प्रयोग को स्वीकृति मिली हुई है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। रहीम के 'सब को मन हर्षित करै, जौं विवाह में गारि' इस कथन में व्यावहारिक तथ्य है। जब विवाह आदि के अवसर पर गाली तक के प्रयोग को सामाजिक स्वीकृति मिल सकती है तो निश्चय ही उस अवसर के चित्रण के स्थल में काव्य में अश्लील पदों के प्रयोग को दोष नहीं माना जायगा। रुद्रट ने यह माना है कि अनुकरण में सभी दोष गुण बन जाते हैं।[3] इसका स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार नमिसाधु ने कहा है कि जहाँ ऐसे पात्र का अनुकरण होता है, जो शब्दों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाता हो, वहाँ अशुद्ध उच्चारण ही गुण बन जाता है। ऐसे स्थल पर पात्र की प्रकृति की अनुरूपता उच्चारण को गुण बना देती है। मूर्ख पात्र के अनुकरण में जब कवि अशुद्ध पदों का प्रयोग करता है तो उसका वर्णन अधिक स्वाभाविक हो पाता है और वह अपने कवि-कर्म में अधिक सफल माना जाता

---

१. विरोधस्सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुण-वीथीं विगाहते॥ – दण्डी काव्यादर्श, ३, १७९

२. पदमिदमनुचितमपरं सभ्यासभ्यार्थवाचि सभ्येऽर्थे।
तद्धि प्रयुज्यमानं निदधाति मनस्यसभ्यमपि॥ और—
अर्थविशेषवशाद्वा सभ्येऽपि तथा क्वचिद्विभवतेर्वा।
अनुचितभावं मुञ्चति तथाविधं तत्पदं सदपि॥—रुद्रट, काव्यालं० ६, २१-२२

३. अनुकरणभावमविकलमसमर्थादि स्वरूपतो गच्छन्।
न भवति दुष्टमतादृक् विपरीतक्लिष्टवर्णं च॥— वही ६, ४७

है। भाषा के पात्रोचित नहीं होने से काव्य में स्वाभाविकता नहीं आ पाती और परिणामतः, कवि का श्रम ही व्यर्थ हो जाता है। परिमार्जित भाषा अशिक्षित पात्रों के संस्कार को व्यञ्जित कर सकने में अक्षम सिद्ध होती है। अनुकरण में सदोष शब्दों के प्रयोग के गुण बन जाने का एक उदाहरण दिया गया है। विकटनितम्बा नाम की कवयित्री का विवाह एक मूर्ख व्यक्ति के साथ हो गया था, जो शब्दों का शुद्ध-शुद्ध उच्चारण भी नहीं कर पाता था। उसके अशुद्ध शब्दोच्चारण का अनुकरण करती हुई विकटनितम्बा की सखियाँ कहती हैं कि जो काल-बोधक 'मास' शब्द को 'माष' कहता है और अनाज के वाचक 'माष' का उच्चारण 'मास' करता है, जो 'सकाश' को 'शकाश' कहता है वैसे मूर्ख को विकटनितम्बा सौंप दी गयी है।[1] इस कथन में जिन अशुद्ध शब्द-रूपों का उल्लेख हुआ है, वे अनुकरण-परक होने के कारण अदुष्ट हैं। अर्थगत दोषों का वर्णन कर रुद्रट ने उनका भी स्थिति-विशेष में गुणत्व दिखाया है। जहाँ किसी पर व्यङ्ग्य करना हो, वहाँ हीनोपम तथा अधिकोपम दोष गुण बन जाते हैं।[2] दण्डी की तरह रुद्रट ने भी निष्कर्ष रूप में यह कहा है कि पुनरुक्त आदि सभी दोष स्थिति-विशेष में गुण बन जाते हैं।[3]

राजशेखर

राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में यह धारणा प्रकट की है कि सभी गुण और दोष अनित्य हैं। गुण भी अनौचित्य के कारण दोष बन सकते हैं और औचित्य दोष को भी गुण बना सकता है। अतः, गुण-दोष का निर्णायक औचित्य ही है। व्युत्क्रम दोष के सम्बन्ध में उन्होंने यह मन्तव्य प्रकट किया है कि प्रतिभावान् कवि की रचना में यह दोष नहीं रह जाता।[4] वे यह स्वीकार

---

१. अनुचिकीर्षया प्रयुक्तमथ च प्रतिपादनायासमर्थं तदविकलग्रहणेन दुष्टमिति दर्श्यते। तथा तादृशा भिन्नस्वरूपत्वादसदृशा विपरीता दुष्टक्रमाः क्लिष्टा लुप्ता वर्णा यस्य तत्तथाविधम्। तदपि पदं न दोषाय यथा विकटनितम्बायाः पतिमनुकुर्वाणा सखी प्राह—काले माषं सस्ये मासं वदति शकाशं यश्च सकाशम्। उष्ट्रे लुम्पति रं वा षं वा तस्मै दत्ता विकटनितम्बा। इत्यादि॥—वही नमिसाधु कृत टीका पृ० ७३

२. द्रष्टव्य—रुद्रट काव्यालं० ११, २४ तथा उस पर नमिसाधु की टीका।

३. वही, ११, १८-२३

४. न च व्युत्क्रमदोषोऽस्ति कवेरर्थपथस्पृशः।
तथा कथा कापि भवेद् व्युत्क्रमो भूषणं यथा॥
—राजशेखर, काव्यमीमांसा, १८ पृ० ११२

करते हैं कि सावधान कवि की रचना में सभी दोष गुण बन जाते हैं और जो कवि अविवेकी होते हैं उनकी कृति में भूषण भी दूषण बन जाते हैं।[१] इस कथन में राजशेखर का यह अभिमत स्पष्ट है कि सावधान कवि शब्द-अर्थ की उचित योजना करते हैं। अतः, औचित्य उनके दूषण को भी भूषण बना देता है। इसके विपरीत अतत्त्वदर्शी कवि की कृति में अनौचित्य के सद्भाव से गुण भी दोष बन जाते हैं।

भोज

भोज की गुण-धारणा के विवेचन में हम देख चुके हैं कि उन्होंने वैशेषिक गुण का एक नया वर्ग ही कल्पित किया है। भामह, दण्डी आदि ने औचित्य के कारण दोषों के गुणत्व का जहाँ सङ्केत-मात्र दिया था, वहाँ भोज ने उसपर सुव्यवस्थित रूप में विचार किया है। भोज गुण के स्वरूप-निर्धारण में औचित्य के महत्त्व को समझते थे। प्रबन्ध-गुणों की विवेचना करते हुए उन्होंने औचित्य का प्रकारान्तर से उल्लेख किया है। 'रसानुरूपसन्दर्भत्व' प्रबन्ध गुण में रस के अनुरूप या उचित सन्दर्भ की योजना को वाञ्छनीय बताया गया है। माघ ने रस के अनुरूप ही ओज तथा प्रसाद गुण की योजना पर बल दिया है। भोज की 'रसानुरूपसन्दर्भत्व' प्रबन्ध गुण-धारणा माघ की उक्त मान्यता से मिलती-जुलती है। उन्होंने अपनी मान्यता को स्पष्ट करते हुए उसके समर्थन के लिए माघ की तद्विषयक मान्यता की ओर भी निर्देश किया है। उनके अनुसार शृङ्गार रस के वर्णन में कोमल, वीर रस में प्रौढ, रौद्र में कठोर, करुण में मृदु तथा अद्भुत में स्फुट पदों की रचना होनी चाहिए।[२] 'पात्रानुरूपभाषत्व' गुण में भोज ने पात्रोचित भाषा-प्रयोग को काम्य माना है। यह गुण सम्पूर्ण प्रबन्ध का शब्दार्थयुगलगत गुण माना गया है। पात्रोचित भाषा काव्य को स्वाभाविक बनाकर उसके प्रभाव को बढ़ा देती है; अतः, वह सम्पूर्ण प्रबन्ध का गुण है। पात्रोचित भाषा का प्रयोग अर्थ की व्यञ्जना में भी सहायक होता है। अतः वह गुण शब्दगत भी है तथा अर्थगत भी। 'अर्थानुरूपछन्दस्त्व' गुण में रसोचित

---

१. अनुसन्धानशून्यस्य भूषणं दूषणायते।
सावधानस्य च कवेः दूषणं भूषणायते॥ —राजशे० काव्यमी० १८ पृ० ११२

२. रसानुरूपसन्दर्भत्वमित्यनेन रतिप्रकर्षे कोमलः, उत्साहप्रकर्षे प्रौढः, क्रोधप्रकर्षे कठोरः, शोकप्रकर्षे मृदुः, विस्मयप्रकर्षे तु स्फुट शब्दसन्दर्भो विरचनीय इति उपदिशन् 'नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः इति ख्यापयति।
—भोज, शृङ्गार प्रकाश, डॉ० राघवन द्वारा 'Some concepts of Alankara Sastra में उद्धृत, द्रष्टव्य पृ० २००

छन्द-योजना पर विचार हुआ है। भोज के अनुसार शृङ्गार रस में द्रुतविलम्बित आदि, वीर रस में वसन्ततिलका आदि, करुण में वैतालीय आदि, रौद्र में स्रग्धरा आदि तथा सभी रसों में शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दों का निबन्धन होना चाहिए।[1] विभिन्न मानसिक भावों के सदृश छन्दों के प्रयोग को भोज ने गुण कहा है। यहाँ भी गुण के आधार के रूप में औचित्य की कल्पना स्पष्ट है। विशेष छन्द की गति, उसका लय विशेष मानसिक भाव के अनुकूल हुआ करता है। विभिन्न भावों की अनुभूति-दशा में चित्त की वृत्तियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की रहा करती हैं—कहीं वे दीप्त होती हैं, कहीं आर्द्र। दीप्त मनोदशा में छन्द का उद्दाम वेग अनुकूल होता है, करुण आदि की अनुभूति के समय छन्द की मन्द गति ही चित्त की आर्द्र अवस्था के अनुकूल होती है। सङ्गीत-शास्त्र में समयानुसार जो राग-रागिणी के गायन की व्यवस्था हुई है, उसके पीछे भी यही मनोवैज्ञानिक तथ्य है। प्रभातकाल में अलस मनोदशा के अनुरूप प्रभाती का लय मन्द गति से प्रवाहित होता है। इसी प्रकार मध्याह्न, अपराह्ण आदि समयों की स्वाभाविक मनोदशाओं के अनुरूप राग की व्यवस्था की गयी है। भावानुरूप छन्द-योजना की व्यवस्था भी छन्द-योजना के औचित्य की धारणा पर ही आधृत है।

सरस्वतीकण्ठाभरण के दोष प्रकरण में इतस्ततः भोज ने औचित्य पर विचार प्रकट किया है। लोक-विरोध, काल-विरोध आदि दोष की कल्पना का आधार औचित्य-सिद्धान्त ही है। ये दोष वस्तु, अर्थ आदि के अनौचित्य हैं। शब्दगत भाविक गुण के विवेचन-क्रम में भोज ने अर्थकल्पन के अनौचित्य पर विचार किया है।[2] दोष-गुण या वैशेषिक गुण का आधार औचित्य ही है। औचित्य के कारण ही दोष गुण में बदल जाते हैं। वैशेषिक गुण के विवेचन में यह दिखाया गया है कि विशेष स्थिति के कारण, विशेष सन्दर्भ के कारण तथा औचित्य के कारण सभी दोषों का परिहार हो जाता है और वे गुण भी बन जाते हैं। निष्कर्षतः, भोज गुण की सत्ता औचित्य-सापेक्ष मानते हैं।

कुन्तक

कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में औचित्य का उल्लेख एक गुण के रूप में किया है; किन्तु उसका महत्त्व अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक माना गया है। साहित्य

---

१. अर्थानुरूपछन्दस्त्वमित्यनेन शृङ्गारे द्रुतविलम्बितादयः, वीरे वसन्ततिलकादयः, करुणे वैतालीयादयः, रौद्रे स्रग्धरादयः, सर्वत्र शार्दूलविक्रीडितादयः निबन्धनीया इत्युपदिशति।—भोज, शृङ्गार प्रकाश, पृ० २३४ उद्धृत, Some conecsts of Alankara Sastra, पृ० २००

२. भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ६७

के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कुन्तक ने औचित्य और सौभाग्य; इन दो गुणों को साधारण या सर्वमार्गगत कहा है।[१] उनकी मान्यता है कि वाक्य के किसी अंश में भी औचित्य का अभाव होने से सहृदय के आनन्द में विघ्न उत्पन्न हो जाता है। स्पष्ट है कि कुन्तक काव्य-सौन्दर्य या वक्रता का आवश्यक धर्म औचित्य को मानते हैं। उनकी यह मन्यता और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है, जब वे यह कहते हैं कि औचित्य ही वक्रता का मूल-भूत तत्त्व है।[२] कुन्तक वक्रता या वक्र-उक्ति को काव्य की आत्मा मानते हैं और औचित्य को उस वक्रता का भी सार। इससे उनके मतानुसार काव्य में औचित्य गुण का स्थान सर्वोपरि सिद्ध होता है। भारतीय काव्यशास्त्र में केवल कुन्तक ने ही औचित्य को गुण माना है। हम यह देख चुके हैं कि प्रायः सभी आचार्यों ने किसी-न-किसी रूप में औचित्य को गुण का विधायक धर्म स्वीकार किया है; किन्तु किसी ने उसे गुण का भेद नहीं माना। कुन्तक ने औचित्य का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है, उसे दृष्टिगत रखते हुए गुण के एक भेद के रूप में उसे स्वीकृत करना युक्तिसङ्गत नहीं जान पड़ता। अन्य आचार्यों की तरह उन्होंने भी यथानुरूप कथन को औचित्य कहा है।[३] उचित आख्यान-रूप औचित्य अभिव्यक्ति की शक्ति को समृद्ध करता है तथा वर्ण्य भाव के प्रभाव की अभिवृद्धि करता है। अपने काव्य-लक्षण में शब्दार्थ साहित्य के लिए शब्द और अर्थ का उचित निबन्धन कुन्तक ने काम्य माना है। इस प्रकार संक्षेप में कुन्तक की धारणा यह है कि औचित्य उचित कथन है, वह काव्यात्मभूत वक्रता का प्रयोजक है तथा वही काव्य के मूलाधार-स्वरूप 'साहित्य' का आधार है। वह सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम; इन तीनों मार्गों का सामान्य गुण है। औचित्य गुण के स्वरूप का विवेचन कुन्तक की गुण-धारण के अध्ययन के प्रसङ्ग में किया जा चुका है। वक्रोक्तिजीवित में वृत्त्यौचित्य के वर्णन-प्रसङ्ग में कैशिकी आदि वृत्तियों के औचित्य पर विचार किया गया है। कुन्तक की

---

१ एतत्त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते॥
—कुन्तक, वक्रोक्तिजीवितः १, ५७ पृ० १६२

२. एतदानुगुण्येनैव विभूषणविन्यासो विच्छित्तिमावहति।
—वही, वृत्ति पृ० १५७

३. आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम्॥—वही, १, ५३ पृ० १५६

वर्णवक्रता, जिसमें रीति, सङ्घटना, गुण या वर्ण के औचित्य पर बल दिया गया है, आनन्दवर्धन की वर्ण-सङ्घटना ध्वनि से अभिन्न है। इसमें कुन्तक ने प्रसङ्गानुकूल वर्णों की योजना को वाञ्छनीय माना है। वर्ण्य-वस्तु के अनुरूप वर्ण ही शोभाशाली होते हैं। परुष रस के अनुरूप कठोर वर्ण ही सुन्दर माने जाते हैं।[1] आनन्दवर्धन ने भी दीप्त रसों में कठोर वर्णों की योजना को ही व्यञ्जक माना है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुन्तक काव्य-सौन्दर्य के सभी रूपों में औचित्य की अनिवार्य स्थिति मानते हैं। उनके अनुसार औचित्य के अभाव में वाक्य में वक्रता का अस्तित्व ही सम्भव नहीं होगा और वक्रता के अभाव में कोई वाक्य काव्य-पद का अधिकारी नहीं हो सकता। रीति, वृत्ति, गुण आदि काव्य-शोभा के सभी तत्त्व औचित्य की आधार-शिला पर ही स्थित हैं। मेरी सम्मति में औचित्य के इतने व्यापक स्वरूप की कल्पना कर लेने पर, उसे गुण का एक भेद-मात्र न मान कर गुण का व्यावर्तक मानना ही अधिक समीचीन होता।

क्षेमेन्द्र

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का मूल-भूत तत्त्व माना है। अपनी औचित्य-विचार-चर्चा में उन्होंने यह धारणा प्रकट की है कि औचित्य ही रस-सिद्ध काव्य का प्राण है। उनके अनुसार जिस काव्य में औचित्य रूपी आत्मा नहीं हो, उसमें अलङ्कार और गुण व्यर्थ हो जाते हैं। शरीर में आत्मा के रहने पर ही अलङ्कार, गुण आदि की उपयोगिता होती है। काव्य के अलङ्कार एवं गुण भी मनुष्य के आभूषण तथा गुण आदि के ही समान हैं। जिस प्रकार मनुष्य के निर्जीव शरीर पर अलङ्कार शोभा नहीं पाता और न गुण का ही सद्भाव सम्भव होता है, ठीक उसी प्रकार औचित्य के अभाव में काव्य के अलङ्कार और गुण निष्प्रयोजन सिद्ध होते हैं। अलङ्कार तथा गुण की शोभा काव्य में उनके उचित विनिवेश में ही है। औचित्य-पूर्ण गुण ही सच्चे अर्थ में गुण हैं।[2]

---

१. वर्गान्तयोगिनः स्पर्शा द्विरुक्तास्तलनादयः।
शिष्टाश्च रादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः॥
—कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित, २, २, पृ० १७३

२. काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते॥

क्षेमेन्द्र ने गुण, अलङ्कार तथा औचित्य आदि के पारस्परिक सम्बन्ध के विवेचन-क्रम में भरत की प्रवृत्ति-धारणा की ओर निर्देश किया है, जिसमें औचित्य का विचार बीज-रूप में निहित था। उन्होंने नाट्यशास्त्र का एक श्लोक भी उद्धृत किया है, जिसमें यह धारणा प्रकट की गयी है कि देश के अनुरूप वेष-भूषा के नहीं होने से अनुकरण हास्यास्पद हो जाता है। उसे स्पष्ट करते हुए क्षेमेन्द्र ने यह दिखाया है कि अलङ्कार और गुण औचित्य के अभाव में किस प्रकार अशोभन हो जाते हैं। अपने मत को व्यक्त करने के लिए उन्होंने लौकिक दृष्टान्तों का सहारा लिया है। काञ्ची, हार, नूपुर और केयूर आदि अलङ्कार क्रमशः कटि, कण्ठ, चरण और पाणि की ही शोभा-वृद्धि कर सकते हैं। यदि उनका उक्त स्थानों में उचित विनिवेश न होकर कण्ठ में काञ्ची धारण कर ली जाय, हार को कटि में पहन लिया जाय तो अलङ्कार धारण करने वाला लोगों के हास्य का ही आलम्बन बनेगा। गुण के सम्बन्ध में भी यही बात है। शूरता, करुणा आदि गुण भी उचित स्थान में ही गुण होते हैं। शत्रु के समक्ष शौर्य-प्रदर्शन व्यक्तित्व के महत्त्व का परिचायक होता है। उसी तरह प्रणत व्यक्ति के प्रति करुणा व्यक्तित्व की गरिमा को बढ़ाती है; किन्तु इसके विपरीत जो प्रणत जनों के ऊपर शूरता प्रदर्शित करे तथा शत्रु के ऊपर करुणा करे वह व्यक्ति व्यक्तित्व की सारी आभा खो बैठता है।[१] काव्य के अलङ्कारों एवं गुणों की भी यही स्थिति है। उनकी अनुचित योजना काव्य को उपहासास्पद बना देती है। शृङ्गार, करुण आदि कोमल रसों में माधुर्य ही उचित गुण है। वहाँ ओज-जैसे दीप्त गुण का सन्निवेश अनुचित होता है और फलतः जो ओज वीर, रौद्र आदि दीप्त रसों में शोभाकर धर्म होता है

अलङ्कारास्त्वलङ्काराः गुणा एव गुणास्सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥
उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः॥

—क्षेमेन्द्र, औचित्यविचारचर्चा, ४-६

१. कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया, नायान्ति के हास्यताम्
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणाः॥

— वही पृ० १८६

वही वहाँ दोषावह हो जाता है। इसलिए क्षेमेन्द्र ने निष्कर्ष रूप में कहा है कि औचित्य के अभाव में न अलङ्कार शोभावह होता है न गुण।

आनन्दवर्धन

कुन्तक एवं क्षेमेन्द्र के पूर्व ही आनन्दवर्धन काव्य में औचित्य के महत्त्व की स्थापना कर चुके थे। उनकी औचित्य-धारणा का ही विकास उनके उत्तरवर्ती उक्त दो आचार्यों की रचनाओं में हुआ है। गुण और औचित्य के पारस्परिक सम्बन्ध के विवेचन में आचार्यों की मान्यताओं का ऐतिहासिक क्रम से अध्ययन आवश्यक नहीं जान पड़ा। आनन्दवर्धन के उपरान्त अभिनव तथा मम्मट की धारणा का अध्ययन अधिक सुविधाजनक होता है, चूँकि इन आचार्यों का पौर्वापर्य क्रम अन्य आचार्यों से व्यवहित होने पर भी इनकी काव्य-विषयक मान्यताओं में अधिक निकटता है। इसीलिए आनन्दवर्धन की गुण एवं औचित्य-सम्बन्धी धारणा का विश्लेषण उनके कुछ उत्तरवर्ती आचार्यों की तत्सम्बन्धी धारणा के विवेचन के उपरान्त प्रस्तुत किया जा रहा है।

आनन्दवर्धन ने गुण को रस का धर्म मानकर गुणौचित्य का उल्लेख किया है। रस के अनुकूल गुणों की योजना को गुणौचित्य कहा जाता है। माधुर्य गुण शृङ्गार आदि रसों के अनुकूल होता है। रौद्र आदि में चित्त की दीप्ति होती है; अतः ओज उन रसों का गुण है। विशेष गुण विशेष प्रकार के वर्णों से व्यञ्जित होता है। कोमल वर्ण मधुर भाव की अनुभूति में सहायक होते हैं; अतः वे माधुर्य के व्यञ्जक माने गये हैं। दीप्त रसों की अनुभूति में कठोर वर्णों की योजना अनुकूल होती है। अतः, तत्तद् रसों के अनुकूल वर्णों की योजना होने पर ही वे रस का उत्कर्ष करते हैं। कठोर वर्णों की योजना शृङ्गार आदि रसों में दोष मानी जाती है; पर रौद्र आदि में औचित्य के कारण वह गुण हो जाती है। यह रसानुरूप वर्ण-योजना वर्णौचित्य है। विशेष प्रकार की सङ्घटना भी गुण-विशेष की व्यञ्जना में सहायक होती है। मधुर रसों में असमासा तथा दीप्त रसों में दीर्घसमासा सङ्घटना उचित मानी जाती है। गुणानुरूप सङ्घटना की योजना सङ्घटनौचित्य है। गुण के वर्णौचित्य एवं सङ्घटनौचित्य भेदों के विषय में आनन्दवर्धन ने यह मन्तव्य प्रकट किया है कि वे असंलक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्य ध्वनि के प्रकाशक होते हैं। उनके अनुसार वह असंलक्ष्य रसादि ध्वनि वर्ण, पद, वाक्य तथा सङ्घटना आदि में प्रकाशित होती है।[१]

---

१ यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु।
वाक्ये सङ्घटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते ॥—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक ३,२

ओज-गुण-व्यञ्जक वर्णों का उल्लेख करते हुए आनन्दवर्धन ने दिखाया है कि रेफ-युक्त श, ष, तथा ढ वर्ण शृङ्गार रस के विरोधी हैं, अतः वे शृङ्गार की अनुभूति में बाधक होते हैं; किन्तु वे ही वर्ण जब बीभत्स आदि रसों में प्रयुक्त होते हैं तो उन्हें प्रकाशित ही करते हैं। इसलिए अन्वय-व्यतिरेक से वर्ण भी रस के व्यञ्जक सिद्ध होते हैं।[1] स्पष्ट है कि रस का व्यञ्जक होने के लिए वर्णों का उचित विनिवेश आवश्यक है। वर्णों का औचित्य उन्हें रसव्यञ्जक बनाता है तथा अनौचित्य रस-प्रतिबन्धक। एक रस को व्यञ्जित करने वाले वर्ण दूसरे रस की व्यञ्जना में भी सहायक ही हों, यह आवश्यक नहीं। उच्चरित वर्ण तथा रस की अनुकूलता औचित्य है, जो वर्णों के गुण-व्यञ्जकत्व का नियामक है।

अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में आनन्दवर्धन की उक्त मान्यता का ही समर्थन एवं स्पष्टीकरण किया है। रस काव्य का प्राण है, जो ध्वनि-व्यापार से उपलब्ध होता है। गुण रस का धर्म है। औचित्य पर ही रस की सत्ता निर्भर है। इस प्रकार औचित्य रस का नियामक होने से गुण का भी नियामक सिद्ध होता है। आनन्दवर्धन ने औचित्य के अभाव को रस-भङ्ग का एक मात्र कारण माना है।[2] इस प्रकार उनके अनुसार औचित्य काव्य के सभी तत्त्वों का नियामक हो जाता है। वह रस का नियामक होने से रसाश्रित गुण एवं गुणाश्रित सङ्घटना का भी नियामक है। गुण के द्वारा रस का व्यञ्जित होना ही गुणौचित्य की मूल धारणा है।

मम्मट

मम्मट ने दोष-प्रकरण में औचित्य का गुण के साथ अनिवार्य सम्बन्ध स्वीकार किया है। काव्य के कुछ दोष स्थिति-विशेष में गुण बन जाते हैं। उन दोषों के गुण में परिवर्तित हो जाने का आधार औचित्य ही है। मम्मट ने स्पष्टतः कहा है कि वक्ता, प्रतिपाद्य या विषय, व्यङ्ग्य, वाच्य तथा प्रकरण आदि के औचित्य से कहीं-कहीं दोष भी गुण बन जाते हैं और कहीं वे न दोष

---

१. शषौ सरेफसंयोगौ ढकारश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः शृङ्गारे तेन वर्णा रसच्युतः॥
त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा।
तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णाः रसच्युतः॥—आनन्द०, ध्वन्या० ३, ३-४

२. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥—वही, ३ पृ० ३०२

रहते हैं न गुण।[१] दोनों ही अवस्थाओं में यह स्वीकार किया गया है कि औचित्य से दोष का परिहार अवश्य हो जाता है। अनुकरण में सभी दोषों को अदोष स्वीकार किया गया है।[२] इसी प्रकार अन्य दोषों का भी स्थिति-विशेष में गुणत्व दिखाया गया है। उन दोषों के गुणत्व में भी औचित्य का आधार देखा जा सकता है। मम्मट का रसानुरूप वर्ण-योजना का सिद्धान्त आनन्दवर्धन के सिद्धान्त से अभिन्न है। वे भी आनन्दवर्धन की तरह औचित्य को ही काव्य के सभी अङ्गों का नियामक स्वीकार करते हैं। इसलिए विशेष रसों में विशेष प्रकार की पद-रचना, वृत्ति-विधान तथा वर्ण-योजना की व्यवस्था करने के अनन्तर उन्होंने यह कहा है कि वक्ता, वाच्य तथा प्रबन्ध के औचित्य से कहीं-कहीं उनकी अन्यथा व्यवस्था भी अभीष्ट होती है।[३]

विश्वनाथ

विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन एवं मम्मट की गुणौचित्य-धारणा का अनुगमन किया है। उनके कुछ दोष अनौचित्य के ही परिणाम हैं। प्रकृति-विपर्यय तथा अनौचित्य आदि रस-गत दोषों का कारण औचित्य का अभाव ही है।[४] रसोचित गुण-व्यञ्जक वर्णों का उल्लेख विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन आदि की धारणा के अनुरूप ही किया है।

जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ ने विशेष गुण में विशेष प्रकार की रचना को वर्जनीय माना है। उनकी मान्यता है कि मधुर रस में जो रचना वर्जनीय होती है, वही ओजस्वी में अनुकूल होने से वाञ्छनीय हो जाती है। जो मधुर रस में ग्राह्य होती है वह दीप्त रस में त्याज्य होती है।[५] यह विचार आनन्दवर्धन के वर्णौचित्य तथा सङ्घटनौचित्य के विचार के समान है।

---

१. वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित्क्वचिन्नोभौ ।—मम्मट, काव्यप्र० ७, ५९ पृ० १९७

२. अनुकरणे तु सर्वेषाम् ।—वही ७ पृ० १९६

३. वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित्क्वचित् ।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥— मम्मट, काव्यप्र० ८,७७ पृ० १९८

४. ··· तेषु च यो यथाभूतः, तस्यायथावर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोषः ××× अन्य-दनौचित्यं देशकालादीनामन्यथा यद्वर्णनम् । तथा सति काव्यस्यासत्यताप्रतिभासेन विनेयानामुन्मुखीकारासम्भवः ।—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण ७ पृ० ४९८-९९

५. अथ विशेषतो वर्जनीयाः । तत्र मधुररसेषु ये विशेषतो वर्जनीया अनुपदं वक्ष्यन्ते, त एवौजस्विष्वनुकूलाः, ये चानुकूलतयोक्ताः, ते प्रतिकूला इति सामान्यतो निर्णयः । —जगन्नाथ, रसगङ्गाधर १ पृ० ११०

उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि औचित्य ही गुण का विधायक है। औचित्य के अभाव में गुण के सद्भाव की कल्पना सम्भव नहीं। जहाँ औचित्य रहता है वहाँ दोष की सत्ता नहीं रह सकती। औचित्य का सद्भाव दोष को भी गुण बना देता है और उसका अभाव गुण को भी दोष बना देता है।

गुण और रस

भारतीय काव्यशास्त्र में आरम्भ से ही रस पर किसी-न-किसी रूप में विचार होता रहा है। गुण का रस के साथ सम्बन्ध भी विभिन्न रूपों में प्रतिपादित हुआ है। कुछ आचार्यों ने गुण को शब्दार्थ के माध्यम से रस पर आश्रित माना है, कुछ आचार्यों ने गुण को शब्दार्थ का धर्म मानकर रस को ही गुण-विशेष का अङ्ग बना दिया है तथा अन्य आचार्यों ने गुण को रस का धर्म मानकर उसे रस पर अनिवार्यतः आश्रित माना है। प्रस्तुत खण्ड में हम गुण एवं रस के सम्बन्ध में उक्त मान्यताओं का विश्लेषण करेंगे।

भरत

आचार्य भरत की गुण-धारणा के विवेचन में यह देखा जा चुका है कि उनके दस गुण शब्द एवं अर्थ पर आश्रित हैं। उनके कुछ गुणों को केवल शब्दगत, कुछ को केवल अर्थगत तथा कुछ को शब्दार्थयुगलगत माना जा सकता है। इस प्रकार भरत के गुण शब्दार्थ के धर्म हैं; किन्तु वे प्रकारान्तर से रस पर आश्रित माने जा सकते हैं। भरत ने नाट्य-प्रयोग का मूल तत्त्व रस को माना है। रस के अभाव में उसकी सत्ता नहीं।[1] वाचिक अभिनय की सार्थकता रस के उपकार में ही है। अतः, वह रस पर आश्रित रहता है। गुण रसाश्रित वाचिकाभिनय पर आश्रित हैं। इस प्रकार भरत के मतानुसार रस को ही गुण का मूल आश्रय माना जाना चाहिए।

गुण को परम्परया रसाश्रित मानने पर भी भरत ने विशेष गुण के लक्षण में शृङ्गार, आदि रसों को उसका अङ्ग बना दिया है। उदारता गुण को शृङ्गार एवं अद्भुत रसों से युक्त कहा गया है।[2] गुण और रस के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन नाट्यशास्त्र में स्पष्ट नहीं हो पाया है। इसका कारण यह है कि भरत ने गुण का साक्षात् सम्बन्ध वाचिक अभिनय या शब्दार्थ से माना है; पर परम्परया उसे रस से भी सम्बद्ध माना है। उन्होंने गुण के आश्रय के विषय में अपनी मान्यता स्पष्ट रूप से कहीं व्यक्त नहीं की है।

---

१. नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते।— भरत, ना० शा० पृ० ९२, काव्यमाला

२. दिव्यभावपरीतं यच्छृङ्गाराद्भुतयोजितम्।
अनेकभावसंयुक्तमुदारत्वं प्रकीर्तितम्॥—भरत, ना० शा० १६, ११०

भरत के उत्तरवर्ती आचार्यों एवं कवियों में इस विषय में दो प्रकार की धारणाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। एक धारणा के अनुसार गुण रस के धर्म हैं। अतः, रस मुख्य हैं और गुण गौण। दूसरी धारणा के अनुसार गुण शब्दार्थ के धर्म हैं। रस कुछ गुणों के अङ्ग हैं। इस प्रकार रस गुण में रहते हैं। पहली धारणा का निर्देश माघ के 'शिशुपालवध' में मिलता है जिसकी स्थापना पीछे चलकर ध्वनि-प्रस्थान के आचार्यों ने शास्त्रीय पद्धति पर की है। दूसरी धारणा की स्थापना दण्डी और वामन की रचनाओं में हुई है।

माघ

माघ ने ओज तथा प्रसाद; इन दो गुणों का उल्लेख किया है और उनका सम्बन्ध रसों के साथ जोड़ा है। उन्होंने रस को गुण का नियामक स्वीकार किया है। रसानुरूप गुण की योजना से ही काव्य में उत्कर्ष आता है। गुण अपने-आप में उत्कर्षाधायक नहीं। वीर, रौद्र आदि दीप्त रसों में ओज उत्कर्ष का आधान करता है तथा श्रृङ्गार आदि कोमल रसों में प्रसाद। इसके विपरीत दीप्त रसों में प्रसाद की तथा कोमल रसों में ओज की योजना उन रसों का उत्कर्ष-साधन नहीं कर पाती। इसीलिए माघ ने उसे त्याज्य माना है। सभी रसों में न ओज ही गुण माना जा सकता है न प्रसाद ही।[1]

दण्डी

दण्डी ने भरत के दस गुणों को स्वीकार किया और उन्हें रस-धर्म नहीं मानकर शब्द एवं अर्थ का धर्म माना। दण्डी ने काव्य में रस को विशेष महत्त्व नहीं दिया है। यह नहीं कहा जा सकता कि दण्डी रस-सिद्धान्त से परिचित नहीं थे। उन्होंने रसवदादि अलङ्कार में रस की सत्ता स्वीकार की है; किन्तु उसे काव्य का मुख्य तत्त्व न मानकर अलङ्कार का अङ्ग-मात्र स्वीकार किया है। अग्राम्यता माधुर्य को सर्वाधिक रसोपकारक कहा गया है; पर वहाँ रस शब्द का प्रयोग सामान्यतः काव्य के सौन्दर्य के लिए हुआ है, रस के पारिभाषिक अर्थ में नहीं।[2] उन्होंने रस की अपेक्षा गुण को काव्य का अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना है। हम यह प्रमाणित कर चुके हैं कि दण्डी काव्य का (विशेषतः उत्तम काव्य का) प्राण गुण को ही मानते हैं। दण्डी के दस गुणों के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे शब्द एवं अर्थ पर ही आश्रित

---

१. नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः। —माघ, शिशुपाल-वध २,८३

२. कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चतु।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥—दण्डी, काव्यादर्श, १,६२

हैं। उनके अनुसार इष्ट अर्थ से युक्त पदावली काव्य का शरीर है। इस शरीर की शोभा अलङ्कार से उत्पन्न होती है। गुण भी मार्गविभाजक अलङ्कार हैं; अतः, वे काव्य के शोभाकर धर्म हैं। इस प्रकार दण्डी के अनुसार गुण काव्य-शोभा की सृष्टि करने वाला स्वतन्त्र तत्त्व है। वह रस पर आश्रित काव्य का गौण अङ्ग नहीं। रसवत् वाणी को मधुर कहकर दण्डी ने रस को माधुर्य गुण का अङ्ग बना दिया है। स्पष्ट है कि दण्डी के मतानुसार गुण रस से सर्वथा स्वतन्त्र काव्य-शोभा का हेतु-भूत काव्य-तत्त्व है और रस की अपेक्षा काव्य में अधिक महत्त्व रखता है।

वामन

दण्डी की तरह वामन ने भी गुण को शब्दार्थ का ही धर्म माना है। वे दस गुणों को शब्दगत भी मानते हैं और अर्थगत भी। इस प्रकार वामन दस गुण के शब्दगत एवं अर्थगत भेद से बीस प्रकार मानते हैं। गुण की सत्ता काव्य में स्वतन्त्र एवं मुख्य है। वह रस-सापेक्ष नहीं। कान्ति गुण की परिभाषा में वामन ने रस को कान्ति गुण का अङ्ग बना दिया है। उनके अनुसार दीप्त रस का होना कान्ति गुण है।[1] इस प्रकार वामन काव्य में गुण को मुख्य स्थान देते हैं और रस को गौण।

भोज

भोज पर वामन एवं आनन्दवर्धन, दोनों की धारणाओं का प्रभाव दीख पड़ता है। वामन की तरह वे गुण को काव्य का मुख्य शोभा-हेतु धर्म मानते हैं तथा उसे शब्दगत एवं अर्थगत मानते हैं। उनके चौबीस बाह्य गुण शब्दगत हैं तथा उतने ही आभ्यन्तर गुण अर्थगत। किन्तु, उनके कुछ गुणों का रस के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। इसीलिए उन्होंने अपने चौबीस गुणों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभक्त किया है—(क) रसारम्भक, (ख) रसभाव आरब्ध तथा (ग) शुद्ध शब्दार्थगत। प्रथम दो वर्गों के गुण रस से अनिवार्यतः सम्बद्ध हैं; अतः उन्हें अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य गुण कहा गया है। रस और गुण के सङ्कर की चर्चा करते हुए भोज ने यह धारणा प्रकट की है कि अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य गुणों के उक्त दो वर्गों में उनका सङ्कर नहीं हो सकता। वहाँ दोनों की युगपत् स्थिति रहा करती है। तीसरे वर्ग के गुणों को पृथग्यत्ननिर्वर्त्य कहा गया है। उनकी स्थिति केवल शब्द और अर्थ में रहती है। इन गुणों के साथ कहीं-कहीं रस का सङ्कर होता है।

---

१. दीप्तरसत्वं कान्तिः। —वामन, काव्यालङ्कारसूत्र ३,२,१५

अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य गुण और रस के वाक्य में युगपत् सन्निवेश से उनके साङ्कर्य की अप्राप्ति के सिद्धान्त के पोषण के लिए भोज ने दण्डी के काव्यादर्श से माधुर्य गुण के सम्बन्ध में दो श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें यह धारणा व्यक्त की गयी है कि रसवत् वाणी तथा वस्तु मधुर (या माधुर्य गुण युक्त) होती है, जो कवियों को मुग्ध कर लेती है। अग्राम्यता माधुर्य अर्थ में रस की सृष्टि करने में सर्वाधिक सहायक होता है। भोज ने रसारम्भक वर्ग में माधर्य, ओज और प्रसाद गुणों को रखा है तथा उनके रस-सम्बद्ध स्वभाव को स्पष्ट करने के लिए ध्वन्यालोक से उक्त गुणों के लक्षण-परक श्लोकों को उद्धृत किया है। उक्त गुणों के सम्बन्ध में यह मन्तव्य प्रकट किया गया है कि वे रस के आरम्भक हैं; अतः उनके साथ रस का सङ्कर नहीं हो सकता। रस और इस वर्ग के गुणों में अविनाभाव सम्बन्ध माना गया है।[1]

रसभाव-आरब्ध वर्ग में छह गुण रखे गये हैं—(१) और्जित्य, (२) भाविक, (३) माधुर्य, (४) उदात्तत्व, (५) प्रेय और (६) कान्ति। इस वर्ग का और्जित्य रूढाहङ्कारत्व है, माधुर्य क्रोध आदि की अवस्था में भी मृदुता है तथा कान्ति दीप्त-रसत्व है।[2] इन गुणों की अभिव्यक्ति रसों के कारण होती है। इसलिए

१. यत्र—अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यानां गुणरसानां वाक्ये सन्निवेशः तत्र सङ्करव्यवहारो न प्रवर्तते।

तद्यथा—मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥
कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चतु।
तथाऽप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥

—दण्डी से, सरस्वतीकण्ठाभरण में उद्धृत, द्रष्टव्य पृ० ७८३-८४

तथा—शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति॥
शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः॥
रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावोजोऽधिष्ठाय तिष्ठति॥
समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान्प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥

—ध्वन्यालोक से उद्धृत द्रष्टव्य, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ७८३-५

२. एवं रसानां गुणारम्भकत्वेऽपि (सङ्कराप्रसिद्धिः)। तद्यथा—रूढाहङ्कारता और्जित्यम्। भावतो वाक्यवृत्तिर्भाविकत्वम्, क्रोधादावप्यतीव्रता माधुर्यम्, आशयोत्कर्ष उदात्तत्वम्, अर्थस्य अभीष्टतमता प्रेयः दीप्तरसत्वं कान्तिः इति।

—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ७८५

इन्हें रसारब्धक कहा गया है। ये गुण भी अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य हैं। इनका रस से सङ्कर नहीं होता।

रसारम्भक गुण-वर्ग में भोज ने आनन्दवर्धन की माधुर्यादि तीन गुणों की धारणा को ही स्वीकार किया है। उनके श्लोकों को उद्धृत कर भोज ने उनका पूर्णतः अनुसरण किया है। थोड़ा-सा भेद यह है कि उन्होंने आनन्दवर्धन के माधुर्य में दण्डी के अग्राम्यता माधुर्य को भी जोड़ दिया है। अग्राम्यता को भोज ने बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। उसके अभाव में कोई वाक्य काव्य नहीं कहा जा सकता। अतः, भोज के मतानुसार अग्राम्यता माधुर्य काव्य में सर्वत्र रहता है। माधुर्य गुण शृङ्गार और करुण रसों के साथ अनिवार्यतः संलग्न रहता है। ओज गुण की रौद्र आदि रसों के साथ अचल स्थिति रहती है। प्रसाद गुण का सभी रसों में नियत निवास रहता है। इस गुण के अभाव में रस की अनुभूति सम्भव नहीं होती। रसानुभूति के लिए ये गुण आवश्यक हैं। इसलिए इन्हें रसारम्भक कहा गया है।

भोज का रसानुरूपसन्दर्भत्व प्रबन्ध-गुण रस से अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध है। इसमें रसानुरूप शब्दयोजना पर बल दिया गया है। अर्थानुरूप छन्दस्त्व गुण में भी रसानुरूप छन्द-योजना वाञ्छनीय मानी गयी है। इसपर 'गुण और औचित्य' खण्ड में विचार किया जा चुका है। इन दोनों गुणों का आधार रस ही है।

स्पष्ट है कि भोज बहुलांश में वामन की गुण-धारणा से प्रभावित होने पर भी ध्वनिप्रस्थान के प्रतिष्ठाता आनन्दवर्धन के रस-ध्वनि-विषयक विचार के प्रभाव से सवर्था मुक्त नहीं रह सके थे। अतः उन्होंने वामन के मतानुसार कुछ गुणों को शुद्ध शब्दगत एवं अर्थगत भी माना है तथा आनन्दवर्धन के अनुसार कुछ गुणों को रसगत भी।

रत्नेश्वर

भोज के टीकाकार रत्नेश्वर की गुण-धारणा के परीक्षण के क्रम में हम देख चुके हैं कि उनका विचार सुव्यवस्थित नहीं है। उनके विवेचन में स्वतो-विरोध के अनेक उदाहरण मिलते हैं। गुण और रस के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना में भी उन्होंने परस्पर विरोधी मान्यताएँ प्रकट की हैं। उन्होंने गुण को रस का धर्म मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन किया है। उनकी मान्यता है कि काव्य में रस की स्थिति सार्वत्रिक नहीं; किन्तु गुण सर्वत्र रहता है। वे भोज की तरह गुण को काव्य का मुख्य शोभा-हेतु धर्म मानते हैं। उसके

अभाव में काव्यत्व की कल्पना नहीं की जा सकती। काव्य में सर्वत्र गुण की अनिवार्य स्थिति रहती है। अतः रत्नेश्वर के अनुसार गुण को रस का धर्म मानने में अनुपपत्ति यह है कि रस-धर्म मानने पर गुण को भी रस की तरह काव्य का अनित्य धर्म मानना पड़ेगा, जो उचित नहीं।[१] वे गुण को रसावलम्बी मानने वाली धारणा के भी विरोधी हैं। भोज के चौबीस गुणों में से माधुर्यादि तीन गुणों को रस-गुण मानने का भी रत्नेश्वर ने विरोध किया है। उनकी मान्यता है कि प्रसाद, श्लेष आदि सभी गुण शब्दगत हैं। अतः, दोनों को पृथक्-पृथक् वर्गों में विभक्त करने का कोई आधार नहीं।[२] उन्होंने माधुर्यादि तीन गुण मानने वाले आनन्दवर्धन के सिद्धान्त का खण्डन किया है।

भोज की तरह रत्नेश्वर ने भी आनन्दवर्धन के द्वारा प्रदत्त माधुर्य आदि तीन गुणों की परिभाषा को ही स्वीकार किया है। वे गुण को रस के व्यञ्जक भी मानते हैं। माधुर्य गुण शृङ्गार एवं करुण रसों का व्यञ्जक माना गया है। इसीलिए उक्त रसों को रत्नेश्वर ने मधुर कहा है।[३] माधुर्य को शृङ्गार आदि का व्यञ्जक मानने पर भी वे उसे शब्दार्थगत गुण ही स्वीकार करते हैं। आनन्दवर्धन के माधुर्यादि गुण-लक्षण को ग्रहण करने पर भी उनकी व्याख्या उन्होंने अपने ढंग से की है। आनन्दवर्धन के ओज को रत्नेश्वर प्रौढि मानते हैं। शब्दगत प्रौढि की व्याख्या करते हुए उसे पारुष्य एवं शैथिल्य का विपरीत-धर्म कहा गया है। उसकी व्यञ्जना दीर्घसमास पद-रचना से होती है; पर कहीं-कहीं असमास या अल्पसमास से भी वह व्यञ्जित हो सकती है।[४]

माधुर्य-व्यत्यय दोष के वर्णन-प्रसङ्ग में रत्नेश्वर ने माधुर्य को शब्दार्थ का चित्त-द्रुति-विधायक धर्म माना है।[५] आनन्दवर्धन की तरह वे माधुर्य को मन की आर्द्रता भी कहते हैं। यह शृङ्गार और करुण रसों में रहता है।[६]

रत्नेश्वर ने काव्य में सर्वत्र रस की स्थिति नहीं मानी तथा उसे काव्य में प्रधान तत्त्व भी स्वीकार नहीं किया; किन्तु भोज के 'काव्यसर्वस्व' पर टीका

---

१. अथ नायं नियमो यत् सर्वत्र रसः प्रधानमिति। तदा अत्र गुणेष्वपि कथं तदालम्बननियमः ? —सरस्वतीकण्ठाभरण, रत्नेश्वर की टीका, पृ० ४६

२. किञ्चात्र प्रसादादिवत् श्लेषादयोऽपि शब्दार्थगता एव प्रत्यभिज्ञायन्ते तत्कथमयं विभागः ? —वही, पृ० ४३

३. शृङ्गारकरुणौ हि मधुरौ, ततस्तद्व्यञ्जकोऽर्थोऽपि मधुरः। —वही, पृ० ७५

४. शब्दार्थयोः उचिता प्रौढिरोजः। ×× शब्दस्य तु (प्रौढिः) पारुष्यशैथिल्यव्यतिकरलक्षणा। सा च क्वचित् समासदीर्घतया व्यज्यते। क्वचिदन्यथापि व्यज्यते। —वही, पृ० २८

५. शब्दार्थयोश्चित्तद्रुतिविधायित्वं माधुर्यम्। —वही, पृ० ३२

६. सा च शृङ्गारकरुणान्यतरप्रकाशानुगुणव्यापारावेशेन भवति। —वही पृ० २६

करते हुए उन्होंने एक स्थल पर रस को काव्य-सर्वस्व स्वीकार किया है। उन्होंने प्रसाद गुण से रसाभिव्यक्ति मानी है।[1] भोज की तरह रत्नेश्वर ने भी रस और ध्वनि को गुण मान लिया है।[2]

स्पष्ट है कि रत्नेश्वर के विचार में स्थिरता नहीं है। कहीं वे गुण के रसगत होने का विरोध करते हैं, कहीं रस को काव्य का अनित्य धर्म मानते हैं; पर अन्यत्र वे माधुर्यादि को चित्तद्रुति आदि का स्वरूप तथा रसव्यञ्जक मान लेते हैं और रस को काव्य का सर्वस्व भी मान लेते हैं।

अग्निपुराणकार

अग्निपुराण में गुण को रसाश्रित नहीं मानकर शब्दार्थ पर आश्रित माना गया है। गुणों के तीन वर्ग स्वीकृत हुए हैं—(क) शब्दगत गुण-वर्ग, (ख) अर्थगत गुण-वर्ग एवं (ग) उभयगत गुण-वर्ग। श्लेष आदि सात गुणों के विषय में यह कहा गया है कि वे काव्य के शब्द-रूप शरीर पर आश्रित रहते हैं। माधुर्य आदि अर्थ-गुण अर्थ पर आश्रित रहते हैं तथा प्रसाद आदि उभय-गुण शब्द और अर्थ दोनों का उपकार करते हैं।[3] निष्कर्षतः, अग्निपुराणकार दण्डी और वामन की तरह गुण को शब्दार्थ का धर्म मानते हैं, रस का धर्म नहीं। आनन्दवर्धन की तरह एक स्थल पर अग्निपुराण में ओज को रौद्र और वीर रसों का गुण कहा गया है।[4]

रुद्रट

रुद्रट की गुण-धारणा के विवेचन में हम देख चुके हैं कि उन्होंने गुण शब्द का प्रयोग बड़े सामान्य अर्थ में किया है। वे गुण को वाक्य से सम्बद्ध मानते हैं। उन्होंने ऐसे शब्दों की योजना पर बल दिया है, जो रचना में चारुता का आधान कर सकें।[5] इससे स्पष्ट है कि रुद्रट गुण को शब्दार्थ-धर्म ही मानते थे।

नमिसाधु

रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने गुण और रस के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार किया है। उन्होंने गुण शब्द का प्रयोग बड़े ही व्यापक अर्थ में किया

---

१. काव्यसर्वस्वं रसप्रकाशः।—वही, रत्नेश्वर की टीका, पृ० ३३
२. ध्वननव्यापारोन्मेषाच्च गुणत्वलाभः।—वही, पृ० ११८
३. शब्दमाश्रयते काव्यं शरीरं यः स तद्गुणः। और—
शब्दार्थावुपकुर्वाणो नाम्नोभयगुणस्मृतः॥ अग्निपुरण, ३४६,५,१८
४. वही, ३४६,१०
५. रचयेत्तमेव वाक्यं रचनायाः यः करोति चारुत्वम्।—रुद्रट, काव्यालङ्कार २,९

हैं। उनके मतानुसार गुण काव्य का सौन्दर्य है। इस प्रकार रीति, अलङ्कार रस आदि सभी तत्त्व काव्य के गुण हैं। वे शब्दालङ्कार और रीति को शब्द-गुण मानते हैं। अर्थालङ्कार उनके अनुसार अर्थगत गुण हैं। रस सौन्दर्य आदि की तरह सहज गुण है। अलङ्कार आदि कृत्रिम गुण हैं; किन्तु रस सहज गुण है।[१] रस को काव्य का गुण मानने वाला सिद्धान्त काव्यशास्त्र के आचार्यों को मान्य नहीं हुआ। रस काव्य का प्रधान तत्त्व है। उसे गुण मानना उचित नहीं।

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में रस को काव्य का गुण मानने वाले सिद्धान्त को पूर्वपक्ष बनाकर खण्डित किया है। पूर्वपक्ष का सिद्धान्त इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—कुछ लोग यह मानते हैं कि इतिवृत्त के साथ रस का शरीर और आत्मा-जैसा सम्बन्ध नहीं माना जाना चाहिए; दोनों में गुणी और गुण का सम्बन्ध माना जाना चाहिए। शरीर में आत्मा की तरह रस को शब्दार्थ या इतिवृत्त-रूपी काव्य-शरीर का शरीरी मानने में आपत्ति यह है कि आत्मा के अभाव में भी शरीर की पृथक् सत्ता रह सकती है, पर रस से पृथक् वाच्य की सत्ता नहीं रहती। यदि शब्दार्थ काव्य का शरीर और रस उसका प्राण होता, तो जिस प्रकार लोक में प्राण से पृथक् भी शव की सत्ता रहती है, उसी प्रकार काव्य के शरीर की भी रस से अलग सत्ता पायी जाती; किन्तु ऐसा नहीं होता। रस की इतिवृत्त में अनिवार्य स्थिति रहती है; अतः उसे इतिवृत्त का गुण मानना ही समीचीन है। जिस प्रकार गुण और गुणी की पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं रह सकती, उसी प्रकार रस और इतिवृत्त की पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं रहती। अतः इतिवृत्त गुणी है और रस उसका गुण।[२]

उक्त युक्ति का खण्डन आनन्दवर्धन ने यह कर किया है कि मानव शरीर के गोरे वर्ण आदि की तरह रस को वाच्यार्थ-रूप इतिवृत्त का गुण नहीं माना जा सकता। यदि इतिवृत्त के साथ रस का वैसा ही सम्बन्ध होता, जैसा शरीर के साथ गौर आदि वर्ण का होता है तो जिस प्रकार शरीर को देखते ही उसके गोरेपन की भी प्रतीति सबको अनिवार्यतः हो जाती है, उसी प्रकार इतिवृत्त के बोध के साथ ही सहृदय तथा असहृदय सभी को रस की अनुभूति

---

१. काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्। तस्य वक्रोक्तिवास्तवादयः कटककुण्डलादय इव कृत्रिमा अलङ्काराः। रसास्तु सौन्दर्यादय इव सहजा गुणाः इति भिन्नः तत्प्रकरणारम्भः।—रुद्रट, काव्यालङ्कार की टीका, १२ पृ० १५०

२. अत्र केचिदाहुः—गुणगुणिव्यवहारो रसादीनामितिवृत्तादिभिः सह, न तु जीवशरीरव्यवहारः। रसादिमयं हि वाच्यं प्रतिभासते, न तु रसादिभिः पृथग्भूतमिति।—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, ३ पृ० ४१६

भी अवश्य हो जाती। अर्थ-बोध रसिक अरसिक—सबके लिए सम्भव है; किन्तु रसानुभूति केवल रसिकों को ही हो पाती है। आनन्दवर्धन की यह उचित मान्यता है कि व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति शब्दार्थ के व्युत्पादक व्याकरण, कोश आदि के ज्ञान से नहीं हो पाती। उस ज्ञान से वाच्य-अर्थ का बोध तो हो सकता है; किन्तु व्यङ्ग्यार्थ-प्रतीति केवल काव्य-मर्मज्ञ सहृदय को ही हो सकती है। इससे यह सिद्ध है कि इतिवृत्त को समझने वाले सभी व्यक्ति रस का अनुभव नहीं कर सकते। अतः, रस इतिवृत्त का गुण नहीं।[1]

यह प्रश्न किया जा सकता है कि उत्तम कोटि के रत्न की उत्कृष्टता कोई पारखी ही समझ पाता है, सभी उसे परख नहीं पाते; फिर भी उसका गुणत्व तो असिद्ध नहीं हो जाता। उसी प्रकार इतिवृत्त के रसमयत्व-रूप गुणोत्कर्ष को सभी नहीं समझ सकें तो इससे उसका गुणत्व खंडित नहीं हो सकता।[2] आनन्दवर्धन ने इस शङ्का का युक्तिसङ्गत समाधान प्रस्तुत किया है।

उत्कृष्ट रत्न की जातीयता और रस को समान मानना उचित नहीं। रसादि की प्रतीति विभाव आदि वाच्य से कुछ विलक्षण होती है, जब कि उत्कृष्ट रत्न-जातीय रूप से भासित होने वाले रत्न में उसकी उत्कृष्टता उससे अभिन्न रूप में प्रतीत होती है। दूसरे शब्दों में, रत्न की उत्कृष्टता रत्नस्वरूप ही होती है, किन्तु रस वाच्य से कुछ विलक्षण होता है। अतः, उत्कृष्ट रत्न की उत्कृष्टता का दृष्टान्त इतिवृत्त और रस के सम्बन्ध के दार्ष्टान्तिक से भिन्न स्वभाव का है। विषम दृष्टान्त से किसी मत की पुष्टि नहीं हो सकती। रत्न की जातीयता उसी में लीन है; अतः सभी देखने वालों को उसके जात्यत्व का बोध नहीं हो पाता, केवल रत्न-परीक्षक ही उसे जान पाते हैं; किन्तु विभाव आदि वाच्य के धर्म रस आदि उससे कुछ पृथक् प्रतीत होते हैं, वे वाच्य-रूप नहीं हैं, अतः वाच्यार्थ को समझने वाले सभी व्यक्तियों को रसादि की प्रतीति नहीं हो, यह स्वाभाविक ही है। इसलिए रस को रत्न की जातीयता की तरह वाच्य का धर्म नहीं माना जा सकता।[3] निष्कर्ष यह कि इतिवृत्त में रस न तो

---

१. अत्रोच्यते—यदि रसादिमयमेव वाच्यं यथा गौरत्वमयं शरीरम्, एवं सति यथा शरीरे प्रतिभासमाने नियमेनैव गौरत्वं प्रतिभासते सर्वस्य, तथा वाच्येन सहैव रसादयोऽपि सहृदयासहृदयस्य च प्रतिभासेरन्।

—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक ३ पृ० ४१७

२. स्यान्मतम् रत्नानामिव जात्यत्वं प्रतिपत्तृविशेषसंवेद्यं वाच्यानां रसादिमयत्वमिति। वही, ३ पृ० ४१७

३. ···· नैवम्, यतो यथा जात्यत्वेन प्रतिभासमाने रत्ने रत्नस्वरूपानतिरिक्तत्वमेव लक्ष्यते, तथा रसानां विभानुभावादिरूपवाच्यानतिरिक्तत्वमेव लक्ष्येत, न चैवम्। —आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक ३ पृ० ४१८

शरीर में गौरवर्णत्व आदि गुण की तरह रहते हैं, न उत्कृष्ट रत्न में उत्कृष्टता आदि गुण की तरह। रस वाच्य से विलक्षण है। उसे वाच्य का गुण नहीं माना जा सकता।

प्रतिहारेन्दुराज

उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने आनन्दवर्धन के माधुर्य आदि तीन गुणों को स्वीकार करने पर भी उन्हें रस-धर्म नही माना है। उनकी मान्यता है कि शब्द और अर्थ ही काव्य हैं, जिनमें गुण सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं।[1] अतः गुण शब्दार्थ के ही धर्म हैं। वे रस के सहायक हैं। प्रतिहारेन्दु रस को काव्य की आत्मा मानते हैं। उनके मतानुसार शब्द और अर्थ काव्य के शरीर-भूत हैं।[2] काव्य-शरीर में ही गुण रहते हैं। काव्य-शरीर में स्थित माधुर्य और ओज गुणों से पुष्ट प्रसाद गुण रस की अभिव्यक्ति में सहायक होता है।[3] गुण को भी रस की तरह काव्य का नित्य धर्म माना गया है। दोनों में भेद यह है कि गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं और रस उनकी आत्मा। गुण के अभाव में भी काव्य की सत्ता नहीं। प्रतिहारेन्दुराज ने अंशतः आनन्दवर्धन की धारणा का अनुगमन किया है और अंशतः वामन की मान्यता को स्वीकार किया है। रस को काव्य की आत्मा मानने में, प्रसाद को रसव्यञ्जना के लिए आवश्यक मानने में तथा माधुर्य को आह्लादकत्व मानने में उनपर आनन्दवर्धन का प्रभाव स्पष्ट है। गुण को शब्दार्थ का नित्य धर्म मानने में वामन की मान्यता की स्पष्ट स्वीकृति है।

विद्यानाथ

विद्यानाथ ने गुण को केवल शब्दगत माना है। वे उसे रस-गत नहीं मानते। उनके टीकाकार कुमारस्वामी की मान्यता है कि प्राचीनों के गुण-सिद्धान्त को स्वीकार करने पर भी विद्यानाथ ने हृदय से आनन्दवर्धन की तद्विषयक धारणा को ही अपनाया है। इसीलिए काव्य-प्रकरण में विद्यानाथ

---

१. काव्यं खलु गुणसंस्कृतशब्दार्थशरीरत्वात्।—काव्यालंकार सार संग्रह, प्रतिहारेन्दु की टीका पृ० ८१

२. न खलु काव्यस्य रसानां वा अलंकार्यालंकारभावः, किन्तु आत्मशरीरभावः। रसा हि काव्यस्य आत्मत्वेन व्यवस्थिताः, शब्दार्थौ च शरीररूपतया।— वही, पृ० ८३

३. रसाभिव्यक्तिश्च यथायोग माधुर्योजोभ्यां तारतम्येनावस्थिताभ्याम् उपबृंहितो योऽसौ प्रसादात्मा गुणः, तेन क्रियते।—वही, पृ० ८३

ने स्वयं गुण को आत्मा का उत्कर्ष-साधक शौर्य आदि गुण के समान कहा है।[1] इससे स्पष्ट है कि विद्यानाथ के विचार में स्थिरता का अभाव है। यदि गुण को केवल शब्द-धर्म माना जाय—जैसा कि विद्यानाथ ने स्वयं कहा है—तो उसे शौर्यादि की तरह आत्मा का उत्कर्ष-साधक कैसे कहा जा सकता है ? वस्तुतः विद्यानाथ आनन्दवर्धन की गुण-धारणा का उपेक्षा नहीं कर सके थे।

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन की गुण और अलङ्कार-विषयक धारणा के विवेचन में हम देख चुके हैं कि उन्होंने ही सर्वप्रथम गुण को रस के धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनके पूर्व भी माघ ने गुणों को रस-भाव आदि पर आश्रित कहा था।[2] इसके आधार पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि गुण को रसाश्रित मानने वाली धारणा आनन्दवर्धन के बहुत पूर्व भी थी; किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि किसी आचार्य ने उनके पूर्व उसे व्यवस्थित रूप प्रदान किया था। आनन्दवर्धन ने तार्किक पद्धति पर गुणों का रसधर्मत्व सिद्ध किया और उनके बाद यही मान्यता भारतीय काव्यशास्त्र में बहुमान्य हुई। मम्मट विश्वनाथ आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने आनन्दवर्धन की गुण-विषयक मान्यता को ही स्वीकार किया है। पण्डितराज जगन्नाथ के इस विषय में कुछ स्वतन्त्र रूप से विचार किया है। गुण और रस के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में आनन्दवर्धन की धारणा पर विस्तार से विचार किया जा चुका है। अतः, यहाँ उनकी मान्यता का सार संक्षेप में प्रस्तुत कर देना ही पर्याप्त होगा।

आनन्दवर्धन की धारणा मूलतः यह है कि गुण काव्य के अङ्गी रसादि रूप अर्थ का अवलम्बन लेकर रहता है। वह उपचार से ही शब्दार्थ का धर्म कहा जाता है। वस्तुतः, शृङ्गार आदि रस ही मधुर होते हैं। अतः, शृङ्गार आदि से युक्त काव्य में माधुर्य आदि गुण रहा करते हैं। रस-धर्म होने के कारण गुण रस से ही नियमित होते हैं। वक्ता, वाच्य, विषय आदि का औचित्य भी उसका नियामक है। गुण का विषय निर्धारित है। विशेष रसों में ही विशेष गुण रहा करते हैं। शृङ्गार आदि में माधुर्य गुण तथा रौद्र आदि में ओज गुण रहता है। प्रसाद सभी रसों में अनिवार्यतः रहता है। वह रसाभिव्यक्ति के

१. वस्तुतस्तु × × अन्तर्भावे श्लेषादिगुणानां रसधर्मत्वम्। × × अत एव स्वयमेवोक्तवान् काव्यप्रकरणे—× × श्लेषादयो गुणास्तत्र शौर्यादय इव स्थिताः। आत्मोत्कर्षवहाः—प्रतापरुद्रयशोभूषण की टीका २ पृ० २४२

२. नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः।—माघ, शिशुपाल वध, २.८३

लिए आवश्यक है। माधुर्य ओज और प्रसाद गुण क्रमशः चित्त की द्रुति, दीप्ति एवं विकास की अवस्थाएँ हैं।

अभिनवगुप्त

ध्वन्यालोक लोचन में अभिनव ने आनन्दवर्धन की ही गुण और रस-विषयक धारणा को स्पष्ट किया है। गुण काव्य के अङ्गी रस पर आश्रित रहता है। शब्दार्थ को मधुर कहना उपचार-मात्र है।

मम्मट और विश्वनाथ

मम्मट एवं विश्वनाथ की गुण-धारणा के विवेचन में यह देखा जा चुका है कि उन्होंने आनन्दवर्धन की तरह ही गुण को रस-धर्म माना है। उनके मतानुसार उपचार से गुण को शब्दगत भी कहा जाता है।

पण्डितराज जगन्नाथ

अद्वैत वेदान्त मत के अनुयायी होने के कारण पण्डितराज गुण को रसधर्म नहीं मानते। रस काव्य की आत्मा है। आत्मा निर्गुण होती है। अतः, जगन्नाथ के अनुसार गुण शब्दार्थ-धर्म ही माना जाना चाहिए। यह मान लेने पर भी जगन्नाथ शब्दार्थ के साथ रस को भी गुण का आधार मान लेते हैं, जिससे उसका रस-धर्मत्व सिद्ध हो जाता है। वेदान्त में आत्मा की उपाधियों की कल्पना की गयी है, जिनमें गुण रह सकता है। पण्डितराज को भी रस की उपाधियों में गुण का सद्भाव स्वीकार करने में आपत्ति नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से गुण और रस के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में दो प्रकार की मुख्य धारणाएँ सामने आती हैं। अलङ्कार एवं रीति-प्रस्थानों में गुण को शब्दार्थ का नित्य धर्म माना गया एवं रस को गुण का अङ्ग बना दिया गया। इसके विपरीत ध्वनि-प्रस्थान में रस को काव्य का अङ्गी माना गया और गुण को रस-धर्म मानकर अप्रधान बना दिया गया। भोज, विद्यनाथ आदि की धारणा दोनों की मध्यवर्तिनी है, जिसमें गुण को शब्दार्थ का भी धर्म माना गया है और रस का भी। हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में अन्यत्र इस तथ्य पर विचार किया है कि गुण के शब्दार्थगत एवं रसगत; दोनों वर्ग वाञ्छनीय हैं।

गुण और लक्षण

भारतीय काव्यशास्त्र में गुण, अलङ्कार आदि की तरह लक्षण का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह पाया। भरत ने छत्तीस लक्षणों का उल्लेख किया है।[1] सैद्धान्तिक रूप में परवर्ती आचार्यों ने भी लक्षण के स्वरूप पर विचार किया है। भोज ने उसकी संख्या चौंसठ कर दी। कुछ आचार्यों ने उसके दस भेद ही स्वीकार किये। किन्तु, व्यवहार में लक्षण का काव्य-तत्त्व के रूप में अध्ययन प्राय: समाप्त हो गया है। इसका कारण यह है कि गुण, भाव और अलङ्कार के स्वरूप से लक्षण के स्वरूप का इतना साम्य था कि पीछे चलकर गुण एवं अलङ्कार आदि से पृथक् उसके अध्ययन की आवश्यकता ही लोगों ने नहीं समझी। इतना होने पर भी यह कहना युक्तिसङ्गत नहीं होगा कि लक्षण गुण एवं अलङ्कार से अभिन्न हैं। प्रस्तुत खण्ड में हम गुण और लक्षण के साम्य एवं वैषम्य का विवेचन करेंगे।

भरत के नाट्यशास्त्र में गुण, अलङ्कार तथा लक्षण का पारस्परिक पार्थक्य निरूपित नहीं हुआ है और न काव्य में उनके स्थान का ही निर्धारण हुआ है। अभिनव गुप्त ने काव्य में उक्त तत्त्वों का स्थान-निरूपण किया है। अभिनव के पूर्व भी इस विषय पर अनेक प्रकार की धारणाएँ प्रकट की गयी थीं; किन्तु वे निर्दोष नहीं कही जा सकतीं। अभिनव-भारती में अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की दस धारणाओं का उल्लेख कर उनकी परीक्षा की है। उन्होंने इस विषय में प्रचलित दस मान्यताओं को 'दशपक्षी' कहा है। यहाँ हम अभिनव-भारती में प्राप्य लक्षण-विषयक धारणाओं का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

१. गुण, लक्षण और अलङ्कार के पारस्परिक सम्बन्ध एवं काव्य में उनके स्थान के सम्बन्ध में एक मत यह है कि आश्रय-भेद से गुण और लक्षण की भिन्नता स्पष्ट है। गुण काव्य के प्राण-भूत रस में रहते हैं और लक्षण उसके शरीरभूत शब्दार्थ में। लक्षण शरीर-धर्म हैं और गुण आत्म-धर्म। अतः दोनों के ऐक्य की भ्रान्ति हो ही नहीं सकती। इस मत के अनुयायी लक्षण

---

१. विभूषणं चाक्षरसंहतिश्च शोभाभिमानौ गुणकीर्तनं च।
प्रोत्साहनोदाहरणे निरुक्तं गुणानुवादोऽतिशयः सहेतुः॥
सारूप्य मिथ्याध्यवसाय सिद्धि पदोच्चयाक्रन्द मनोरथाश्च।
आख्यान याच्ञाप्रतिषेध पृच्छादृष्टान्त निर्भासन.संशयाश्च॥
आशीः प्रियोक्तिः कपटः क्षमा च प्राप्तिश्च पश्चात्तपनं तथैव।
अर्थानुवृत्तिर्ह्युपपत्तियुक्ती कार्योऽनुनीतिः परिदेवनं च॥
षट्त्रिंशदेतानि तु लक्षणानि"। – ना० शा०, अ० भा० १६, १-४

को शरीरनिष्ठ मानते हैं। इससे उनका अलङ्कार से भी भेद स्पष्ट हो जाता है। लक्षण शरीर से अपृथक्-सिद्ध होते हैं, जबकि अलङ्कार पृथक्-सिद्ध। इस तथ्य को लोक के इस उदाहरण से समझा जा सकता है कि अलङ्कार हार आदि आभूषण के समान हैं, जिनकी शरीर से पृथक् सत्ता रहती है। शरीर से योग होने पर वे उसकी शोभा बढ़ाते हैं, जबकि लक्षण शरीर के सामुद्रिक लक्षण के समान होते हैं जो शरीर से पृथक् अस्तित्व नहीं रखते। जिस प्रकार आँखों की दीर्घता, त्वचा की कोमलता आदि की शरीर से पृथक् सत्ता नहीं, उसी प्रकार काव्य के लक्षण की काव्य-शरीर से पृथक् सत्ता नहीं होती। लक्षण दो प्रकार के माने गये हैं—(क) सहज या सिद्ध-रूप तथा (ख) आहार्य या साध्य-रूप। नेत्र की विशालता आदि सिद्ध लक्षण हैं तथा विशेष प्रकार की भङ्गिमा में उत्पन्न शारीरिक कमनीयता साध्य लक्षण। शरीरनिष्ठ उक्त लक्षण अलङ्कारों से अलङ्कृत होते हैं। अलङ्कार से लक्षण-जन्य रूपगत सौन्दर्य की केवल वृद्धि हो सकती है। लक्षण के अभाव में अलङ्कार के सद्भाव से भी काव्य में सौन्दर्य नहीं आ सकता।[1]

अभिनव गुप्त की मान्यता है कि उक्त मत के अनुयायी कथा के प्रधान चरित्र के व्यक्तित्व का गुण लक्षण को मानते हैं।[2] अभिनव के इस कथन का आधार सम्भवतः यह है कि सिद्ध-रूप लक्षण का उदाहरण 'श्यामा विशालाक्षी' तथा साध्यरूप लक्षण का उदाहरण 'मत्तमातङ्गगामिनी' दिया गया है। उक्त दोनों उदाहरण नायिका के रूपगत आकर्षण के सिद्ध एवं साध्य रूपों के हैं। अतः, अभिनवगुप्त यह मानते हैं कि यह मत लक्षण का सम्बन्ध काव्य के प्रधान

---

१. इह गुणास्तावदात्मनि चिन्मये शृङ्गारादौ वर्तन्ते, शृङ्गारे चावश्यं च लक्ष्यत इति पृथक्सिद्धत्वादलङ्कारः शरीरनिष्ठमेव यत्पदं (अ) पृथक्सिद्धं तल्लक्षणम्, येन शरीरस्य सौन्दर्यं जायते। तच्च सिद्धरूपं साध्यरूपं वा, यथा श्यामेति 'मदमन्थर-गामिनी' इति च। एतदेव लक्षणं तच्चालङ्क्रियते। अलङ्कारैर्युक्तं काव्यं लक्षणैर्विना न शोभते। क्रियावाच्योपमेयभेदेन तदेतल्लक्षणं द्विधेति यथा 'श्यामा विशालाक्षी', 'मत्तमातङ्गगामिनी' इति च।—ना० शा०, अभिनव-भारती० १६ पृ० २९५

२. तत्र प्रथमपक्षे वर्णनीयप्रधानभूताधिकारपुरुषगत गुणविभाग एव काव्ये पर्यवसीयते। —वही, पृ० २९६

चरित्र से जोड़ता है। इस अभिमत को स्वीकार कर लेने पर लक्षण-सम्बन्धी उक्त मत अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है। भरत के छत्तीस लक्षण केवल नायक-नायिका के स्वरूप से ही सम्बद्ध नहीं हैं। उक्त मत को निस्सार सिद्ध करने के लिए ही अभिनव ने उक्त मतानुसार लक्षण को वर्णनीय प्रधान पुरुष के गुण से अभिन्न बताया है।

वस्तुतः उक्त मान्यता पर विचार करने से ऐसा जान पड़ता है कि जो स्थान वामन अपने शब्दार्थगत गुणों को काव्य में देना चाहते थे वही स्थान यहाँ लक्षण को दे दिया गया है। वामन ने शब्दार्थ की शोभा का आवश्यक धर्म गुणों को स्वीकार किया है। उनके अभाव में अलङ्कार की कोई उपयोगिता नहीं। गुणजनित शोभा की ही वृद्धि अलङ्कार करते हैं। लक्षण और अलङ्कार के सम्बन्ध में ऐसी ही धारणा उक्त मत में व्यक्त की गयी है। उक्त सिद्धान्त को मानने वालों ने रसगत माधुर्यादि गुणों से लक्षण का भेद निरूपण किया है। उन्होंने प्राचीनों के दस शब्दार्थगुणों पर विचार नहीं किया है। स्पष्ट है कि उक्त मतावलम्बी उत्तर-ध्वनि-काल के आचार्य होंगे। हमने अन्यत्र यह स्थापना की है कि काव्य में आत्म-धर्म माधुर्य आदि गुण आवश्य ग्राह्य हैं; किन्तु अवयव-गत श्लेषादि गुण भी त्याज्य नहीं। अतः, काव्य में शब्दगत एवं अर्थगत गुणों से भिन्न लक्षण का स्थान-निर्धारण वाञ्छनीय है। भरत ने स्वयं भी गुणों को शब्दार्थ का धर्म ही स्वीकार किया है, जो परम्परया रस से सम्बद्ध हैं। उक्त मत की परीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके अनुयायी लक्षण को काव्य के शरीर-भूत शब्दार्थ से अपृथक् सिद्ध धर्म मानते हैं। गुण को काव्य की आत्मा शृङ्गार आदि का धर्म तथा लक्षण को शरीर का धर्म कहा गया है। स्पष्ट है कि इस सन्दर्भ में शरीर से अभिप्राय काव्य-शरीरभूत शब्दार्थ का होगा, काव्य-गत नायक-नायिका के शरीर का—जैसा कि अभिनव गुप्त ने माना है—नहीं। अत. मेरी सम्मति में उक्त धारणा की यह व्याख्या समीचीन जान पड़ती है कि गुण काव्य की आत्मा रस में रहते हैं। लक्षण उसके शरीर-निष्ठ हैं अर्थात् शब्दार्थ के अपृथक्‌सिद्ध धर्म हैं तथा अलङ्कार काव्य-शरीर के पृथक्-सिद्ध तत्त्व हैं, जो काव्य-लक्षण को अलङ्कृत करते हैं। इस व्याख्यान से भरत, वामन आदि के शब्दार्थ-गुण एवं भरत के लक्षण; दोनों शब्दार्थनिष्ठ सिद्ध होते हैं। उक्त मत में लक्षण को काव्य-सौन्दर्य का जनक कहा गया है, वामन ने भी गुणों को काव्य-शोभा का नित्य हेतु माना है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि रसगत गुणों से ही लक्षण का आश्रय-भेद उक्त मत में प्रतिपादित हुआ है।

शब्दार्थगत गुण को स्वीकार नहीं करने के कारण उक्त मत के प्रतिष्ठाता ने लक्षण का श्लेषादि गुण से पृथक् काव्य में स्थान निरूपित नहीं किया।

२. लक्षण के सम्बन्ध में दूसरे मत का उल्लेख करते हुए अभिनव ने कहा है कि कुछ लोग नाटक की कथावस्तु के सन्ध्यङ्ग से लक्षण को अभिन्न मानते हैं। इतिवृत्त के आरम्भ से उसकी चरम परिणति तक कथा में जो खण्ड होते हैं, उनका परस्पर सन्धान कर जो अङ्ग उसमें सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं, वे लक्षण हैं। उन्हें ही अर्थ का सन्धायक होने के कारण सन्ध्यङ्ग कहा जाता है तथा रस के उपकारक होने के के कारण वृत्यङ्ग।[1] इस मत के अनुसार लक्षण और गुण में विशेष सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। दोनों में इतना ही साम्य देखा जा सकता है कि लक्षण भी रस के उपकारक हैं और काव्य के गुण भी रस का उत्कर्ष करते हैं।

३. गुण, अलङ्कार एवं लक्षण का पारस्परिक पार्थक्य-निरूपण कुछ लोगों ने आश्रय, भेद के आधार पर नहीं कर, कवि-प्रतिभा के व्यापार-भेद के आधार पर किया है। उनके मतानुसार काव्य-रचना में कवि की प्रतिभा तीन रूपों में सक्रिय होती है और उन्हीं तीनों के फल गुण, अलङ्कार एवं लक्षण हैं। कवि-प्रतिभा का प्रथम स्फुरण काव्य में रस एवं उसके धर्म गुण की सृष्टि करता है। प्रतिभावान् कवि का दूसरा कार्य किसी अर्थ के वर्णन के लिए उपयुक्त शब्द आदि उपादेय साधन का चयन होता है। यह वर्णना-व्यापार काव्यालङ्कारों का उत्पादक होता है। कवि की शक्ति का तीसरा व्यापार शब्द और अर्थ का शोधन है। विशेष शब्दों से विशेष शब्दों का तथा विशेष अर्थों से विशेष अर्थों का सङ्घटन कवि-प्रतिभा का तृतीय व्यापार है। यही लक्षण का मूल है। अतः, लक्षण प्रतिभासम्पन्न कवि के काव्य का शरीर है, जिस पर श्लेष आदि गुण

---

१. अन्ये मन्यन्ते—इतिवृत्तखण्ड (ल) कान्येव सन्ध्यङ्गकानि लक्षणानीति च व्यपदिश्यन्ते। निमित्तभेदात् पूर्वापरसम्बन्धेन बीजोपक्षिप्तेऽर्थे निर्वहणपर्यन्ते परस्परसन्धायकत्वेन सन्ध्यङ्गतया व्यपदेशः रसविशेषोपयोगितया वृत्यङ्गवाचोयुक्तिः, काव्यगतख्यातिप्राशस्त्योपयोगितया महापुरुषगतपाशध्वजपादरेखादिवल्लक्षणशब्दवाच्यता। तदुक्तं तत्रैव—

लक्षणान्येव बीजार्थक्रमनिर्वाहकानि च। इति,
प्रतिसन्धितदङ्गानि फलसिद्ध्युपपत्तितः॥ इति।
(काव्ये धीरोदात्तादिगुणाधानं वस्तुवर्णनाभङ्गिर्वेति केचित्)

—ना० शा० अ० भा० १६ पृ० २९५-६

रहते हैं।[1] इस मत में लक्षण को गुण का आश्रय बना दिया गया है। इस सिद्धान्त में रसगत तीन गुणों के साथ श्लेप आदि दस गुणों की भी सत्ता स्वीकार की गयी है। कवि-प्रतिभा के प्रथम परिस्पन्द से रसव्यञ्जक माधुर्य आदि गुण उद्भूत होते हैं तथा उसके तृतीय व्यापार से काव्य-शरीरभूत लक्षण उत्पन्न होता है, जिसमें श्लेषादि गुण रह सकते हैं। इस मत के अनुसार शब्द और अर्थ का स्निग्ध स्पर्श, जो काव्य का शरीर है, लक्षण कहा जाता है।

४. चौथा मत लक्षण को प्रबन्ध-धर्म के रूप में स्वीकार करता है।[2] कुछ प्रबन्ध गुण और अलङ्कार से पूर्ण हो सकते हैं। ऐसे प्रबन्ध को भूषण कहा जायगा। भरत ने 'भूषण' में गुण एवं अलङ्कार की समृद्धि पर बल दिया है। मेघदूत आदि भूषण-लक्षण के काव्य हैं। इस प्रकार लक्षण सम्पूर्ण प्रबन्ध की प्रकृति के द्योतक धर्म हैं।

५. पाँचवें मत के अनुसार कवि का अभिप्राय-विशेष ही लक्षण है।[3] इस कथन में लक्षण का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता और न काव्य के अन्य तत्त्वों के साथ उसका सम्बन्ध ही स्पष्ट हो पाता है। यदि कवि के अभिप्राय-मात्र को लक्षण मान लिया जाता तो गुण, अलङ्कार आदि सभी उसके सहायक मान लिये जाते; क्योंकि कवि के अभिप्राय को सशक्त बनाने में ही उनकी सार्थकता है। किन्तु, यहाँ 'अभिप्राय-विशेष' का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाया है।

१. एकेषां तु दर्शनं—कवेर्यः प्रतिभात्मा प्रथमपरिस्पन्दः तद्व्यापारबलोपनता गुणाः, प्रतिभावत एव हि रसाभिव्यञ्जनसामर्थ्यं माधुर्यादिरूपनिबन्धनसामर्थ्यं, न सामान्यकवेः। अनेन शब्देनेदं वस्तु वर्णयामीत्येवंभूतवर्णनापरपर्यायद्वितीय-व्यापारसंपाद्यास्त्वलङ्काराः। शब्दानमीभिः शब्दैरर्थानमीभिरर्थैः संघटयामी-त्येवमात्मकस्तु यस्तृतीयः कवेः परिस्पन्दः तदधीनात्मलाभादिशब्दात्मार्था-त्मककाव्यशरीरसंश्रितानि वक्ष्यमाणश्लेपादिगुणदशकसमभिव्यञ्जनव्यापाराणि शब्दार्थोपसंस्कारकल्पानि क्रियारूपाणि लक्षणानीति, यदुक्तं तत्रैव—

इतिशब्दार्थयोर्येयं संश्रिता देहभूतयोः।
काव्ये तया दर्शितानि लक्षणानि (विदुर्बुधाः)॥ इति
काव्येऽप्यस्ति तथा कश्चित् स्निग्धः स्पर्शोऽर्थशब्दयोः।
यः श्लेपादिगुणव्यक्तिदक्षः स्याल्लक्षणस्थितः। इति,

अत्र पक्षे कविव्यापारभेदाद्गुणालङ्कारलक्षणविभागः।—ना० शा० अ० भा० १६ पृ० २९६

२. 'प्रबन्धधर्मा लक्षणानि' इति केचित् ब्रुवते। —वही, १५ पृ० २९६

३. कवेरभिप्रायविशेषो लक्षणमितीतरे पुनर्मन्यन्ते।—वही, १६ पृ० २९६

६. कुछ लोग गुण और अलङ्कार की उचित योजना को लक्षण मानते हैं।[1] यह धारणा लक्षण को रसोचित गुण तथा अलङ्कार की योजना से अभिन्न बना देती है। उसकी पृथक् सत्ता ही इस प्रकार असिद्ध हो जाती है। रसानुरूप गुण-योजना को 'गुणौचित्य' कहा जाता है। इस प्रकार यह मत काव्य में उचित गुण-योजना को लक्षण से अभिन्न मानेगा।

७. सातवें मत के अनुसार काव्य का सुन्दर शरीर ही लक्षण है। अलङ्कार-निरपेक्ष होकर भी जो काव्य का शब्दार्थ रूप शरीर सुन्दर होता है, उस सौन्दर्य का हेतु-भूत धर्म ही काव्य-लक्षण है। इस प्रकार काव्य के सहज सौन्दर्य का हेतु लक्षण को माना गया है। उदाहरण में अमरुशतक काव्य के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उसमें अलङ्कारों का कृत्रिम आयोजन नहीं होने पर भी सहज सौन्दर्य है। वह सौन्दर्य लक्षण के कारण ही है।[2] प्रथम मत की तरह यह मत भी शब्दार्थगत सौन्दर्य का नित्य धर्म लक्षण को मानता है। फलतः, यह लक्षण-धारणा वामन की गुण-धारणा से अभिन्न हो गयी है।

८. आठवें मत की ओर निर्देश करते हुए अभिनव गुप्त ने लिखा है कि कुछ लोग उपमा, दीपक तथा रूपक अलङ्कारों के अनन्त भेद के आधार पर लक्षण का अन्य काव्याङ्गों से भेद प्रतिपादित करते हैं।[3] भरत के उक्त तीन अलङ्कार उत्तर काल में अनेक रूपों में विस्तार पा गये हैं। उस विस्तार का कारण उन अलङ्कारों का छत्तीस लक्षणों के साथ मिश्रण ही है। इस प्रकार यह मत अलङ्कारों के अनन्त भेदों का प्रयोजक धर्म लक्षण को मानता है। भट्टतौत ने इसपर विस्तार से विचार किया है। उनकी मान्यता है कि लक्षण अलङ्कारों में वैचित्र्य का आधान करते हैं। उदाहरणार्थ, उपमा अलङ्कार के साथ गुणानुवाद नामक लक्षण के योग से उपमा का प्रशंसोपमा भेद बनता है। उसी अलङ्कार का अतिशय नामक लक्षण के साथ योग होने पर अतिशयोक्ति अलङ्कार बनता है। उपमा अलङ्कार और मनोरथ लक्षण के मेल से अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार तथा उपमा और मिथ्याध्यवसाय के मिश्रण से अपह्नुति नामक अलङ्कार बना

---

१ केचिद् यथास्थानविशेषं यद्गुणालङ्कारयोजनं तल्लक्षणमिति।
—ना० शा० अ०भा०, १६ पृ० २६६

२. परे त्वभापन्त—अलङ्कारादिनिरपेक्षेणैव निसर्गसुन्दरो योऽभिनेयविशेषः काव्येषु दृश्यते, अमरुकश्लोकेष्वपि, तत्सौन्दर्यहेतुर्यो धर्मः स लक्षणः स एव चार्थः काव्यशरीरविशेषरूपो लक्षणम्।—वही० पृ० २९७

३. उपमादीपकरूपकाणामानन्त्याद् भेदमाहुः।—वही० पृ० २९७

है। इसी प्रकार अन्य अलङ्कारों के मूल में भी भरत के अलङ्कारों एवं लक्षणों का मिश्रण देखा जा सकता है।[1] इस मत में लक्षण का कोई लक्षण नहीं दिया गया है। तौत ने कुछ लक्षणों का अलङ्कार के योग से नवीन अलङ्कार के रूप में परिवर्त्तन मात्र दिखा दिया है। यह मत गुण के साथ लक्षण का किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं मानता।

९. नवम मत के अनुसार शब्द और अर्थ से उत्पन्न काव्य का वैचित्र्य लक्षण कहा जाता है।[2] शब्द का शब्द से, शब्द का अर्थ से, अर्थ का शब्द से तथा अर्थ का अर्थ से शोभाधान लक्षण माना गया है। यह मत भी अलङ्कार-निरपेक्ष काव्य-सौन्दर्य को काव्य का लक्षण मानता है। अतः यह मत भी वामन की गुण विषयक मान्यता के समकक्ष माना जा सकता है।

१०. अन्तिम मत को अभिनव गुप्त ने द्वितीय मत से अभिन्न माना है। इस मत के अनुयायियों की धारणा है कि जिस प्रकार मीमांसाशास्त्र में प्रसङ्ग, बाध, अतिदेश आदि को वाक्य-विशेष का व्यवच्छेदक लक्षण माना जाता है, उसी प्रकार काव्य विशेष के व्यवच्छेदक धर्म को भूषण आदि लक्षण कहा जाता है। यह मत लक्षण को सन्ध्यङ्ग मानने वाले दूसरे मत से अभिन्न है।[3] इसमें मीमांसा के लक्षण का दृष्टान्त मात्र नवीन है।

लक्षण-सम्बन्धी उक्त दस मतों के विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लक्षण के सम्बन्ध में कुछ धारणाएँ सामान्य रूप से प्रायः सब में व्यक्त हुई हैं। सभी मानते हैं कि—

(क) लक्षण काव्य के शरीर शब्दार्थ में रहते हैं।

(ख) वे शब्दार्थ के सौन्दर्य के हेतु हैं।

(ग) वे काव्य-शरीर के अपृथक्-सिद्ध धर्म हैं।

अभिनव गुप्त ने अपने गुरु भट्टतौत के मतानुसार लक्षण को काव्य का सौन्दर्याधायक धर्म ही माना है। कुछ आचार्यों ने लक्षण पर केवल नाट्य-धर्म या

१. उपाध्यायमतं तु—लक्षणबलाद् अलङ्काराणां वैचित्र्यमागच्छति। तथाहि गुणानुवादनाम्ना लक्षणेन योगात् प्रशंसोपमा। अतिशयनाम्नोऽतिशयोक्तिः। मनोरथाख्येन अप्रस्तुतप्रशंसा। मिथ्याध्यवसायेन अपह्नुतिः। (अ) सिद्ध्या तुल्ययोगितेत्येवमन्यदुत्प्रेक्ष्यम्। —ना० शा० अ० भा० पृ० ३२१

२. शब्देन अर्थेन चित्रत्वं लक्षणमित्यन्ये। —वही पृ० २९७

३. इतरेषां तु मतं यथा तन्त्रप्रसङ्गबाधातिदेशादिमीमांसाप्रसिद्धं वाक्यविशेषव्यवच्छेदलक्षणं तथा काव्यविशेषव्यवच्छेदकं भूषणादिलक्षणजातमिति स्वयं पक्षोऽ द्वितीयपक्षान्न भिद्यते। —वही १६, पृ० २९७

नाट्यालङ्कार के रूप में विचार किया है, जिसका काव्य के गुण, अलङ्कारआदि से कोई सम्बन्ध नहीं। पुस्तक के प्रस्तुत खण्ड में काव्य-लक्षण और काव्य-गुण का काव्य में पृथक्-पृथक् स्थान-निरूपण हमारा उद्देश्य है। अभिनव गुप्त ने लक्षण, गुण और अलङ्कार का भेद प्रतिपादित किया है। काव्य-लक्षण के उक्त वैशिष्टयों को ध्यान में रखने से अलङ्कार से उसका भेद स्पष्ट हो जाता है। काव्यशरीर की शोभा लक्षण से उत्पन्न होती है, जिसे अलङ्कार अभिवृद्ध करते हैं। लक्षण काव्य-शरीर के अपृथक्-सिद्ध धर्म हैं; पर अलङ्कार पृथक्-सिद्ध।

अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन आदि की तरह गुण को रस-धर्म मानते हैं। अतः, शब्दार्थ के सौन्दर्याधायक लक्षण के साथ रस के उत्कर्षाधायक गुण के किसी प्रकार के सम्बन्ध की सम्भावना भी उनके मन में नहीं आयी होगी। इसीलिए उन्होंने शब्दार्थगत अलङ्कार से लक्षण का पार्थक्य-प्रतिपादन ही आवश्यक समझा। मेरी धारणा यह है कि वामन आदि के शब्दार्थगत गुण का कार्य काव्य-लक्षण के कार्य से बहुत साम्य रखता है। अतः, अलङ्कार से लक्षण के भेद-निरूपण की अपेक्षा शब्दार्थगत गुण से उसका भेद-निरूपण अधिक आवश्यक है। लक्षण और अलङ्कार के कार्य काव्य में भिन्न-भिन्न हैं। अतः, उनका पारस्परिक भेद स्पष्ट है; पर वामन आदि आचार्यों के दस शब्दार्थगत गुणों के कार्य एवं उक्त दशपक्षी में प्रतिपादित लक्षण के कार्य बहुत अंश में साम्य रखते हैं। अतः, उनके बीच सूक्ष्म भेद को ढूँढना वाञ्छनीय होगा। उक्त लक्षण की तरह वामन के गुण भी शब्दार्थ के नित्य शोभाधायक धर्म हैं। दोनों के स्वरूप और कार्य मिलते-जुलते हैं। फिर भी दोनों को अभिन्न नहीं माना जा सकता। भरत ने शब्दार्थगत गुणों से पृथक् काव्य-लक्षणों की सत्ता मानी है।

गुण और लक्षण के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना के पूर्व अभिनव गुप्त के मतानुसार लक्षण का स्वरूप-विश्लेषण आवश्यक है। अभिनव ने दसपक्षी में लक्षण-सम्बन्धी जिन दस मान्यताओं का उल्लेख किया है, उनमें से लक्षण को सन्ध्यङ्ग मानने वाली धारणा को अस्वीकार कर शेष मान्यताओं के आधार पर लक्षण के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्त की स्थापना की है। उनके अनुसार दसपक्षी का एक भी मत भरत के सभी लक्षणों के लक्षण को दृष्टि में रखकर निर्मित नहीं हुआ है।[१] लक्षण नाम के सादृश्य के आधार पर लोगों ने काव्य-लक्षण को

---

२. 'एतेषु तु पक्षेष्वन्यतमग्रहे विशेषणानि न संगच्छन्ते स्पष्टेन पथा।
—ना० शा० अ० भा० १६ पृ० २९७

मानव-शरीर के सामुद्रिक लक्षण के समान मानकर काव्य में उनका वही स्थान निर्धारित कर दिया, जो स्थान शरीर में सामुद्रिक लक्षण का होता है। अभिनव गुप्त ने भरत के सभी लक्षणों के स्वरूप को देखते हुए लक्षण को काव्यशरीर से अभिन्न माना है। लक्षण काव्य का अभिधा-व्यापार ही है जिससे काव्य-शरीर का निर्माण होता है। भरत ने लक्षण की योजना के सम्बन्ध में कहा है कि इन छत्तीस लक्षणों का काव्य में रसानुरूप सम्यक् प्रयोग होना चाहिए। इस कथन के आधार पर अभिनव गुप्त ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कवि की वाणी का अभिधा-व्यापार ही लक्षण है, जो रस को उद्‌बुद्ध करने में सहायक होता है। कवि रस-विशेष के अनुरूप विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव आदि का वर्णन करता है, जिनका प्रयोजन सहृदय हृदय के स्थायी भाव को रस दशा तक पहुँचाना होता है। विभावादि का वर्णन कवि के अभिधा-व्यापार से सम्बद्ध है। वही काव्य लक्षण कहा जाता है। इसीलिए काव्य में उनके सम्यक् प्रयोग पर बल दिया गया है।[1] निष्कर्षतः, रसानुभूति में सहायक वर्णन को अभिनव गुप्त लक्षण कहेंगे। कवि की सुन्दर वाणी या कवि-व्यापार ही काव्य को शास्त्र आदि की उक्तियों से पृथक् करता है। अपने मत के समर्थन के लिए अभिनव ने भट्टनायक के कथन को उद्धृत किया है, जिसमें यह मान्यता प्रकट की गयी है कि काव्य में अभिधा-व्यापार प्रधान है। वही काव्य को शास्त्र से अलग करता है।[2] शास्त्र, पुराण आदि में अर्थ पर बल दिया जाता है; किन्तु काव्य में अर्थ को प्रस्तुत करने के सुन्दर ढंग पर विशेष बल दिया जाता है। शास्त्र में किसी भी तरह वस्तु का वर्णन हो सकता है; किन्तु यदि काव्य में वर्णन सुन्दर रूप में नहीं हुआ को शास्त्र आदि की उक्तियों से भिन्न माना है। अभिनव ने भामह के कथन को उद्धृत कर उनकी वक्रोक्ति को कवि-व्यापार से अभिन्न स्वीकार किया

१. यथारसं ये भावा विभावानुभावव्यभिचारिणः, तेषां योऽर्थः तं) स्थायीभावरसीकरणात्मकं प्रयोजनान्तरं गतानि प्राप्तानि, यदभिधाव्यापारोपसंक्रान्ता उद्यानादयोऽर्थास्तद्रसविशेषविभावादिभावं प्रतिपाद्यन्ते तानि लक्षणानीति सामान्यलक्षणम्। अत एव काव्ये सम्यक् प्रयोज्यानीति विषयस्तेषामुक्तः।

—ना० शा० अ० भा० १६ पृ० २९८

२. भट्टनायकेनापि (अ) त एव (शिक्षित्वा ?) अभिधाव्यापारप्रधानं काव्यमित्युक्तम्—

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग् विदुः।
(अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः ।।)
अर्थतत्त्वे तु युक्तेन वदन्तः स्थानगेतयोः ।।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्यं काव्यगार्भवेत्।

—वही १६ पृ० २९८

तो वह काव्य ही नहीं माना जा सकता। अतः, काव्य में शब्द और अर्थ की अपेक्षा व्यापार की प्रधानता होती है। भामह ने वक्रता के कारण काव्योक्ति है।[1] इस प्रकार अभिनव ने अभिधा-व्यापार को ही लक्षण माना है। अभिधा-व्यापार के तीन भेद माने जाते हैं। काव्य को वर्णनीय, शब्दनीय तथा कवि-कर्म कहा जाता है। इस प्रकार काव्य में अभिधेय, अभिधान तथा अभिधा; इन तीन तत्वों को स्वीकृति मिली है। जिस अर्थ का वर्णन काव्य में किया जाता है, वह अभिधेय कहलाता है। उस अर्थ का शब्दों से वर्णन अभिधान है तथा उस अर्थ का बोध कराने वाली शब्द की मुख्य शक्ति अभिधा। इस प्रकार काव्य में शब्द, प्रतिपाद्य एवं प्रतिपादन करने वाले कवि; इन तीन की सत्ता स्वीकार कर व्यापार को त्रिगत माना गया है। अतः, शब्द-व्यापार, अभिधातृ-व्यापार या कवि-व्यापार तथा प्रतिपाद्य-व्यापार; इन तीनों को अभिनव ने लक्षण स्वीकार किया है।[2] काव्य-लक्षण को व्यापार का पर्याय मान लेने पर यह स्वाभाविक था कि अभिनव लक्षण के केवल छत्तीस भेद न मानकर अनन्त भेद स्वीकार करते। कवि के व्यापार को कुछ वर्गों में विभक्त कर सीमित कर देना सम्भव नहीं। उनकी मान्यता है कि भरत भी लक्षण के असंख्य भेद स्वीकार करते थे। उन्होंने छत्तीस लक्षण-रूपों का उल्लेख तो कर दिया; पर वे यह नहीं मानते थे कि लक्षण इतने ही हैं। भरत के उपजाति-पाठ एवं अनुष्टुप-पाठ की ओर निर्देश करते हुए अभिनव ने यह दिखाया है कि और भी अधिक लक्षण-भेदों की सम्भावना से ही भरत ने दूसरे पाठ में उन्हीं लक्षणों के भिन्न लक्षण दिये हैं।[3]

अभिनव गुप्त ने कवि-व्यापार को लक्षण सिद्ध करने के उपरान्त उसके साथ गुण (रसगत माधुर्यादि गुण, एवं अलङ्कार के सम्बन्ध का विवेचन किया है। शब्दगत गुण शब्द का वह धर्म है जिससे अर्थ में रसाभिव्यक्ति की क्षमता

---

१. भामहेनापि—

'सैपा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते' (२ ७५)। इत्यादि।

तेन परमार्थे व्यापार एव लक्षणम्।—ना० शा० अ० भा पृ० २९८

२. उक्तं च वर्णनीयं शब्दनीयं कवेः कर्मेति च व्युत्पत्तित्रयं काव्यमिति। अनेनाभिधेयं अभिधानं अभिधां च स्वीकृत्यावस्थीयते, अपि च शब्दव्यापारोऽभिधातृ-व्यापारः प्रतिपाद्यव्यापारश्चेति त्रिगतः।—वही, पृ० २९७

३. षट्त्रिंशदिति च नान्यादि (नान्यानि) वारणपरम्। कविहृदयवर्तिनां प्रियाणां (अभिप्रायाणां) परि (अपरि) संख्येयत्वात।" ...तथा च मतान्तरेण भरत-मुनिरेव अन्यथाप्युद्देशलक्षणेन च नामान्तरैरपि लक्षणान्तरैरपि च व्यवहारं करोति। तत एव पुस्तकेषु भेदो दृश्यते। तं च दर्शयामः।—वही,० पृ० २९८

आती है तथा रस के अनुरूप श्रुति-संवेदना उत्पन्न होती है। शब्दालङ्कार में जब समान वर्ण या पद की आवृत्ति होती है तब दूसरा वर्ण या पद पूर्ववर्ती वर्ण या पद के नाद-सौन्दर्य की वृद्धि करता है। अर्थ-गुण एवं अर्थालङ्कार के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि रस की अभिव्यक्ति का हेतु अर्थगुण है तथा वर्ण्य वस्तु से भिन्न वस्तु का बोध अर्थगत अलङ्कार। इन दोनों से लक्षण का भेद यह है कि तीनों प्रकार के अभिधा-व्यापार उनके विषय हैं। लक्षण के विषय को स्पष्ट करते हुए अभिनव ने लिखा है कि कवि-कर्म में प्रवृत्त होने पर कवि विशेष प्रकार के शब्दों से विशेष रूप में आशय-विशेष का वर्णन करता है, जिससे वह सहृदय भावक के अन्तर में विशेष प्रकार का भाव जगा सके। इस प्रकार वह विशेष प्रकार के रस से पूर्ण काव्य का सृजन करता है। फलतः चित्त-वृत्ति-रूप रस को लक्ष्य कर विभिन्न प्रकार के रसों के उपयुक्त विभाव आदि की योजना से वैचित्र्य-पूर्ण तीनों प्रकार के अभिधा-व्यापार लक्षण कहे जाते हैं। रसानुरूप विभावादि की योजना से ही कवि-व्यापार में वैचित्र्य आता है और वह लक्षण कहा जाता है, अन्यथा व्यापार कुलक्षण माना जाता है। जिस प्रकार पयोधर का पीन होना लक्षण है; किन्तु कटि का पीन होना कुलक्षण, उसी प्रकार रसानुरूप विभावादि का अभिधा-व्यापार लक्षण है, प्रतिकूल होने पर वही कुलक्षण हो जाता है।[1]

अभिनव का अभिमत है कि लक्षण ही प्रधान है, गुण और अलङ्कार उसकी अपेक्षा गौण।[2] लक्षण काव्य का शरीर है, अलङ्कार उसका सौन्दर्य-प्रसाधन।

---

१. "तत्र शब्दस्य रसाभिव्यक्तिक्षमार्थप्रतिपादकत्वं स्वयं च श्रोत्रे च संक्रान्तिमात्रं नान्तरीयकतया तद्रसदर्शनयोग्यतापादनसामर्थ्याद्गुणशब्दवाच्यम्, आवर्तमानो द्वितीयो वर्णः पदं वा प्राक्तनवर्णनादशोभाहेतुरलङ्कारः। एवमर्थस्यापि, यद्रसाभिव्यक्तिहेतुत्व सोऽर्थगुणः यस्तु वस्त्वन्तरं वदनस्येव चन्द्रसोऽलङ्कारः, यस्तु त्रिविधोऽप्यभिधाव्यापारः स लक्षणानां विषयः। तथा हि—इदमनेन शब्देनानयेतिकर्तव्यतयाऽमुनाशये नेत्थंभूतबुद्धिजननाय ब्रुवे इति कविः प्रवर्तते, स तथाभूतं रसवत्काव्यं विधत्ते। तत्र चित्तवृत्त्यात्मकं रसं लक्षयंस्तत्तद्रसोचितविभावाद्वैचित्र्यसम्पादकस्त्रिविधोऽभिधाव्यापारो लक्षणशब्देनोच्यते। यथा च पीवरत्वं स्तनयोर्लक्षणं मध्यस्य तु कुलक्षणं, एवं किञ्चिदभिधीयमान केनचिद्रूपेण, रसोचितेन विभादिरूपेण तमेव पदार्थक्रमं लक्षयल्लक्षणं अन्यत्र तु कुलक्षणम्, तेन सर्वेऽलङ्कारा गुणास्तत्समुदायाद्विलक्षणा भवन्ति।

—ना०, शा० अ० भा०१६ पृ० २९७

२. ×× इति लक्षणान्येव हि प्रधानम्, तत्प्रसङ्गेन ग्रहा (गुणा) लंकार (रा) इति।

—वही, पृ० २९८

गुण काव्य की आत्मा रस से सम्बद्ध हैं; अतः लक्षण से भिन्न हैं। शब्दगुण एवं अर्थगुण की सार्थकता रस-व्यञ्जना में ही है। भरत के प्रथम लक्षण 'भूषण' के लक्षण में गुण और अलङ्कार की बहुविध योजना को आवश्यक माना गया है। इसकी व्याख्या करते हुए अभिनव ने गुण और अलङ्कार की रसोचित योजना को 'भूषण' कहा है।[१] अभिनव गुप्त यह मानते हैं कि अलङ्कार के अभाव में भी लक्षण से काव्य में सौन्दर्य रहता है। अक्षरसङ्घात-लक्षण के उदाहरण में अलङ्कार का सद्भाव होने पर भी उसे उसकी शोभा का हेतु अभिनव ने नहीं माना है। वह शोभा लक्षण-जन्य है। पदौचित्य के कारण अलङ्कार-निरपेक्ष काव्य-सौन्दर्य उक्त पद में माना गया है।[२] अक्षरसङ्घात लक्षण का पदौचित्य भरत के ओज गुण के साभिप्राय पद से भिन्न नहीं। अभिनव गुप्त ने गुण, अलङ्कार और लक्षण के इस मिश्रण को स्वीकार करते हुए यह मन्तव्य प्रकट किया है कि गुण-जनित सौन्दर्य का हेतु भी कवि-व्यापार है और वही कवि-व्यापार लक्षण भी है; अतः लक्षण का गुण एवं अलङ्कार से मिश्रण अस्वाभाविक नहीं।[३] शोभा लक्षण के उदाहरण में अभिज्ञानशाकुन्तलम् से मृगया-संलग्न राजा के वर्णन का श्लोक उद्धृत कर यह दिखाया गया है कि उसमें अलङ्कार के अभाव में भी सौन्दर्य है। वह सौन्दर्य शोभा नामक लक्षण के कारण है।[४] अभिमान लक्षण के उदाहरण में उसे कवि का अभिधान कहा गया है।[५] इससे स्पष्ट है कि अभिनव लक्षण को काव्य-शरीर के रूप में कवि का साध्य स्वीकार करते हैं। वे तौत की तरह अलङ्कार के वैचित्र्य का हेतु भी लक्षण को मानते हैं। गुणानुवाद लक्षण के उदाहरण पर टिप्पणी लिखते

---

१. ··· भूषणैः कटकादिभिः विभज्य स्थान-देश-काल-दशा-पुरुषादिविभागं विचार्य न्यस्तैरिवगुणालङ्कारैर्यदलङ्करणं तद्भूषणं नाम लक्षणं कविव्यापारः, तद्द्वारेण शब्दार्थव्यापारावपि। —ना० शा० अ० भा० पृ० २९९

२. × × अत्र अर्थस्य अलङ्कारघटनाप्रयासमन्तरेणैव सुन्दरत्वं लक्षणकृतमेव।
—वही १६, पृ० ३०१

३. एतेषां च लक्षणानां सङ्कीर्णत्वेन लक्ष्यं दृश्यते। — वही १६, पृ० ३०१

४. ×× यथा—मेदश्छेदकृशोदरंलघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः···इत्यादि॥ (शाकु० २)
× × × न चात्रालङ्कारः किञ्चिदिति कविव्यापारेण यः शब्दार्थव्यापारादेवार्थघटनात्मा तत्कृतं हृद्यं लक्षणार्थमेव। — वही १६. ३०१-२

५. × × तथाभूतोऽर्थोऽलौकिकत्वात्तावानुपायः कविनालङ्कार उपमानोमेयभावस्य कथञ्चिदप्यस्वीकारात् केवलं वक्तुरभिमतं वदता किमिव मयाप्येवम् तदपि नैवेत्यभिधानमभिधानाख्यलक्षणम्। —वही १६, पृ० ३०२

हुए अभिनव ने अलङ्कार के वैचित्र्य को लक्षणकृत कहा है।[1] गुणकीर्तन लक्षण के उदाहरण में भी श्लेष अलङ्कार को लक्ष्य कर लक्षण को अलङ्कार के वैचित्र्य का हेतु कहा गया है। काव्य में अलङ्कार, गुण, लक्षण आदि का पृथक्-पृथक् स्थान निर्धारित करने के लिए राजा के व्यक्तित्व का दृष्टान्त दिया गया है। एक राजा अलङ्कार्य, गुणवान् तथा लक्षणीय; तीनों हो सकता है। वह मुकुट आदि अलङ्कार धारण करता है; अतः अलङ्कार्य है। उसमें शौर्य आदि गुण रहते हैं; अतः वह गुणवान् है। उसमें वक्षस्थल की विशालता आदि लक्षण रहते हैं; अतः वह लक्षणीय होता है। इसी प्रकार काव्य में अलङ्कार, गुण और लक्षण रहते हैं। अलङ्कार मुकुट आदि की तरह पृथक्-सिद्ध हैं, गुण शौर्य आदि की तरह आत्मनिष्ठ हैं तथा लक्षण वक्ष की विशालता आदि की तरह शरीरनिष्ठ होते हैं।[2] जिस प्रकार वक्षस्थल की विशालता शरीर से पृथक् नहीं, उसी प्रकार काव्य के लक्षण भी काव्य-शरीर से भिन्न नहीं। अभिनव की धारणा है कि काव्य में गुण तथा अलङ्कार से जनित सौन्दर्य के अतिरिक्त जो भी सहज सौन्दर्य रहता है वह लक्षण-जन्य होता है। इस प्रकार अभिनव समग्र काव्य-क्षेत्र में लक्षण को व्यापक स्वीकार करते हैं।

निष्कर्ष यह कि अभिनवगुप्त ने दशपक्षी मतों में से लक्षण को सन्ध्यङ्ग मानने वाले सिद्धान्त को अस्वीकार कर शेष मतों का सार ग्रहण कर अपनी लक्षण-विषयक मान्यता की स्थापना की है। लक्षण काव्य-शरीर या कवि-व्यापार या अभिधा है। वह गुण और अलङ्कार की अपेक्षा प्रधान है। गुण और अलङ्कार उसी में रहते हैं। अलङ्कार के अभाव में भी काव्य में लक्षण से नैसर्गिक सौन्दर्य रह सकता है। औचित्य को अभिनव ने लक्षण का उद्देश्य माना है।[3] लक्षण का क्षेत्र व्यापक है। लक्षण केवल छत्तीस नहीं, अनन्त हो सकते हैं।

काव्य में लक्षण, गुण और अलङ्कार के पृथक्-पृथक् स्थान-निरूपण के लिए राजा के व्यक्तित्व में चौड़े वक्षस्थल, शौर्य तथा मुकुट का जो दृष्टान्त दिया

१. × ननूपमेयमलङ्कारः, किमतः, उक्तं ह्यलङ्काराणां वैचित्र्यं लक्षणकृतमेव।
— ना० शा० अ० भा १६, पृ० ३०५

२. यथा हि राजता विभज्य विचार्यमाणा इत्थमवतिष्ठते — मुकुटाद्यलङ्कारः शौर्यादि गुणो व्यूढोरस्कत्वादि लक्षणसमुदायो राजालङ्कार्यश्च गुणवांश्च लक्षणीयश्च तथा काव्यमपि तेन गुणालङ्कारव्यतिरिक्तं सर्वं लक्षणमिति मन्तव्यम्।
— वही १६, पृ० ३०५

३. ··· परमौचित्यख्यापनं प्रयोजनम्। वही १६ पृ०, ३२०

गया है, उसमें रसगत माधुर्यादि तीन गुणों का ही स्थान-निरूपण हो पाया है, वामन आदि के दस शब्दार्थगत गुणों का नहीं। अभिनव गुप्त श्लेषादि शब्दगत एवं अर्थगत गुणों से परिचित थे। भरत के दस गुणों पर अभिनव की टिप्पणी की समीक्षा करते हुए हम यह देख चुके हैं कि अभिनव पर वामन की गुणधारणा का पुष्कल प्रभाव है। इसीलिए वे भरत के प्रत्येक गुण का शब्दगत भेद भी करते हैं और अर्थगत भेद भी। इतना ही नहीं, भरत के गुण-लक्षण में वे वामन की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग भी कर देते हैं। किन्तु 'लोचन' में उन्होंने तीन गुण की धारणा को ही स्वीकार किया है।

अभिनव ने लक्षण से गुण के पार्थक्य-निरूपण में शब्दार्थगुणों का भी उल्लेख अवश्य किया है; किन्तु उन्हें भी उन्होंने रस-व्यञ्जक कहा है। वामन के गुणों को रसव्यञ्जक नहीं कहा गया है। अतः, रस-व्यञ्जक गुणों से अभिनव का अभिप्राय माधुर्यादि गुणों का ही माना जायगा। आनन्दवर्धन जिस प्रकार उपचार से माधुर्य आदि को शब्दार्थगत भी कहते हैं, उसी प्रकार उपचार से ही अभिनव ने माधुर्य आदि के लिए शब्दार्थ-गुणों का उल्लेख किया है। लक्षण के सन्दर्भ में उनका विवेच्य रसगत गुण ही है, यह राजा के उक्त दृष्टान्त से स्पष्ट है। विचारणीय यह है कि अभिनव की मान्यता के अनुरूप काव्य में लक्षण के स्थान को स्वीकार कर लेने पर रसगत गुण और शब्दार्थगत अलङ्कार का अलग-अलग स्थान तो निर्धारित हो जाता है; पर वामन आदि के शब्दार्थगत गुणों का काव्य में क्या स्थान माना जाय और लक्षण से भिन्न उनका कौन-सा कार्य नियत हो ?

लक्षण-विवेचन में एक स्थल पर अभिनव गुप्त ने काव्य को सुन्दर महल के समान मानकर उसमें विभिन्न काव्याङ्गों का स्थान निर्धारित किया है। छन्द काव्य-महल की भूमि है, लक्षण महल की रचना है तथा अलङ्कार और गुण उस महल की चित्रकारी है।[1] यहाँ अभिनव महल के सौन्दर्य का साधन गुण और अलङ्कार को मानते हैं। महल के सुन्दर आकार का निर्माण लक्षण है जिसमें स्वतः सौन्दर्य रहता है। उसमें चित्रकारी से सुन्दरता की वृद्धि होती

१. यथा प्रसादकोट्यादिके कर्त्तव्ये प्रथमं भूमिः. तद्वत् काव्ये निर्मातव्ये भूमिकल्पः छन्दोविधिः, क्षेत्रपरिग्रहवृत्तसमाश्रयमित्यादिविरचनस्थानीयं लक्षणयोजनम्, चित्रकर्मप्रतिममलङ्कारगुणनिवेशनम्······एवंभूतवाचिकाभिनयस्वरूपं चतुर्दशादिभिः षड्भिरध्यायैरुच्यते। —ना० शा० अ० भा० १५ पृ० २९२

है। इस दृष्टान्त में गुण को काव्य के शब्दार्थ का धर्म माना जा सकता है; किन्तु यहाँ काव्य में उसका स्थान एवं कार्य और भी अस्पष्ट है। गुण और अलङ्कार दोनों का कार्य यहाँ समान मान लिया गया है।

अभिनव गुप्त की उक्त लक्षण-धारणा के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके मतानुसार—

(क) लक्षण कवि-व्यापार, अभिधा या काव्य-शरीर हैं।

(ख) काव्य का सहज सौन्दर्य लक्षण-जनित ही होता है।

(ग) लक्षण गुण एवं अलङ्कार की अपेक्षा प्रधान तत्त्व है।

(घ) लक्षण अपने आप में साध्य हैं, जब कि गुण और अलङ्कार काव्य में सौन्दर्य के साधन।

(ङ) लक्षणों के साथ गुण और अलङ्कार का मिश्रण सम्भव है; चूँकि वे गुण एवं अलङ्कार के आश्रय हैं।

(च) लक्षण अलङ्कार के अनुग्राहक हैं, अर्थात् वे अलङ्कार में वैचित्र्य का आधान करते हैं।

उक्त विवेचन के आधार पर यह धारणा समीचीन जान पड़ती है कि लक्षण काव्य का शरीर है। वह कवि-व्यापार है। काव्य का शरीर अनिवार्यतः सुन्दर ही होता है, असुन्दर वर्णन काव्य नहीं कहा जा सकता। अतः काव्य के शरीरभूत लक्षण के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह अर्थ के उपस्थापन का सुन्दर व्यापार है। इसे ही काव्य का अभिधा-व्यापार कहते हैं। भरत-प्रदत्त सभी लक्षणों के स्वरूप पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें से कुछ का सम्बन्ध भाव से है तथा कुछ का उक्ति की भङ्गी से। अतः लक्षण काव्य-शरीर या अभिधा-व्यापार से अभिन्न हैं। शब्दार्थगत श्लेषादि गुणों को काव्य-शरीर-रूप लक्षण का नित्य धर्म माना जाना चाहिए। वे काव्य-शरीर के उत्कर्ष के नित्य साधक हैं। अलङ्कार काव्य-शरीर-भूत लक्षण के अनित्य शोभाकर धर्म हैं। कई लक्षणों के लक्षण में भरत ने गुणों का सद्भाव आवश्यक माना है। भूषण लक्षण में गुण की सत्ता आवश्यक है। 'अक्षर-सङ्घात' भी भरत के साभिप्रायत्व-रूप ओज से बहुत भिन्न नहीं। माधुर्यादि गुण काव्य की आत्मा रस पर आश्रित रहते हैं। अतः, लक्षण से उनका भेद स्पष्ट है।

अभिनव गुप्त के दृष्टान्त में ही उक्त तत्त्वों का पृथक्-पृथक् स्थान निरूपित किया जा सकता है। उन्होंने काव्य के लिए गुणवान्, अलङ्कार्य तथा लक्षणीय राजा का जो रूपक बाँधा है उसमें माधुर्यादि गुणों को शौर्य आदि के समान आत्म-धर्म माना जा सकता है। उसके शब्दार्थगत गुणों को रूप-गत तेज, कान्ति, मृदुता आदि के समान स्वीकार किया जा सकता है। शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार को मुकुट आदि के समान कहा जा सकता है (किन्तु इस कथन का अर्थ इतना ही समझा जाना चाहिए कि अलङ्कार काव्य के अनित्य शोभाकर धर्म हैं, यह नहीं कि मुकुट की तरह काव्यालङ्कारों को भी स्वेच्छा से काव्य से जोड़ा या हटाया जा कता है)। लक्षण उसके वक्ष की पुष्टता, बाहु की दीर्घता नेत्र की विशालता आदि सुन्दर शरीर-रचना के समान माने जा सकते हैं। इस प्रकार शब्दार्थगत गुणों का भी लक्षण से पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। जिस प्रकार आकृति की मृदुता, उसकी कान्ति, उसका तेज आदि धर्म आकार की रचना से भिन्न हैं, वे सुन्दर शरीर में रहकर उसकी सुन्दरता की वृद्धि करते हैं; उसी प्रकार काव्य के शब्दार्थगत गुण भी शरीभूत लक्षण से भिन्न हैं, वे काव्य-शरीर में रहकर उस में उत्कर्ष का आधान करते हैं। माधुर्य आदि गुण रस में रहते हैं। अतः लक्षण से उनका भेद स्पष्ट है।

निष्कर्ष—रीति, अलङ्कार, औचित्य, रस एवं लक्षण के साथ गुण के सम्बन्ध के इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि गुण रीतियों का विधायक तथा व्यावर्तक, औचित्य से नियमित, काव्यात्मभूत रस तथा काव्य के सुरम्य शरीर-भूत लक्षण पर आश्रित वह धर्म है जिस पर काव्य की उत्कृष्टता निर्भर रहती है। जिस प्रकार लोक में गुणवान् व्यक्ति ही समादृत होते हैं, उसी प्रकार काव्य-जगत में भी गुण-युक्त रचनाएँ ही आदर पा सकती हैं। शब्दार्थगत गुण काव्य के विधान का उत्कर्ष-साधन करते हैं तथा रस-गत गुण काव्य के भाव में उत्कर्ष का आधान करते हैं। इन दोनों प्रकार के गुणों में तात्त्विक भेद नहीं है, यद्यपि भारतीय काव्याशास्त्र में गुणों को शब्दार्थ-धर्म एवं रस-धर्म मानने वाले आचार्यों के दो अलग-अलग सम्प्रदाय रहे हैं। भाव का उत्कर्ष शारीरिक आभा को भी बढ़ा देता है। अतः रसगत या काव्यात्मनिष्ठ गुण प्रकारान्तर से काव्य-शरीर का भी उपकार कर ही देते हैं। इसी प्रकार शरीर की शोभा का हेतु भी परम्परया आत्मा के सौन्दर्य का हेतु बन जाता है। इस तथ्य को गुण-धारणा सम्बन्धी दोनों सम्प्रदायों के आचार्य किसी-न-किसी रूप में स्वीकार करते थे। यही कारण है कि गुण को रस-निष्ठ मानने वाले आचार्यों ने गुण-

व्यञ्जक शब्दार्थ की कल्पना कर उपचारात् गुण को शरीर-धर्म भी स्वीकार कर लिया। दूसरी ओर गुण को शब्दार्थ-धर्म मानने वाले भरत, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने कुछ गुणों का सम्बन्ध रस-भाव आदि से भी जोड़ दिया। भरत ने अनेक भाव तथा शृङ्गार, अद्भुत आदि रसों का अनिवार्य सम्बन्ध उदारता गुण से माना है। वामन का कान्ति गुण तो दीप्तरसत्व ही है। अभिप्राय यह है कि गुण को आत्मनिष्ठ तथा शरीरनिष्ठ मानने वाले मतों में तात्त्विक विरोध नहीं होना चाहिए। ध्वनिवादी आचार्यों के मतानुसार, यदि काव्य के अलङ्कार शरीर के माध्यम से आत्मा का उपकार कर सकते हैं तो शब्दार्थगत काव्य-गुणों को शरीर के माध्यम से रस का उत्कर्षाधायक मानने में क्या आपत्ति हो सकती है? मेरी सम्मति में, गुण को शब्दार्थगत एवं रसगत मानने वाले सम्प्रदायों में विरोध का कोई सबल आधार नहीं था। दोनों मतों को मिलाकर गुण के व्यापक स्वरूप की कल्पना सम्भव थी। गुण, रस एं शब्दार्थ दोनों का उत्कर्ष करने वाले काव्य के अनिवार्य धर्म हैं।

प्रसाद गुण को सभी आचार्यों ने एक-मत होकर काव्य सौन्दर्य के लिए आवश्यक माना है। वह काव्य की स्पष्टता या सरलता का गुण है। प्राचीन आचार्यों ने प्रसाद में प्रसिद्ध अर्थ वाले पदों के प्रयोग पर बल देकर उसे काव्य की सुबोधता का हेतु माना है। भामह ने काव्य की सुगमता के लिए ही प्रसाद गुण में बहुत पदों के समास को त्याज्य बताया है। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी चित्त-व्यापकता को प्रसाद का लक्षण मानकर उसे काव्य की स्पष्टता का ही गुण स्वीकार किया है। रस-ध्वनि-प्रस्थान के आचार्यों ने प्रसाद को रसाभिव्यक्ति का हेतु मानकर उसके सर्वाधिक महत्त्व का उद्घोष कर दिया है। रस काव्य की आत्मा है, जिसकी अभिव्यक्ति प्रसाद पर निर्भर है। माधुर्य और ओज गुणों के विषयभूत रसों में भी प्रसाद का सद्भाव अनिवार्य माना गया है। अतः प्रसाद को काव्य-सौन्दर्य का मूलाधार माना जा सकता है। वस्तुतः, काव्यार्थ की दुर्बोधता उसके सौन्दर्य को नष्ट कर देती है। अतः, प्राच्य एवं प्रतीच्य मनीषी इस विचार में एक-मत हैं कि सुबोधता काव्य का मुख्य गुण है। किन्तु, यह ध्यातव्य है कि काव्य में सरलता निश्चित सीमा में ही काम्य मानी जाती है। काव्य का अर्थ यदि इतना स्पष्ट हुआ कि असहृदय एवं अशिक्षित व्यक्ति भी उसे अनायास समझ ले तो वहाँ काव्य की कान्ति मलिन पड़ जाती है। इसीलिए अति-स्फुट व्यङ्ग्य वाले काव्य को भारतीय विचारकों ने गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य के अन्तर्गत मानकर मध्यम कोटि का काव्य कहा है। एफ०एल० लुकस

ने भी यही अभिमत व्यक्त किया है, जब उन्होंने यह कहा है कि दाँते आदि महाकवियों के काव्य का अनुवाद करते हुए जब उसका अर्थ अत्यन्त स्फुट कर दिया जाता है तब उसके अर्थ का वैभव समाप्त हो जाता है।[१] पाठक की दृष्टि से भी काव्य की रसलता की समस्या विचारणीय है। काव्य की सरलता को पाठक की योग्यता से निरपेक्ष नहीं माना जा सकता। जो काव्य शिक्षित व्यक्ति के लिए सरल हो सकता है वही अशिक्षित व्यक्ति के लिए क्लिष्ट; जो अर्थ सहृदय के लिए सुबोध हो सकता है वही असहृदय के लिए दुर्बोध। अरसिक पाठक के अन्तर में भाव की व्यापकता कभी आती ही नहीं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न हो सकता है कि काव्य में सरलता या प्रसाद गुण के सद्भाव के निर्णायक किस स्तर के पाठक की रुचि को माना जाय? इस प्रश्न का उत्तर सरल है। काव्य-गुणत्व का मान-दण्ड सहृदय पाठक की परिष्कृत रुचि को ही माना जा सकता है। अज्ञ व्यक्ति किसी गुण का अनुभव नहीं कर सके, इससे गुण की सत्ता का अपलाप नहीं हो जाता। अन्धे के नहीं देख पाने से किसी वस्तु का अस्तित्व असिद्ध नहीं हो जाता। प्रसाद काव्य का आवश्यक धर्म है। वह शब्दार्थगत भी है और रसगत भी। माधुर्य और ओज भी आत्मा तथा शरीर; दोनों के गुण हैं। श्लेषादि अन्य गुणों का सम्बन्ध केवल शब्द एवं अर्थ से है।

काव्यगुण रीतियों के विधायक हैं। गुणों के कारण ही रीति में उत्कर्ष रहता है। गुण ही रीति को ग्राह्य बनाते हैं। वैदर्भी में सभी गुण रहते हैं; अतः वह ग्राह्य है। अन्य रीतियों में कुछ गुण का अभाव रहता है; अतः उन्हें अग्राह्य माना गया है। यद्यपि यह मान लेना कठिन है कि वैदर्भी रीति के काव्य में सभी गुणों की एकत्र स्थिति रहती है, फिर भी इतना तो माना ही जाना चाहिए कि अन्य रीतियों से वैदर्भी की उत्कृष्टता का रहस्य उसमें सर्वाधिक गुणों का सद्भाव ही है। वैदर्भ काव्य में अन्य काव्यों की अपेक्षा अधिक गुण रहते हैं; अतः उसे श्रेष्ठ काव्य का उपलक्षण मान लिया गया है। शब्दार्थ-गत गुण ही उस रीति के शब्दगत एवं अर्थगत वैभव के परिचायक हैं। पाश्चात्य रीतिशास्त्र में भी काव्य-शैलियों के गुणों का उल्लेख हुआ है। पाश्चात्य

१. "Indeed it is one of the difficulties of translating Aeschylus or Dante the translation tends, by being clearer, to loose the more shadowy grandeur of the original." F. L. Lucas, Style, पृ० १२५

रीति-शास्त्र की शैली से मिलती-जुलती भारतीय रीति (डॉ० सुशील कुमार डे के इस मन्तव्य को अंशतः ही स्वीकार करते हुए कि भारतीय रीति पश्चिम की शैली से भिन्न अर्थ रखती है) में शब्दगत एवं अर्थगत चारुता के विविधि रूपों का जितना सूक्ष्म एवं व्यापक विश्लेषण हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

गुण अलङ्कार की अपेक्षा काव्य के अधिक महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं। अलङ्कार के अभाव में भी सुरम्य काव्य की रचना सम्भव है; किन्तु गुण के अभाव में उक्ति दूषित हो जाती है और परिणामतः वह काव्य नहीं कही जा सकती। इसीलिए गुण को काव्य का नित्य शोभाकर धर्म माना गया है। गुण-हीन एवं दोषमय रचना की कोई उपादेयता नहीं। सेनापति ने उचित ही कहा है कि :—"दोष सो मलीन गुनहीन कविताई है तो, कीने अरबीन परबीन कोई सुनि है।"[१] अलङ्कार के अभाव में काव्य त्याज्य नहीं माना जाता; पर गुण का अभाव उसे अग्राह्य बना देता है। इसीलिए मम्मट ने काव्य में शब्द और अर्थ का गुण-युक्त होना आवश्यक माना है।

औचित्य गुण का विधायक है। औचित्य के अभाव में गुण की कल्पना नहीं की जा सकती। जिन्हें काव्य में गुण माना जाता है, वे तत्त्व भी अनौचित्य के कारण दोष बन जाते हैं। औचित्य दोष को भी गुण में परिणत कर देता है। अतः, औचित्य उस आधार-शिला के समान है, जिसपर गुण का अस्तित्व टिका रहता है।

अर्वाचीन साहित्यशास्त्र में लक्षण काव्य का विचारणीय तत्त्व नहीं रह गया है। काव्यशास्त्रीय चिन्तन में उसका केवल ऐतिहासिक महत्त्व शेष है। अभिनव गुप्त ने जिसे कभी काव्य का अभिधा-व्यापार कहकर काव्य का प्रधान अङ्ग एवं काव्यगत चारुता का प्रमुख स्रोत मान लिया था, वह तत्त्व धीरे-धीरे विस्मृत हो गया। उसके कुछ भेद भाव क्षेत्र में विलीन हो गये तथा कुछ भेद नवीन अलङ्कारों को उत्पन्न कर उन्हीं में लुप्त हो गये। गुण और लक्षण; दोनों के सद्भाव में काव्य की सहज शोभा के अनन्य हेतु का निर्णय थोड़ा कठिन था। लक्षण को काव्य-सौन्दर्य का नित्य हेतु माना गया था। गुण भी उसके नित्य धर्म माने जाते हैं। अतः दोनों में अत्यन्त सूक्ष्म भेद किया जा सकता था, जिस पर हम विचार कर चुके हैं। लक्षण-धारणा के लुप्त हो जाने पर केवल गुण ही काव्यशोभा के नित्य धर्म माने जा सकते हैं। इस प्रकार गुण काव्य के बहुत महत्त्वपूर्ण धर्म सिद्ध होते हैं। उन्हें केवल काव्य

---

१. सेनापति, कवित्तरत्नाकर

के अङ्गी रस की अपेक्षा अप्रधान माना गया है। रस के धर्म होने के कारण अर्थात् उसके प्रति गौण होने के कारण ही उन्हें गुण कहा जाता है। रस के उत्कर्ष-साधन में ही उनकी सार्थकता मानी गयी है। शब्दार्थगत गुण काव्य के स्वतन्त्र धर्म हैं। वे शब्दार्थ की शोभा के हेतु हैं। रस की अभिव्यक्ति का मूल हेतु होने के कारण प्रसाद की श्रेष्ठता असन्दिग्ध है। इस प्रकार शब्दार्थगत गुण काव्य के शब्द और अर्थ की महिमा बढ़ाते हुए रस के उत्कर्ष में सहायक होते हैं और रस-गत गुण उसका साक्षात् उत्कर्ष करते हैं। निष्कर्षतः गुण काव्य की उत्कृष्टता के हेतु हैं।



अध्याय ३

गुणों का वर्गीकरण

काव्यगुणों के स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए उन्हें मुख्य दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—शब्दार्थगत गुण-वर्ग एवं रसगत गुण-वर्ग। इन दो वर्गों के अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने सम्पूर्ण प्रबन्ध के भी कुछ गुणों का उल्लेख किया है। यद्यपि उन गुणों में से अधिकांश प्रबन्ध के अङ्गों से अभिन्न हैं, जिनका उल्लेख दण्डी ने प्रबन्धकाव्य के लक्षण में किया है, तथापि उनके निर्वाह से प्रबन्ध में उत्कृष्टता आती है और इस दृष्टि से उन्हें प्रबन्ध का गुण माना गया है। हेमचन्द्र की गुण-धारणा के विवेचन में हम देख चुके हैं कि उन्होंने पाठ-धर्म के रूप में पाँच गुणों का उल्लेख किया है, जिन्हें उनसे पूर्व ही आचार्यों ने स्वीकृति दी थी। इस प्रकार प्रबन्ध गुण और पाठ-गुण के भी दो अलग वर्ग माने गये हैं।

शब्दार्थगत गुणों के भी दो वर्ग स्वीकार किये गये हैं—सामान्य और वैशेषिक। सामान्य गुण-वर्ग में दस गुण आते हैं, जिनके स्वरूप की मीमांसा पिछले अध्याय में की जा चुकी है। सामान्य गुणों के निम्नलिखित तीन वर्ग माने जा सकते हैं—(क) शब्दगत गुण-वर्ग, (ख) अर्थगत गुण-वर्ग एवं (ग) शब्दार्थोभयगत गुण-वर्ग।

शब्दगत गुण-वर्ग में चार गुण रखे जा सकते हैं—(१) प्रसाद, (२) समता, (३) समाधि तथा (४) ओज।

अर्थगत गुण-वर्ग में दो गुण आते हैं—(१) अर्थव्यक्ति तथा (२) कान्ति।

शब्दार्थोभयगत गुण-वर्ग में आने वाले निम्नलिखित चार गुण हैं—(१) श्लेष, (२) माधुर्य, (३) सुकुमारता तथा (४) उदारता।

वामन के पूर्व शब्दगत एवं अर्थगत वर्गों में काव्य-गुणों को विभक्त करने का प्रयास नहीं हुआ था; किन्तु भरत और दण्डी के गुणों के लक्षण से यह स्पष्ट है कि उन्होंने कुछ गुणों को शब्द-सौन्दर्य-मात्र का हेतु, कुछ को अर्थ-सौन्दर्य मात्र का हेतु तथा अन्य को शब्दार्थयुगल की शोभा का हेतु माना था। भरत के गुणों को शब्दगत, अर्थगत एव उभयगत वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। भरत की गुण-धारणा का अध्ययन करते हुए हमने उनके दस गुणों

को उक्त तीन वर्गों में बाँटकर उनके स्वरूप का अध्ययन किया है। हमारी धारणा है कि भरत के गुण-लक्षण को ध्यान में रखते हुए उनके प्रसाद, माधुर्य, समता और ओज गुणों को शब्द-गुण-वर्ग में; अर्थव्यक्ति, उदारता और समाधि गुणों को अर्थगत गुण-वर्ग में एवं श्लेष, कान्ति और सौकुमार्य गुणों को शब्दार्थ-युगलगत गुण-वर्ग में विभक्त किया जा सकता है। डॉ० प्रकाशचन्द्र लाहिरी ने भरत के श्लेष, समता और सुकुमारता गुणों को उभयगत माना है।[1] भरत के श्लेष और सौकुमार्य को उभयगत मानने में हम डॉ० लाहिरी से सहमत हैं; किन्तु हमने यह प्रमाणित किया है कि भरत की कान्ति उभयगत गुण है। समता को हम केवल शब्दगत गुण मानते हैं।

अभिनव गुप्त ने भरत के सभी गुणों के दो वर्ग स्वीकार किये हैं—शब्दगत वर्ग एवं अर्थगत वर्ग। अभिनव की इस कल्पना पर वामन का प्रभाव स्पष्ट है। उन्होंने भरत की गुण-परिभाषा की व्याख्या वामन के मतानुरूप की है। भरत की गुण-परिभाषा के आधार पर दस गुणों को दोनों वर्गों में रखना युक्तिसङ्गत नहीं जान पड़ता।

दण्डी के गुण भरत के गुणों से नाम्ना अभिन्न हैं; किन्तु प्रकृत्या कुछ अंश में भिन्न हैं। उन्होंने भी भरत की तरह गुणों का वर्गीकरण नहीं किया है, फिर भी उनके गुणों को शब्दगत, अर्थगत एवं उभयगत वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। भरत के गुणों की तरह दण्डी के गुणों में भी कुछ की प्रकृति केवल शब्द में शोभाधान करने की; कुछ की केवल अर्थ में सौन्दर्याधान की तथा कुछ की शब्द एवं अर्थ—दोनों में सौन्दर्य का आधान करने की है। अतः, भरत के समान ही दण्डी के गुणों के भी शब्दगत, अर्थगत एवं उभयगत—ये तीन वर्ग माने जा सकते हैं; किन्तु भरत और दण्डी के गुणों के स्वरूप-भेद को दृष्टिगत रखते हुए दण्डी के गुणों का उक्त तीनों वर्गों में विभाजन स्वतन्त्र रूप से करना पड़ेगा। भरत की अर्थव्यक्ति में केवल अर्थ पर बल दिया गया है। इसलिए भरत की अर्थव्यक्ति को अर्थगत गुण-वर्ग में रखा गया है; किन्तु दण्डी की अर्थव्यक्ति में शब्द एवं अर्थ, दोनों ही दृष्टियों से विचार किया गया है। अतः, उनके अनुसार अर्थव्यक्ति उभयगत गुण है। भरत का श्लेष शब्दार्थ-युगल का गुण है; किन्तु दण्डी का श्लेष केवल शब्द का गुण है। भरत की उदारता अर्थगत गुण है; पर दण्डी की उदारता उभयगत। दण्डी के गुणों के शब्दगत, अर्थगत एवं उभयगत स्वभाव पर दण्डी की गुण-

---

१. प्रकाशचन्द्र लाहिरी The Guna doctrine in Bharata.—I. H. Q. vol VI पृ० ३६२.

धारणा के अध्ययन-क्रम में विस्तार से विचार किया जा चुका है। उस अध्ययन के अधार पर दण्डी के गुणों का वर्गीकरण नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

शब्दगत गुण-वर्ग—प्रसाद, समता, सुकुमारता, ओज और श्लेष।

अर्थगत गुण-वर्ग—कान्ति एवं समाधि।

शब्दार्थयुगलगत गुण-वर्ग—माधुर्य, अर्थव्यक्ति तथा उदारता।

दण्डी के दस गुणों का मार्गों के आधार पर भी वर्गीकरण किया जा सकता है। यद्यपि उन्होंने सभी गुणों को वैदर्भ मार्ग का ही गुण कहा है, तथापि वे कुछ गुणों को गौड मार्ग के भी गुण मानते हैं। अतः, उनके गुणों के दो वर्ग माने जा सकते हैं—एकमार्गगत या असाधारण गुण-वर्ग तथा मार्ग-द्वयगत साधारण गुणवर्ग। अर्थव्यक्ति, उदार, समाधि तथा अग्राम्यत्व माधुर्य मार्गद्वय-साधारण गुण हैं। शेष गुण केवल वैदर्भ मार्ग के गुण हैं।

दण्डी के उपरान्त वामन ने सभी गुणों को शब्दगत एवं अर्थगत मानकर उनके स्पष्टतः दो वर्ग स्वीकार कर लिये। दस गुण शब्दगत भी माने गये और अर्थगत भी। प्रत्येक गुण के दो रूप कल्पित हुए। भरत और दण्डी ने कुछ गुणों के उभयगत स्वरूप की जो कल्पना की थी उसी से प्रेरित होकर सम्भवतः वामन ने सभी गुणों के शब्दगत एवं अर्थगत भेद की कल्पना की। वामन के अनुसार शब्दगत वर्ग में श्लेष आदि दस गुण रखे जा सकते हैं और उन सभी गुणों को अर्थगत वर्ग में भी रखा जा सकता है। ओज, कान्ति, (गौडी रीति के) तथा माधुर्य और सौकुमार्य (पाञ्चाली के) मार्ग-विभाजक असाधारण गुण हैं तथा शेष गुण साधारण। इस प्रकार वामन के गुणों के भी साधारण और असाधारण वर्ग माने जा सकते हैं।

भोज ने वामन के मत का अनुसरण करते हुए सभी गुणों को शब्दगत भी माना और अर्थगत भी। भोज में भेदीकरण और वर्गीकरण का मोह सर्वाधिक पाया जाता है। इसीलिए प्राचीन आचार्यों के दस गुणों के स्थान पर उन्होंने चौबीस गुणों की कल्पना कर ली है। चौबीस शब्दगत एवं उतने ही अर्थगत गुणों की कल्पना कर भोज ने गुणों की संख्या बढ़ाकर अड़तालीस कर दी। उन गुणों के शब्दगत एवं अर्थगत वर्ग की कल्पना के अतिरिक्त भी उन्होंने कई वर्गों में गुणों का विभाजन किया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में भोज के वर्गीकरण का समीक्षात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

भोज ने वाक्य-गुणों के साथ ही प्रबन्धगत गुणों की भी कल्पना की है। भोज के पूर्ववर्ती भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने भाविक को 'प्रबन्ध-गुण' कहा

था, यद्यपि वे भाविक को गुण नहीं मान कर अलङ्कार ही मानते थे। दण्डी आदि आचार्यों ने महाकाव्य के कुछ आवश्यक तत्त्वों का उल्लेख महाकाव्य के लक्षण में किया था। भोज ने उनके भाविक-वर्णन-प्रसङ्ग से 'प्रबन्ध-गुण' शब्द लेकर उनके महाकाव्य-लक्षण के कुछ तत्त्वों के साथ उसे सम्बद्ध कर दिया तथा एक नवीन गुण-वर्ग कल्पित कर लिया, जिसे सम्पूर्ण प्रबन्ध का उत्कर्ष-कारक धर्म माना गया।

भोज ने वाक्य-गुण के तीन प्रकार स्वीकार किये हैं—वाह्य, आभ्यन्तर तथा वैशेषिक। शब्दगत गुण बाह्य माने गये हैं तथा अर्थगत गुण आभ्यन्तर। वैशेषिक गुण वे दोष हैं जो स्थिति-विशेष में गुण वन जाते हैं। वैशेषिक गुणों को दोष-गुण भी कहा जा सकता है।

चोबीस गुण बाह्य भी हैं और आभ्यन्तर भी। उन चौबीस गुणों को भोज ने पुनः दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया है—(क) अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य गुण-वर्ग एवं (ख) पृथग्यत्ननिर्वर्त्य गुण-वर्ग। अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य गुणों के दो वर्ग स्वीकृत हुए हैं :—(१) रसारम्भक गुण वर्ग तथा (२) रस-भाव-आरब्ध-गुण-वर्ग।

अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य तथा पृथग्यत्ननिर्वर्त्य गुणों की कल्पना सर्वप्रथम भोज ने ही की है; किन्तु उसे उनकी सर्वथा मौलिक उद्भावना नहीं माना जा सकता। आनन्दवर्धन ने अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य एवं पृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कारों की कल्पना की है। उनके अनुसार रस, भाव आदि की योजना से अतिरिक्त श्रम के बिना ही कवि की रचना में स्वाभाविक रूप से जिन अलङ्कारों की योजना हो जाती है उन्हें अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य कहा जाता है और जिन अलङ्कारों की योजना के लिए कवि अतिरिक्त आयास करता है, उन्हें पृथग्यत्ननिर्वर्त्य कहा जाता है। अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार की उक्त धारणा के अधार पर भोज ने अपृथग्यत्न-निर्वर्त्य गुणों की कल्पना कर ली और उसके रसारम्भक एवं रसभाव-आरब्ध; दो भेद स्वीकार किये। पृथग्यत्ननिर्वर्त्य गुणों की कल्पना का आधार भी आनन्दवर्धन की पृथग्यत्ननिर्वर्त्य-अलङ्कार-धारणा ही है। भोज ने अपने चोबीस गुणों को उक्त तीन वर्गों में विभक्त किया है। वह विभाजन निम्नलिखित है :—

१. अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य रसारम्भक गुण-वर्ग—इस वर्ग में ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यता के अनुसार माधुर्य, ओज और प्रसाद; ये तीन गुण रखे गये हैं। भोज ने उक्त तीनों गुणों के लक्षण ध्वन्यालोक से उद्धृत कर उनका पूर्णतः अनुसरण किया है। आनन्दवर्धन के माधुर्य गुण में दण्डी के माधुर्य गुण की अग्राम्यता-धारणा को मिला दिया गया है। माधुर्य शृङ्गार और करुण का

गुण है; अतः वह अनिवार्यतः उनके साथ रहता है। ओज गुण रौद्र आदि रसों के साथ अविच्छेद्य-भाव से रहा करता है। प्रसाद का सद्भाव रसों में सार्वत्रिक एवं सार्वकालिक है। प्रसाद के बिना रस की अनुभूति ही सम्भव नहीं होती। उक्त गुणों को रसाभिव्यक्ति का कारण मानकर उन्हें रसारम्भक कहा गया है।

२. अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य रसारब्ध गुण-वर्ग—इस वर्ग में छह गुण रखे गये हैं—(क) अर्थगत और्जित्य, जिसे भोज ने 'रूढाहङ्कारता' कहा है; (ख) शब्दगत भाविक गुण, जिसमें भाव के कारण वाक्य-वृत्ति होती है; (ग) अर्थगत माधुर्य, जिसे क्रोध-दशा में भी तीव्रता का अभाव माना गया है; (घ) अर्थगत उदात्तता, जो आशय का उत्कर्ष रूप है; (ङ) अर्थगत प्रेय, जिसे भोज अर्थ की अभीष्टता मानते हैं तथा (च) अर्थगत कान्ति, जिसे दीप्तरसत्व कहा गया है।

३. पृथग्यत्ननिर्वर्त्य गुण-वर्ग—इस वर्ग के गुणों को ही भोज शुद्ध शब्दार्थगत गुण मानते हैं। इस वर्ग में भोज के चौबीस शब्दगत एवं उतने ही अर्थगत गुणों में से रसारब्ध गुण-वर्ग के उक्त छह गुणों को छोड़ शेष सभी गुण हैं। ये गुण रस से सर्वथा स्वतन्त्र हैं। जहाँ ये रस के साथ रहते हैं, वहाँ दोनों का साङ्कर्य माना जाता है। रसारम्भक एवं रसारब्ध गुणों का रस से अविनाभाव सम्बन्ध है। अतः उनका सङ्कर नहीं होता।[1]

भोज के उक्त वर्गीकरण-सिद्धान्त का आधार दृढ़ नहीं है। उस वर्गीकरण में कई प्रकार की अनुपपत्तियाँ हैं। रसारम्भक गुण-वर्ग में परिगणित माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण भोज के अपने गुण नहीं हैं। उन्होंने जिन चौबीस वाक्य-गुणों को स्वीकार किया है उनमें माधुर्य, ओज और प्रसाद के नाम भी सम्मिलित अवश्य हैं; किन्तु उनका स्वरूप रसाम्भक गुणों के स्वरूप से सर्वथा भिन्न है। भोज के माधुर्य, ओज और प्रसाद शब्दार्थगत गुण हैं। उनमें से अर्थमाधुर्य को भोज ने रसाब्ध गुण-वर्ग में रखा है; शेष गुण पृथग्यत्ननिर्वर्त्य गुण-वर्ग में ही माने जायेंगे। भोज की गुण-धारणा के परीक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे गुणों को रस-धर्म नहीं मानकर शब्दार्थ-धर्म मानते थे। यदि वे गुण को रस-धर्म स्वीकार करें तो कान्ति का 'दीप्तरसत्व' लक्षण तथा गाम्भीर्य की 'ध्वनिमत्ता' परिभाषा असङ्गत सिद्ध होगी। स्पष्ट है कि भोज गुणों को शब्दार्थ-गत मानते थे और इसीलिए उन्होंने चौबीस गुणों को शब्दगत तथा अर्थगत स्वीकार कर उनके अड़तालीस भेद कर दिये। अतः, रसारम्भक गुण-वर्ग की कल्पना भोज की आत्मघाती युक्ति है।

---

१. भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण पृ० ७२०-२१

रसारम्भक गुण-वर्ग के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि माधुर्य को शृङ्गार आदि मधुर रसों का तथा ओज को रौद्र आदि दीप्त रसों का आरम्भक या हेतु मानना समीचीन नहीं। उक्त वर्ग की कल्पना इस मान्यता पर आधृत है कि वे गुण रस के आरम्भक हैं अर्थात् उन गुणों के कारण ही रस की अभिव्यक्ति सम्भव होती है। वस्तुतः गुण को रस का उत्कर्ष-साधक धर्म ही माना जा सकता है; उन्हें रस का आरम्भक नहीं कहा जा सकता। ऐसा जान पड़ता है कि आनन्दवर्धन की गुण-धारणा को नहीं अपना कर भोज वामन की धारणा का अनुगमन करना चाहते थे; किन्तु उनके समय तक आनन्दवर्धन के सिद्धान्त का इतना दुर्वार प्रभाव काव्यशास्त्र के पाठकों पर जम चुका था कि उसकी उपेक्षा सम्भव नहीं हो सकी। भोज न तो उसका परिहार कर सके और न उसे पूर्णतः स्वीकार कर सके। आनन्दवर्धन की मान्यता के त्याग-ग्रहण की इस द्विधा में भोज की धारणा अस्पष्ट रह गयी।

रसारब्ध गुण-वर्ग एवं पृथग्यत्ननिर्वर्त्य गुण-वर्ग में भी गुणों का विभाजन यौक्तिक पद्धति पर नहीं हुआ है। क्रोध-दशा में मृदुता को (माधुर्य को) यदि रसारब्ध अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य माना जाय तो ध्वनिमत्ता (गाम्भीर्य) को पृथग्यत्न-निर्वर्त्य गुण मानने में क्या युक्ति होगी? भाविक गुण के शब्दगत भेद को भोज ने रसारब्ध गुण-वर्ग में परिगणित किया है। इस प्रकार शब्दगत होने पर भी भाविक रस से आरब्ध माना गया है। भोज शब्दगत गुण को बाह्य गुण मानते हैं। जो रस से आरब्ध हो उसे बाह्य गुण कहना असङ्गत हो जायगा। अर्थगत सौकुमार्य गुण के लक्षण एवं भोज के द्वारा उद्धृत उसके उदाहरण के आधार पर उसे भी पृथग्यत्ननिर्वर्त्य गुण नहीं मानकर रसारब्ध गुण-वर्ग में रखना ही उचित होता। भोज उसे 'अनिष्ठुरत्व' कहते हैं। भावगत अनिष्ठुरता के उदाहरण में वन-गमन के समय सीता की दशा देख राम की आँखों में अश्रु का प्रथम अवतार दिखाया गया है। यदि भोज अर्थ की अभीष्टतमता (प्रेय) को अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य मानते हैं तो अर्थगत सौकुमार्य को पृथग्यत्ननिर्वर्त्य मानने का क्या आधार होगा? स्पष्ट है कि शब्दार्थगत गुणों का उक्त वर्गीकरण निर्भ्रान्त नहीं है।

वैशेषिक गुण-वर्ग

भोज ने वैशेषिक गुण-वर्ग की पृथक् कल्पना की है। हम यह देख चुके हैं कि भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने भी स्थिति-विशेष में दोषों का गुणत्व स्वीकार किया है। भोज ने उसी धारणा को व्यवस्थित रूप में गुण-प्रकरण में

प्रस्तुत किय है। उन्होंने वैशेषिक गुणों या दोष-गुणों की संख्या चौबीस मानी है। इन गुणों के तीन भेद होते हैं—पदगत, वाक्यगत तथा वाक्यार्थगत। इस वर्गीकरण का आधार दोषों का पदगत, वाक्यगत तथा वाक्यार्थगत होना है। चौबीस पदगत दोष अवस्था-विशेष में गुण बन जाते हैं; अतः चौबीस प्रकार के पदगत वैशेषिक गुण होते हैं। चौबीस वाक्यगत दोषों के गुण बन जाने से चौबीस वाक्यगत वैशेषिक गुण होते हैं तथा चौबीस वाक्यार्थगत दोषों के गुणत्व से चौबीस वाक्यार्थगत वैशेषिक गुण बनते हैं। इस प्रकार पदगत, वाक्यगत एवं वाक्यार्थगत भेद से वैशेषिक गुणों की संख्या वस्तुतः बहत्तर हो जाती है। इन वैशेषिक गुणों का स्वतन्त्र नामकरण नहीं हुआ है। जो दोष विशेष स्थिति में गुण बन जाते हैं उन दोषों की संज्ञा से ही उन वैशेषिक गुणों को भी अभिहित किया जाता है। तीन वर्गों में वैशेषिक गुणों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है :—

१ पदगत वैशेषिक गुण-वर्ग

पदगत दोषगुण-वर्ग में ये चौबीस गुण रखे गये हैं—(१) असाधु, (२) अप्रयुक्तत्व, (३) श्रुतिकष्टत्व, (४) अनर्थकत्व, (५) अन्यार्थत्व, (६) अपुष्टार्थत्व, (७) असमर्थत्व, (८) अप्रतीतत्व, (९) क्लिष्टत्व, (१०) गूढार्थत्व, (११) नेयार्थत्व, (१२) सन्दिग्धत्व, (१३) विरुद्धमतिकृत् (१४) अप्रयोजकपदत्व, (१५) देश्य तथा (१६) ग्राम्य के घृणावत्, अश्लील एवं अमङ्गलार्थ भेदों के संवीत, गुप्त तथा लक्षित अवस्थाओं में नौ प्रकार। उक्त पन्द्रह एवं नौ के योग से पदगत वैशेषिक गुण चौबीस प्रकार के हो जाते हैं। संवीत अर्थ में ग्राम्य के घृणावत्, अश्लील एवं अमङ्गलार्थ गुण हो जाते हैं। इसी प्रकार गुप्त एवं लक्षित होने पर भी उक्त तीन दोष गुण बन जाते हैं। इस प्रकार तीन दोष से नौ गुण बनते हैं। फलतः उक्त सोलह दोष स्थितिविशेष में चौबीस गुणों में बदल जाते हैं।

२. वाक्यगत वैशेषिक गुण

चौबीस वाक्यगत दोषों के गुणत्व से चौबीस वैशेषिक गुण बनते हैं। इस वर्ग के दोष-गुण हैं :— (१) शब्दहीन, (२) अपक्रम या क्रमभ्रष्ट, (३) विसन्धि, (४) पुनरुक्त, (५) व्याकीर्ण, (६) सङ्कीर्ण, (७) अपद, (८) वाक्यगर्भित, (९) भिन्नलिङ्गत्व, (१०) भिन्नवचनत्व, (११) हीनोपम, (१२) अधिकोपम, (१३) छन्दोभङ्ग, (१४) यतिभङ्ग, (१५) अशरीर या क्रियाहीन तथा (१६) अरीतिमत्, जिसके शैथिल्य, वैषम्य, कठोरत्व,

अप्रसन्न, नेयार्थ, ग्राम्य, असमस्त, अनिर्व्यूढ तथा अनलङ्कार; ये नौ भेद होते हैं।

३. वाक्यार्थगत वैशेषिक गुण

इस वर्ग में निम्नलिखित दोष-गुण रखे गये हैं :—(१) अपार्थ, (२) व्यर्थ, (३) एकार्थ, (४) सन्दिग्ध, (५) अपक्रम, (६) खिन्न, (७) अत्युक्ति, (८) परुष, (९) विरस, (१०) हीनोपम, (११) अधिकोपम, (१२) असदृशोपम, (१३) अप्रसिद्धोपम, (१४) निरलङ्कार, (१५) अश्लील तथा (१६) विरुद्ध। विरुद्ध के मुख्य तीन भेद होते हैं—प्रत्यक्ष-विरोध, अनुमान-विरोध एवं आगम-विरोध। उन तीनों के पुनः तीन-तीन भेद होने से विरुद्ध के नौ भेद हो जाते हैं। उक्त तीनों प्रकार के विरोधों के तीन-तीन भेद इस प्रकार होते हैं—प्रत्यक्ष विरोध के देश-विरोध, कालविरोध एवं लोकविरोध। अनुमान विरोध के युक्तिविरोध, औचित्यविरोध तथा प्रतिज्ञाविरोध, और आगम-विरोध के धर्मशास्त्र-विरोध, अर्थशास्त्र- विरोध एवं कामशास्त्र- विरोध; ये तीन भेद माने गये हैं। इस प्रकार विरुद्ध दोष के नौ प्रकार हो जाते हैं, जिनसे नौ वैशेषिक गुण बनते हैं।

भोज ने उक्त दोषों को जिन-जिन स्थितियों में गुण स्वीकार किया है उनका विवेचन किया जा चुका है। इस मान्यता से सहमत होना कठिन है कि भोज के वैशेषिक गुण-वर्ग में परिगणित दोष तत्तत् स्थितियों में गुण ही हो जाते हैं। कुछ दोष अवश्य स्थिति-विशेष में सौन्दर्याधायक बन जाते हैं; किन्तु कुछ दोषों को विशेष स्थितियों में क्षम्य-मात्र माना जा सकता है शोभाकर गुण नहीं। उदाहरणार्थ, शब्दहीन या च्युत-संस्कार दोष अनुकृति में गुण माना जायगा; क्योंकि अशुद्ध बोलने वाले पात्रों के संस्कार को यथार्थ रूप में व्यञ्जित करने में वह सहायक होता है। किन्तु, छन्द के नियम के अनुरोध से अपुष्टार्थ आदि दोषों को केवल क्षम्य माना जा सकता है। यदि उस दोष के त्याग से छन्द के नियम का भङ्ग अपरिहार्य हो जाय तो कवि छन्द-भङ्ग नहीं कर अपुष्टार्थ दोष को ही अपना लेते हैं। जब दो दोषों में से एक का ग्रहण अनिवार्य हो जाय तो छोटे दोष को स्वीकार करना ही श्रेयस्कर होता है। छन्द के नियम का भङ्ग अपुष्टार्थ से बड़ा दोष माना गया है। इसीलिए उसका सर्वथा त्याग वाञ्छनीय माना गया है। यदि उससे बचने के लिए अपुष्टार्थ दोष को अपनाना भी पड़े तो वह क्षम्य होगा। इसी प्रकार भोज के कुछ अन्य वैशेषिक गुण भी स्थिति-विशेष में अदोष-मात्र माने जा सकते हैं। निर्दोषता को गुण कहने की तरह सामान्य अर्थ में ही उन्हें गुण कहा जा सकता है, काव्य के शोभाधायक धर्म के अर्थ में नहीं। काव्य-दोषों की तीन स्थितियाँ सम्भव हैं। वे सामान्य स्थिति में

दोष होते हैं, विशेष स्थिति में उनमें से कुछ दोष गुण हो जाते हैं तथा कुछ अदोष। भोज के दोष-गुणों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—एक वर्ग में वे दोष रखे जा सकते हैं, जो स्थिति-विशेष में अदोष होते हैं तथा दूसरे वर्ग में उन दोषों को रखा जा सकता है जो विशेष स्थिति में गुण बन जाते हैं। इस प्रकार पदगत, वाक्यगत एवं वाक्यार्थगत; तीनों वैशेषिक गुणों के दो दो वर्ग बन जाते हैं। नीचे हम उक्त वर्गों के दोष-गुणों के अदोषत्व एवं गुणत्व पर विचार करेंगे।

पदगत-दोष का अदोष-वर्ग

अपुष्टार्थ, अप्रतीत, क्लिष्ट, गूढार्थ तथा अप्रयोजकपदत्व को स्थिति-विशेष में अदोष ही माना जाना चाहिए। तीन पद-दोषों को भोज ने स्वयं तीन-तीन स्थितियों में अदोष कहा है। उनके अनुसार ग्राम्य, घृणावत् अश्लील एवं अमङ्गलार्थ दोष संवीत, लक्षित एवं गुप्त अर्थ में दोष नहीं माने जाते। इस प्रकार चौबीस पदगत वैशेषिक गुणों में से भोज स्वयं नौ गुणों को अदोष मात्र स्वीकार करते हैं। मेरी सम्मति में इन नौ की तरह अपुष्टार्थ आदि पाँच भी स्थिति-विशेष में दोषाभाव ही होते हैं, गुण नहीं। उन पाँच दोषों के स्वरूप एवं स्थिति विशेष में उनके कार्य का विवेचन वाञ्छनीय है :—

अपुष्टार्थ दोष की स्थिति पर ऊपर विचार किया जा चुका है। अप्रतीत दोष में शास्त्र-मात्र में प्रयुक्त पदों का प्रयोग होता है। भोज की मान्यता है कि शास्त्रविदों के सम्भाषण में वह गुण बन जाता है। काव्य को दृष्टि में रखते हुए शास्त्र-वेत्ताओं के भाषण में अप्रतीत पद-प्रयोग को अदोष तो अवश्य माना जा सकता है; किन्तु उसे गुण मानना उचित नहीं। काव्य में प्रतीत पद-प्रयोग ही गुण होता है। शास्त्र-विद् भी यदि प्रतीत-पदों का व्यवहार करें तो यह उनकी वाणी का सौन्दर्य ही माना जायगा। अप्रचलित पदों का प्रयोग कर पाठक को चमत्कृत करने की प्रवृत्ति स्वस्थ साहित्यिक रुचि का परिचायक नहीं। इससे काव्य का नैसर्गिक सौन्दर्य नष्ट होता है। संस्कृत-साहित्य के अलङ्कृत काल में अप्रतीत पदों के प्रयोग में कवियों की रुचि देखी जाती है। शिशुपालवध के सम्बन्ध में प्रचलित इस कथन से कि 'उसके नौ सर्गों के बाद कोई नवीन शब्द नहीं बच जाता'[१]—इस धारणा की पुष्टि होती है कि माघ तथा उस युग के कवि शब्द-प्रयोग के प्रति बहुत सावधान थे तथा नवीन-नवीन शब्दों को शास्त्र से ढूँढ़ कर प्रयोग करने में उनका अहं तुष्ट होता था। सम्भव है कि वैसी ही रुचि से प्रभावित होने के कारण भोज ने अवस्था-

---

१. 'नवसर्गगते माघे नव शब्दो न विद्यते।'

विशेष में 'अप्रतीतत्व' को गुण मान लिया हो। 'क्लिष्टत्व' दोष को भी गुण मानना उचित नहीं। भोज ने व्याख्यान आदि में गूढार्थत्व को गुण माना है। मेरी सम्मति में अगूढार्थता में ही व्याख्यान का सौन्दर्य रहता है, गूढार्थता में नहीं। अप्रयोजकपदत्व भी स्थिति-विशेष में अदोष-मात्र माना जा सकता है, गुण नहीं।

पदगत दोष का गुण-वर्ग

पदगत वैशेषिक गुणों में परिगणित चौबीस गुण में से दोषाभाव वर्ग के उक्त चौदह गुणों को छोड़ शेष दस गुण इस वर्ग में रखे जा सकते हैं। विशेष स्थितियों में वे दोष शोभाधायक गुण बन जाते हैं।

वाक्यगत दोषों का गुण-वर्ग

इस वर्ग में पुनरुक्त, ग्राम्य तथा शब्दहीन; ये तीन दोष से बने हुए गुण ही रखे जा सकते हैं। पुनरुक्त दोष अनुकम्पा आदि की मनोदशा की व्यञ्जना में सहायक होने से कुछ स्थितियों में गुण बन जाता है। ग्राम्य-दोष भोज के अनुसार, विदग्ध-उक्ति में गुण बन जाता है। ग्राम्य पात्र के अनुकरण आदि में भी ग्राम्यत्व को गुण माना जाना चाहिए। शब्दहीन दोष कवि की विवक्षा के अनुरूप गुण बन जाता है। इसे भी अनुकरण आदि में गुण माना जा सकता है। शैथिल्य वैदर्भ मार्ग का दोष है; किन्तु गौड मार्ग का गुण।

वाक्यगत दोषों का अदोष वर्ग

उक्त तीन वैशेषिक गुणों को छोड़ शेष वाक्यगत वैशेषिक गुण इस दोषाभाव-वर्ग में ही आते हैं।

अर्थगत दोषों का गुण-वर्ग

अपार्थ, सन्दिग्ध, देशविरोध, कालविरोध, कलाविरोध लोकविरोध, हेतुविद्याविरोध तथा आगमविरोध दोष स्थिति-विशेष में गुण माने जा सकते हैं। अत्युक्ति को गौड मार्ग में गुण माना जाता है तथा वैदर्भ में दोष। अतः, इसे भी इसी वर्ग में रखा जा सकता है।

अर्थगत दोषों का अदोष-वर्ग

अपार्थ आदि दोष-गुणों को छोड़ शेष अर्थगत वैशेषिक गुणों में दोषों का पर्यवसान अदोषत्व में होता है। अतः, उन्हें इसी वर्ग में रखना समीचीन है।

उक्त वाक्यगत गुणों के अतिरिक्त भोज ने सम्पूर्ण प्रबन्ध के गुणों की भी कल्पना की है। प्रबन्धगुणों के तीन वर्ग माने गये हैं—(क) शब्दगत, (ख) अर्थगत तथा (ग) उभयगत।

१. शब्दगत प्रबन्ध गुण-वर्ग

महाकाव्य आदि के शब्दगत गुण—(क) संक्षिप्त-ग्रन्थत्व, (ख) अविषम-बन्धत्व, (ग) अनतिविस्तीर्णसर्गादित्व तथा (घ) श्लिष्टसन्धित्व माने गये हैं।

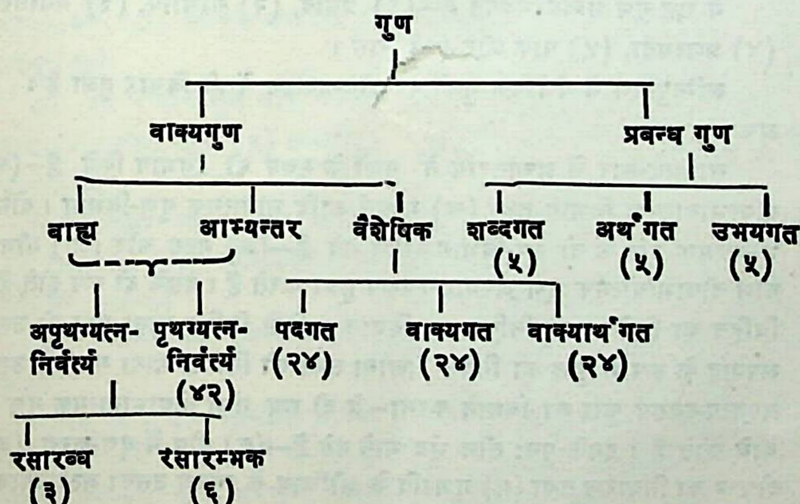
२. अर्थगत प्रबन्ध-गुण-वर्ग

इस वर्ग के गुण हैं—(क) चतुर्वर्गफलायत्तत्व, (ख) चतुरोदात्तनायकत्व, (ग) रसभावनिरन्तरत्व, (घ) विधिनिषेधव्युत्पादकत्व एवं (ङ) सुसूत्रसंविधानकत्व।

३. उभयगत प्रबन्ध-गुण-वर्ग

(क) रसानुरूपसन्दर्भत्व, (ख) पात्रानुरूपभाषत्व, (ग) अर्थानुरूपच्छन्दस्त्व, (घ) समस्तलोक-रञ्जकत्व और (ङ) सदलङ्कारवाक्यत्व प्रबन्ध के शब्दार्थो भयगत गुण माने गये हैं।

दण्डी ने चतुर्वर्गफलोपेतत्व, चतुरोदात्तनायकत्व, असंक्षिप्तत्व, रसभाव-निरन्तरत्व, श्रव्यवृत्तत्व, अनतिविस्तीर्णसर्गत्व, लोकरञ्जकत्व आदि को महाकाव्य के लक्षण के अङ्ग के रूप में स्वीकार किया है। भोज ने उन्हें प्रबन्धगत गुण के रूप में कल्पित कर लिया है। भोज की गुण-वर्ग-धारणा निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जायगी—



यद्यपि भोज ने पदगत, वाक्यगत तथा अर्थगत वैशेषिक गुणों का पुनः वर्गीकरण नहीं किया है तथापि उन दोष-गुणों के स्वरूप के आधार पर उन्हें दोषाभाव तथा गुण-वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

अग्निपुराणकार

अग्निपुराणकार एवं भोज की गुण-धारणा में पर्याप्त साम्य है, किन्तु अग्निपुराणकार का गुण-वर्गीकरण भोज की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। गुण दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और वैशेषिक। सामान्य गुणों के तीन वर्ग माने गये हैं—शब्दगुण, अर्थगुण एवं उभयगुण।

शब्दगुण-वर्ग

शब्दगुण-वर्ग में अग्निपुराणकार के अनुसार सात गुण हैं—(१) श्लेष, (२) लालित्य, (३) गाम्भीर्य, (४) सौकुमार्य, (५) उदारता (६) सत्या और (७) यौगिकी। उक्त सात गुणों को शब्दगुण-वर्ग में परिगणित करने पर भी अग्नि-पुराणकार ने छह गुणों के ही लक्षण दिये हैं। सत्या (?) और यौगिकी के स्थान पर ओज की परिभाषा दी गयी है। अतः, इस वर्ग में वस्तुतः छह गुण ही आते हैं।

अर्थगुण-वर्ग

अर्थगुण-वर्ग में छह गुण आते हैं—(१) माधुर्य, (२) संविधान, (३) कोमलत्व, (४) उदारत्व, (५) प्रौढि और (६) सामयिकत्व।

उभयगुण वर्ग

ये छह गुण शब्दर्थोभयगत हैं—(१) प्रसाद, (२) सौभाग्य, (३) यथासंख्य, (४) प्रशस्यता, (५) पाक और (६) राग।

अग्निपुराण में वैशेषिक गुणों पर दोष-प्रकरण में ही विचार हुआ है।

अच्युतराय

साहित्य-सार में अच्युतराय ने गुणों के मुख्य दो विभाग किये हैं—(क) दोषाभावात्मक विभाग तथा (ख) माधुर्य आदि भावात्मक गुण-विभाग। दोषा-भावात्मक गुण के दो उप-विभाग माने गये हैं—(अ) मुख्य और (आ) गौण। गौण दोषाभावात्मक गुण अपवाद-स्वरूप हुआ करते हैं। इसके दो रूप होते हैं—विहित का निषेध तथा निषिद्ध का विधान। जिसे विहित माना गया हो उसमें अपवाद के रूप में कुछ का निषेध दिखाना तथा जो निषिद्ध माना गया हो उसमें अपवाद-स्वरूप कुछ का विधान करना—ये दो रूप गौण दोषाभावात्मक गुण के पाये जाते हैं। इनके पुनः तीन भेद माने गये हैं—(क) दोष में गुण-करण, (ख) दोषत्व का निवारण तथा (ग) गुणादि के औचित्य के कारण उसका अत्याज्यत्व।

कुन्तक

कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में तीन मार्गों के गुणों का उल्लेख किया है। उनके चार गुण तीन मार्गों के असाधारण गुण हैं तथा दो गुण स मार्गगत या

साधारण । इस प्रकार कुन्तक के गुणों के मुख्य दो वर्ग माने जा सकते हैं—साधारण गुण-वर्ग एवं असाधारण गुण-वर्ग । तीनों मार्गों के असाधारण गुण निम्नलिखित हैं :—

सुकुमार मार्ग के गुण– (१) प्रसाद, (२) माधुर्य, (३) लावण्य तथा (४) आभिजात्य ।

विचित्र मार्ग के गुण—उक्त चार गुण ही स्वरूप-भेद से विचित्र मार्ग के भी गुण माने गये हैं ।

मध्यम मार्ग के गुण—इस वर्ग में भी उक्त चार गुण ही आते हैं ।

उक्त असाधारण गुणों के अतिरिक्त औचित्य और सौभाग्य इन दो; साधारण गुणों की कल्पना की गयी है ।

विद्यानाथ

भोज के चौबीस गुणों को स्वीकार करने पर भी विद्यानाथ ने उनके वर्गीकरण को अस्वीकार कर दिया है । वे गुणों को सङ्घटना पर आश्रित मानते हैं । अतः, उनके सभी गुण शब्दगत ही हैं । गुणों को अर्थगत मानने वाले सिद्धान्त का उन्होंने खण्डन किया है ।

केशव मिश्र

अलङ्कारशेखर में केशव मिश्र ने गुणों के तीन वर्ग स्वीकार किये हैं—(क) शब्दगुण-वर्ग, (ख) अर्थगुण-वर्ग एवं (ग) वैशेषिक गुण-वर्ग ।

शब्दगुण-वर्ग

इस वर्ग में पाँच गुण माने गये हैं—(१) संक्षिप्तत्व, (२) उदात्तत्व, (३) प्रसाद, (४) उक्ति और (५) समाधि ।

अर्थगुण-वर्ग

निम्नलिखित चार गुण अर्थगत माने गये हैं—(१) भाविकत्व, (२) सुशब्दत्व, (३) पर्यायोक्ति तथा (४) सुधर्मिता ।

वैशेषिक गुण-वर्ग

केशव की वैशेषिक गुण-धारणा भोज की धारणा से अभिन्न है ।

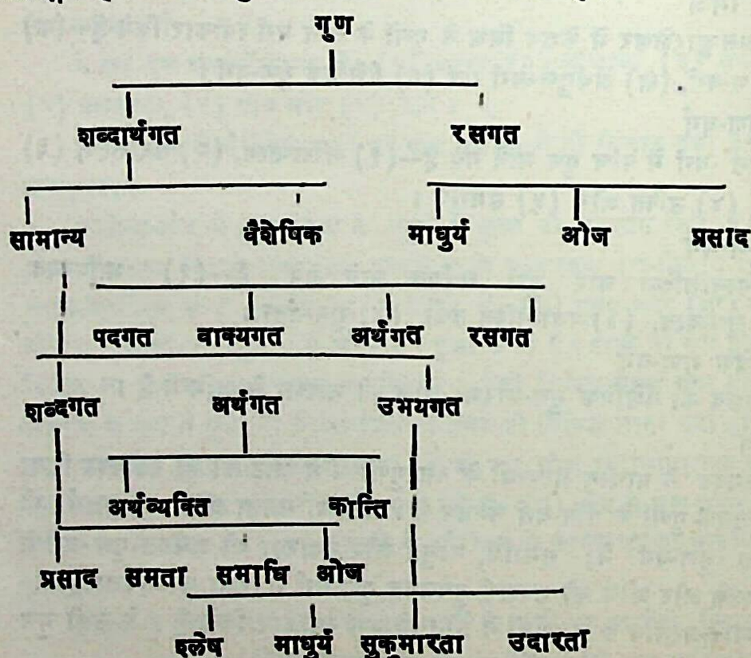
जयदेव

जयदेव ने प्राचीन आचार्यों के दस गुणों में से आठ को ही स्वीकार किया है । उनके गुणों के तीन वर्ग सम्भव हैं । प्रसाद, समता और सौकुमार्य को शब्दगत गुण-वर्ग में; समाधि, माधुर्य और उदारता को अर्थगत गुण-वर्ग में तथा श्लेष और ओज को शब्दार्थ-युगलगत गुण-वर्ग में रखा जा सकता है ।

ध्वनि-प्रस्थान के आचार्यों ने तीन ही गुण स्वीकार किये हैं । वे सभी गुण रस-गत हैं । अतः, उनके वर्गीकरण की आवश्यकता नहीं ।

हेमचन्द्र ने पूर्ववर्ती आचार्यों के शब्दार्थगत गुणों का उल्लेख कर पाठधर्म के रूप में भी पाँच गुणों का उल्लेख किया है। वे गुण हैं—(१) ओज (२) प्रसाद (३) माधुर्य, (४) साम्य और (५) औदार्य। हिन्दी-रीति-शास्त्र के आचार्यों की गुण-धारणा पर संस्कृत आचार्यों का पुष्कल प्रभाव है। देव ने श्लेष आदि दस गुणों के नागर एवं ग्राम्य—दो वर्ग माने हैं। हमने यह प्रमाणित किया है कि सभी गुणों के दो भेद स्वीकार करना दुराग्रह-मात्र है।

उक्त विवेचन से गुणों के निम्नलिखित वर्ग सामने आते हैं :—शब्दार्थगत सामान्य तथा वैशेषिक गुण-वर्ग, प्रबन्ध-गत गुण वर्ग पाठ गुण-वर्ग एवं रसगत गुण-वर्ग। पाठ के गुण का विवेचन काव्यशास्त्रीय अध्ययन का विषय नहीं। प्रबन्धगुणों में से अधिकांश प्रबन्ध के विधायक तत्त्व ही हैं, गुण नहीं। प्रबन्ध के पृथक् गुणों की कल्पना आवश्यक भी नहीं। शब्द अर्थ के गुणों से ही प्रबन्ध का सौन्दर्य अभिवृद्ध हो सकता है। शब्द और अर्थ की जिस महिमा की कल्पना शब्दार्थ-गुणों में की गयी है उसके सद्भाव से ही प्रबन्ध में सौन्दर्य का आधान माना जा सकता है। अतः, शब्दार्थगत एवं रसगत गुणों का वर्गीकरण ही प्रासङ्गिक है। स्वीकार्य गुणों की तालिका नीचे दी जाती है :—



अध्याय ४

गुणों का स्वरूप-विकास

गुण-धारणा के विकास का अध्ययन करते हुए हम यह देख चुके हैं कि भिन्न-भिन्न आचार्यों ने एक ही गुण के पृथक्-पृथक् स्वरूप की कल्पना की है। भरत के श्लेष आदि दस गुणों के नाम दण्डी, वामन आदि ने भी स्वीकार किये हैं। भोज के चौबीस गुणों में भी उन दस गुणों के नाम स्वीकृत हैं। अग्निपुराण में उन गुणों में से कुछ के नाम गृहीत हैं। कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित में भी कुछ नाम भरत आदि से लिए गये हैं। उनके माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण के नाम भामह तथा ध्वनिप्रस्थान के आनन्दवर्धन आदि आचार्यों द्वारा भी स्वीकृत हैं; किन्तु भरत से पण्डितराज जगन्नाथ तक तथा हिन्दी साहित्य के रीति-काल के आरम्भ से उसके अन्त तक उन गुणों के स्वरूप में परिवर्तन होता रहा है। यह परिवर्तन अकारण या अस्वाभाविक नहीं। काव्य के सौन्दर्य का मानदण्ड सदा एक-सा नहीं रहता। काल के प्रवाह में साहित्य-विषयक मान्यता में थोड़ा परिवर्तन अपरिहार्य हो जाता है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में अलङ्कार-प्रस्थान, रीति-प्रस्थान, वक्रोक्ति-प्रस्थान, ध्वनि-प्रस्थान तथा ध्वनि-ध्वंस-प्रस्थान आदि विविध प्रस्थानों की स्थापना काव्य के मूल्य के सम्बन्ध में बदलते हुए दृष्टिकोण का परिचय देती है। गुणों के स्वरूप के सम्बन्ध में दृष्टि-भेद भी स्वाभाविक ही था। प्रस्तुत अध्याय में हम शब्दार्थ-गत दस एवं रसगत तीन गुणों के स्वरूप के विकास-क्रम का अध्ययन करेंगे।

शब्दार्थगत गुण

श्लेष—भरत के अनुसार विवक्षित अर्थ से परस्पर सम्बद्ध पदों की श्लिष्टता तथा स्वाभाविक स्फुटता में विचार-गत गहनता; ये श्लेष के दो रूप हैं। दण्डी ने श्लेष गुण में अर्थगत श्लिष्टता का विचार नहीं किया है। उनके अनुसार श्लेष केवल शब्द का गुण है। वे अल्पप्राण वर्णों से युक्त शिथिल-पदरचना का अभाव श्लेष में अपेक्षित मानते हैं। फलतः, दण्डी के मतानुसार महाप्राण

वर्णों का श्लिष्ट सङ्घटन श्लेष गुण है। दण्डी ने अर्थ की सुश्लिष्ट योजना पर किसी गुण के स्वरूप में विचार नहीं किया है। वस्तुतः, काव्य में शब्दों की सुश्लिष्ट घटना के साथ ही अर्थगत सुश्लिष्टता भी अपेक्षित होती है। अतः, दण्डी का श्लेष-लक्षण एकाङ्गीन जान पड़ता है। दण्डी की पदगत श्लिष्टता का स्वरूप भी भरत की पद-श्लिष्टता के स्वरूप से भिन्न है। भरत की श्लिष्टता का अर्थ स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने उसे अनेक पदों में एकपदता का भान माना है। भरत ने श्लेष में अल्पप्राण वर्णों का त्याग तथा महाप्राण वर्णों का ग्रहण आवश्यक नहीं माना है। समान वर्णों की आवृत्ति से अनेक पदों का परस्पर सङ्ग्रथित होकर एक पद-सा लगने लगना ही वाञ्छनीय माना गया है। यह एक पदत्व-भान अल्प-प्राण वर्ण मय पदों में भी सम्भव है। अभिनव गुप्त ने पदगत श्लेष के उदाहरण में जो 'कुमार-सम्भव' का प्रथम श्लोक उद्धृत किया है उसमें 'त' 'द' 'न' आदि अल्पप्राण वर्णों के साजात्य या सावर्ण्य के आधार पर ही पदगत श्लिष्टता का स्वरूप दिखाया गया है। स्पष्ट है कि भरत के उत्तरवर्ती आचार्य दण्डी ने सर्वथा स्वतन्त्र भाव से श्लेष गुण के स्वरूप पर विचार किया है। एक ही गुण के सम्बन्ध में भरत और दण्डी के दृष्टि-भेद का मुख्य कारण यह जान पड़ता है कि भरत ने जहाँ काव्य-रूप की समग्रता में उसके गुणों पर विचार किया था, वहाँ दण्डी काव्य-रचना के केवल एक मार्ग के वैशिष्ट्यों को ध्यान में रखकर उसके गुणों का विवेचन कर रहे थे। हम यह प्रमाणित कर चुके हैं कि गौड मार्ग के काव्य की विशेषताओं पर दण्डी ने सूक्ष्मता से विचार नहीं किया था। उनकी दृष्टि में सम्भवतः गौड काव्य की रचना-पद्धति उपेक्षणीय थी। इसी लिए दस गुणों के स्वरूप-विश्लेषण के उपरान्त उन्होंने केवल इतना कहकर टाल दिया कि वैदर्भ मार्ग के प्राण-भूत इन गुणों का प्रायः विपर्यय गौड मार्ग में पाया जाता है; यद्यपि वे यह जानते थे कि इन गुणों में से अनेक दोनों मार्गों में सामान्य रूप से स्वीकृत हैं। दण्डी के अनुसार वैदर्भ मार्ग में महाप्राण-

१. यथा—'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा'(कुमार० १,१)। अस्ति शब्दस्योत्तरशब्दस्य सन्धीयमानयोस्तकारेण तकारेण संयोगे तयोश्च साजात्यं 'स्यान्दिशि' इत्यनयोः सन्धेर्न-कारस्य वर्ग्यत्वाद्दकारेण सावर्ण्यं, 'दिशिदेवता' इति नैरन्तर्यसन्धौ दकारेण साजात्यं इकारैकारयोस्तालव्यांशत्वेन सादृश्यं' देवतात्मा' इत्यत्र तकारेणाकारयो च।
—ना० शा० अभिनव भा० पृ० ३३५

वर्णमय अशिथिल पद-प्रयोग गुण माना जाता है और उसे श्लेष संज्ञा से अभिहित किया जाता है। गौड कवि अपने काव्यादर्श के अनुरूप शिथिल पदों की योजना को भी गुण मानते हैं। ऐसी स्थिति में काव्य-स्वरूप की पूर्णता को दृष्टि में रखते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि केवल महाप्राण वर्णों का श्लिष्ट गुम्फ ही गुण नहीं अल्पप्राण वर्णमय पदों की योजना में भी पदगत श्लेष गुण रह सकता है, आवश्यक यह है कि पद अलग-अलग रहकर भी बिखरे हुए-से नहीं जान पड़ें, समान वर्णों की आवृत्ति से वे परस्पर गुँथे हुए-से जान पड़ें।

वामन प्रत्येक गुण के शब्दगत एवं अर्थगत; दो भेद मानते हैं। उन्होंने शब्दगत श्लेष को मसृणत्व कहा है। मसृणत्व की व्याख्या करते हुए उन्होंने उसमें बहुत पदों का एक-पद-वत् आभासित होना आवश्यक माना है। मसृणत्व की धारणा पदों की पारस्परिक सम्बद्धता की धारणा से मिलती-जुलती ही है। वामन ने दण्डी की श्लेष-धारणा को अस्वीकार कर भरत की श्लेष-विषयक मान्यता को अंशतः स्वीकार कर लिया है। अर्थगत श्लेष गुण के स्वरूप की कल्पना वामन ने सर्वथा स्वतन्त्र रूप से की है। उनके अनुसार अर्थगत श्लेष गुण अर्थ की घटना है। घटना को वे 'क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तियोग' कहते हैं। इसकी व्याख्या वामन ने नहीं की है। काव्यशास्त्र के समीक्षक उक्त कथन का अर्थ दो प्रकार से करते हैं। एक मत के अनुसार घटना के चार अङ्ग माने गये हैं—क्रम, कौटिल्य, अनुल्बणत्व एवं उपपत्ति-योग। दूसरे मत के अनुसार क्रम में कौटिल्य होने पर भी हृदय में अनुल्बणता की उपपत्ति घटना है। क्रम का अर्थ क्रियाओं की परम्परा है, उसमें अनुस्यूत वैदग्ध्यपूर्ण चेष्टा 'कौटिल्य' कही जाती है। प्रसिद्ध अर्थ का वर्णन अनुल्बणत्व है तथा युक्ति-विन्यास को उपपत्ति कहते हैं।[१] घटना का 'क्रम-कौटिल्य में अनुल्बणत्व की उपपत्ति का योग' अर्थ ही वामन का अभीष्ट जान पड़ता है।

---

१. श्लेषस्तु क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तिरूप घटना। अस्यार्थः—क्रमकौटिल्यमति-क्रमस्तस्यानुल्वणत्वमतिस्फुटता तत्रोपपत्तियुँक्तिस्तया योग इति।

—गोविन्द ठक्कुर, काव्यप्रदीप पृ० २८३

तुलनीय :—'क्रम कौटिल्य' 'अनुल्वणत्व' और उपपत्ति के योग को घटना कहते है। यह घटना श्लेष कहलाती है—आचार्य विश्वेश्वर, काव्यालङ्कारसूत्र वृत्ति की हिन्दी टीका पृ० १४७

भोज ने शब्दगत श्लेप को 'सुश्लिष्टपदता' कहकर वामन के मत को ही स्वीकार किया है। शब्दश्लेप के उदाहरण पर टिप्पणी लिखते हुए उन्होंने उसमें भिन्न पदों में भी एकपदता के प्रतिभास के कारण सन्दर्भ की सुश्लिष्टता दिखाकर शब्दश्लेप गुण का सद्भाव स्वीकार किया है। भोज के अर्थगत श्लेप गुण का स्वरूप भी वामन के अर्थ-श्लेप के स्वरूप से बहुत भिन्न नहीं। उन्होंने अर्थश्लेष को संविधान-गत सुसूत्रता कहा है। वामन ने अर्थ-श्लेप के उदाहरण में अमरुक के जिस श्लोक को उद्धृत किया है, वही भोज के 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में भी उद्धृत है। संविधान की सुसूत्रता घटना का ही शब्दान्तर-कथन है। भोज ने श्लेप-गुण के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई नवीन कल्पना नहीं की है। विद्यानाथ ने भोज की ही तरह पदों की पारस्परिक संश्लिष्टता को श्लेप गुण माना है। अग्निपुराणकार ने भी भोज की धारणा का ही अनुगमन किया है और श्लेप को शब्दों का सुश्लिष्ट-सन्निवेश कहा है। चन्द्रालोक में जयदेव ने अनेक पदों में एकपदता-भान को शब्दश्लेप तथा विघटमान अर्थ की घटना को अर्थश्लेप स्वीकार किया है। शब्दश्लेप की परिभाषा भोज आदि की श्लेप-परिभाषा से अभिन्न है। अर्थ श्लेष का स्वरूप भी वामन, भोज आदि के श्लेप के स्वरूप से बहुत भिन्न नहीं। असम्भावित अर्थ की युक्ति-पूर्ण घटना वामन आदि के अर्थश्लेप में भी वाञ्छनीय मानी गयी है और जयदेव भी उसे श्लेष में अपेक्षित मानते हैं। स्पष्ट है कि वामन के परवर्ती आचार्यों ने श्लेष गुण के लक्षण में कोई नवीन कल्पना नहीं की। उन्होंने वामन की श्लेष-परिभाषा का ही प्रकारान्तर से उल्लेख कर दिया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्राचीन आचार्यों की श्लेष-गुण-धारणा का उल्लेख करते हुए वामन और दण्डी के मतों को मिलाकर प्रस्तुत किया है। शब्दश्लेप को वे वामन की तरह भिन्न पदों में 'एकपदता का प्रतिभास' तथा दण्डी की तरह 'महाप्राणाक्षरयुक्त बन्ध की गाढता' कहते हैं। अर्थश्लेष की परिभाषा में वामन के लक्षण को ही शब्दभेद से उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा है कि क्रिया की परम्परा का, विदग्ध-चेष्टित का, उसकी स्फुटता का तथा उसे उपपन्न करने वाली युक्ति का एक ही अधिकरण में होना श्लेष गुण है।

हिन्दी-रीति-शास्त्र के आचार्य भिखारी दास ने अनेक पदों के समास को श्लेष गुण माना है। भामह ने ओज गुण में दीर्घ-समास को वाञ्छनीय माना है। वे मध्यम तथा लघु समास को माधुर्य एवं प्रसाद गुणों में अपेक्षित मानते

हैं। भिखारी दास ने समास-घटना को श्लेष मान लिया है तथा उसके दीर्घ, लघु एवं मध्यम भेदों के आधार पर श्लेष के तीन प्रकार स्वीकार किये हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि वामन के शब्दार्थ-श्लेष-लक्षण ही काव्यशास्त्र में बहुमान्य हुए हैं। शब्द तथा अर्थ की संश्लिष्ट योजना श्लेष गुण है।

प्रसाद—प्रसाद गुण प्राचीन आचार्यों के शब्दार्थगत दस गुणों में भी परिगणित है तथा ध्वनि-प्रस्थान के आचार्यों के रसगत तीन गुणों में भी उसकी गणना की गयी है। इस सन्दर्भ में शब्दार्थगत प्रसाद के विकास का अध्ययन अभीप्सित है।

भरत ने अनुक्त अर्थ की भी प्रतीति हो जाने में प्रसाद गुण माना है। इसमें ऐसे सुबोध शब्दों का प्रयोग अपेक्षित माना गया है, जिससे अकथित शब्दार्थ का भी बोध हो जाय। स्पष्टतः, भरत प्रसाद गुण में सुबोध एवं व्यञ्जक पदों के प्रयोग पर बल देते हैं। भामह ने विद्वान से लेकर स्त्री और बच्चे तक के लिए बोधगम्य शब्दों के प्रयोग में प्रसाद गुण माना है। इसमें दीर्घसमास का त्याग वाञ्छनीय होता है।

दण्डी ने प्रसिद्ध अर्थ वाले पदों के प्रयोग को प्रसाद कहा है। ऐसे पद सर्वजन-सुबोध होते हैं। प्रसाद काव्य की सरलता का गुण है। दण्डी की यह धारणा भामह की धारणा से मिलती-जुलती है।

वामन ने शब्दगत प्रसाद को शैथिल्य कहा है। यह गाढ-बन्ध ओज का विपरीतधर्मा है, फिर भी अनिवार्यतः ओज के साथ रहा करता है। ओज से पृथक् यह गुण न होकर दोष हो जाता है। अर्थगत प्रसाद गुण को वामन ने 'अर्थ का वैमल्य' कहा है। अर्थ की विमलता से अभिप्राय विवक्षित अर्थ की समर्पकता का है। इसका अभाव 'अपुष्टार्थ' तथा 'अनर्थकत्व' दोष में पर्यवसित होता है। वामन की शब्दगत प्रसाद-धारणा क्लिष्ट-कल्पना मात्र है। प्रसाद के शब्दगत एवं अर्थगत, दो भेदों की कल्पना के आग्रह के कारण ही उन्हें ओज-विपर्ययात्मक शैथिल्य के गुणत्व की दूरारूढ कल्पना करनी पड़ी है।

भोज ने वामन की शब्द-प्रसाद-धारणा को अस्वीकार कर दण्डी के प्रसाद-लक्षण को स्वीकार किया है। वे दण्डी की तरह प्रसिद्ध अर्थ वाले पदों के प्रयोग में शब्दगत प्रसाद गुण मानते हैं। अर्थगत प्रसाद गुण की धारणा में भोज ने भरत की प्रसाद-धारणा को प्रकारान्तर से स्वीकार किया है। उनके अनुसार अर्थ की प्रकटता अर्थगत-प्रसाद है। इसके उदाहरण का स्पष्टीकरण करते हुए भोज ने कहा है कि इसमें सूर्य रूप अनुक्त अर्थ भी प्रकट रूप में लक्षित

हो जाता है; अतः यहाँ अर्थगत-प्रसाद है। स्पष्टतः भोज का मन्तव्य भरत के मन्तव्य से अभिन्न है। डॉ० व्ही० राघवन अर्थगत प्रसाद गुण के स्वरूप को भोज की नवीन उद्भावना मानते हैं। यह उचित नहीं।

विद्यानाथ ने भोज का अनुसरण करते हुए प्रसाद को प्रसिद्धार्थपदता कहा है। अग्निपुराण में भी सुप्रसिद्धार्थपदत्व को प्रसाद गुण का लक्षण माना गया है। जयदेव के अनुसार जिस गुण के कारण काव्य का अन्तःस्थित अर्थ तुरत स्पष्ट रूप से अवभासित हो उठता है, वह प्रसाद है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने वामन के शब्द-प्रसाद लक्षण को ही प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार प्रसाद में गाढत्व तथा शैथिल्य का मिश्रण रहता है।

भिखारी दास ने प्रसाद-लक्षण में कई आचार्यों की मान्यताओं का मिश्रण कर दिया है। वे मनोरम वर्णों का विन्यास, शिथिल पद-रचना, जल की तरह सूक्ति से गम्भीर अर्थ का प्राकट्य प्रसाद में आवश्यक मानते हैं। रोचक वर्णों के विन्यास पर भरत आदि आचार्यों ने माधुर्य-लक्षण में बल दिया है। शिथिल पद-रचना वामन की शब्द-प्रसाद-धारणा है तथा जल की तरह सूक्ति में अर्थ की प्रकटता जयदेव के प्रसाद-लक्षण के आधार पर कल्पित है। प्रसाद के सम्बन्ध में उक्त मतों में यह तथ्य सामान्यतः स्वीकृत है कि प्रसाद गुण में ऐसे सुबोध शब्दों का प्रयोग होता है, जिनसे विद्वान तथा मूर्ख, प्रायः सभी परिचित रहते हैं। ऐसे पदों के प्रयोग के कारण काव्य में अर्थ की दुर्बोधता नहीं रहती, वह अत्यन्त स्पष्ट रहता है।

समता—नाट्यशास्त्र में समता गुण के दो लक्षण उपलब्ध हैं। एक लक्षण के अनुसार समता गुण में अत्यन्त चूर्ण पदों का अभाव तथा निष्प्रयोजन अर्थ का अभिधान करने वाले एवं दुर्बोध पदों का अभाव वाञ्छनीय माना गया है। दूसरे लक्षण में समता में गुणों एवं अलङ्कारों में पारस्परिक विभूषणत्व स्वीकार किया गया है।

दण्डी ने भरत की समता-परिभाषा से असहमत होकर उसके नवीन लक्षण की कल्पना की। उनके अनुसार बन्ध का अवैषम्य समता गुण है। बन्ध तीन प्रकार के होते हैं—मृदु, स्फुट और मध्यम। किसी एक बन्ध का आद्यन्त समभाव से निर्वाह 'समता' है। उक्त बन्धों के अनुसार समता के भी तीन भेद स्वीकार किये गये हैं।

वामन ने शब्दगत समता गुण के स्वरूप-निर्धारण में दण्डी की समता-धारणा को ही अपनाया है। उनके अनुसार रचना में एक ही मार्ग का आद्यन्त निर्वाह शब्दगत समता गुण है। उनका मार्गभेद दण्डी के बन्धगत अवैषम्य से अभिन्न है। वामन ने अर्थगत समता को प्रक्रम का अभेद अथवा सुगमत्व कहा है। प्रक्रमाभेद रूप समता प्रक्रम-भङ्ग दोष का अभाव है। सुगमत्व दण्डी आदि आचार्यों के प्रसाद के समान है। अर्थ की सुगमता सुबोध पदों के प्रयोग पर निर्भर रहती है। अत:, इसे समता का अर्थगत भेद मानना उचित नहीं जान पड़ता।

भोज की शब्दगत एवं अर्थगत समता-धारणा वामन की धारणा से भिन्न नहीं। वे भी मृदु, स्फुट एवं मिश्र बन्धों का अविषम निर्वाह शब्द-समता में आवश्यक मानते हैं। क्रम से आने वाले अर्थ का अवैषम्य अर्थगत समता है। भोज ने सुगमत्व को समता का लक्षण नहीं माना है। विद्यानाथ ने भोज की शब्दगत समता-गुण-परिभाषा को ही स्वीकार किया है। जयदेव समता में अल्प-सामासत्व तथा वर्ण आदि की तुल्यता आवश्यक मानते हैं। अल्प-समासता भामह के अनुसार प्रसाद और माधुर्य गुणों में अपेक्षित है। जयदेव ने भामह की इस धारणा को समता गुण के साथ सम्बद्ध कर दिया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने दण्डी की समता-धारणा का प्रकारान्तर से उल्लेख किया है, जिसे वामन आदि ने भी शब्दगत समता के स्वरूप-निर्धारण में स्वीकार किया था।

आचार्य भिखारी दास ने समता के स्वतन्त्र स्वरूप की कल्पना की है। उनके अनुसार प्राचीन कवियों की वर्णन-पद्धति का त्याग कर नवीन पद्धति को अपनाना, फिर भी उसमें दोष को नहीं आने देना समता गुण है।

अधिकांश आचार्यों ने बन्ध की एकरूपता को समता गुण कहा है। समता का यही लक्षण उपयुक्त जान पड़ता है।

माधुर्य :—भरत की धारणा है कि माधुर्य काव्य का वह गुण है, जिससे बार-बार सुने जाने पर भी काव्य पाठक के मन में उद्वेग उत्पन्न नहीं करता। स्पष्टत:, भरत ने माधुर्य गुण में मधुर पदावली की योजना पर बल दिया है।

भामह ने भरत की धारणा को स्वीकार कर माधुर्य को श्रव्य कहा है तथा अपनी ओर से उसमें दीर्घ समास का अभाव भी वाञ्छनीय बताया है। भरत का अनुद्वेजकत्व तथा भामह का श्रव्यत्व तत्त्वतः भिन्न नहीं। दीर्घ समासाभाव

की कल्पना नवीन है। परवर्ती आचार्यों ने यह सिद्ध कर दिया है कि दीर्घ समासाभाव को माधुर्य का लक्षण नहीं माना जा सकता। असमासा या अल्पसमासा सङ्घटना को ध्वनिवादी आचार्यों ने भी माधुर्य का व्यञ्जक माना है; किन्तु इस नियम के अनेक व्यभिचार भी पाये जाते हैं। दीर्घ-समासा घटना में भी माधुर्य गुण रह सकता है।

दण्डी ने रसवत् वाणी एवं वस्तु को मधुर कहकर माधुर्य को रस का पर्याय बना दिया है। यहाँ दण्डी ने रस शब्द का प्रयोग उसके पारिभाषिक अर्थ में नहीं कर सामान्यतः मधुरिमा के लिए किया है। इस प्रकार वे सम्भवतः पद एवं पदार्थ की माधुरी को माधुर्य गुण कहते हैं। दण्डी की इस मान्यता में भरत और भामह की माधुर्य-धारणा की भी आंशिक स्वीकृति स्पष्ट है। दण्डी ने शब्दगत मधुरता के साथ अर्थगत मधुरता में भी माधुर्य गुण स्वीकार किया, यह उनकी धारणा का वैशिष्ट्य है।

वामन ने शब्द-माधुर्य की धारणा भामह से ली है। उनके दीर्घ-समासाभाव के आधार पर वामन ने शब्द माधुर्य में पृथक्-पदता को आवश्यक माना है। इसमें पदों का समास नहीं होता, वे अलग-अलग रहते हैं। वामन उक्तिवैचित्र्य को अर्थगत माधुर्य गुण मानते हैं।

भोज ने वामन की शब्द माधुर्य-परिभाषा को ही स्वीकार किया है; किन्तु उन्होंने अर्थगत माधुर्य के नवीन स्वरूप की कल्पना की है। क्रोधावस्था में भी तीव्रता के अभाव को वे अर्थगत माधुर्य मानते हैं। यह वस्तुतः व्यक्ति-निष्ठ गुण है, अर्थनिष्ठ नहीं। अतः इसे अर्थ-गुण का प्रकार मानना समीचीन नहीं।

जयदेव के माधुर्य-लक्षण के दो व्याख्यान सम्भव हैं। उनकी परिभाषा का एक अर्थ यह माना जा सकता है कि काव्य का चारुतावह वैचित्र्य माधुर्य गुण है (माधुर्यं पुनः उक्तस्य वैचित्र्यं चारुतावहम्)। यह अर्थ करने पर जयदेव की माधुर्य-धारणा वामन के उक्तिवैचित्र्यरूप अर्थमाधुर्य की धारणा से अभिन्न हो जाती है। दूसरा अर्थ यह माना जा सकता है कि पुनरुक्त-पदों का चारुतावह वैचित्र्य माधुर्य गुण है (माधुर्यं पुनरुक्तस्य वैचित्र्यं चारुतावहम्)। जयदेव के उदाहरण से उनके माधुर्य-लक्षण का यह दूसरा अर्थ ही उनका अभिमत जान पड़ता है। उदाहरण में 'पश्य' और 'चल' की द्विरुक्ति में माधुर्य दिखाया गया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने वामन के शब्द-माधुर्य-लक्षण का उल्लेख किया है। वे इसमें आद्यन्त उपनागरिका वृत्ति का निर्वाह आवश्यक मानते हैं।

भिखारीदास का माधुर्य-लक्षण ध्वनिवादी आचार्यों की धारणा से प्रभावित है। गुण को रसधर्म मानने वाले आचार्यों के द्वारा कल्पित माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों के आधार पर दास ने माधुर्य गुण के स्वरूप की कल्पना की है। 'ट' वर्गीय-वर्णों से रहित अनुस्वार-संयुक्त वर्णों की रचना में माधुर्य गुण माना गया है। मृदु वर्णों का विन्यास ही माधुर्य गुण है। भिखारी दास ने माधुर्य को केवल शब्दगत माना है। वस्तुतः, माधुर्य की अर्थनिष्ठता भी उपेक्षणीय नहीं। माधुर्य शब्द एवं अर्थ; दोनों में रहता है। वामन का अर्थ-माधुर्य-लक्षण उपयुक्त जान पड़ता है। मधुर शब्दावली की योजना में शब्दगत माधुर्य गुण माना जाना चाहिए। ध्वनि-प्रस्थान में भी मधुर पदावली को माधुर्य गुण का व्यञ्जक माना गया है। उसे उपचार से मधुर भी कहा जा सकता है। इस प्रकार शब्दगत माधुर्य गुण के स्वरूप की कल्पना में तथा माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों की कल्पना में कोई तात्त्विक भेद नहीं।

सुकुमारता :—सुखपूर्वक उच्चरित होने वाले तथा सुश्लिष्ट सन्धि वाले शब्दों में एवं अर्थ की सुकुमारता में भरत ने सौकुमार्य गुण माना है। वे सुकुमारता को शब्दगत भी मानते थे और अर्थगत भी। कोमल शब्दों का प्रयोग शब्दगत सौकुमार्य है तथा कोमल अर्थ का वर्णन अर्थगत सौकुमार्य।

दण्डी ने सुकुमारता का केवल शब्दगतत्व स्वीकार किया है। उनके अनुसार अनिष्ठुर अक्षर-युक्त पदों का प्रयोग सुकुमारता है। दण्डी ने भरत की सुकुमारता-धारणा को ही अंशतः स्वीकार किया है। उनका अनिष्ठुराक्षर-प्रायत्व भरत के सुखप्रयोज्यशब्दत्व से अभिन्न है। दण्डी ने अर्थगत सुकुमारता की मान्यता को स्वीकार नहीं किया।

वामन की शब्द-सौकुमार्य-धारणा पूर्ववर्ती आचार्यों की धारणा से अभिन्न है। भरत और दण्डी के सुखप्रयोज्य शब्द एवं अनिष्ठुराक्षरप्राय शब्द के स्थान पर वामन के बन्ध का अजरठत्व या अपारुष्य शब्द-सौकुमार्य का लक्षण माना है। बन्ध की अपरुषता की धारणा भरत तथा दण्डी की धारणा से भिन्न नहीं। वामन ने अर्थ-सौकुमार्य को 'अपारुष्य' कहा है। यह धारणा भरत की 'सुकुमारार्थसंयुक्तत्व' की धारणा से मिलती-जुलती है। वामन ने अपनी वृत्ति

में यह मान्यता प्रकट की है कि परुष अर्थ में भी अपारुष्य का होना सौकुमार्य गुण है। इस प्रकार वामन अर्थ-सौकुमार्य को मङ्गलभाषित से अभिन्न बना देते हैं। परुष-अर्थ में अपारुष्य की कल्पना भरत की सुकुमारता की कल्पना से कुछ अंशों में स्वतन्त्र है।

भोज की शब्दगत सौकुमार्य-धारणा दण्डी की सौकुमार्य-धारणा से अभिन्न है। दण्डी की ही शब्दावली में उन्होंने अनिष्ठुराक्षरप्राय को सौकुमार्य कहा है। अर्थगत सौकुमार्य को भोज 'अर्थ की अनिष्ठुरता' मानते हैं। उनके अर्थ-सौकुमार्य का स्वरूप भरत के सुकुमार अर्थ-रूप सौकुमार्य के समान है।

जयदेव ने वामन के अर्थ-सौकुमार्य-लक्षण को स्वीकार किया है। वे परुष अर्थ के स्थल पर पर्यायवाची शब्द के परिवर्त्तन से अपारुष्य का होना सौकुमार्य गुण मानते हैं। वामन की तरह जयदेव ने भी मङ्गलभाषित को सौकुमार्य कहा है।

पण्डितराज जगन्नाथ दण्डी की तरह सुकुमारता गुण का केवल शब्दगतत्व स्वीकार करते हैं। उन्होंने सुकुमारता-विषयक प्राचीन आचार्यों के मत की ओर निर्देश करते हुए उसे अपरुष या कोमल वर्णों की घटना कहा है।

भिखारी दास ने सुकुमारता गुण को अस्वीकार कर उसके स्थान पर पुनरुक्ति-प्रकाश नामक नवीन गुण की कल्पना की है। इसके स्वरूप की कल्पना जयदेव के माधुर्य गुण के स्वरूप के आधार पर की गयी है।

अर्थव्यक्ति :—भरत के मतानुसार लोक के स्वाभाविक कार्य का सुप्रसिद्ध धातु से वर्णन अर्थव्यक्ति गुण है। नाट्यशास्त्र के दूसरे पाठ में प्राप्त अर्थ-व्यक्ति-परिभाषा में यह मान्यता प्रकट की गयी है कि इस गुण में एक अर्थ के बोध के बाद अनन्तर प्रयोग की कल्पना स्वतः हो जाती है।

दण्डी ने अर्थव्यक्ति गुण को 'नेयत्व' दोष का अभाव-रूप माना है। उन्होंने भरत के अर्थव्यक्ति-लक्षण के आधार पर कान्ति गुण के स्वरूप की कल्पना की है। लौकिक अर्थ का अतिरञ्जनाहीन वर्णन, जिसे भरत अर्थव्यक्ति में अपेक्षित मानते हैं, दण्डी के अनुसार कान्ति गुण है। सुप्रसिद्ध धातु के प्रयोग की धारणा दण्डी ने प्रसाद गुण के लक्षण में व्यक्त की है। वे प्रसाद गुण में प्रसिद्ध अर्थ वाले पदों का प्रयोग अपेक्षित मानते हैं। इस प्रकार भरत की अर्थव्यक्ति-परिभाषा को अंशतः कान्ति गुण के स्वरूप-निर्धारण में तथा अंशतः प्रसाद गुण की परिभाषा में स्वीकार कर दण्डी ने अर्थव्यक्ति के लक्षण की कल्पना स्वतन्त्र रूप से की है।

वामन ने अर्थप्रतीति के हेतुभूत गुण को शब्दगत अर्थव्यक्ति कहा है। जहाँ अर्थ को झट से प्रतीत करा देने की क्षमता रहती है, वहाँ वे अर्थव्यक्ति मानते हैं। भरत ने भी सुप्रसिद्ध धातु से लोक-क्रिया-वर्णन पर बल देकर उसमें 'झटिति अर्थ-अप्रत्यायकता' को स्वीकार किया था। वामन की मान्यता भरत की उक्त मान्यता से मिलती-जुलती ही है। अर्थगत अर्थव्यक्ति गुण में वामन ने वस्तु-स्वभाव का स्फुट वर्णन वाञ्छनीय माना है।

भोज की शब्दगत अर्थव्यक्ति का स्वरूप दण्डी की अर्थव्यक्ति से मिलता-जुलता है। वे अर्थव्यक्ति को 'सम्पूर्णवाक्यत्व' कहते हैं। यह सम्पूर्णवाक्यत्व दण्डी के अनेयत्व से भिन्न नहीं। भोज की अर्थगत अर्थव्यक्ति की धारणा वामन की धारणा से अभिन्न है। वे इसे स्वरूप का साक्षात् कथन मानते हैं। इसका वस्तु-स्वभाव के स्फुटत्व से कोई तात्त्विक भेद नहीं।

जयदेव ने अर्थव्यक्ति गुण की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानकर प्रसाद में ही उसे अन्तर्भूत मान लिया है। यह देखा जा चुका है कि भरत के अर्थव्यक्ति लक्षण में प्रसाद गुण के तत्त्व भी निहित हैं। सुप्रसिद्ध धातु के प्रयोग पर बल देकर भरत ने अर्थव्यक्ति के जिस स्वरूप की कल्पना की थी, वह पीछे चलकर प्रसाद का स्वरूप मान लिया गया। इसीलिए जयदेव ने प्रसाद से पृथक् अर्थ-व्यक्ति की सत्ता अस्वीकार कर दी। किन्तु, वस्तु-स्वभाव की स्फुटता को प्रसाद से अभिन्न मानना उचित नहीं। प्रसाद काव्य की सरलता का गुण है तथा अर्थव्यक्ति काव्य में वर्णित वस्तु की स्फुटता का। दोनों की सत्ता पृथक्-पृथक् है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने वामन की शब्दगत अर्थव्यक्ति-धारणा की ओर निर्देश करते हुए उसे 'झटिति अर्थप्रत्यायकता' कहा है। यह धारणा अर्थव्यक्ति को प्रसाद गुण के समकक्ष बना देती है।

आचार्य भिखारी दास ने भी प्रकट अर्थ वाले पदों में ही अर्थव्यक्ति गुण माना है। प्रसाद गुण में गम्भीर अर्थ की प्रकटता मानकर सहज अर्थ की प्रकटता को दास ने अर्थव्यक्ति गुण कहा है। इस अंश में उनकी धारणा वामन की शब्दगत-अर्थव्यक्ति-धारणा से अभिन्न है। दास ने अर्थव्यक्ति में अल्प-समासता पर भी बल दिया है। यह मान्यता भामह के प्रसाद-लक्षण से ली गयी है।

उदारत्व :—भरत ने उदारत्व को दिव्य भावमय शृङ्गार एवं अद्भुत रसों से युक्त तथा अनेक भाव-संयुक्त कहा है। नाट्यशास्त्र के दूसरे पाठ में उसे अनेकार्थ विशेष-युक्त तथा विचित्र अर्थों से संयुक्त कहा गया है।

दण्डी ने उदारत्व में उत्कृष्ट गुण की प्रतीति अपेक्षित मानी है। उनके अनुसार कुछ लोग श्लाघ्य विशेषण के योग में भी उदार गुण मानते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट गुण की प्रतीति एवं श्लाघ्य-विशेषण-योग; ये उदार के दो प्रकार काव्यादर्श में उल्लिखित हैं। उदार-सम्बन्धी ये धारणाएँ भरत के उक्त दोनों लक्षणों में व्यक्त उदार गुण-विषयक धारणाओं से मिलती-जुलती ही है।

वामन ने शब्दगत उदारत्व को 'विकटत्व' कहा है। विकटत्व की व्याख्या करते हुए अपनी वृत्ति में उन्होंने कहा है कि इसमें सभी वर्ण नृत्य करते-से जान पड़ते हैं। इसे वर्ण का 'लीलायमानत्व' भी कहा गया है। उदारत्व में वर्णों के नृत्यत्प्रायत्व की कल्पना सर्वप्रथम वामन ने ही की है। अर्थगत उदारत्व को वामन ने अग्राम्यत्व कहा है। ग्राम्यत्व के प्रसङ्ग में भी ग्राम्य-दोष का त्याग उदारत्व गुण है। वामन ने भरत के उदारत्व-लक्षण के आधार पर दीप्तरसत्व-रूप अर्थ-कान्ति के स्वरूप की कल्पना की है तथा उदारत्व गुण की परिभाषा की कल्पना स्वतन्त्र भाव से की है।

भोज ने उदारत्व एवं उदात्तत्व, इन पर्यायवाची शब्दों के आधार पर दो स्वतन्त्र गुणों की कल्पना कर ली है। शब्दगत उदारत्व को उन्होंने वामन की तरह वर्णों का विकटत्व या नृत्यत्प्रायत्व कहा है तथा शब्दगत उदात्तत्व को दण्डी की तरह 'श्लाघ्य विशेषण-योग'। अर्थगत उदारत्व को भोज ने भूति का उत्कर्ष माना है तथा अर्थगत उदात्तत्व को आशय का उत्कर्ष। यह धारणा दण्डी की अलङ्कार-धारणा से ली गई है।

अग्निपुराणकार ने भी आशय के उत्कर्ष को उदारत्व गुण माना है। जयदेव ने उदारत्व को विदग्ध उक्ति कहा है। वे वामन के इस मत से सहमत नहीं कि उदारत्व ग्राम्यत्व का अभाव है। उनके अनुसार उदारत्व दोषाभावात्मक मात्र नहीं, उसकी सत्ता भावात्मक है। चन्द्रालोक की 'रमा' व्याख्या में यह दिखाया गया है कि अग्राम्यत्व के रहने पर भी उदारत्व का अभाव हो सकता है। अतः, अग्राम्यत्व को उदारत्व का लक्षण मानना समीचीन नहीं।[१]

पण्डितराज जगन्नाथ ने उदारता के 'विकटत्व' लक्षण को उद्धृत कर उसका खण्डन किया है।

भिखारी दास की मान्यता है कि जिसे विदग्ध जन अन्वय के बल से समझ

१. वैदग्ध्यं विदग्धोक्तत्वं तदेवोदारता। सा च न ग्राम्यत्वाभावेऽन्तर्भूतेत्याह ....।.. मानं मुञ्चेत्यादौ विकासयेति तादृशं लोकयाऽधुनेति वोक्तावपि ग्राम्यत्वाभावोऽस्ति, उदारता तु न।--जयदेव, चन्द्रालोक 'रमा' व्याख्या पृ० ३३

लें; किन्तु असहृदय को जो कठिन जान पड़े, उसमें उदारत्व गुण माना जाता है। दास जयदेव की तरह उदारत्व को 'विदग्ध-भणिति' मानते हैं।

ओज :—भरत ने ओज गुण में दीर्घ समास-युक्त विचित्र एवं सानुराग पदों पर बल दिया है। दूसरी परिभाषा में हीन अर्थ को भी उदात्त बनाकर वर्णित करने में ओज गुण माना गया है।

भामह ने पदों के दीर्घ समास में ओज गुण माना है। उन्होंने भरत के ओज-लक्षण को अंशतः स्वीकार किया है।

भरत और भामह की तरह दण्डी ने भी ओज को समासभूयस्त्व कहा है। भरत ने एक लक्षण में ओज का केवल शब्दगतत्व स्वीकार किया था। उसी लक्षण से दीर्घ-समासता की धारणा भामह और दण्डी ने ली है।

वामन ने शब्दगत ओज को बन्ध की गाढता कहा है। बन्ध की गाढता से अभिप्राय वर्णों की पारस्परिक संश्लिष्टता का है। इसमें वर्णों का संयोग अपेक्षित होता है। वामन ने पदों के समास के स्थान पर वर्णों के गाढ गुम्फ पर बल दिया है। अर्थगत ओज को वामन ने अर्थ की प्रौढि कहा है। प्रौढि के पाँच प्रकार माने गये हैं, जिनका सम्बन्ध वर्णन की विभिन्न शैलियों से है। पदार्थ में वाक्य-रचना, वाक्यार्थ का पद से अभिधान, व्यास तथा समास शैली के ही विभिन्न रूप हैं। ओज का एक भेद साभिप्रायत्व अलङ्कार से सम्बद्ध है। वामन की ओज-विषयक मान्यता सर्वथा मौलिक है। वाणी की ओजस्विता के लिए दीर्घ समासत्व की अपेक्षा गाढबन्धत्व की कल्पना अधिक उपयुक्त है। दीर्घ समास में ओज का सद्भाव सार्वत्रिक नियम नहीं। भामह ने जो दीर्घ समासत्व रूप ओज का उदाहरण दिया है, उसमें वस्तुतः ओजस्विता नहीं मानी जा सकती। ओज में बन्ध की गाढता आवश्यक है।

भोज ने वामन की शब्दगत ओज-परिभाषा को अस्वीकार कर दण्डी का ओज-लक्षण स्वीकार किया है। वे समासभूयस्त्व को ओज मानते हैं। अर्थगत ओज के सम्बन्ध में भोज ने कुछ विलक्षण धारणा प्रकट की है। वे स्वाध्यवसाय-प्रतिपादन को अर्थगत ओज मानते हैं। इसे अर्थ का गुण मानना उचित नहीं जान पड़ता।

अग्निपुराण में दण्डी का समासभूयस्त्व ओज-लक्षण स्वीकृत है।

पुराणकार की कल्पना की नवीनता यह है कि जहाँ दण्डी ने ओज को गद्य का प्राण माना था, वहाँ उन्होंने ओज को पद्य आदि का जीवित कहा है।

जयदेव ने वामन की तरह ओज को अर्थ की प्रौढि कहा है। उन्होंने ओज का एक रूप विस्तृत अर्थ का संक्षिप्त वर्णन माना है। वामन ने संक्षेप को भी अर्थगत प्रौढि का ही एक भेद माना था; किन्तु जयदेव ने उसे ओज का एक अलग प्रकार मान लिया। 'रमा' व्याख्या में चन्द्रालोक के व्याख्याकार ने अर्थ की प्रौढि को अर्थगत गुण माना है तथा संक्षेप को शब्दगत गुण।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ ने वामन के शब्दगत ओज गुण के लक्षण की ओर निर्देश किया है। संयोग तथा पर-ह्रस्व की प्रचुरता गाढत्व है। यही ओज कहलाता है।

भिखारी दास ने भी गाढता की धारणा को ही ओज के लिए उपयुक्त समझा है। वे उद्धत वर्णों का योग 'स' तथा 'क' 'ट' वर्ग आदि का संयोग ओज में वाञ्छनीय मानते हैं

कान्ति :—भरत के अनुसार कान्ति गुण मन और कान को अह्लादित करता है। उसमें लीला आदि रमणीय चेष्टाओं का वर्णन रहता है। भरत की कान्ति उनके माधुर्य से बहुत भिन्न नहीं जान पड़ती।

दण्डी ने भरत के कान्ति-लक्षण को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने लोक की वस्तु के स्वाभाविक वर्णन को कान्ति गुण माना है। लौकिक अर्थ का अतिक्रमण नहीं होना सबको सुन्दर लगता है। इसीलिए उसमें कान्ति गुण का सद्भाव माना जाता है।

वामन ने शब्दगत कान्ति गुण को बन्ध की उज्ज्वलता कहा है जिसके अभाव में काव्य पुरानी छाया या अनुकृति-सा जान पड़ता है। इस प्रकार वामन ने कवि की नवीन कल्पना को कान्ति में आवश्यक माना है। हम अपरत्र इस पर विचार कर चुके हैं कि शब्दगत कान्ति के उदाहरण से वह शब्द का गुण नहीं जान पड़ता। अर्थगत कान्ति को दीप्तरसत्व कहकर वामन ने रस को भी इस गुण में समेट लिया है।

भोज ने वामन के मत का अनुसरण करते हुए शब्दगत कान्ति को बन्ध का औज्ज्वल्य तथा अर्थगत कान्ति को दीप्त-रसत्व कहा है।

---

१. चन्द्रालोक, रमा टीका, पृ० ३५

वामन तथा भोज के अर्थगत कान्ति-लक्षण को दृष्टि में रखकर जयदेव ने कान्ति की स्वतन्त्र सत्ता अस्वीकार कर दी। उन्होंने उसका अन्तर्भाव शृङ्गार में मान लिया है। दीप्तरसत्व-रूप कान्ति का अन्तर्भाव शृङ्गार में मानने की अपेक्षा सामान्यत: रस में उसका अन्तर्भाव मानना युक्तिसङ्गत होता। जयदेव ने सम्भवत: वामन के दीप्तरसत्व का शृङ्गार-परक उदाहरण देखकर शृङ्गार में ही उसे अन्तर्भूत मान लिया।

पण्डितराज जगन्नाथ ने वामन की शब्द-कान्ति-परिभाषा को ध्यान में रखते हुए कान्ति को औज्ज्वल्य कहा है। उनकी मान्यता है कि औज्ज्वल्य लोकोत्तर शोभा है, जो वेद आदि में प्रयुक्त होने वाले अविदग्ध पदों के त्याग एवं सरस पदों के प्रयोग से काव्य में सम्भव होती है।

भिखारी दास ने कान्ति-लक्षण में यह धारणा व्यक्त की है कि इसमें सुन्दर बातों का उल्लेख होता है, वाणी का अर्थ न तो अत्यन्त प्रकट रहता है न अत्यन्त गूढ़, उसमें ग्राम्यत्व का अभाव रहता है। दास ने वामन के उदारता-लक्षण के अग्राम्यत्व को कान्ति गुण में मिला दिया है।

समाधि—भरत के अनुसार जहाँ प्रतिभावान व्यक्ति को अपूर्व अर्थ प्राप्त होता है, वहाँ समाधि गुण माना जाता है।

दण्डी ने समाधि गुण को 'काव्यसर्वस्व' कहकर गुणों में मूर्धन्य माना है। उनके अनुसार समाधि में एक वस्तु-धर्म का अन्यत्र आधान होता है। दण्डी ने समाधि को केवल अर्थगत माना है।

वामन ने शब्दगत समाधि को आरोह एवं अवरोह का क्रम कहा है। इसमें क्रम से आरोह तथा अवरोह होता है। अर्थगत समाधि को 'अर्थदृष्टि' कहा गया है। अर्थदृष्टि को अर्थ का गुण मानना समीचीन नहीं।

दण्डी की तरह भोज ने भी शब्द-समाधि में अन्य-धर्म का अन्यत्र आरोप वाञ्छनीय माना है। अर्थगत समाधि को वे व्याजावलम्बन मानते हैं। व्याज का अवलम्बन व्यक्ति का धर्म है। उसे अर्थ का गुण नहीं माना जा सकता।

जयदेव ने समाधि गुण के सम्बन्ध में यह धारणा व्यक्त की है कि उसमें अर्थ की ऐसी महिमा रहती है, जिससे सहृदय को लोमहर्ष हो जाय। इस प्रकार भाव-प्रवण पाठक के हृदय को स्पर्श करने की क्षमता रखने वाले सभी काव्य में जयदेव समाधि गुण मानेंगे।

पण्डितराज जगन्नाथ ने वामन के शब्दगत समाधि-लक्षण को निर्दिष्ट करते हुए उसे आरोह-अवरोह का क्रम से अवस्थापन कहा है। उनके अनुसार गाढबन्ध में आरोह एवं शिथिल बन्ध में अवरोह होता है। समाधि में क्रम से गाढबन्ध तथा शिथिलबन्ध का अवस्थापन होता है।

भिखारी दास ने भी वामन की शब्द समाधि-धारणा को स्वीकार कर उसे आरोह-अवरोह का सुन्दर क्रम कहा है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी भी गुण के स्वरूप के सम्बन्ध में सभी आचार्य एकमत नहीं हैं। प्रत्येक गुण के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों ने पृथक्-पृथक् मन्तव्य व्यक्त किये हैं। एक ही गुण के विषय में आचार्यों की अनेक मान्यताओं के मुख्य दो कारण जान पड़ते हैं—

क. भरत ने वाचिक अभिनय के सन्दर्भ में काव्यगुणों पर विचार किया था। वे गुणों को शब्दार्थ-गत मानने पर भी उनकी सार्थकता रस के उपकार में मानते थे। अतः, भरत के दस गुण परम्परया रस से सम्बद्ध हैं; किन्तु दण्डी, वामन आदि के गुणों का रस से कोई सम्बन्ध नहीं। उनके अनुसार गुण शब्दार्थ की शोभा के हेतु हैं। गुण-विषयक मान्यता के इस मौलिक भेद ने गुणों के स्वरूप को भी प्रभावित किया। इसीलिए एक आचार्य के गुण का स्वरूप दूसरे आचार्य के उसी गुण के स्वरूप से भिन्न हो गया।

ख. भरत आदि कुछ आचार्यों ने समग्र काव्य-रूप को दृष्टि में रखकर उसके गुणों के स्वरूप का निर्धारण किया; पर दण्डी आदि ने विशेष काव्य-मार्ग को ध्यान में रख कर उसके गुणों के स्वरूप पर विचार किया। इसलिए भी उनकी मान्यता में अनेकरूपता आ गयी।

शब्दार्थगत गुणों के स्वरूप के विषय में जितना मतवैभिन्य आचार्यों में पाया जाता है उतना रसगत माधुर्यादि गुणों के स्वरूप के विषय में नहीं। आनन्दवर्धन से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी आचार्यों ने तीन गुणों का सम्बन्ध तीन प्रकार की चित्तवृत्तियों से माना है। ओज का सम्बन्ध चित्त की दीप्ति से, माधुर्य का सम्बन्ध चित्त की द्रुति से तथा प्रसाद का सम्बन्ध चित्त के विकास से माना गया है। इस सम्बन्ध में तीन प्रकार की धारणाएँ व्यक्त हुई हैं। मम्मट माधुर्य, ओज और प्रसाद को क्रमशः चित्त की द्रुति, दीप्ति एवं विकास वृत्तियों का हेतु मानते हैं। विश्वनाथ ने उक्त तीन गुणों

को चित्त की वृत्तियों का स्वरूप ही माना है। आनन्दवर्धन की भी यही मान्यता जान पड़ती है। जगन्नाथ गुणों को चित्तवृत्तियों का प्रयोजक मानते हैं। काव्य के गुणों एवं चित्त की वृत्तियों के पौर्वापर्य की दृष्टि से मम्मट का मत ही अधिक युक्तिसङ्गत जान पड़ता है।

माधुर्य आदि गुणों के व्यञ्जक वर्णों के सम्बन्ध में भी ध्वनिवादी आचार्यों ने प्रायः समान धारणा प्रकट की है।



अध्याय ५

गुणों का संख्या-निर्धारण, लक्षण एवं उदाहरण

काव्यशास्त्रीय गुण-धारणा के विकास का अध्ययन करते हुए हम यह देख चुके हैं कि काव्यगुणों की संख्या के सम्बन्ध में आचार्यों ने विविध मान्यताएँ प्रकट की हैं। इस विषय में दो प्रकार की धारणाएँ ही काव्यशास्त्र में बहुमान्य हो सकी हैं। एक में गुणों को काव्य के शरीर शब्दार्थ पर आश्रित मानकर उनकी संख्या दस मानी गयी है तथा दूसरी में उन्हें काव्य की आत्मा रस के धर्म स्वीकार कर उनकी संख्या तीन निर्धारित हुई है। भामह ने गुणों का सम्बन्ध रस से नहीं जोड़ा है; किन्तु वे भी माधुर्य, ओज और प्रसाद; ये तीन गुण ही स्वीकार करते हैं। एक ओर भरत, दण्डी तथा वामन आदि की गुण-धारणा का और दूसरी ओर भामह तथा आनन्दवर्धन आदि रसध्वनिवादी आचार्यों की गुण-विषयक मान्यता का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्यशास्त्रीय चिन्तन के आरम्भिक काल से ही संस्कृत वाङ्मय में दस-गुण-वादी एवं तीन-गुण-वादी; दो विचारधाराएँ समानान्तर प्रवाहित हो रही थीं। यह सत्य है कि माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण भरत आदि आचार्यों के दस गुणों में भी परिगणित हैं; किन्तु उनका स्वरूप गुणों की संख्या तीन मानने वाले आचार्यों के माधुर्य आदि के स्वरूप से सर्वथा भिन्न है। भामह तथा आनन्दवर्धन गुणों की संख्या एवं संज्ञा के सम्बन्ध में एकमत हैं; किन्तु दोनों के गुण-लक्षण तत्त्वतः भिन्न हैं। भरत, दण्डी, वामन आदि के गुणों में संख्यागत एवं संज्ञागत साम्य के होने पर भी कहीं-कहीं उनका पारस्परिक स्वरूपगत वैषम्य स्पष्ट है। भरत ने जिस गुण में शब्दगत सौन्दर्य पर बल दिया है, दण्डी ने उसी गुण में अर्थ-सौन्दर्य को विशेष रूप से वाञ्छनीय बताया है। अतः, भरत के जिन-जिन गुणों को शब्दगत, अर्थगत एवं उभयगत गुण-वर्गों में रखा जा सकता है, दण्डी के उन गुणों को उन्हीं वर्गों में नहीं रखा जा सकता। वामन ने तो गुणों के दस नाम स्वीकार करने पर भी शब्दगत और अर्थगत भेद से उनकी संख्या वस्तुतः बीस कर दी है।

गुण-संख्या-विषयक उक्त दो मान्य मतों के अतिरिक्त अन्य अनेक मत स्थापित हुए; किन्तु काव्यशास्त्र के अध्येताओं ने उन्हें स्वीकृति नहीं दी। भोज ने गुणों की संख्या चौबीस मानी है। इन्होंने गुणों के बाह्य या शब्दगत, आभ्यन्तर या अर्थगत तथा वैशेषिक या दोषगुण; ये—तीन वर्ग स्वीकार किये हैं। चौबीस गुण शब्दगत भी हैं और अर्थगत भी। इस प्रकार उनकी संख्या अड़तालीस हो जाती है। चौबीस प्रकार के काव्य-दोष अवस्था-विशेष में गुण बन जाते हैं, जिन्हें वैशेषिक गुण कहा गया है। इस प्रकार चौबीस शब्दगुण, चौबीस अर्थगुण एवं चौबीस वैशेषिक गुणों के योग से भोज की गुण-संख्या बहत्तर हो जाती है।

अग्निपुराण में सामान्य गुणों के तीन वर्ग कल्पित हुए हैं—(क) शब्दगत गुण-वर्ग, (ख) अर्थगत गुण-वर्ग तथा (ग) उभयगत गुण-वर्ग। शब्दगत गुण सात माने गये हैं। अर्थगत गुण छह हैं तथा उभयगत गुण भी छह कहे गये हैं। इस प्रकार सामान्य गुण की संख्या अग्निपुराण में उन्नीस होनी चाहिए, किन्तु उसमें वस्तुतः अठारह गुणों के ही लक्षण दिये गये हैं।

कुन्तक ने छह प्रकार के गुण माने हैं, जिनमें से दो गुण मार्गत्रयगत या सामान्य माने गये हैं तथा शेष चार गुणों को विशेष माना गया है। वे अलग-अलग तीनों मार्गों के गुण हैं। यद्यपि तीनों मार्गों में उन चार गुणों के नाम समान ही माने गये हैं; परन्तु उन-उन मार्गों में उनके स्वरूप भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। सुकुमार मार्ग के चार गुण उन्हीं नामों के विचित्र मार्ग के गुणों से सर्वथा भिन्न स्वभाव के माने गये हैं इस प्रकार तीन मार्गों में चार गुणों के स्वरूप बारह प्रकार के हो जाते हैं। दो गुण सर्व-मार्ग-साधारण हैं। अतः, उनके स्वरूप में किसी प्रकार का भेद मार्ग के आधार पर नहीं होता। उक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए कुन्तक के गुणों के चौदह प्रकार माने जा सकते हैं; यद्यपि उनके नाम छह ही हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्राचीन आचार्यों के दस गुणों के स्वरूप का विवेचन करते हुए कुछ के नवीन स्वरूप की कल्पना कर ली है। इस प्रकार 'रसगङ्गाधर' में शब्दार्थगत दस गुणों के ही कुछ नवीन स्वरूप सामने आते हैं।

आचार्य देव ने प्राचीन आचार्यों के दस गुणों में अनुप्रास और यमक को मिलाकर गुणों की संख्या बारह कर दी है। श्लेष आदि दस गुण नागर तथा ग्रामीण भेद से बीस प्रकार के होते हैं।

आचार्य भिखारी दास ने प्राचीनों के दस गुणों के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कुछ गुणों के नवीन स्वरूप की कल्पना की है। इस प्रकार काव्य-निर्णय में भी कुछ नवीन गुण-रूप दृष्टिगत होते हैं।

काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में गुण के स्वरूप की विविधता के साथ ही महाभारत, अर्थ-शास्त्र आदि के नवीन गुणों का स्वरूप भी, जिसका काव्य से अपरिहार्य सम्बन्ध है, हमारा विवेच्य है। महाभारत में छह वाक्य-गुण, नौ दोष-विपर्ययात्मक गुण तथा उन्हीं दोषों से समुद्भूत नौ वैशेषिक गुण माने गये हैं। इस प्रकार व्यास ने चौबीस गुण स्वीकार किये हैं। उन गुणों में से अनेक गुणों के स्वरूप ने काव्यशास्त्रीय गुणों के स्वरूप को प्रभावित किया है।

कौटिल्य ने छह लेख-गुण माने हैं, जिनमें से कुछ गुण काव्यगुण से अभिन्न हैं। गुणों की संख्या के सम्बन्ध में उक्त सभी मतों की परीक्षा कर काव्य-गुणों की संख्या एवं उनके स्वरूप का निर्धारण आवश्यक है। प्रस्तुत अध्याय में गुणों की संख्या का निर्धारण एवं उनके लक्षण का निरूपण हमारा उद्देश्य है।

हम देख चुके हैं कि शब्दार्थगत श्लेष आदि दस गुण मानने वाला सिद्धान्त तथा माधुर्य आदि तीन गुण मानने वाला सिद्धान्त परम्परा से प्रसिद्ध है। उक्त दो सिद्धान्तों के औचित्य पर विचार करने के पूर्व उन सिद्धान्तों की परीक्षा आवश्यक है, जिनमें परम्परा का अतिक्रमण कर गुणों की संख्या के सम्बन्ध में नवीन कल्पनाएँ हुई हैं। गुण-संख्या-विषयक नवीन मत की स्थापना करने वालों में भोज, अग्निपुराणकार, कुन्तक आदि आचार्य प्रमुख हैं। उनके गुण-संख्या-सिद्धान्त के औचित्य की परीक्षा कर लेने के उपरान्त हम भरत, दण्डी, वामन आदि के दश-गुण-वाद तथा भामह, आनन्दवर्धन आदि के तीन गुण-वाद का मूल्याङ्कन करेंगे।

भोज

भोज ने गुणों की संख्या चौबीस मानी है। उन गुणों में प्राचीन आचार्यों के दस गुण भी सम्मिलित हैं। शेष चौदह गुणों की कल्पना नवीन कही जा सकती है। यहाँ नवीन चौदह गुणों का औचित्य ही परीक्षणीय है। प्राचीन दस गुणों पर प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं के परीक्षण-क्रम में विचार किया जायगा। भोज के चौबीस गुण निम्नलिखित हैं :—

(१) श्लेष, (२) प्रसाद, (३) समता, (४) माधुर्य, (५) सुकुमारता, (६) अर्थव्यक्ति, (७ कान्ति, (८) उदारत्व, (९) उदात्तता, (१०) ओज, (११)

औजित्य, (१२) प्रेय, (१३) सुशब्दता, (१४) समाधि, (१५), सौक्ष्म्य (१६) गाम्भीर्य, (१७) विस्तर, (१८) संक्षेप (१९) सम्मितत्व, (२०) भाविकत्व, (२१) गति, (२२) रीति, (२३) उक्ति और (२४) प्रौढि। इनमें से श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति गुणों के नाम प्राचीन आचार्यों से ही गृहीत हैं। उदात्तता उदारता का ही पर्यायवाची शब्द है। भरत के नाट्य-शास्त्र में उदार गुण के दो लक्षण उपलब्ध हैं। एक में उसे उदारता कहा गया है तथा दूसरे में उदात्तता। भोज ने उन दो पर्यायवाची शब्दों के आधार पर दो पृथक्-पृथक् गुणों की कल्पना कर ली है। इस प्रकार उदारता और उदात्तता को पर्याय मान लेने पर तेरह गुणों के नाम ही भोज में नवीन मिलते हैं, जिन्हें स्वतन्त्र गुण मानने का औचित्य परीक्षणीय है। नीचे उन गुणों के शब्दगत एवं अर्थगत भेद पर पृथक्-पृथक् विचार किया जाता है।

शब्दगत गुण

औजित्य :—भोज ने औजित्य-नामक नवीन गुण की कल्पना की है, जिसे उन्होंने गाढबन्धता कहा है।[1] किन्तु, इसे प्राचीन आचार्यों के गुणों से स्वतन्त्र गुण नहीं माना जा सकता। इसका स्वरूप वामन के शब्द-ओज के स्वरूप से अभिन्न है।[2] भेदीकरण के मोह के कारण भोज ने ओज गुण का स्वरूप दण्डी के मतानुसार निर्धारित कर लिया और वामन की ओज-परिभाषा के आधार पर औजित्य-नामक गुण की कल्पना कर ली।

प्रेय :—भोज ने चाटु-उक्तियों में प्रयुक्त होने वाले प्रिय-कथन को प्रेय गुण माना है। इसे अन्य आचार्यों ने गुण नहीं मानकर अलङ्कार माना है।[3] इसे गुण नहीं मानकर अलङ्कार मानना ही उचित जान पड़ता है। गुण का अभाव अनिवार्यतः दोष में पर्यवसित होता है; किन्तु चाटूक्ति का अभाव दोष नहीं माना जा सकता। दूसरे शब्दों में प्रियतर आख्यान काव्य-शोभा का आवश्यक धर्म नहीं; अतः वह गुण नहीं। उसका सद्भाव कभी-कभी काव्य में सौन्दर्य का आधान कर सकता है। अतः, उसे काव्य का अलङ्कार मानना ही समीचीन है। अच्युत राय ने साहित्यसार में प्रेय को लक्षण में

१. द्रष्टव्य—प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय २

२. तुलनीय—वामन, काव्यालङ्कारसूत्र ३, १, ५, तथा भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, १ पृ० ५९

३. प्रेयः प्रियतराख्यानं चाटूक्तौ यद्विधीयते।—दण्डी, काव्यादर्श, २, २७५

अन्तर्भूत माना है ।[१] भरत के 'गुणकीर्तन' लक्षण का स्वभाव प्रेय अलङ्कार से मिलता-जुलता ही है ।[२] अच्युत राय ने भोज के प्रेय गुण की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मान कर उसे लक्षण से अभिन्न मान लिया है। इस मत में भी विशेष विप्रतिपत्ति नहीं । हम इस तथ्य पर विचार कर चुके हैं कि भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास में कुछ लक्षणों का अस्तित्व अलङ्कारों में विलीन हो गया। प्रेय अलङ्कार के स्वरूप-निर्माण में गुणकीर्त्तन लक्षण का योग रहा होगा, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह माना जा सकता है कि उक्त लक्षण प्रेय अलङ्कार को उत्पन्न कर उसी में विलीन हो गया। निष्कर्षत:, प्रेय को अलङ्कार अथवा लक्षण का प्रकार मानना ही उचित है। उसे गुण का एक अलग भेद गानना युक्तिङ्गत नहीं ।

सुशब्दता—भोज का शब्दगत सुशब्दता-गुण सुप् और तिङ् की व्युत्पत्ति है, अर्थात् व्याकरण-सम्मत पदों के प्रयोग में चमत्कार दिखाना सुशब्दता है। वामन ने इसे पाक माना था, गुण नहीं ।

सौक्ष्म्य :—सौक्ष्म्य को शब्दों का 'अन्तस्सञ्जल्पत्व' कहा गया है। अन्य आलङ्कारिकों ने सूक्ष्म-नामक अलङ्कार की कल्पना की है, जिसमें सहृदय-संवेद्य सूक्ष्म अर्थ का प्रकाशन अन्य ज्ञापक से माना गया है ।[३] भोज के शब्द-सौक्ष्म्य में शब्दों का अन्तस्सञ्जल्पत्व सूक्ष्म अर्थ की प्रकाशकता से भिन्न नहीं । अत:, अच्युत राय की यह मान्यता युक्तिङ्गत है कि सौक्ष्म्य सूक्ष्म अलङ्कार से अभिन्न है ।[४] इसे गुण का स्वतन्त्र भेद नहीं माना जा सका ।

गाम्भीर्य :—ध्वनि-युक्त उक्ति को शब्दगत गाम्भीर्य गुण कहा गया है। इसमें भोज ने ध्वनि को गुण का भेद-मात्र बना दिया है। काव्य में ध्वनि के महत्त्व की स्थापना भोज से पूर्व ही आनन्दवर्धन ने कर दी थी, फिर भी ध्वनि को शब्दगुण में समेट कर भोज ने काव्य में उसकी उचित महत्ता को उपेक्षित

१. अच्युतराय, साहित्यसार, गुणरत्न ७, २००

२. तुलनीय—गुणकीर्त्तन-लक्षण, भरत ना० शा०. १६; श्लोक ६ तथा प्रेय-लक्षण, दण्डी, काव्यादर्श, २, २७५

३. द्रष्टव्य—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, १, पृ० ८० तथा दण्डी, काव्यादर्श, २,२६०

४. अच्युत राय, साहित्यसार, गुणरत्न २०१ पृ० ३५२

कर दिया। ध्वनि को गुण नहीं माना जा सकता। वह काव्य का प्रधान तत्त्व है। गुण उसके सहायक हैं। स्पष्ट है कि गाम्भीर्य का गुण-रूप में पृथक् अस्तित्व नहीं।

विस्तर :—व्यास-कथन शब्दगत विस्तर गुण माना गया है। यह वर्णन की विशेष शैली है। वामन ने अर्थगत ओज को 'प्रौढि' कहकर व्यास और समास-शैली को प्रौढ़ि का अङ्ग माना है।[१] भोज का विस्तर गुण वामन के ओज के उक्त भेद के समान माना जा सकता है।

संक्षेप :—समास में वस्तु-वर्णन को संक्षेप गुण कहा गया है। यह विस्तर का विपरीत-धर्मा है। इसे भी स्वतन्त्र गुण मानना समीचीन नहीं। यह वामन के प्रौढ़ि-रूप ओज के समास भेद से अभिन्न है। अच्युतराय ने इसका अन्तर्भाव भरत के अक्षरसंहति नामक लक्षण में माना है।[२] अक्षरसंहति लक्षण में भरत ने अल्प अक्षरों में विचित्र अर्थ के वर्णन पर बल दिया है।[३] वामन के ओज का समास भेद इसके समान ही है। भोज के संक्षेप गुण की वामन के अर्थगत ओज एवं भरत के अक्षरसंहति लक्षण से स्वतन्त्र सत्ता नहीं।

सम्मितत्व :—भोज ने इसे 'यावदर्थपदता' कहा है। यह पद की अन्यूनता तथा अनतिरिक्तता है। इस प्रकार यह न्यून-पदता तथा अधिकपदता दोषों का अभाव-मात्र है। विवक्षित अर्थ को व्यक्त करने के लिए जितने पदों की अपेक्षा हो, ठीक उतने ही पदों का प्रयोग सम्मितत्व कहा जाता है। इसमें शब्द और अर्थ तुलाधृतवत् तुल्य परिमाण में रहते है।[४] पदों का आवश्यकता से कम होना न्यूनपदत्व दोष माना जाता है तथा आवश्यकता से अधिक होना अधिकपदत्व दोष। सम्मितत्व में इन दोनों दोषों का अभाव रहता है। अतः, इसे स्वतन्त्र गुण नहीं मानकर दोषाभाव-रूप ही माना जाना चाहिए।

भाविक :—भोज का शब्दगत भाविक गुण भावावेश में अनुचित कथन के भी दोष का परिहार-मात्र है। भावानुरूप वाक्यवृत्ति को उन्होंने भाविक कहा है। उदाहरण में दशरथ के द्वारा राम के लिए यह कथन दिखाया गया है कि मैं तुम्हारे चरण-कमल की वन्दना करता हूँ। वात्सल्य के उमड़ते वेग के

---

१. द्रष्टव्य—वामन, काव्यालङ्कारसूत्र ३, २ २ तथा उसकी वृत्ति।

२. अच्युतराय, साहित्यसार, गुणरत्न २०१ पृ० ३५२

३. यत्राल्पैरक्षरैः श्लिष्टैर्विचित्रार्थोपवर्णनम्।
तदप्यक्षरसङ्घातं विद्याल्लक्षणसंज्ञितम् ।।—भरत, नाट्यशास्त्र १६, ६

४. द्रष्टव्य—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ६७

कारण यह वाक्य प्रयुक्त है। इस उदाहरण को दृष्टिगत रखते हुए अच्युत राय का यह कथन उचित ही जान पड़ता है कि भाविक अनौचित्य का अभाव मात्र है।[१] इसे स्वतन्त्र गुण नहीं माना जा सकता।

गति :—भोज की शब्दगत गति आरोह और अवरोह का क्रम है। यह वामन के आरोहावरोह-क्रम रूप समाधि गुण से अभिन्न है। इसकी स्वतन्त्र सत्ता की कल्पना आवश्यक नहीं।

रीति :—भोज ने शब्द-रीति को प्रक्रम का निर्वाह कहा है। यह प्रक्रम-भङ्ग दोष का अभाव है। भोज स्वयं इसे निश्चित सीमा में ही गुण मानते हैं। इसके अत्यन्त निर्वाह से पाठक के मन में अरुचि उत्पन्न होने लगती है। अतः, रीति को गुण का स्वतन्त्र भेद मानना युक्तिसङ्गत नहीं जान पड़ता।

उक्ति :—उक्ति गुण विशिष्ट भणिति या उक्ति का वैचित्र्य है। यह वामन के उक्ति-वैचित्र्य-रूप अर्थ-माधुर्य के समान है। आलङ्कारिकों ने वक्रोक्ति अलङ्कार के जिस स्वरूप की कल्पना की है, उससे भी भोज की उक्ति को अंशतः समान माना जा सकता है। अच्युत राय ने उक्ति को वक्रोक्ति अलङ्कार में अन्तर्भूत कर लिया है। मेरी सम्मति में उक्ति वामन के अर्थ-माधुर्य गुण के ही अधिक समीप है। वक्रोक्ति अलङ्कार से आंशिक समता होने पर भी उक्ति को उससे अभिन्न मानना उचित नहीं। वक्रोक्ति अलङ्कार में भी उक्ति का वैचित्र्य अवश्य रहता है; पर वहाँ काकु या श्लेष से अन्य वक्ता के कथन के अन्यथा अर्थ की कल्पना भी अपेक्षित रहती है। भोज की उक्ति का स्वरूप उससे व्यापक है। इसे कुन्तक की वक्रोक्ति के समकक्ष माना जा सकता है। वामन के अर्थ-माधुर्य से इसके पृथक् अस्तित्व की कल्पना उचित नहीं।

प्रौढि :—प्रौढि को भोज ने पाक माना है। वामन ने प्रौढि की कल्पना अर्थगत ओज गुण के लक्षण में की थी। उन्होंने 'पाक' को गुण का भेद नहीं मानकर गुण से पृथक् उसके स्वरूप पर विचार किया है। उनके अनुसार शब्दों का पाक वहाँ माना जाता है, जहाँ कवि के द्वारा प्रयुक्त शब्दों का परिवर्तन सम्भव नहीं हो।[२] भोज ने वामन के ओज-गुण-लक्षण से 'प्रौढि' शब्द लेकर उनके पाक-विषयक मत से उसे मिला दिया और एक नवीन गुण

---

१. अच्युतराय, साहित्यसार, गुणरत्न २०१ २

२. यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम् ।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते । —वामन, काव्यलं० सू० १, ३, पृ ५१

की कल्पना प्रौढ़ि नाम से कर ली। अतः शब्दगत प्रौढ़ि गुण की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जा सकती।

अर्थगत गुण

और्जित्य :— और्जित्य गुण के अर्थगत भेद को भोज ने 'रूढाहङ्कारत्व' कहा है। दण्डी ने उर्जस्वी अलङ्कार के लक्षण में उसे रूढाहङ्कारत्व ही कहा है। भोज का और्जित्य-गुण-लक्षण दण्डी के ऊर्जस्वी-अलङ्कार-लक्षण से अभिन्न है।[1] इसे गुण नहीं मानकर अलङ्कार मानना ही समीचीन है। अच्युत राय के अनुसार यह ध्वनि का एक प्रकार है। इसमें गर्व ध्वनित होता है। इस लिए उन्होंने और्जित्य को ध्वनि में अन्तर्भूत कर लिया है।[2]

प्रेय :—अर्थगत प्रेय को भोज ने अर्थ की अभीष्टता कहा है। इसके उदाहरण से यह स्पष्ट है कि जहाँ अन्य वस्तुओं की अपेक्षा किसी वस्तु का अधिक अभीष्ट होना वर्णित हो, वहाँ भोज अर्थगत प्रेय गुण मानेंगे। वस्तुतः, इसके स्वरूप पर विचार करने से यह गुण नहीं जान पड़ता। इसका सम्बन्ध अर्थ के उपस्थापन की सुन्दर प्रक्रिया से नहीं होकर अभीप्सित अर्थ के वर्णन से ही है। किसी अर्थ के वर्णन-मात्र को गुण कहना उचित नहीं। यदि वस्तु-वर्णन को ही गुण माना जाने लगे तो काव्य का सम्पूर्ण उपपाद्य ही गुण की सीमा में समाहित हो जायगा। इस गुण का स्वरूप अंशतः व्यतिरेक अलङ्कार से साम्य रखता है। अन्य वस्तुओं की अपेक्षा किसी विशेष वस्तु को अधिक अभीष्ट सिद्ध करने में उसका अन्य वस्तुओं से व्यतिरेक स्वतः सिद्ध हो जाता है।

सुशब्दता :—भोज का अर्थगत सुशब्दता गुण वामन के अर्थगत सौकुमार्य से अभिन्न है। यह मङ्गलभाषित है, जिसे वामन अर्थगत सौकुमार्य कहते हैं और भोज सुशब्दता संज्ञा से अभिहित करते हैं। अच्युत राय इसे निन्द्य-शब्दात्म दोष का अभाव-मात्र मानते हैं।[3] यह मत युक्तिसङ्गत नहीं जान पड़ता। दारुण अर्थ के वाचक शब्द के स्थान पर जब उसके अदारुणार्थ पर्याय-वाची शब्द का प्रयोग होता है तो उसमें सुकुमारता की भावात्मक सत्ता मानी ही जानी चाहिए। अतः, उसे दोषाभाव-मात्र कह कर टाला नहीं जा

---

१. तुलनीय—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण १, पृ० ७९ तथा दण्डी, काव्यादर्श-२,२७५
२. अच्युतराय, साहित्यसार, गुणरत्न २०३
३. वही, २०३

सकता। हाँ, वामन के अर्थ-सौकुमार्य से पृथक् अर्थगत सुशब्दता की कल्पना अनावश्यक है।

समाधि—अर्थगत समाधि गुण को भोज ने 'व्याजावलम्बन' कहा है। जहाँ किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए कोई कुछ बहाना बनाता है, वहाँ भोज समाधि गुण मानते हैं। इस प्रकार तुलसी के इस वर्णन में 'देखन मिस मृग विहग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि[१]' उक्त समाधि-लक्षण के अनुसार समाधि गुण माना जाना चाहिए। किन्तु, उक्त लक्षण पर विचार करने से समाधि अर्थगत गुण नहीं, व्यक्ति का धर्म जान पड़ती है। भरत ने छल-युक्ति अपनाने को कपट नामक लक्षण माना है।[२] भोज का समाधि-गुण कपट लक्षण से साम्य रखता है।

सौक्ष्म्य :—भोज के अर्थगत सौक्ष्म्य को गुण नहीं माना जा सकता। इसमें सूक्ष्म अर्थ के दर्शन पर बल दिया गया है। यह वस्तु-ध्वनि या रसादि-ध्वनि के समकक्ष है। मम्मट आदि के सूक्ष्म अलङ्कार से भी इसका स्वरूप मिलता-जुलता है।

गाम्भीर्य :—शास्त्रीय अर्थ के प्रतिपादन को गाम्भीर्य गुण माना गया है। इस 'शास्त्रार्थसव्यपेक्षत्व' को भावात्मक गुण नहीं मानकर अच्युत राय ने अप्रतीतत्व दोष का अभाव-मात्र माना है।[३] एक-देश मात्र में प्रसिद्ध पदों के प्रयोग को अप्रतीत दोष माना जाता है। विश्वनाथ ने यह माना है कि यदि वैसे पदों के सङ्केतित अर्थ को समझने वाले श्रोताओं और वक्ताओं के बीच उनका प्रयोग हो तो अप्रतीतत्व गुण बन जाता है।[४] भोज के गाम्भीर्य का स्वभाव भरत के श्लेष गुण के स्वरूप से मिलता-जुलता है, जिसमें विचार की गहनता पर बल दिया गया है।[५]

विस्तर :—अर्थगत विस्तर अर्थ का विकास है। इसका सम्बन्ध वर्णन की शैली से है। किसी अर्थ का विस्तार से वर्णन 'विस्तर' है। इसे वस्तु-

---

१. तुलसीदास, रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा-संख्या २३४

२. छलयुक्त्या स्वन्येषामभिसन्धानाभिभाविकम् कपटम्।
द्वित्रिप्रयोगयुक्तो विज्ञेयः कपटसञ्ज्ञितः। —भरत, ना० शा० १६,३० तथा
छलयुक्त्या यदान्येषां मत्वा नायकभावनम्।
द्वित्रिप्रोगयुक्तेन ज्ञेय कपट संज्ञितम्। वही, पृ० ३१५

३. अच्युतराय, साहित्यसार. गुणरत्न २०५।

४. गुणः स्यादप्रतीतत्वं ज्ञत्वञ्चेद्वक्तृवाच्ययोः। —विश्वनाथ, साहित्यद० ८-७ पृ० ५१२

५. भरत, ना० शा० १६,९९

वर्णन की शैली का एक रूप मानना ही युक्तिसङ्गत जान पड़ता है; गुण का भेद मानना नहीं।

संक्षेप :—विस्तर के विपरीत अर्थ के उपस्थापन की संक्षिप्त शैली को भोज ने संक्षेप गुण मान लिया है। अर्थ की संवृति शैली का ही एक रूप है। उसे काव्य का गुण नहीं माना जा सकता।

सम्मितत्व :—शब्द और अर्थ की तुल्यता को सम्मितत्व का लक्षण माना गया है। इस के उदाहरण में पार्वती के अङ्ग पर पड़े हुए नखपद तथा शिव के अर्धचन्द्र के मेल से ॐ बनने तथा दोनों का उचित स्थान पर रहने के वर्णन को सम्मितत्व गुण कहा गया है।[1] इस उदाहरण पर ध्यान देने से अर्थ के सम्बन्ध का युक्तिपूर्ण उपपादन सम्मितत्व जान पड़ता है। अतः, इस गुण को भरत के युक्ति या अभिप्राय लक्षण के समकक्ष माना जा सकता है। अच्युत राय ने भी इसे गुण नहीं मानकर लक्षण ही माना है।[2] इसे प्रतीयमान रूपक का एक रूप भी माना जा सकता है।

भाविक :—उक्ति का साभिप्राय होना भाविक गुण माना गया है। वामन ने साभिप्रायत्व को ओज का एक भेद माना था। इसका स्वरूप उससे भिन्न नहीं। अतः, भाविक की ओज से स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना अनावश्यक है।

गति :—एक अर्थ से अर्थान्तर का बोध होना अर्थगत गति गुण माना गया है। वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थ के बोध के साथ अन्य प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति वस्तुत: ध्वनि का क्षेत्र है। रत्नेश्वर ने भोज की गति की व्याख्या में उसका सम्बन्ध अनुस्वान-ध्वनि से जोड़ा है। अतः गति को अर्थगुण का एक भेद मानना असमीचीन है। उसका स्वरूप गुण की अपेक्षा अधिक व्यापक है। अच्युत राय गति को रसध्वनि में अन्तर्भुक्त मानते हैं।[3]

रीति :—रीति में वस्तु की उत्पत्ति से लेकर उसके विकास का यथाक्रम वर्णन होता है। अच्युतराय ने इसे स्वभावोक्ति अलङ्कार से अभिन्न माना है।

उक्ति :—उक्ति 'भङ्गी-भणिति' का एक भेद है। इसे वक्रता या वैचित्र्य माना जा सकता है, जिसे कुन्तक ने काव्य-सर्वस्व माना है। इसे गुण का एक रूप मानना उचित नहीं।

---

१. द्रष्टव्य—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ८३

२. अच्युतराय, साहित्यसार, गुणरत्न २०८ पृ० ३५३

३. वही, २०६ पृ० ३५३

प्रौढि :—अर्थगत प्रौढि गुण को भोज ने विवक्षित अर्थ का निर्वाह माना है। इस प्रकार यह गुण वामन के अर्थगत ओज गुण के समकक्ष माना जा सकता है। इसकी व्याख्या में भोज ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि कवि-विवक्षित अधिकाधिक अर्थ का स्वल्प पद से प्रकाशन प्रौढि है। अतः, वामन की अर्थ-प्रौढि (ओज) से भोज की अर्थगत प्रौढि का पृथक् अस्तित्व नहीं माना जा सकता। वामन की प्रौढि के समास भेद से भोज की अर्थ-प्रौढि अभिन्न है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों के दस गुणों के अतिरिक्त जिन नवीन गुणों की कल्पना भोज ने की है उनकी गुण-रूप में पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। उन नवीन गुणों में से कुछ का अन्तर्भाव प्राचीन आचार्यों के दस गुणों में हो सकता है; कुछ गुण अलङ्कार से अभिन्न हैं; कुछ दोषाभाव-मात्र हैं तथा कुछ गुण रस, ध्वनि एवं वर्णन की शैली आदि से अभिन्न हैं। निष्कर्ष यह कि भोज के गुणों में से परम्परागत दस गुणों के रूप ही स्वीकृति पा सकते हैं। भोज सम्भवतः स्वयं भी गुणों की संख्या के विस्तार की अनावश्यकता समझते थे। इसीलिए उन्होंने चौबीस गुणों में से प्राचीन आचार्यों के नौ गुणों को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है, जिनका अभाव रीतिभङ्ग दोष है। गुणों की दस से अधिक संख्या मानने में भेदीकरण का मोह ही एक-मात्र हेतु है। भोज ने चौबीस वैशेषिक गुण माने हैं। वे वस्तुतः दोष हैं, जो विशेष स्थिति में गुण बन जाते हैं। वे पदगत, वाक्यगत तथा वाक्यार्थगत भेद से बहत्तर प्रकार के माने गये हैं।

अग्निपुराण

अग्निपुराण में गुणों की संख्या उन्नीस बतायी गयी है; किन्तु लक्षण अठारह गुण के ही दिये गये हैं। गुणों के तीन वर्ग माने गये हैं—(क) शब्दगत गुण-वर्ग, (ख) अर्थगत गुण-वर्ग एवं (ग) उभयगत गुण-वर्ग। शब्दगत गुण-वर्ग में सात प्रकार के गुण माने गये हैं। वे हैं—(१) श्लेष, (२) लालित्य, (३) गाम्भीर्य, (४) सौकुमार्य, (५) उदारता, (६) सत्या (?) और (७) यौगिकी। सत्या और यौगिकी के स्थान पर ओज गुण की परिभाषा दी गयी है। अतः शब्द-गुण के वस्तुतः छह प्रकार ही माने जा सकते हैं।

अर्थगत गुण-वर्ग में निम्नलिखित छह गुण गिनाये गये हैं—(१) माधुर्य, (२) संविधान, (३) कोमलत्व, (४) उदारत्व, (५) प्रौढि और (६) सामयिकत्व।

उभयगत गुण-वर्ग में छह गुण परिगणित हैं—प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्रशस्यता, पाक और राग।

उक्त अठारह गुणों में से कुछ गुणों के नाम (कुछ अंश में उनके लक्षण भी) भरत, दण्डी, वामन आदि प्राचीन आचार्यों से ही लिये गये। कुछ गुण नवीन हैं, जिनके पृथक् अस्तित्व की कल्पना की परीक्षा यहाँ वाञ्छनीय है। शब्दगत गुणों में लालित्य तथा गाम्भीर्य; अर्थगत गुणों में संविधान, कोमलत्व, प्रौढि और सामयिकत्व तथा शब्दार्थोभयगत गुणों में सौभाग्य, यथासंख्य, प्रशस्यता, पाक एवं राग गुणों के नाम प्राचीन आचार्यों के दस गुणों के नामों से स्वतन्त्र हैं। इन नवीन गुणों में से अधिकांश की कल्पना भोज से ली गयी है।

लालित्य:— लालित्य शब्दगुण में गुण, आदेश आदि के कारण पदों में सन्धि का अभाव वाञ्छनीय माना गया है। अग्निपुराण का यह गुण वामन के पृथक्-पदत्व-रूप माधुर्य गुण से भिन्न नहीं। वामन के शब्द-माधुर्य की तरह ही अग्निपुराण के लालित्य में पद पृथक्-पृथक् रहते हैं।

गाम्भीर्य :—गाम्भीर्य गुण के लक्षण में 'लेख्यमुत्तानशब्दकम्' कहा गया है। डॉ० राघवन ने उसे अशुद्ध पाठ मानकर उसके स्थान पर 'अनुत्तान-शब्दकम्' पाठ की कल्पना की है। इस प्रकार वे इसे भोज के गाम्भीय से मिला देते हैं। भोज के गाम्भीर्य गुण के स्वरूप की परीक्षा कर हमने यह सिद्ध किया है कि उसे गुण का स्वतन्त्र भेद नहीं माना जा सकता। यदि डॉ० राघवन का मत मान्य हो तो अग्निपुराण का गाम्भीर्य भी गुण का पृथक् भेद नहीं रह जाता। अग्निपुराणकार इसे सुशब्दगता से भी अभिन्न मानते हैं। भोज के विवेचन में सुशब्दता के गुण-रूप में स्वतन्त्र अस्तित्व के औचित्य की परीक्षा की जा चुकी है।

संविधान :—अग्निपुराण का अर्थगत संविधान गुण भोज के अर्थश्लेष के समान है, जिसे भोज ने 'संविधान की सुसूत्रता' कहा है। अतः श्लेप गुण से पृथक् प्रस्तुत गुण का अस्तित्व मानना उचित नहीं। भोज ने प्रबन्ध-गुण का एक भेद 'संविधान-सुसूत्रता' माना है। पुराण का 'संविधान' भोज के उक्त प्रबन्ध-गुण के समकक्ष भी माना जा सकता है।

कोमलत्व :—अर्थगत कोमलत्व को अर्थ के काठिन्य का अभाव माना गया है। यह भरत के सौकुमार्य गुण का एक रूप है। भरत ने सौकुमार्य

का एक लक्षण सुकुमार-अर्थ-युक्त होना माना है। पुराण का अर्थ-कोमलत्व उससे बहुत भिन्न नहीं।

प्रौढि :—अग्निपुराण की अर्थगत प्रौढि-गुण-धारणा भोज की प्रौढि-गुण-धारणा से अभिन्न है। अतः भोज की प्रौढि की तरह इसे भी वामन के ओज का एक भेद-मात्र स्वीकार किया जा सकता है।

सामयिकत्व :—कवि के द्वारा किसी व्युत्पत्ति की व्यञ्जना को सामयिकत्व अर्थ-गुण माना गया है। इसे भावात्मक गुण नहीं मान कर अग्निपुराण के ही असामयिकत्व दोष का अभाव मानना युक्तिसङ्गत है। पुराण के असामयिकत्व से मिलते-जुलते स्वभाव वाले दोष की कल्पना भोज ने भी की थी और उसे उन्होंने 'रूढिच्युत' संज्ञा से अभिहित किया था।[१] अग्निपुराण का सामयिकत्व भोज के रूढिच्युत तथा अग्निपुराण के असामयिकत्व दोष का अभाव है। इसे स्वतन्त्र गुण मानना समीचीन नहीं।

सौभाग्य :—सौभाग्य गुण दण्डी के उदार गुण से अभिन्न है। अग्निपुराणकार ने उदारत्व के पर्याय के रूप में सौभाग्य शब्द का प्रयोग किया है तथा दण्डी के उदार गुण-लक्षण को सौभाग्य गुण-लक्षण के लिए स्वीकार कर लिया है। अग्निपुराण में उदार गुण भी माना गया है; किन्तु उसे दण्डी के उदात्त अलङ्कार से अभिन्न बना दिया गया है। दण्डी के उदार से अग्निपुराण के सौभाग्य की स्वतन्त्र सत्ता नहीं।

यथासंख्य :—यथासंख्य गुण में वर्णन में क्रम पर बल दिया गया है। अलङ्कार-शास्त्र के अधिकांश आचार्यों ने यथासंख्य को अलङ्कार माना है, जिसमें एक क्रम से वर्णित वस्तु का उसी क्रम से समन्वय होता है। अग्निपुराण का यथासंख्य भी अलङ्कार ही माना जाना चाहिए, गुण नहीं। भोज ने रीति गुण में वस्तुवर्णन के क्रम को वाञ्छनीय माना है। यथासंख्य का स्वरूप उससे भी कुछ मिलता-जुलता है।

प्रशस्यता :—भोज की सुशब्दता की तरह प्रशस्यता को अग्निपुराणकार ने दारुण अर्थ का अदारुण शब्द से वर्णन माना है। यह वामन के अर्थगत सौकुमार्य गुण से अभिन्न है।

पाक :—भोज की प्रौढ़ि गुण-धारणा से अग्निपुराण की पाक-धारणा अभिन्न है। इस सन्दर्भ में मृद्वीका पाक, नालिकेरी पाक आदि कई प्रकार के पाकों का उल्लेख हुआ है। पाक को गुण का एक भेद नहीं मानकर शब्द-गुम्फ के रूप में उनपर गुण से पृथक् विचार होना चाहिए।

---

१. भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, १,९

राग :—राग को भी गुण मानना उचित नहीं। भोज ने प्रेम-वर्णन के सन्दर्भ में राग को प्रेमभक्ति का एक रूप माना है[1] स्पष्टतः राग का सम्बन्ध भाव से है। उसे शब्दार्थगत गुण नहीं माना जा सकता।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि अग्निपुराण के अधिकांश गुण प्राचीन आचार्यों के दस गुणों से अभिन्न हैं। प्राचीन गुणों में से कुछ को नये नाम से पुराण में उपस्थित किया गया है। सौभाग्य, प्रशस्यता आदि प्राचीन गुणों के ही नवीन नाम हैं। जिन नवीन गुणों की कल्पना अग्निपुराण में हुई है उनमें से कुछ अलङ्कार से अभिन्न हैं तथा कुछ का सम्बन्ध शब्दार्थ से न होकर भाव से है। यथासंख्य अलङ्कार से भिन्न नहीं, राग भाव से अलग नहीं। इस प्रकार अग्निपुराण में विवेचित गुणों में किसी को भी प्राचीन आचार्यों के दस गुणों से स्वतन्त्र सत्ता रखने वाला शब्दार्थ-गत गुण नहीं माना जा सकता।

कुन्तक

कुन्तक ने माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य गुणों को तीन मार्गों के विशेष गुण स्वीकार किये हैं। इनमें से प्रसाद और माधुर्य परम्परागत हैं। लावण्य और आभिजात्य नवीन नाम हैं। अतः सुकुमार एवं विचित्र मार्गों में इन दो गुणों के स्वरूप विचारणीय हैं।

सुकुमार मार्ग का गुण

लावण्य:—कोमल वर्ण-विन्यास या कोमल शब्दालङ्कार की योजना से उत्पन्न बन्ध की रमणीयता को लावण्य गुण माना गया है। इसे प्राचीन आचार्यों के अव्यत्व से बहुत भिन्न नहीं माना जा सकता। यह माधुर्य का ही एक प्रकार है। भरत ने बार-बार सुने जाने पर भी मन को उद्विग्न नहीं करने वाले वाक्य को माधुर्य-गुण-युक्त कहकर वर्णगत सौन्दर्य को भी माधुर्य लक्षण के रूप में स्वीकृति दी है।[2] लावण्य का प्रभाव माधुर्य के प्रभाव से भिन्न नहीं जान पड़ता।

आभिजात्य :—इसे श्रुतिपेशल, स्वभाव से मसृण-छाया-युक्त तथा चित्त को सुखद स्पर्श के समान लगने वाला गुण कहा गया है। यह गुण भी माधुर्य-जैसा प्रभाव उत्पन्न करने वाला ही है। वस्तुतः, सुकुमार मार्ग के लावण्य और

---

१. भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, ५, १२४

२. द्रष्टव्य—भरत, ना० शा० १६, १०४

आभिजात्य गुणों में प्रभाव की दृष्टि से कोई भेद नहीं जान पड़ता। पण्डित बलदेव उपाध्याय की यह मान्यता उचित ही जान पड़ती है कि आभिजात्य गुण भी वास्तव में लावण्य की कोटि का ही गुण है—इसका आधार भी वर्ण-योजना है। दोनों में यह सूक्ष्म भेद किया जा सकता है कि लावण्य में वर्णों की झङ्कार तथा आभिजात्य में उनकी स्निग्धता अभिप्रेत रहती है।[१] मेरी सम्मति में ये दोनों गुण माधुर्य गुण-सा प्रभाव पाठक के चित्त में उत्पन्न करते हैं। अतः, प्राचीनों के माधुर्य से इन्हें अभिन्न माना जा सकता है।

विचित्र मार्ग के गुण

लावण्य :—विचित्र मार्ग का लावण्य गुण वामन के मसृणत्व-रूप श्लेष से अभिन्न है, जिसमें अनेक पद मिलकर एक-से लगने लगते हैं। कुन्तक ने भी लावण्य-परिभाषा की व्याख्या करते हुए उनके परस्पर संश्लेष पर बल दिया है। स्पष्ट है कि प्राचीन श्लेष गुण को ही कुन्तक ने इस नवीन नाम से प्रस्तुत किया है।

आभिजात्य :—इस गुण में अत्यन्त काठिन्य और अत्यन्त कोमल छाया का बहिष्कार वाञ्छनीय माना गया है। इन दोनों के त्याग से रचना में प्रौढता आती है। इसे वस्तुतः अत्यन्त कोमलता से उत्पन्न होने वाली अरुचि तथा अत्यन्त काठिन्य से उत्पन्न दोष का अभाव-मात्र माना जाना चाहिए। कुन्तक इसके भावात्मक स्वरूप का निर्धारण नहीं कर पाये हैं। स्पष्ट है कि सुकुमार एवं विचित्र मार्गों के उक्त दो गुण नाम्ना नवीन होने पर भी स्वरूपतया प्राचीन आचार्यों के गुणों से अभिन्न हैं।

ये गुण मध्यम मार्ग में भी रहते हैं। मध्यम मार्ग के गुणों में उक्त दोनों मार्गों के गुणों के स्वभाव का मिश्रण रहता है। अतः, उनके स्वरूप का पृथक् प्रतिपादन नहीं हुआ है।

सर्वमार्गगत साधारण गुण

कुन्तक ने औचित्य और सौभाग्य गुणों को सर्व-मार्ग-गत या सामान्य गुण माना है। ये दोनों नवीन गुण हैं। गुण के बीच औचित्य का उल्लेख प्रथम

१. पं० बलदेव उपाध्याय, नगेन्द्र द्वारा हिन्दी वक्रोक्ति की भूमिका में उद्धृत, पृ० १८१

बार कुन्तक ने ही किया है, फिर भी औचित्य की धारणा को उनकी नवीन उद्भावना नहीं माना जा सकता। कुन्तक से पूर्व ही आनन्दवर्धन औचित्य को रस, गुण, सङ्घटना आदि के नियामक के रूप में प्रतिष्ठित कर चुके थे।[१] औचित्य को गुण का भेद मानने की कल्पना अनुचित है। उसे गुण का विधायक माना जाना चाहिए। गुण और औचित्य का सम्बन्ध विवेचित करते हुए हम यह स्थापना कर चुके हैं कि औचित्य वह आधार-शिला है, जिस पर गुण का अस्तित्व टिका रहता है।

सौभाग्य :—सर्व-मार्ग-साधारण सौभाग्य गुण भी गुण का एक भेद नहीं माना जा सकता। इसका सम्बन्ध कवि के शब्द-शोधन या व्यापार-शोधन से उत्पन्न काव्य-शोभा से है। अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करने के लिए कवि की प्रतिभा शब्द आदि उपादेय वर्ग में संलग्न होकर जिस चारुता की सृष्टि करती है, वह काव्य का सौभाग्य गुण कहा गया है। वस्तुतः, सौभाग्य काव्य का सौन्दर्य ही है। उसे गुण का प्रकार मानना समीचीन नहीं। गुण आदि काव्य के उस सौन्दर्य के हेतु हो सकते हैं। उस सौन्दर्य को ही गुण का भेद नहीं माना जा सकता। कुन्तक के सौभाग्य का काव्य में वही स्थान है, जो आनन्दवर्धन के प्रतीयमान अर्थ या ध्वनि का है।

उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि भारतीय काव्य-शास्त्र में शब्दार्थगत श्लेषादि दस गुणों के स्वरूप की जो कल्पना भरत से वामन तक हुई, वह इतनी व्यापक थी कि उत्तरवर्ती आचार्य उनसे अधिक गुणों की कल्पना नहीं कर सके। इस क्षेत्र में नूतन उद्भावना के जितने आयास हुए वे प्रायः असफल हुए। उत्तर काल में गुणों के जो नवीन नाम सामने आये, वे या तो प्राचीन गुणों के ही नवीन नाम थे या वे वस्तुतः गुण थे ही नहीं। वे अलङ्कार, भाव, ध्वनि आदि के ही रूप थे, जिन्हें गुण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

काव्यशास्त्रेतर ग्रन्थों में भी कुछ गुणों के स्वरूप पर विचार किया गया है। उनमें से कुछ का अनिवार्य सम्बन्ध काव्य-गुणों से है। महाभारत एवं कौटिलीय अर्थशास्त्र के कुछ गुण इस दृष्टि से विशेष रूप से विचारणीय हैं। उन ग्रन्थों में भी कुछ गुणों का काव्यशास्त्रीय गुणों से नामगत भेद एवं रूपगत अभेद है। उन गुणों के स्वरूप की मीमांसा अपेक्षित है।

---

१. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबद्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥—आनन्द०, ध्वन्या० पृ० ३०२

महाभारत

महाभारत की गुण-धारणा ने काव्यशास्त्रीय गुण-धारणा को बहुत प्रभावित किया है। भोज ने तो महाभारत को अपनी गुण-धारणा का उपजीव्य ही बना लिया है। भरत, दण्डी, वामन आदि के गुणों का स्वरूप भी महाभारत के गुणों से बहुत अंश में साम्य रखता है। यद्यपि व्यास ने महाभारत में उल्लिखित गुणों की परिभाषा नहीं दी है, तथापि उनके नाम के आधार पर उनके स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है तथा काव्यशास्त्र में विवेचित गुणों के स्वरूप से उनका सारूप्य या वैरूप्य प्रतिपादित किया जा सकता है। महाभारत के चौबीस गुणों में से नौ वैशेषिक गुण हैं। शेष पन्द्रह गुणों में से नौ को दोषाभावात्मक तथा छह को भावात्मक गुण कहा गया है। उन छह गुणों में से भी कुछ का स्वरूप दोषाभावात्मक ही है। अस्तु, वैशेषिक गुणों को छोड़ शेष पन्द्रह गुणों का स्वरूप ही यहाँ विवेच्य है।

उपेतार्थ :—महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने इसे सम्पूर्ण-वाक्यत्व-रूप अर्थव्यक्ति गुण के समान माना है।[1]

अभिन्नार्थ :—यह काव्यशास्त्रीय प्रसाद गुण के समकक्ष है, जिसमें प्रसिद्ध अर्थ वाले पदों का प्रयोग वाञ्छनीय माना जाता है।

न्यायवृत्त :—न्यायवृत्त गुण को नीलकण्ठ श्लाघ्य विशेषण-योग मानते हैं।[2] इस प्रकार यह गुण भरत आदि के श्लाघ्यविशेषण-रूप उदाता गुण के समान है। दण्डी ने इसे ही उदार गुण कहा है।

अनधिक ।—यह संक्षिप्तत्व है। इसे वामन के ओज की प्रौढि के समास भेद के समान माना जा सकता है।

श्लक्ष्ण :—श्लक्ष्ण का स्वरूप स्पष्ट नहीं। यह सम्भवतः श्लेष आदि गुणों के समकक्ष है। नीलकण्ठ ने श्लेष, साम्य, कान्ति आदि आठ गुणों का श्लक्ष्ण में अन्तर्भाव मानकर इसके स्वरूप को अस्पष्ट बना दिया है।

असन्दिग्ध :—असन्दिग्ध गुण माधुर्य गुण के समकक्ष है, जिसमें पृथक्-पदता पर बल दिया जाता है।

---

१. महाभारत, नीलकण्ठ की टीका, पृ० ६५९

२. वही, पृ० ६५९

दोषाभावात्मक गुण निम्नलिखित हैं :—

गुर्वक्षरसंयुक्त का विपर्यय :—इस गुण को अनिष्ठुराक्षर-प्राय सुकुमारता गुण के समान माना गया है।

पराङ्मुख सुख-कर-विपर्यय :—पराङ्मुख-सुख ग्राम्यत्व दोष है। उसका अभाव अग्राम्यत्व है, जिसे नीलकण्ठ ने 'सौक्ष्म्य' कहा है। इसे दण्डी के माधुर्य के अग्राम्यता भेद तथा वामन की उदारता से अभिन्न माना जा सकता है।

अनृत-विपर्यय :—यह काव्य का गुण नहीं। इसका सम्बन्ध केवल शास्त्रीय वार्त्ता से है।

त्रिवर्ग-विरुद्ध-विपर्यय :—नीलकण्ठ इसे 'प्रेय' मानते हैं।[1] इसे गुण नहीं मानकर वाणी का अलङ्कार मानना अधिक युक्तिसङ्गत होता।

असंस्कृत-विपर्यय :—असंस्कृत का विपर्यय 'भङ्गीभणिति' है। यह भोज की उक्ति के समान है।

अन्यून :—यह न्यून दोष का विपर्यय है। भोज ने सम्मितत्व में न्यून के अभाव पर बल दिया है। दोनों का स्वरूप मिलता-जुलता ही है।

कष्ट-शब्द-विपर्यय :—इसे नीलकण्ठ 'सुशब्दता' मानते हैं। भोज ने सुशब्दता-नामक गुण की कल्पना की है। वह इससे अभिन्न है।

विक्रमाभिहित :—यह काव्यशास्त्र का उदारत्व गुण है, जिसे वामन ने 'मसृणत्व' कहा है। अन्तिम गुण वस्तुतः काव्य के गुण (समाधि) का ही विपर्यय है। उसे शास्त्र में भले गुण माना जाय, काव्यगुण नहीं माना जा सकता।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि महाभारत के गुणों के स्वरूप को भी भरत, दण्डी, वामन आदि ने अपने दस गुणों के व्यापक रूप में समाविष्ट कर लिया है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र

कौटिलीय अर्थशास्त्र के छह लेख-गुणों में से अर्थक्रम अपक्रम दोष का अभाव है; सम्बन्ध भी दोषाभावात्मक है, जिसमें स्वतो-विरोध के परिहार पर बल दिया गया है; परिपूर्णता सम्मितत्व है, अर्थात् वह न्यूनपदत्व एवं अधिकपदत्व दोषों का अभाव है; माधुर्य और औदार्य काव्यशास्त्र के उन्हीं नामों के गुण के समकक्ष हैं तथा स्पष्टत्व काव्यशास्त्र का प्रसाद गुण है।

---

१. महाभारत, शान्ति पर्व, नीलकण्ठकृत टीका, पृ० ६६०

उक्त विवेचन के आधार पर हम यह निष्कर्ष पाते हैं कि भरत, दण्डी आदि के श्लेषादि दस गुण ही शब्दार्थगत गुण के रूप में विचारणीय हैं। उन दस गुणों के स्वरूप-निर्धारण में भी आचार्यों में मतभेद है। अतः, श्लेषादि दस गुणों के स्वरूप से सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों की मान्यताओं का परीक्षण कर उनकी संख्या का निर्धारण आवश्यक है। भरत और दण्डी के अनुसार गुणों की संख्या दस ही है; किन्तु वामन उन्हीं दस गुणों को स्वीकार करने पर भी शब्दगत एवं अर्थगत भेद से उनकी संख्या वस्तुतः बीस कर देते हैं। भोज के चौबीस गुणों में परिगणित प्राचीन आचार्यों के श्लेष आदि दस गुणों की संख्या भी वामन की तरह बीस हो जाती है। भरत की गुण-धारणा के विवेचन में हम देख चुके हैं कि नाट्यशास्त्र के दो पाठों में अधिकांश गुणों के दो लक्षण प्राप्त होते हैं। उनके कुछ गुणों को शब्दगत तथा कुछ को अर्थगत माना जा सकता है; किन्तु कुछ गुण उभयगत हैं। उनके लक्षण में शब्दगत वैशिष्ट्य एवं अर्थगत वैशिष्ट्य—दोनों पर बल दिया गया है। दण्डी ने उदार गुण के दो लक्षण दिये हैं। माधुर्य, ओज आदि के भी कई भेदों की कल्पना उन्होंने की है। स्पष्ट है कि भरत और दण्डी ने भी दस गुणों के दस ही स्वरूप की कल्पना नहीं कर उनके अधिक रूपों की कल्पना की है। वामन ने तो स्पष्टतः उनके बीस रूप कल्पित कर लिये। हम यह देख चुके हैं कि प्रत्येक गुण के दो भेदों की मान्यता के आग्रह के कारण वामन आदि आचार्यों को कुछ गुणों के स्वरूप-निर्धारण में दूराकृष्ट कल्पनाएँ करनी पड़ी हैं। हमारी मान्यता है कि सभी गुणों को शब्दगत एवं अर्थगत वर्गों में विभाजित करना उचित नहीं। कुछ गुण केवल शब्द-सौन्दर्य के द्योतक हैं; कुछ से केवल अर्थ-सौन्दर्य का बोध होता है; कुछ ही गुणों का स्वभाव शब्द और अर्थ—दोनों में सौन्दर्य का आधान करने वाला है।

भरत, दण्डी तथा वामन के गुणों के स्वरूप पर इस दृष्टि से भी विचार अपेक्षित है कि गुणों की संज्ञा के सम्बन्ध में एकमत होने पर भी सभी आचार्यों ने गुणों के समान स्वरूप की कल्पना नहीं की है। अतः, भरत से लेकर वामन तक उन्हीं दस गुणों के दशाधिक स्वरूप बन गये हैं। उन सभी स्वरूपों को दृष्टिगत रखते हुए ही गुणों की संख्या का निर्धारण समीचीन होगा।

श्लेष:—भरत, दण्डी, वामन आदि की श्लेष-परिभाषाओं पर विचार करने से उसके दो स्वरूप सामने आते हैं– (१) पदों की श्लिष्टता तथा (२) अर्थ की सुसम्बद्धता, जिसे वामन 'घटना' कहते हैं और भोज 'संविधानगत सुसूत्रता'

मानते हैं। भरत ने स्वभाव से स्फुट तथा विचारगहन रचना में भी श्लेष गुण माना है। यह अर्थ-गाम्भीर्य का एक रूप है। पदों का सुन्दर ग्रथन अथवा अर्थ का सङ्घटन श्लेष गुण माना गया है। पहला शब्दगत गुण है तथा दूसरा अर्थगत।

प्रसाद :– प्रसाद गुण में प्रसिद्ध अर्थ वाले पदों का प्रयोग अपेक्षित माना गया है। सभी आचार्य यह मानने में एक-मत हैं कि प्रसाद में सर्वजन-सुबोध पदों का प्रयोग होना चाहिए। प्रसाद के अर्थगत भेद की पृथक् कल्पना अनावश्यक जान पड़ती है। वामन के अर्थवैमल्य की कल्पना, प्रसिद्धार्थ-पदत्व की कल्पना के बाद आवश्यक नहीं। शब्दगत प्रसाद का लक्षण 'शैथिल्य' करना भी उचित नहीं। भामह और दण्डी का प्रसाद-लक्षण ही उपयुक्त है। प्रसाद काव्य की सरलता का गुण है। इसीलिए ध्वनिवादी आचार्यों ने भी उसकी परिभाषा श्रुति-मात्र से अर्थ-समर्पकत्व मानी है और उसे गुणों में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है।

समता :—समता को भी केवल शब्दगत गुण मानना ही युक्तिसङ्गत जान पड़ता है। यह एक मार्ग का निर्वाह है। मृदु, स्फुट या मध्य; जिस बन्ध में रचना का आरम्भ हुआ हो, उसी का अन्त तक निर्वाह समता है। मुक्तक रचना में यह गुण अधिक उपयुक्त माना जा सकता है। प्रबन्ध में भाव की अनेकरूपता रहती है। अतः, वहाँ एक मार्ग का निर्वाह वाञ्छनीय नहीं होता। अर्थगत समता गुण की कल्पना कर वामन ने उसे प्रक्रम का अभेद कहा है। भोज ने भी इसी मान्यता को स्वीकार किया है। क्रम का अवैषम्य प्रक्रमभङ्ग दोष का अभाव-मात्र है। अतः, उसे स्वतन्त्र गुण मानना युक्तिसङ्गत नहीं।

समाधि :—समाधि में दण्डी ने एक वस्तु के धर्म पर दूसरे वस्तु-धर्म का आधान अपेक्षित माना है; अतः यह अर्थगत गुण है। वस्तुतः, इसका स्वभाव अतिशयोक्ति अलङ्कार से भिन्न नहीं है। वामन की अर्थ-समाधि को, जिसे उन्होंने 'अर्थदृष्टि' कहा है, गुण नहीं माना जा सकता। वामन के शब्द-समाधि-लक्षण में आरोह और अवरोह का क्रम वाञ्छनीय माना गया है। समाधि का यही स्वरूप स्वतन्त्र माना जा सकता है।

माधुर्य :—पाठक के चित्त पर मधुर प्रभाव डालने वाला शब्द और अर्थ का गुण माधुर्य है। पदों का समास-रहित या पृथक्-पृथक् होना वाक्-माधुर्य है तथा उक्तिगत वैचित्र्य का होना अर्थमाधुर्य। भोज ने क्रोध-दशा में अतीव्रता को अर्थमाधुर्य का लक्षण माना है। यह मान्यता समीचीन नहीं। क्रोधावस्था

में मृदुता व्यक्ति-धर्म मानी जा सकती है; अर्थ-धर्म नहीं। अर्थ की माधुरी को दण्डी 'अर्थ का रस' कहते हैं। यह रस वाणी में भी रह सकता है। ध्वनिवादी आचार्यों का माधुर्य चित्त की आर्द्र-वृत्ति है या उसका हेतु। इस प्रकार माधुर्य के मुख्यतः दो रूप माने जा सकते हैं; शब्दों का मधुर होना तथा अर्थ का मधुर होना। इन दोनों का प्रभाव मन पर आर्द्रताजनक माना जा सकता है। इसीलिए माधुर्य को शृङ्गार, करुण आदि रसों का धर्म मानने वाले आनन्दवर्धन आदि आचार्यों ने उस गुण के व्यञ्जक अनुकूल वर्णों की कल्पना की है। मधुर अर्थ भी माधुर्य-व्यञ्जक हो सकता है।

ओज :—ओज गुण माधुर्य से विरुद्ध स्वभाव का है। इस में बन्ध की गाढता अर्थात् संयुक्ताक्षर प्रधान रचना या समास की दीर्घता अपेक्षित मानी गयी है। भरत, दण्डी आदि ने ओज को वाणी का ही धर्म माना है। वामन ने अर्थ-ओज की भी कल्पना की और उसे 'प्रौढि' कहा। प्रौढि के पाँच प्रकार माने गये, जिनमें से पदार्थ में वाक्य-रचना, वाक्यार्थ में पदाभिधान, व्यास तथा समास; ये चार भेद शैली से सम्बद्ध हैं। पाँचवाँ भेद 'साभिप्रायत्व' ध्वनि के समकक्ष है। अतः, अर्थ-ओज की पृथक् कल्पना आवश्यक नहीं। भोज का स्वाध्यवसाय-प्रतिपादन-रूप ओज अर्थ का धर्म नहीं।

सुकुमारता :—सुकुमारता कोमल-कान्त पदावली की योजना का गुण है। भरत ने सुकुमार अर्थ की योजना को भी 'सौकुमार्य' कहा है। इस प्रकार सुकुमार शब्द एवं अर्थ की योजना पर बल होने के कारण यह गुण शब्दगत भी है और अर्थगत भी। मङ्गलभाषित आदि इस गुण की परिधि में आ जाते हैं। प्रभाव की दृष्टि से यह माधुर्य की कोटि का गुण है। वामन ने कालिदास के एक ही श्लोक को शब्द-माधुर्य एवं शब्द-सौकुमार्यः दोनों का उदाहरण मान कर दोनों की स्वभावगत समता स्वीकार की है।[1] स्वभाव-साम्य होने पर भी दोनों को अभिन्न नहीं माना जा सकता। माधुर्य की मधुरिमा पदों की पृथक्-पृथक् योजना से उत्पन्न होती है; पर सौकुमार्य में वह प्रभाव कोमल पदों की योजना से समुद्भूत होता है। अर्थगत माधुर्य और सौकुमार्य में भी प्रभावगत साम्य अवश्य है; किन्तु वे परस्पर अभिन्न नहीं हैं। अर्थ का कोमल होना और मधुर होना एक ही बात नहीं है।

---

१. कालिदास के कुमारसम्भव काव्य का प्रथम श्लोक—'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा···दोनों गुणों का उदाहरण माना गया है।

द्रष्टव्य—वामन, काव्यालङ्कारसूत्र, ३, १, २१-२२

अर्थव्यक्ति :—अर्थव्यक्ति में वस्तु के स्वभाव का स्फुट वर्णन अपेक्षित है। यह अर्थ की स्फुटता का गुण है। अतः; इसे अर्थ का ही गुण माना जाना चाहिए। विशेष प्रकार के शब्दों का प्रयोग अर्थ की स्फुटता में सहायक मात्र होते हैं। अतः, वामन के द्वारा 'अर्थव्यक्ति-हेतुत्व' को अलग शब्दगुण माना जाना व्यर्थ की कल्पना है। दण्डी ने अर्थव्यक्ति को अनेयत्व कहकर उसे दोषाभावात्मक रूप दे दिया है। यह उचित नहीं। वस्तु के स्वभाव का स्फुट वर्णन भावात्मक गुण है। इसका स्वरूप स्वभावोक्ति अलङ्कार से मिलता-जुलता है।

उदारता :—काव्य में उत्कृष्ट अर्थ का वर्णन, मनोरम भाव की अभिव्यक्ति तथा नृत्य करते हुए-से पदों की योजना उदारता गुण है। कुछ लोग सुन्दर विशेषणों के प्रयोग को भी उदारत्व का एक भेद मानते हैं। उत्कृष्ट अर्थ-वर्णन अर्थगत उदारत्व है तथा नृत्यत्प्राय पदों का प्रयोग शब्दगत उदारत्व। इसका शब्दगत भेद काव्य में ध्वनि-संगीत पर बल देता है। शब्दगत श्लेष से शब्दगत उदार का स्वरूप मिलता-जुलता है। श्लेष में पदों का ऐसा सङ्ग्रथन रहता है कि सभी पद एक-से जान पड़ते हैं। उदार में भी शब्दों का परस्पर ग्रथित रहना अपेक्षित रहता है; अन्तर इतना ही है कि उदार में शब्दों की झङ्कार श्लेष की अपेक्षा अधिक रहती है।

कान्ति :—नाट्यशास्त्र में कान और मन को आह्लादित करने वाला काव्य का गुण कान्ति नाम से अभिहित हुआ है। इसका प्रभाव माधुर्य के प्रभाव से अभिन्न है। दण्डी का कान्ति-लक्षण अधिक उपयुक्त जान पड़ता है, जिसमें लौकिक अर्थ का स्वाभाविक वर्णन अपेक्षित माना गया है। जब कवि अतिरञ्जना का त्याग कर वस्तु के स्वाभाविक वर्णन से काव्य में सहज सौन्दर्य की सृष्टि करता है तब उसकी रचना 'कान्त' कही जाती है। वामन ने 'दीप्त-रसत्व' को अर्थ-कान्ति कहा है। काव्य की सरसता गुण के एक भेद में समाविष्ट नहीं की जा सकती। वामन के शब्दगत कान्ति गुण का 'औज्ज्वल्य' लक्षण भी अनावश्यक जान पड़ता है। पृथक्पदत्व, मसृणत्व तथा नृत्यत्प्रायत्व से पृथक् पदों के औज्ज्वल्य की कल्पना का कोई अर्थ नहीं। उन्होंने औज्ज्वल्य का स्वरूप भी स्पष्ट नहीं किया है। उसका जो उदाहरण उन्होंने दिया है, वह वस्तुतः शब्दगुण का उदाहरण नहीं होकर अर्थगुण का उदाहरण हो गया है। उदाहरण के श्लोक में यह वर्णन है कि "हरिणियों के नेत्र-समूह

से वन-प्रान्त पुष्पगुच्छ से युक्त जान पड़ता है।'[1] कवि की कल्पना की इस नूतनता में वामन ने कान्ति गुण माना है। यह कल्पना अर्थ-सौन्दर्य से सम्बद्ध है; पद-सौन्दर्य से नहीं। अतः, वामन की शब्दगत कान्ति-धारणा अनावश्यक है। शब्द का कान्त होना उसके मधुर या सुकुमार होने से भिन्न नहीं। अतः, कान्ति का केवल अर्थगत भेद ही स्वीकार्य है।

निष्कर्षतः, प्राचीन आचार्यों के शब्दार्थगत दस गुण ही स्वीकार्य हैं। उनमें से कुछ गुणों के एकाधिक भेद सम्भव हैं। सभी गुणों के शब्दगत एवं अर्थगत –दो भेद नहीं माने जा सकते। कुछ ही गुण शब्दार्थ-युगलगत हैं। शेष गुणों में से कुछ केवल शब्दगत हैं तथा कुछ केवल अर्थगत।

ध्वनि-प्रस्थान के आचार्यों ने तीन गुण स्वीकार किये हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। इन तीन गुणों के नाम प्राचीन आचार्यों के गुणों की नामावली में भी सम्मिलित हैं; किन्तु उनका स्वरूप ध्वनिवादी आचार्यों के गुणों के स्वरूप से तत्त्वतः भिन्न है। प्राचीन आचार्यों के माधुर्य, ओज और प्रसाद शब्द अथवा अर्थ के गुण हैं; किन्तु ध्वनिवादियों के माधुर्य आदि रस के धर्म हैं। गुणों को चित्त-वृत्तियों से सम्बद्ध मानकर आनन्दवर्धन आदि आचार्यों ने चित्त की द्रुति, दीप्ति एवं विकास अवस्थाओं के आधार पर तीन ही गुण स्वीकार किये। मम्मट की गुण-धारणा के विवेचन-क्रम में हम यह देख चुके हैं कि उन्होंने प्राचीन आचार्यों के दस गुणों को अनावश्यक सिद्ध करने का प्रयास किया है। वे उनके गुणों में से कुछ को माधुर्य आदि तीन गुणों में ही अन्तर्भूत मानते हैं, कुछ को दोषाभाव आदि मानकर उनके गुणत्व को अस्वीकार कर देते हैं।[2] प्राचीन दस गुणों को अमान्य बताने का आधार गुणों के रस-धर्म होने की मान्यता है। रस-गत गुण के तीन से अधिक भेद सम्भव नहीं हैं। चित्त की सभी वृत्तियों को द्रुति, दीप्ति आदि तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है और उनसे सम्बद्ध तीन गुण ही मान्य हो सकते हैं। किन्तु, गुणों को केवल रस-धर्म मानना उचित नहीं। माधुर्य आदि रस-धर्म अवश्य ग्राह्य हैं; किन्तु, श्लेष आदि शब्दार्थ-धर्म भी त्याज्य नहीं। रस-धर्म रस के उत्कर्ष के हेतु हैं, शब्दार्थगत गुण काव्य के शरीर-भूत शब्द और अर्थ में सौन्दर्य का आधान करते हैं। अतः, दस गुणों के तीन गुणों में अन्तर्भावन का प्रयास अनुचित है। हमारा

---

१. 'कुरङ्गीनेत्रालिस्तवकितवनालीपरिसरः।'

—वामन, काव्यालङ्कार सूत्र में उद्धृत, पृ० १३४

२. द्रष्टव्य—मम्मट, काव्यप्रकाश, ८; ७२ तथा उस पर गोविन्द ठक्कुर का प्रदीप

निष्कर्ष है कि उपरि-विवेचित दस गुणों के स्वरूप भी काव्य-समीक्षा में उपादेय हैं तथा माधुर्य आदि गुणों के स्वरूप भी। अतः, काव्य में शब्दार्थगत दस गुण तथा रसगत तीन गुण; ये तेरह गुण मान्य हैं। माधुर्य आदि तीन गुणों के स्वरूप-निर्धारण में प्रायः सभी आचार्य एकमत हैं। शब्दार्थ-गत गुणों के सम्बन्ध में भी आचार्यों के विभिन्न मतों का समन्वय कर उनके सर्वमान्य स्वरूप का स्थिरीकरण हो सकता है। नीचे हम उक्त तेरह गुणों के लक्षण सोदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

शब्दार्थगत गुण

श्लेष :—शब्द या अर्थ का संश्लिष्ट होना श्लेष गुण है। इसके मुख्य दो भेद हैं—शब्दगत एवं अर्थगत। शब्दगत श्लेष में पदों के पृथक्-पृथक् रहने पर भी उनमें समान ध्वनि के सद्भाव से पारस्परिक संश्लिष्टता रहती है और सभी पद परस्पर सङ्ग्रथित होकर एक-से लगने लगते हैं।

उदाहरण:—"सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अखंड अनंत अछेद अभेद सुवेद बतावैं।
नारद से सुक व्यास रहैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछियाँ भरि छाछ पै नाच नचावैं।[१]

इसकी प्रथम पंक्ति में 'स' ध्वनि की आवृत्ति से सेस से सुरेस तक, सभी पद परस्पर संश्लिष्ट हैं। अनादि, अखंड, अनंत, तथा अछेद पद 'अ' ध्वनि के साम्य से परस्पर सङ्ग्रथित हैं। अन्तिम पंक्ति में 'ह' 'छ' 'च' तथा 'या' ध्वनि की समानता के कारण सभी पद एक से प्रतिभासित होते हैं।

अर्थगत श्लेष में सामान्यतः घटित नहीं होने वाले अर्थ की घटना से सौन्दर्य उत्पन्न होता है। इसके कई भेद सम्भव हैं। उदाहरणार्थ, व्याप्य में व्यापक का समाहार या लघु में महान् का अवसान दिखाना श्लेष का एक प्रकार है; विरोधी पदार्थों का एकत्र सङ्घटन इसका दूसरा रूप है तथा अर्थ के कुटिल-क्रम को भी कौशल से उपपन्न कर देना इसका तीसरा भेद है। नीचे तीनों के उदाहरण क्रमशः दिये जाते हैं—

जब मेरे लघु उर में अम्बर
नयनों में उतरेगा सागर

---

१. रसखान

तब मेरी कारा में झिलमिल
दीपक मेरे छाले होंगे।[1]

प्रस्तुत पंक्तियों में लघु में महान् अर्थ के अवसित होने का वर्णन है। लघु और महान् के चमत्कारपूर्ण संश्लेष के कारण इसमें अर्थगत श्लेष का एक भेद माना जा सकता है।

विरुद्ध पदार्थों की एकत्र घटना :—

सुन्दर एक अनूपम बाग
कमल-जुगल पर गजवर क्रीरत तापर सिंह करत अनुराग।[2]

उक्त उदाहरण में नायिका के रूप-वर्णन के लिए अप्रस्तुत के रूप में हाथी और सिंह-जैसे विरोधी पदार्थों का एकत्र संश्लेष किया गया है। परस्पर विरोधी प्रस्तुत अर्थों की एकत्र योजना बिहारी ने ग्रीष्म के असह्य ताप के प्रभाव की व्यञ्जना के लिए की है। उसे भी अर्थश्लेष के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया जा सकता है :—

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ।[3]

इसमें सांप और मयूर का, मृग और बाघ का वृक्ष की छाया में एक साथ बैठना सामान्यतः असम्भावित घटना है; किन्तु ग्रीष्म के ताप का आधिक्य व्यञ्जित करने के लिए उनकी सङ्घटना उपपन्न कर दी गयी है। मयूर गर्मी से इतना बेचैन है कि उसे अपने समीप ही बैठें हुए अपने आहार को पकड़कर खा लेने का होश नहीं; और सांप के लिए भी उस ताप से बचने के लिए उस वृक्ष की छाया में छिपने के सिवा कोई दूसरा चारा नहीं। वह बेचारा मयूर के भय को भूलकर उसके समीप ही जा बैठा है। मयूर के भय से ताप का भय अधिक प्रबल है। यह ताप की व्यञ्जना विरुद्ध अर्थों के संश्लेष के कारण ही सम्भव है। यहाँ विरुद्ध अर्थों की सङ्घटना में अर्थगत श्लेष है।

क्रम के कौटिल्य में उपपत्ति :—

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।

---

१. महादेवी वर्मा
२. सूरदास
३. बिहारी सतसई

ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ।।[१]

(अर्थात्, एक ही आसन पर अपनी दो प्रियाओं को आसीन देखकर धूर्त नायक चुपके से वहाँ पहुँचा और क्रीड़ा के व्याज से पीछे से एक नायिक की आखें उसने बन्द कर दीं। दूसरी ओर थोड़ा मुड़कर कण्टकित होते हुए उसने अपनी भाव-विभोर दूसरी प्रिया को चूम लिया, जिसका कपोल आनन्द से खिल उठा था।) रस-सिद्ध कवि अमरुक ने उक्त श्लोक में एक साथ दो प्रेयसियों को प्रसन्न करने की असम्भावित घटना में कौशल से उपपत्ति दिखलायी है। नायक ने जिस नायिका के नेत्र पीछे से बन्द किये वह उसे नायक की छेड़-छाड़ समझकर, अपने ऊपर प्रिय का अनुराग मानकर सन्तुष्ट हो गयी। दूसरी ओर, दूसरी नायिका अपने ऊपर प्रिय का प्रेम देख तथा अपनी सपत्नी को प्रिय के द्वारा वञ्चित किये जाते देख उल्लसित हो उठी। नायक की एक ही चेष्टा से एक ही समय दो नायिकाओं के अन्तर में उल्लास की सृष्टि के कारण उक्त पद में अर्थगत श्लेष गुण है।

भरत के अनुसार अर्थश्लेष का एक भेद वह भी है, जिसमें स्वभाव से स्पष्टता; किन्तु विचार की गहनता रहती है।[२] अतः, गहन विचार को स्पष्ट-रूप में व्यक्त करना भी श्लेष गुण का एक प्रकार माना जा सकता है।

उदाहरण—निराकार तम मानो सहसा
ज्योतिपुञ्ज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत जाल में
धर कर नाम रूप नाना ।[३]

प्रभात का यह वर्णन अत्यन्त स्पष्ट है, साथ ही इसमें वेदों और उपनिषदों में प्रतिपादित सृष्टि का गूढ रहस्य भी व्यञ्जित है। सृष्टि-सम्बन्धी गहन विचार की सरल एवं काव्यात्मक अभिव्यक्ति ही प्रस्तुत पंक्तियों की उत्कृष्टता का हेतु है। रात्रि में सघन तम सम्पूर्ण जगत को आच्छन्न किये था। उसका न कोई नाम था, न रूप। वह सर्वत्र एकाकार व्याप्त था। प्रातःकाल सूर्य

१. अमरुशतक; श्लोक सं० १९
२. विचारगहनं यत् स्यात्स्फुटं चैव स्वभावतः।
स्वतः सुप्रतिबद्धं च श्लिष्टं तत्परिकीर्तितम् ।।—भरत, ना० शा० १६,९८
३. पन्त, 'प्रथमरश्मि'

की प्रभा से विभक्त होकर उस तम ने कई रूप धारण कर लिये। वृक्ष के पीछे छिपा हुआ अन्धकार वृक्ष की छाया के रूप में, मनुष्य की ओट में रहने वाला तम उसी के रूप में बदल गया। उसने जिस वस्तु का आश्रय लिया उसी का नाम-रूप उसने धारण कर लिया। इस प्रकार वह एक ही निराकार तम ज्योतिपुञ्ज में साकार हो, विविध नाम-रूप धारण कर इस जगत-जाल में बदल गया। प्रातःकालीन स्थिति का यह स्वाभाविक वर्णन उक्त पद का प्रस्तुत विषय है। प्रस्तुत पद में व्यञ्जित होने वाले अप्रस्तुत अर्थ का विवेचन अपेक्षित है।

वेद में सृष्टि के स्पन्दन से पूर्व की दशा की कल्पना की गयी है तथा उसके उद्भव एवं विकास-क्रम का भी विवेचन किया गया है। सृष्टि की अव्यक्त दशा में सत्, असत्; किसी की सत्ता नहीं थी। केवल निरुपाधि ब्रह्म की स्थिति थी। तम से आवृत तम सर्वत्र व्याप्त था। विभु तुच्छ से आच्छादित था। उसके तप की महिमा से वह एक (पुरुष) उत्पन्न हुआ।[1] इस प्रकार सृष्टि का सञ्चार हुआ। उपनिषदों में भी यह विचार व्यक्त किया गया है कि यह समग्र सृष्टि उसी अव्यक्त ब्रह्म की व्यक्त सत्ता है। सृष्टि के पूर्व केवल निराकार ब्रह्म था। उसने जब यह सङ्कल्प किया कि 'मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ'[2] तो वह अपनी ही विभूतियों से नाना रूपों में बदल गया। अतः, यह नामरूपात्मक जगत उसी का साकार रूप है। 'ब्रह्मसूत्र' में ब्रह्म से ही जन्म, उसी में स्थिति और उसी में लय के सिद्धान्त की स्थापना कर उक्त मान्यता का ही समर्थन किया गया है।[3] सांख्य दर्शन का सत्कार्यवाद या विकासवाद भी सम्पूर्ण सृष्टि को अव्यक्त प्रकृति का व्यक्त रूप मानता है।[4] शैव मत में भी एक ही

१. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥
× × ×
तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिमा जायतैकम्॥
—ऋग्वेद, नासदीय सूक्त, मंडल १०, १२९, १-३

२. 'एकोऽहं बहुस्याम।' तथा 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति।
—तैत्तिरीय उपनिषद् २,६

३. 'जन्माद्यस्य यतः।' ब्रह्मसूत्र २

४. 'मूलप्रकृतिरविकृति, महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।' तथा—
'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्……।—सांख्य कारिका, कारिका सं० ३

शिव तत्त्व से संसार के नाना रूपों का सम्बन्ध माना गया है। इस प्रकार वेद से लेकर दार्शनिक चिन्तन के काल तक भारतीय मनीषियों की सुदीर्घ परम्परा में अनेक दिशाओं में इस तथ्य पर विचार होता रहा है कि एक ही निराकार तत्त्व तप या इच्छा की ज्योति में साकार होकर इस नाना नाम-रूपात्मक जगत-प्रपञ्च में परिवर्तित हो गया है। जो निराकार था वह साकार हो गया; जो एक था वह अनेक हो गया; जो अनाम था वह नामवान् हो गया।

पन्त के प्रभात-वर्णन में वेद का सृष्टि-सिद्धान्त व्यञ्जित है, जिसमें यह स्थापना की गयी है कि तप की महिमा से तम नाना रूप और नाम धारण कर जगत-प्रपञ्च में बदल गया। इस गहन दार्शनिक विचार की स्पष्ट अभिव्यक्ति में अर्थगत श्लेष गुण है।

इस विवेचन से अर्थगत श्लेष गुण के मुख्य दो रूप सामने आते हैं—(क) विचार के गहन होने पर भी उसका स्पष्ट वर्णन होना तथा (ख) अघटमान अर्थ का भी इस कौशल से प्रयोग होना कि उसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं जान पड़े। इस दूसरे भेद के कई उपभेद सम्भव हैं, जिनमें से कुछ का सोदाहरण विवेचन ऊपर किया जा चुका है। शब्दगत श्लेष का एक ही रूप है—पदों का पृथक्-पृथक् रहकर भी परस्पर संश्लिष्ट होना।

प्रसाद :—सुबोध शब्दों का प्रयोग प्रसाद गुण है।

उदाहरण—पुर तें निकसी रघुबीर-बधू धरि-धीर दये मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै॥
फिर बूझति है चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै?
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखिया अति चारु चली जल च्वै॥[१]

तुलसी के प्रस्तुत पद में एक भी दुर्बोध पद प्रयुक्त नहीं है। संसार के सभी उच्च कोटि के कवियों की कृतियों में प्रसाद के उदाहरण प्रचुर परिमाण में मिलते हैं। वस्तुतः भावानुभूति से प्रेरित होकर रचना करने वाले प्रतिभा-सम्पन्न कवियों में दुरूह शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति नहीं रहती। सूरदास के भ्रमरगीत से प्रसाद का एक उदाहरण देखा जा सकता है :—

निसि-दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस-रितु हम पै जब ते स्याम सिधारे॥

---

१. तुलसीदास, कवितावली, बनगमन प्रसङ्ग

दृग अंजन लागत नहि कबहूँ उर कपोल भए कारे।
कंचुकि नहिं सूखत सुनु सजनी उर·बिच बहत पनारे।
सूरदास प्रभु अंबु बढ्यो है गोकुल लेहु उबारे।
कहँ लौं कहौं स्याम-घन सुन्दर विकल होत अति भारे।[१]

समता :—रचना में आरम्भ से समाप्ति-पर्यन्त समान बन्ध का निर्वाह समता गुण है।

बन्ध तीन प्रकार के होते हैं—मृदु, स्फुट एवं मिश्र। इन तीन बन्धों के आधार पर समता के तीन भेद माने जा सकते हैं :—

१. मृदु बन्ध की समता,
२. स्फुट बन्ध की समता तथा
३. मिश्र बन्ध की समता।

मिश्र बन्ध में मृदु एवं स्फुट बन्धों की प्रकृति का मिश्रण रहा करता है। अतः मिश्र बन्ध की समता में आरम्भ से अन्त तक रचना में मृदु एवं स्फुट पद-बन्ध का मिश्रण अपेक्षित रहता है। नीचे समता के तीनों भेदों के उदाहरण क्रमशः प्रस्तुत किये जाते हैं—

मृदु बन्ध—व्योम विपिन में जब बसन्त सा
खिलता नव पल्लवित प्रभात,
बहते हम तब अनिल स्रोत में
गिर तमाल तम के-से पात;
उदयाचल से बाल हंस फिर
उड़ता अम्बर में अवदात,
फैल स्वर्ण पङ्खों-से हम भी,
करते द्रुत मारुत से बात![२]

स्फुट बन्ध—घन, गर्जन से भर दो वन
तरु-तरु पादप-पादप-तन।
अब तक गुञ्जन-गुञ्जन पर
नाचीं कलियाँ छबि-निर्भर,
भौरों ने मधु पी-पीकर
माना, स्थिर मधु-ऋतु कानन।

---

१. सूरदास, सूरसागर, विरह-वर्णन-प्रसङ्ग
२. सुमित्रानन्दन पन्त 'बादल' 'रश्मिबंध' में सङ्गृहीत पृ० ३६

गरजो, हे मन्द्र, वज्र-स्वर,
थर्राये भूधर-भूधर
झर-झर झर-झर धारा झर
पल्लव-पल्लव पर जीवन ।[1]

निराला की इस सम्पूर्ण कविता में एक ही स्फुट बन्ध का आद्यन्त निर्वाह हुआ है।

मिश्र बन्ध :—वज्र का उर एक छोटे अश्रु-कण में धो, गलाया,
दे किसे जीवन-सुधा दो घूँट मदिरा माँग लाया ?
सो गयी आँधी मलय की वात का उपधान ले क्या ?
विश्व का अभिशाप क्या चिर नींद बन कर पास आया ?
अमरता-सुत चाहता क्यों मृत्यु को उर में बसाना ?
कह न ठंढी साँस में अब भूल वह जलती कहानी,
आग हो उर में तभी दृग में सजेगा आज पानी,
हार भी तेरी बनेगी मानिनी जय की पताका,
राख क्षणिक पतङ्ग की है अमर दीपक की निशानी !
है तुझे अङ्गार-शय्या पर मृदुल कलियाँ बिछाना ![2]

महादेवी की कविता के प्रस्तुत अंश की प्रथम पंक्ति में स्फुट बन्ध तथा द्वितीय एवं तृतीय पंक्तियों में मृदु बन्ध का स्वभाव है। इसी प्रकार अन्य पंक्तियों में भी दोनों बन्धों के स्वभाव का मिश्रण है।

समाधि :—ध्वनि के आरोह और अवरोह का क्रम समाधि गुण है अर्थात् जहाँ क्रम से आरोह और अवरोह होता हो, वहाँ समाधि गुण होता है। दीर्घ स्वर तथा महाप्राण व्यञ्जन में आरोह होता है और ह्रस्व स्वर तथा अल्प-प्राण व्यञ्जन में अवरोह।

उदाहरण—राखो पति गिरिवर गिरि-धारी !
अब तो नाथ, रह्यो कछु नाहिन उघरत नाथ अनाथ पुकारी।
बैठी सभा सकल भूपनि की, भीष्म-द्रोन-करन व्रतधारी।
कहि न सकत कोउ बात बदन पर, इन पतितनि मो अपति बिचारी।

---

१. निराला, 'गर्जन से भर दो वन', 'अपरा' में सङ्कलित पृ० ३७
२. महादेवी वर्मा

पांडु-कुमार पवन से डोलत, भीम गदा कर तैं महि डारी।
रही न पैज प्रबल पारथ की, जब तैं धरम सुत धरनी हारी।
अब तो नाथ न मेरी कोई, बिनु श्रीनाथ-मुकुन्द-मुरारी।
'सूरदास' अवसर के चूकैं फिर पछितैहौ देख उघारी।[1]

आरम्भिक तीन पंक्तियों में आरोह के अनन्तर चतुर्थ पंक्ति में अवरोह है। पुनः पञ्चम पंक्ति से क्रमशः आरोह होना है और पद के अन्त तक चलता है। प्रथम तीन पंक्तियों में भी आरोह और अवरोह का सुन्दर क्रम है। आरम्भ में आरोह होकर मध्य में अवरोह होता है और पुनः अन्त में आरोह।

निराला के गीतों में आरोह-अवरोह-क्रम के अनेक उदाहरण पाये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए उनका 'रवि गये अपर पार' शीर्षक एक गीत नीचे उद्धृत है :—

देकर अन्तिम कर रवि गये अपर पार;
अमित-चरण लौटे गृहिजन निज निज द्वार।
अम्बर-पथ से मन्थर सन्ध्या श्याम
उतर रही पृथ्वी पर कोमल-पद-भार।
मन्द मन्द बही पवन खुल गयी जुही,
अञ्जलि-कल विनत नवल पद-तल-उपहार।
सुवसना उठी प्रिया आनत-नयना,
भवन-दीप जला रही आरती उतार।

प्रस्तुत गीत में आरम्भ में अवरोह के अनन्तर आरोह है। पुनः 'अञ्जलि-कल विनत नवल पद-तल' में अवरोह और 'उपहार' से आरम्भ होकर अन्त तक आरोह का निर्वाह है। ध्वनि का यह आरोह-अवरोह-क्रम या स्वर का क्रमिक चढ़ाव-उतार शब्द-सङ्गीत में सौन्दर्य का आधान कर उसकी प्रभावोत्पादकता की वृद्धि करता है। अतः, समाधि शब्दगत गुण है।

माधुर्य :—मधुर पदावली की योजना तथा उक्तिवैचित्र्यपूर्ण मधुर अर्थ का वर्णन माधुर्य गुण है। पदावली का मधुर होना शब्दगत माधुर्य है तथा उक्ति में वैचित्र्य का होना अर्थगत माधुर्य।

---

१. सूरसागर

उदाहरण—कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि,
कहत लखन सन राम हृदय गुनि।

उक्त चौपाई में 'कंकन' 'किंकिनि' आदि शब्द भी अपने-आप में मधुर प्रभाव के उत्पादक हैं। प्रसाद की निम्नलिखित पंक्तियों में मधुर पदावली की योजना से उत्पन्न सौन्दर्य द्रष्टव्य है।—

बीती विभावरी जाग री!
× × × ×
खग-कुल कुल-कुल-सा बोल रहा
किसलय का अंचल डोल रहा
लो, यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल रस गागरी।

अर्थ-माधुर्य—पर-कार्जहि देह कों धारि फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधा के समान करौ सबही विधि सज्जनता सरसौ।
'घनआनन्द' जीवन-दायक हौ कछु मेरियौ पीर हियै परसौ।
कबहूँ, वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानहिं लै बरसौ॥

मेघ को संस्कृत में पर्जन्य भी कहते हैं। भाषा में (ब्रज, अवधी आदि भाषाओं में) उस शब्द का रूप 'परजन्य' हो जाता है। इसका 'परार्थ जीवन धारण करना' अर्थ कवि की सूझ है। 'जीवन' शब्द जल और प्राण दोनों के के लिए प्रयुक्त है। मेघ जल की वृष्टि करता है, इसीलिए तो वह जीवन-दायक है ही, उसकी इस उपाधि की सार्थकता इस बात में भी है कि वह जल की वर्षा कर ताप से सूखते हुए वृक्षों, लताओं तथा पौधों को जीवन-दान देता है। मेघ का 'परजन्य' होना तथा 'जीवन-दायक' होना ही विरही में यह विश्वास उत्पन्न करता है कि उसकी याचना निष्फल नहीं होगी। उक्त शब्दों के चमत्कार-पूर्ण अर्थ में अर्थगत माधुर्य है।

घनानन्द, बिहारी आदि रससिद्ध कवियों की रचना में उक्तिवैचित्र्य-रूप अर्थ-माधुर्य के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। घनानन्द के दूसरे सवैये में भी उक्ति-चमत्कार का माधुर्य देखा जा सकता है :—

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपनपौ झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं।

---

१. प्रसाद

२. घनानन्द

'घनआनन्द' प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढे हौ कहौ मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं ।।

'मन' लेकर उसके बदले छटाँक भी नही देने में उक्ति का चमत्कार स्पष्ट है।

ओज :—संयुक्ताक्षर-प्रधान गाढ-बन्ध पदों का प्रयोग ओज गुण है।

उदाहरण— रवि हुआ अस्त; ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र-कर, वेग-प्रखर,
शत-शेल-सम्वरण-शील, नील-नभ-गर्जित-स्वर,
प्रतिपल-परिवर्तित - व्यूह,—भेद कौशल-समूह—
राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह,— क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विच्छुरित —वह्नि— राजीवनयन-हत-लक्ष्य-वाण,
लोहित-लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,
राघव-लाघव-रावण-वारण—गत-युग्म-प्रहर,
उद्धत-लंकापति-मर्दित-कपि-दल-बल-विस्तर,
अनिमेष-राम—विश्वजिद्दिव्य-शर-भंग-भाव,—
विद्धांग—बद्ध-कोदण्ड-मुष्टि—खर-रुधिर-स्राव,
रावण-प्रहार-दुर्वार-विकल-वानर-दल-बल,—
मूर्छित-सुग्रीवांगद-भीषण-गवाक्ष-गय-नल,—
वारित-सौमित्रि-भल्लपति—अगणित-मल्ल-रोध,
गर्जित-प्रलयाब्धि-क्षुब्ध-हनुमत्-केवल प्रबोध,
उद्गीरित-वह्नि-भीम-पर्वत-कपि-चतुः प्रहर—
जानकी-भीरु-उर-आशा-भर,—रावण-सम्बर।[१]

'राम की शक्ति-पूजा' के इस आरम्भिक अंश में 'तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र-कर' से लेकर 'उद्गीरित-वह्नि-भीम-पर्वत-कपि-चतुः प्रहर' तक गाढ-बन्ध का प्रयोग है।

---

१. निराला, राम की शक्तिपूजा

सुकुमारता

कोमल पदावली में कोमल अर्थ का वर्णन सुकुमारता गुण है। कोमल पद-योजना से सुकुमारता शब्दगत सौन्दर्य की सृष्टि करती है तथा कोमल अर्थ-वर्णन से अर्थगत सौन्दर्य की सृष्टि करती है। यह गुण शब्द और अर्थ; दोनों का उत्कर्ष साधन करता है।

एक ही पद की आवृत्ति से भी सुकुमारता का प्रभाव उत्पन्न होता है। अतः, पदावृत्ति भी सुकुमारता का एक प्रकार है।

उदाहरणार्थ :—

कानन दै अँगुरी रहिवो,
जवही मुरली-धुनि मंद वजैहै।
मोहिनि तानन सों 'रसखानि'
अटा चढि गोधन गैहै तो गैहै॥
टेरी कहौ सिगरे व्रजलोगनि,
काल्हि कोऊ कितनो समुझै है।
माई री, वा मुख की मुसकानि
संभारी न जैहै न जैहै न जैहै॥[१]

इस पद की अन्तिम पंक्ति में 'न जैहै' की आवृत्ति' में शब्दगत सुकुमारता गुण है।

भिखारी दास ने 'पुनरुक्ति-प्रकाश' नामक गुण की कल्पना की है। वह सुकुमारता के उक्त भेद से अभिन्न है। दास का निम्नलिखित पद सुकुमारता का ही उदाहरण है :—

मधुमास में 'दास' जू बीस बिसें मॅन-मोंहॅन आइहैं आइहैं आइहैं।
उजरे इन भौंनन कों सजनी, सुख-पुंजंन छाइहैं, छाइहैं, छाइहैं॥
अब तेरी सों एरी न संक इकंक, बिथा सब जाइहैं, जाइहैं, जाइहैं।
घॅनस्यॉंम-प्रभा-लखिकें सजनी, अँखियाँ सुख पाइहैं, पाइहैं, पाइहैं॥[२]

कामायनी का एक पद द्रष्टव्य है—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,

१. रसखान
२. भिखारी दास,

खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।[१]

प्रस्तुत पंक्तियों में श्रद्धा के कोमल रूप का वर्णन हुआ है। प्राकृतिक छटा के वर्णन में सौकुमार्य के अनेक उदाहरण सुलभ होते हैं। 'प्रिय प्रवास' के वसन्त वर्णन-प्रसङ्ग से प्रकृति के कोमल-रूप-वर्णन, का एक उदाहरण नीचे उद्धृत किया जाता है :--

वसन्त ने सौरभ ने पराग ने
प्रदान की थी अति कान्त भाव से
वसुन्धरा को पिक को मिलिन्द को
मनोज्ञता मादकता मदान्धता।[२]

अर्थव्यक्ति :—वस्तु-स्वभाव का स्फुट वर्णन होना अर्थव्यक्ति गुण माना जाता है।

उदाहरण :—जसोदा हरि पालनै झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहैं न आनि सुवावै।
तू काहैं नहिं वेगहिं आवै, तोकौं कान्ह बुलावै।
कबहुँक पलक हरि मूंदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि-करि सैन बतावै।
इहिं अन्तर अकुलाई उठे हरि, जसुमति मधुरै गावै।[३]

सूर ने बालक कृष्ण की चेष्टाओं का अत्यन्त स्फुट वर्णन उक्त पंक्तियों में किया है।

पन्त का 'नौका-विहार' वस्तु-वर्णन की स्फुटता की दृष्टि से बहुत सफल काव्य है। उसकी कुछ पंक्तियाँ उदाहरण-रूप में उल्लेख्य हैं :—

× × × ×
लो, पालें चढीं, उठा लंगर!
मृदु मंद मंद, मंथर मंथर, लघु तरणि, हंसिनी सी सुन्दर,

---

१. प्रसाद, कामायनी, श्रद्धा सर्ग,
२. हरिऔध, प्रियप्रवास,
३. सूरसागर

तिर रही खोल पालों के पर !
निश्चल जल के शुचि दर्पण पर बिम्बित हो रजत पुलिन निर्भर,
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर !]
कालाकांकर का राज भवन, सोया जल में निश्चिन्त, प्रमन,
पलकों में वैभव स्वप्न सघन !
नौका से उठती जल हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर छोर ![1]

उदारता :—वर्णन में अर्थ के उत्कृष्ट गुण का प्रतीत होना, उदारता का अर्थगत भेद है। नृत्य करते-से पदों की योजना तथा श्लाघ्य विशेषणों का प्रयोग शब्दगत उदारता है। इस प्रकार शब्दगत उदारता के दो भेद हो जाते हैं :—(क) पदों का नृत्यत्प्रायत्व तथा (ख) श्लाघ्यविशेषण-योग। नीचे तीनों के उदाहरण क्रमश: दिये जाते हैं—

कौन तुम संसृति जलनिधि तीर
तरङ्गों से फेंकी मणि एक
कर रहे निर्जन का चुपचाप,
प्रभा की धारा से अभिषेक।[2]

उक्त वर्णन में मनु के व्यक्तित्व का उत्कर्ष व्यञ्जित होता है। अतः उसमें अर्थ की उदारता है।

शब्दगत उदारता (शब्दनृत्य) :—

विधि के कमंडलु की सिद्धि है प्रसिद्ध यही,
हरि-पद-पंकज-प्रताप की लहर है।
कहै 'पद्माकर' गिरीस-सीस-मंडल के,
मुण्डन की माल ततकाल अघहर है॥
भूपति-भगीरथ के रथ को सुपुन्य पथ,
जह्नु-जप-जोग-फल-फैल को फहर है।
छम की छहर, गंगा रावरी लहर,
कलिकाल को कहर, जम-जाल को जहर है॥[3]

---

१. पन्त, नौकाविहार
२. प्रसाद, कामायनी
३. पद्माकर, गङ्गालहरी

अन्तिम चार पंक्तियों में पद परस्पर गुंथ कर नृत्य करते-से जान पड़ते हैं।

श्लाघ्य-विशेषण ।—

व्योम-मण्डल में—जगतीतल में—
सोती शान्त सरोवर पर उस अमल-कमलिनी दल में—
सौन्दर्य-गर्विता सरिता के अतिविस्तृत वक्षःस्थल में—
धीर वीर गम्भीर शिखर पर हिमगिरि-अटल-अचल में—
उत्ताल-तरंगाघात-प्रलय-घन-गर्जन-जलधि प्रबल में—
क्षिति में—जल में—नभ में—अनिल-अनल में—
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा "चुप, चुप, चुप"
है गूंज रहा सब कहीं,—[1]

इस में सरिता, पर्वत, सागर आदि के लिए अनेक सुन्दर विशेषणों का प्रयोग हुआ है।

कान्ति :—लौकिक अर्थ का मन को आह्लादित करने वाला अतिरञ्जना-हीन वर्णन कान्ति गुण है। लोक में घटित होने वाली घटनाओं में स्वतः जन-मन-रञ्जन की शक्ति रहती है। कान्ति गुण में घटनाओं या वस्तुओं के स्वाभाविक वर्णन पर बल दिया जाता है। इसमें अकृत्रिम सौन्दर्य रहता है।

उदाहरण—विहँसति संकुचति-सी दिये कुच-आँचर बिच बांह।
भींगे पट तट को चल्यौ, न्हाइ सरोबर मांह ॥[2]

प्रस्तुत पंक्तियों में सरोवर में स्नान कर तट की ओर आती हुई मुग्धा की सलज्ज चेष्टाओं का स्वाभाविक एवं मनोरम वर्णन है।

कान्ति गुण के स्वभाव का अर्थव्यक्ति गुण के स्वभाव से कुछ सादृश्य अवश्य है; किन्तु दोनों की प्रकृति अभिन्न नहीं है। कान्ति में अतिरञ्जना का त्याग अनिवार्य है; किन्तु अर्थव्यक्ति अतिरञ्जित वर्णन में भी रह सकती है। उसमें केवल अर्थ की स्फुटता वाञ्छनीय है। उदाहरणार्थ, बिहारी के उक्त दोहे में वर्णित अर्थ से मिलते-जुलते अर्थ का वर्णन देव ने भी एक पद में किया है; किन्तु वह वर्णन कुछ अतिरञ्जना-पूर्ण है। उसमें वस्तु-स्वभाव की स्फुटता

१. निराला, सन्ध्यासुन्दरी

२. बिहारी

होने से अर्थव्यक्ति गुण अवश्य है; किन्तु वर्णन की अतिरञ्जना के कारण उसमें कान्ति गुण का सद्भाव नहीं माना जा सकता। देव का पद निम्नलिखित है :—

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई देव,
श्रीफल-उरोज-आभा आभासै अधिक सी।
छूटी अलकनि छलकनि जलबूँदन की
बिना बेंदी बंदन बदन शोभा बिकसी।
तजि-तजि कुञ्ज पुञ्ज ऊपर मधुप-गुञ्ज—
गुंजरत, मंजु-रव बोलै बाल पिक-सी।
नीबी उकसाइ नेकु नयन हँसाय हँसि,
ससिमुखी सकुचि सरोवर तैं निकसी ॥[१]

इसमें 'तजि-तजि कुंज पुंज ऊपर मधुप-गुंज-गुंजरत' यह कल्पना अति-रञ्जित है।

रसगत गुण

शब्द और अर्थ में सौन्दर्य का आधान करने वाले उक्त दस गुणों के अतिरिक्त माधुर्य आदि तीन गुण रस के धर्म माने गये हैं। वे रस के साथ अविच्छेद्य भाव से रहकर उनका उत्कर्ष करते हैं। उनका सम्बन्ध चित्त की विभिन्न वृत्तियों से है। वे वस्तुतः रस-धर्म हैं; किन्तु उपचार से तत्तद् गुणों के व्यञ्जक वर्णों एवं सङ्घटनाओं के धर्म भी मान लिये जाते हैं। विशेष प्रकार के वर्ण एवं विशेष प्रकार की सङ्घटना से विशेष गुण की व्यञ्जना में सहायता मिलती है। गुण-व्यञ्जक वर्णों एवं सङ्घटनाओं का गुणों के साथ अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। माधुर्य-व्यञ्जक वर्ण एवं सङ्घटना में भी ओज गुण का सद्भाव सम्भव है। ओज-व्यञ्जक वर्ण एवं सङ्घटना में भी माधुर्य के सद्भाव के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। विशेष रसों के साथ उन गुणों का नियत निवास है। इसीलिए उन्हें रस-धर्म माना जाता है। नीचे हम माधुर्य आदि रसगत गुणों के स्वरूप का विश्लेषण करेंगे :—

माधुर्य :—चित्त का अह्लाद-स्वरूप तथा उसकी आर्द्रता का हेतु माधुर्य है। यह श्रृङ्गार करुण और शान्त रसों का धर्म है। उक्त रसों की अनुभूति-

१. देव

दशा में चित्त द्रवित होता है। यह चित्त की द्रुति ही माधुर्य कही जाती है।

उदाहरण—　　एक पल, मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था!
लाज की मादक सुरा की लालिमा,
फैल गालों में, नवीन गुलाब-से,
छलकती थी बाढ सी सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों से, सीप-से![१]

इस संयोग शृङ्गार में माधुर्य गुण है। विप्रलम्भ शृङ्गार-वर्णन में माधुर्य के उदाहरण सूर के भ्रमर-गीत में प्रचुर परिमाण में प्राप्य हैं। नीचे एक पद उद्धृत है :—

लखियत कालिन्दी अति कारी।
कहियो पथिक जाय हरि सों ज्यों भई बिरह-जुर-जारी॥
मनु पलिका पै परी धरनि धंसि तरंग-तलफ तनु भारी।
तट-बारू उपचार-चूर मनों स्वेद-प्रवाह पनारी॥
बिगलित कच कुस-कास-पुलिन मनों पंकज कज्जल सारी।
भ्रमर मनों मति भ्रमति चहूँ दिसि फिरति है अंग दुखारी॥
निसि-दिन चकई ब्याज बकत मुख किन-मानस अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना-गति सो गति भई हमारी॥[२]

यमुना की दशा के वर्णन के माध्यम से विरह-विधुरा गोपियों की दशा का जो कारुणिक दृश्य इन पंक्तियों में उपस्थित किया गया है, वह पाठक के चित्त को आर्द्र कर देने वाला है। करुण-रस में माधुर्य का उदाहरण रामचरित-मानस के उस सन्दर्भ में देखा जा सकता है, जहाँ पुत्र-वियोग की असह्य वेदना से दशरथ के प्राण-त्याग से सारी अयोध्या शोकाकुल हो जाती है। कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत हैं :—

---

१. पन्त, 'ग्रन्थि से'
२ सूर, भ्रमरगीत

लागति अवध भयावनि भारी । मानहुँ कालराति अँधियारी ॥
घोर-जन्तु-सम पुर-नर-नारी । डरपहि एकहि एक निहारी ॥
घर मसान, परिजन जनु भूता । सुत हित मीत मनहुँ जम दूता ॥
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं । सरित सरोवर देखि न जाहीं ॥
बिधि कैकयी किरातिनि कीन्हीं । जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्हीं ॥
सहि न सके रघुवर-विरहागी । चले लोग सब व्याकुल भागी ॥
करि बिलाप सब रोवहिं रानी । महाबिपति किमि जाइ बखानी ॥
सुनि विलाप दुखहू दुःख लागा । धीरजहू कर धीरज भागा ॥[१]

इस वर्णन से पाठक का चित्त करुणा से आर्द्र होता है। शान्त रस में माधुर्य का उदाहरण नीचे उद्धृत किया जाता है :—

छीर रूप सतनाम है नीर रूप व्यवहार ।
हंस रूप कोइ साध है तत का छाननहार ॥[२]

कोमल वर्ण तथा असमास या लघु समास-सङ्घटना को माधुर्य-व्यञ्जक माना जाता है। ट, ठ, ड, और ढ को छोड़ शेष स्पर्श वर्णों के साथ यदि अनुनासिक वर्ण का संयोग हो तो वे वर्ण माधुर्य-व्यञ्जना में सहायक होते हैं। ऊपर जो उदाहरण उद्धृत हैं उनमें प्रायः असमासा या अल्पसमासा-सङ्घटना ही है। सूर के 'भ्रमर गीत' से ऊपर उद्धृत पद में अनुनासिक-युक्त स्पर्श वर्णों की योजना से माधुर्य-व्यञ्जना का उदाहरण द्रष्टव्य है। माधुर्य-व्यञ्जना का यह नियम कठोर नहीं। इसमें व्यभिचार के उदाहरण भी उपलब्ध हैं। दीर्घ-समासा सङ्घटना से भी माधुर्य की व्यञ्जना हो सकती है। उदाहरणार्थ निम्न-लिखित पंक्तियों में दीर्घ-समास-सङ्घटना के होने पर भी माधुर्य गुण ही है :—

बन्दूँ पद सुन्दर तव;
छन्द नवल स्वर-गौरव
जननि, जनक-जननि जननि
जन्मभूमि-भाषे ।
जागो, नव-अम्बर-भर-
ज्योतिस्तर-वासे !
उठें स्वरोर्मियाँ मुखर
दिक्कुमारिका-पिक-रव ।....[३]

---

१. तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड
२. कबीर; साखी
३. निराला; बन्दूँ पद सुन्दर तव

माधुर्य-व्यञ्जक वर्ण के नियम का व्यभिचार पन्त की 'ग्रन्थि से' कविता से उद्धृत संयोग शृङ्गार के उदाहरण में स्पष्ट है। उसमें ट-वर्गीय वर्णों का सर्वथा त्याग नहीं होने पर भी माधुर्य गुण वर्तमान है।

ओज :—चित्त-विस्तार-रूप दीप्ति का हेतु ओज गुण है। यह वीर, बीभत्स, रौद्र एवं अद्भुत रसों का धर्म है। इसकी व्यञ्जना सामान्यतः दीर्घसमास-रचना से होती है। इसमें उद्धत वर्ण-गुम्फ, अल्प-प्राण वर्ण के साथ महाप्राण वर्णों का संयोग, रेफयुक्त वर्णों तथा 'ट', 'ठ', 'ड', 'ढ', 'श' एवं 'ष' वर्णों का प्रयोग वाञ्छनीय माना जाता है।

उदाहरण—

(वीर रसस्थ ओज)—भए क्रुद्ध जुद्ध-विरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे।
कोदंड-धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे।
मंदोदरी उर-कंप कंपति कमठ भू भूधर त्रसे।
चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि महि, देखि कौतुक सुर हँसे॥[1]

प्रस्तुत पंक्तियों में राम के युद्धोत्साह का सृष्टि-व्यापी प्रभाव उद्धत शब्द-गुम्फ में व्यञ्जित है।

(बीभत्स रसस्थ ओज)—अजौं भूतनाथ मुण्डमाल लेत हरषत,
भूतन अहार लेत अजहूँ, उछाह है,
'भूषण' भनत अजौं काटे करबालन के,
कारे कुञ्जरन परी कठिन कराह है।
सिंह सिवराज सलहेरि के समीप ऐसो,
कियो करलाम दिली-दल को सिपाह है,
नदी रन मंडल रुहेलन-रुधिर अजौं
अजौं रवि-मंडल रुहेलन की राह है॥[2]

(रौद्र-रसस्थ ओज) माखे लखनु कुटिल भई भौहें। रद-पट फरकत नयन रिसौंहें॥
रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहइ न कोई॥[3]

(अद्भुत रसस्थ ओज)—गिरि जनि गिरै स्याम के कर तें॥

---

१. तुलसीदास
२. भूषण
३. तुलसीदास, रामचरितमानस

करत विचार सबै ब्रजबासी, भय उपजत अति उर तैं।
लै लै लकुट ग्वाल सब धाए, करत सहाय जु तुरतैं।
यह अति प्रबल, स्याम अति कोमल, रबकि-रबकि हरबर तैं।।
सप्त दिवस कर पर गिरि धार्‌यौ, बरसि थक्यौ अंबर तैं।
गोपी ग्वाल नन्द-सुत राख्यौ, मेघ-धार जलधर तैं।।
जमलार्जुन दोउ सुत कुबेर के, तेउ उखारे जर तैं।
'सूरदास' प्रभु इन्द्र-गर्व हरि, ब्रज राख्यौ करवर तैं।।[1]

ओज की व्यञ्जना में दीर्घ-समास-सङ्घटना एवं उद्धत वर्ण-गुम्फ के नियम का व्यभिचार भी पाया जाता है। तुलसीदास की रचना से असमास-घटना एवं अनुद्धत गुम्फ से ओज-व्यञ्जना का एक उदाहरण देखा जा सकता है :—

लीन्हौं उखारि पहार चल्यो तेहि काल विलंब न लायो।
मारुत-नंदन मारुत को, मन को, खगराज को वेग लजायो।।
तीखी तुरा तुलसी कहतो पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो।।[2]

इसमें गति की क्षिप्रता के कारण आकाश में पर्वत की लीक बन जाना वस्तुत: अद्भुत दृश्य है। तुलसी ने दीर्घ-समास एवं विकट वर्ण-गुम्फ के अभाव में भी इस अद्भुत वर्णन में ओज की सफल व्यञ्जना की है।

प्रसाद :—सूखी लकड़ी में आग की तरह तथा स्वच्छ वस्त्र में जल की तरह चित्त में क्षिप्रता से छा जाने वाला रस-धर्म प्रसाद गुण है। यह चित्त का विकास है। इस गुण की अनिवार्य सत्ता सभी रसों में रहती है। प्रसाद के अभाव में रस की व्यञ्जना ही सम्भव नहीं। अत:, शृङ्गार आदि-रसों में माधुर्य के साथ तथा वीर आदि रसों में ओज के साथ प्रसाद गुण की अपरिहार्य स्थिति रहती है। हास्य एवं भयानक रसों में प्रसाद ऐकान्तिक भाव से रहता है। शृङ्गार आदि रसों में प्रसाद गुण वस्त्र में जल की तरह चित्त को छा लेता है तथा वीर आदि रसों में वह सूखी लकड़ी में आग की तरह चित्त को व्याप्त कर लेता है। वस्त्र में जल के छाने के दृष्टान्त से प्रसाद का आर्द्र चित्तवृत्तित्व तथा सूखी लकड़ी में आग के छाने के दृष्टान्त से उसका दीप्त

१. सूरदास, सूरसागर
२. तुलसीदास

चित्त-वृत्तित्व व्यञ्जित होता है। ऊपर ओज एवं माधुर्य के जितने उदाहरण उद्धृत हैं, उन सबों को प्रसाद का उदाहरण भी माना जा सकता है। ऐकान्तिक रूप से प्रसाद गुण हास्य और भयानक रसों में रहता है। उन दोनों रसों में प्रसाद के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

काहु न लखा सो चरित विशेखा। सो सरूप नृप-कन्या देखा॥
मर्कट बदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही॥
जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली॥
पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं। देखि दसा हरगन मुसुकाहीं॥[1]

स्वयंवर में मोह-ग्रस्त नारद की उक्त चेष्टा हास की सृष्टि करती है। तुलसी की कवितावली से हास्य का दूसरा उदाहरण भी द्रष्टव्य है :—

बिन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम-तीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनिबृन्द सुखारे।
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पदमंजुल-कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥[2]

भयानक रसस्थ प्रसाद :—

लपट कराल ज्वाल जाल-माल दहूँ दिसि,
धूम अकुलाने पहिचाने कौन काहि रे।
पानी को ललात, बिललात, जरे गात जात,
परे पाइमाल जात, भ्रात! तू निबाहि रे॥
प्रिया! तू पराहि, नाथ नाथ! तू पराहि बाप,
बाप! तू पराहि, पूत, पूत! तू पराहि रे।
तुलसी बिलोकि लोग व्याकुल बिहाल कहैं,
"लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे॥"[3]

गुणों के स्वरूप-विश्लेषण से स्पष्ट है कि माधुर्य आदि तीन रस-धर्म रस का साक्षात् उत्कर्ष-साधन करते हैं; किन्तु श्लेष आदि दस गुण काव्य के शरीर-भूत शब्द एवं अर्थ का उत्कर्ष कर परम्परया शरीरस्थ आत्मा के उत्कर्ष के हेतु बनते हैं। श्लेष आदि दस गुणों में से कुछ का सम्बन्ध केवल शब्द से, कुछ

---

१. तुलसीदास, रामचरितमानस।
२. तुलसीदास, कवितावली।
३. वही।

का केवल अर्थ से तथा शेष का शब्द एवं अर्थ; दोनों से है। उदाहरणार्थ—प्रसाद, समता, समाधि और ओज केवल शब्दगत गुण हैं; अर्थव्यक्ति और कान्ति केवल अर्थगत हैं और श्लेष, माधुर्य, सुकुमारता तथा उदारता शब्दार्थ-युगल-गत गुण हैं। रसगत गुणों से शब्दार्थगत गुणों की सत्ता सर्वथा स्वतन्त्र है। काव्य में दोनों उपादेय हैं। जैसे लोक-जीवन में आत्मा का उत्कर्ष शरीर-गत मृदुता, कान्ति आदि गुणों के महत्त्व का अपलाप नहीं कर देता उसी प्रकार काव्य-जगत में आत्मोत्कर्ष के हेतु तीन गुणों को स्वीकार कर लेने से काव्य-शरीर-भूत शब्दार्थ के उत्कर्षाधायक श्लेष आदि गुणों की उपादेयता का परिहार नहीं हो जाता। अतः, दस गुणों में से कुछ का तीन गुणों में अन्तर्भाव मानना, कुछ को अलङ्कार कह कर तथा अन्य को दोषाभाव-मात्र मान कर टाल देना अपनी मान्यता के प्रति अतिशय आग्रह तथा पूर्ववर्ती आचार्यों की धारणा के खण्डन के लिए अनपेक्षित आतुरता का ही परिणाम है। उपरि-विवेचित सभी गुणों की प्रकृति पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्दार्थगत गुणों से रसगत गुणों का कोई विरोध नहीं। अतः, रसगत तीन गुणों की सत्ता की स्थापना के लिए प्राचीन आचार्यों के शब्दार्थगत दस गुणों की सत्ता का खण्डन आवश्यक नहीं। काव्य में शब्द और अर्थ का उत्कर्ष करने वाले दस प्रकार के गुण होते हैं तथा रस का उत्कर्ष करने वाले तीन प्रकार के गुण। इस प्रकार काव्य में तेरह गुण स्वं कार्य हैं।

उपसंहार

पूर्व अध्यायों में काव्यशास्त्रीय विवेचन से प्राप्त निष्कर्षों का समाहार निम्नलिखित है :—

१. काव्यशास्त्रीय चिन्तन के आरम्भिक काल में ही काव्यगुणों पर विचार आरम्भ हो गया था। ईसा की चौथी शताब्दी के बहुत पहले भारत में काव्य के शास्त्र का निर्माण आरम्भ हो गया था। भरत के पूर्व काव्यशास्त्र के किसी लिखित ग्रन्थ का उपलब्ध नहीं होना उनके पूर्व काव्यशास्त्रीय मीमांसा की सत्ता का अभाव नहीं सिद्ध करता। 'नाट्यशास्त्र' में उल्लिखित आचार्यों के नाम से काव्य-समीक्षा का प्राग्-भरत-भाव स्पष्ट है। भरत के नाट्यशास्त्र में शब्दार्थगत दस गुणों का उल्लेख तथा भामह, माघ आदि की रचनाओं में माधुर्यादि तीन गुणों का निर्देश गुण-विषयक दो प्राचीन विचार-सरणियों के सद्भाव के प्रमाण हैं। राजशेखर ने सर्वप्रथम काव्य-गुण-निरूपण का श्रेय उपमन्यु नामक आचार्य को दिया है। उनके स्थिति-काल के सम्बन्ध में निर्णय करना कठिन है।

२. काव्यशास्त्रेतर ग्रन्थों में विभिन्न प्रसङ्गों में व्यक्त गुण-धारणा का काव्यशास्त्रीय गुण-धारणा पर पुष्कल प्रभाव पड़ा है। सांख्य दर्शन की गुण-धारणा से प्रभावित अच्युत राय ने माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों के आश्रय-भूत रसों का क्रमशः सात्त्विक, तामस एवं राजस वर्गों में विभाजन किया है। न्याय-दर्शन में प्रतिपादित गुण के द्रव्याश्रितत्व का सिद्धान्त काव्य-गुणों के शब्दार्थाश्रयत्व या रसाश्रयत्व के निर्धारण में सहायक सिद्ध हुआ है। न्याय के नयानुसार गुणों का द्रव्य में नियत निवास रहता है। वामन आदि आचार्य श्लेष आदि दस गुणों का शब्दार्थ में तथा आनन्दवर्धन आदि आचार्य माधुर्य आदि गुणों का रस में नियत निवास मानते हैं। आत्मा को निर्गुण मानने वाले अद्वैत वेदान्त के मत ने पण्डितराज जगन्नाथ को गुण और रस के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में प्रतिष्ठित ध्वनिवादी आचार्यों के सिद्धान्त के पुनः परीक्षण के लिए प्रेरित किया। उन्होंने वेदान्त-मतानुसार काव्य की आत्मा रस में गुण का पारमार्थिक दृष्टि से सद्भाव असम्भव बताकर केवल

व्यावहारिक दृष्टि से ही रस में गुण का निवास स्वीकार किया। द्रव्य-गुण-विषयक आयुर्वेद के प्रयोजकता-सिद्धान्त के अनुसार ही पण्डितराज ने रस में काव्य-गुणों की (द्रुति, दीप्ति आदि की) प्रयोजकता का सिद्धान्त स्थापित किया। महाभारत में विवेचित वक्ता के गुणों में से अनेक गुणों के स्वरूप काव्यगुणों से मिलते-जुलते हैं। महाभारत के चौबीस गुणों को दृष्टि में रखते हुए भोज ने काव्यगुणों की संख्या चौबीस मानी है। काव्यशास्त्रीय दोष-गुण या वैशेषिक गुण की धारणा का उद्गम-स्रोत भी महाभारत ही है, जिसमें नौ दोषों का गुणत्व प्रतिपादित है। कौटिल्य के लेखगुणों में से माधुर्य का अभिधान काव्यशास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों द्वारा स्वीकृत है। उनके औदार्य का 'अग्राम्यत्व' लक्षण दण्डी के माधुर्य गुण के अग्राम्यता भेद में तथा वामन के अर्थगत उदारता-गुण में स्वीकृत हुआ है। गिरनार शिलालेख में प्रयुक्त मधुर, कान्त तथा उदार अभिधान काव्यगुणों के लिए भी प्रयुक्त हैं।

३. प्राचीन काव्य-समीक्षकों की काव्य के प्रति वस्तु-परक दृष्टि के फलस्वरूप आरम्भ में काव्य के शरीर-भूत शब्द एवं अर्थ में सौन्दर्य का आधान करने वाले गुणों पर ही विचार हुआ। भरत, दण्डी, वामन आदि के गुण शब्दार्थगत ही हैं। ध्वनि-प्रस्थान की प्रतिष्ठा के साथ काव्य में ध्वनित होने वाली रसादि रूप काव्यात्मा के उत्कर्षाधायक धर्म के रूप में गुणों का विवेचन महत्त्व पाने लगा।

४. काव्यशास्त्र में काव्यदोषों के अभावात्मक रूप में काव्यगुणों का विवेचन आरम्भ हुआ था। आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में दस दोषों का विवरण देने के उपरान्त कहा था कि इन दस दोषों के विपर्यय माधुर्य, औदार्य आदि गुण होते हैं। उनके गुणों के स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए उन्हें दोषाभाव-मात्र या दोषविपर्यय-मात्र; नहीं माना जा सकता। कुछ गुण भावात्मक सौन्दर्य रखते हैं। भरत के परवर्ती दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने गुणों को भावात्मक स्वीकार कर गुण-विपर्ययात्मक दोषों का उल्लेख किया। उनके सभी गुणों का स्वरूप भावात्मक नहीं है। कुछ गुण दोषाभावात्मक भी अवश्य हैं; पर अधिकांश गुणों का स्वरूप भावात्मक ही है। मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने दोषाभावात्मक गुणों की पृथक् सत्ता का निषेध कर केवल उन्हीं गुणों का सद्भाव स्वीकार किया, जो भावात्मक रूप में काव्य की आत्मा के उत्कर्ष-साधन में योग दे सकते हों। काव्य गुणों की भावात्मक सत्ता स्वीकार करना ही समीचीन है। गुण के वैपरीत्य का पर्यवसान दोष में होता है।

५. काव्यगुणों को काव्य-सौन्दर्य के आवश्यक उपादान के रूप में प्रतिष्ठा

प्राप्त है। दण्डी ने दस गुणों को वैदर्भ मार्ग की रचना का प्राण कहकर काव्य में उन्हें अनुपेक्षणीय माना। उन्होंने समाधि गुण को काव्य-सर्वस्व कहकर सभी मार्गों के काव्यों में उसकी उपादेयता स्वीकार की। काव्यगुणों को रीति का विधायक तत्त्व मान कर रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य वामन ने काव्य में गुणों का महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार किया है। अग्निपुराणकार के अनुसार काव्यगुण के अभाव में काव्य में सौन्दर्य का सद्भाव सम्भव नहीं। कुन्तक ने सौभाग्य गुण को 'काव्यैकजीवित' कहकर उसे काव्य में मूर्धन्य स्थान दिया है। आनन्दवर्धन, मम्मट आदि ध्वनि-प्रस्थान के आचार्यों ने गुणों को रस का उत्कर्षाधायक धर्म स्वीकार कर उन्हें काव्य की उत्कृष्टता का हेतु माना है। कविराज मुरारिदान काव्यगुण को काव्य के आकर्षण का पर्याय मानते हुए कहते हैं—"गुण शब्द का अर्थ है लोकों को अपनी ओर करना। कहा है धातु-पाठ में "गुण आमन्त्रणे" काव्य के प्रसाद आदि गुण भी सहृदयों को अपने सन्मुख करते हैं।"[1] स्पष्टतः भारतीय काव्यशास्त्र के अलङ्कार-प्रस्थान, रीति-प्रस्थान, वक्रोक्ति-प्रस्थान एवं ध्वनि-प्रस्थान में काव्यगुणों का महत्त्व अक्षुण्ण रहा है। यह एक विलक्षण बात है कि काव्यगुण सभी प्रस्थानों में समादृत हैं। काव्य का कोई दूसरा तत्त्व काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों में इस प्रकार समादर नहीं पा सका। अलङ्कार-प्रस्थान में काव्य के अलङ्कारों को जो गौरव प्राप्त हुआ था, वह ध्वनि-प्रस्थान में छिन गया। रीति-प्रस्थान की गरिमामयी रीति ध्वनि-प्रस्थान में गुण-व्यञ्जना की सहायिका-मात्र बनकर रह गयी। वक्रोक्ति, जिसे कभी काव्य-जीवित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, अलङ्कार का एक भेद-मात्र बन गया। रस भी वामन, भोज आदि के द्वारा एक गुण (कान्ति गुण) का अङ्ग बना दिया गया था। ध्वनि की जो महिमा आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' और उसपर अभिनव गुप्त की 'लोचन' व्याख्या में प्रतिष्ठित हुई थी, उसके खण्डन के लिए तो भारतीय काव्यशास्त्र में एक सम्प्रदाय ही उठ खड़ा हुआ था (भले ही उसे अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली हो), जो सम्प्रदाय ध्वनि-ध्वंस-प्रस्थान के नाम से विख्यात है। काव्यगुण का यह वैशिष्ट्य है कि उसे गौरवमय पद से अपदस्थ करने का प्रयास किसी सम्प्रदाय में नहीं हुआ।

६. शब्दार्थ-गुणों की संज्ञा, संख्या तथा परिभाषा के सम्बन्ध में आचार्यों में मतैक्य का अभाव रहा है। भरत, दण्डी, वामन आदि ने श्लेष आदि दस गुणों

---

१. द्रष्टव्य— मुरारिदान, जसवंतभूषण, २ पृ० ९८

के समान अभिधान स्वीकार किये हैं। भोज के चौबीस गुणों में उक्त आचार्यों के दस गुणों की संज्ञा भी सम्मिलित है। अग्निपुराणकार तथा कुन्तक ने गुणों की नवीन नामावली का प्रयोग किया है, उनमें से अधिकांश भरत आदि के प्राचीन गुणों के ही नवीन अभिधान हैं। भिखारीदास ने प्राचीन आचार्यों के दस गुणों में से नौ के नाम स्वीकार कर 'पुनरुक्तप्रकाश' नामक एक नवीन गुण का उल्लेख किया। यह संज्ञा नवीन है; किन्तु इसकी धारणा 'चन्द्रालोक' के माधुर्य-लक्षण से ली गयी है। भरत, दण्डी तथा वामन के समान व्यपदेश वाले गुणों के स्वरूप में भी परस्पर यत्किञ्चित् भेद है।

भरत तथा दण्डी के दस गुणों के नाम स्वीकार कर वामन ने प्रत्येक के शब्दगत एवं अर्थगत भेद की कल्पना कर गुणों की संख्या बीस कर दी। भरत और दण्डी के मध्यवर्ती आचार्य भामह ने माधुर्य आदि तीन गुणों की ही सत्ता स्वीकार की। अग्निपुराण में गुणों के शब्दगत, अर्थगत तथा उभयगत भेद से अठारह प्रकार माने गये हैं। भोज ने गुणों की सर्वाधिक संख्या की कल्पना की है। उन्होंने प्राचीन आचार्यों के दस गुणों में चौदह नवीन गुणों का योग कर गुणों की संख्या चौबीस मानी। पुनः उनके बाह्य, आभ्यन्तर तथा वैशेषिक भेद स्वीकार कर उनकी संख्या बहत्तर मान ली। उनके वैशेषिक गुण पदगत, वाक्यगत एवं वाक्यार्थगत भेद से बहत्तर हो जाते हैं। कुन्तक ने छह गुणों के नाम का उल्लेख किया है, जिनमें दो सामान्य हैं और चार के स्वरूप सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्गों में भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इस प्रकार कुन्तक के गुण नाम्ना छह प्रकार के हैं, पर स्वरूपतया चौदह प्रकार के। देव ने भरत, दण्डी आदि के दस गुणों में अनुप्रास और यमक अलङ्कारों को मिला कर उनकी संख्या बारह कर दी है।

एक ही नाम के गुण का स्वरूप विभिन्न आचार्यों की रचनाओं में कुछ-कुछ भिन्न हो गया है। किसी गुण की परिभाषा में एक आचार्य ने शब्द के सौन्दर्य पर बल दिया है तो दूसरे ने उसी की परिभाषा में अर्थगत सौन्दर्य पर। इस प्रकार एक ही गुण के एकाधिक स्वरूप सामने आते हैं।

काव्यगुणों की संज्ञागत एवं संख्यागत विविधता में भरत, दण्डी आदि के श्लेषादि दस गुण ही स्वीकार्य हैं। अन्य गुणों में से कुछ का स्वभाव उन्हीं दस गुणों में से कुछ गुणों के स्वभाव से मिलता-जुलता है। अतः, उनका अन्तर्भाव उक्त दस गुणों में सम्भव है। कुछ गुण वस्तुतः गुण नहीं होकर अलङ्कार हैं या दोषाभाव-मात्र। अतः उनकी पृथक् सत्ता की कल्पना अनावश्यक है। प्रत्येक

गुण के शब्दगत एवं अर्थगत भेद की कल्पना भी असमीचीन है। कुछ गुण केवल शब्दगत हैं, कुछ केवल अर्थगत तथा कुछ शब्दार्थोभयगत ।

७. रसगत गुणों की संख्या एवं संज्ञा में कोई विवाद नहीं है। सभी आचार्यों ने माधुर्य, ओज एवं प्रसाद; इन तीन गुणों का अस्तित्व स्वीकार किया है। गुण को चित्तवृत्ति का हेतु तथा चित्तवृत्ति-स्वरूप मानने वाले दो मत उपलब्ध हैं। मम्मट माधुर्य को चित्त की द्रुति का, ओज को चित्त की दीप्ति का तथा प्रसाद को उसके विकास का हेतु मानते हैं और विश्वनाथ उन्हें द्रुति, दीप्ति तथा विकास-स्वरूप। आनन्दवर्धन ने स्पष्टतः कुछ नहीं कहा; किन्तु वे गुण को चित्तवृत्ति-स्वरूप मानने के पक्ष में जान पड़ते हैं। हिन्दी के अधिकांश रीति-आचार्यों ने मम्मट के मत का ही अनुसरण किया है।

८. मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने रसगत तीन गुणों की सत्ता स्वीकार कर प्राचीन आचार्यों के शब्दार्थगत गुणों की पृथक् सत्ता का निषेध करने के लिए युक्तियाँ दी हैं। उनके अनुसार कुछ गुण इन्हीं तीन में अन्तर्भुक्त हैं, कुछ दोषाभाव-मात्र हैं तथा कुछ स्थिति-विशेष में दोष बन जाते हैं। अतः, उनके स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना व्यर्थ है। यह मत पूर्वाग्रह से युक्त है। रसगत गुणों का सद्भाव शब्दार्थगत गुणों की सत्ता का अपलाप नहीं करता। काव्य में दोनों की उपादेयता है। माधुर्य आदि गुण रस-भाव आदि का उत्कर्ष करते हैं तो श्लेष आदि गुण काव्य में शब्द-अर्थ की महिमा का आधान करते हैं। काव्य में शब्दार्थ का सौन्दर्य भी अनुपेक्षणीय है। अतः, शब्दार्थगत गुण अनुपादेय नहीं। श्लेष आदि दस शब्दार्थगुण तथा माधुर्य आदि तीन रसगत गुण ग्राह्य हैं।

९. माधुर्य आदि तीन गुणों के व्यापक स्वरूप की कल्पना की गयी है। सभी रसों को मधुर, ओजस्वी तथा प्रसन्न; इन तीन वर्गों में बाँट दिया गया है। हृदयस्थ सभी भावों को चित्त की द्रुति, दीप्ति एवं विकास अवस्थाओं में विभाजित करना मनोभावों के सूक्ष्म तथा गहन अध्ययन का फल है।

१०. शब्दार्थगत एवं रसगत तेरह गुणों के व्यापक स्वरूप में काव्य का समग्र सौन्दर्य समाहित है। प्राचीन एवं अर्वाचीन, सभी काव्यों में उनकी उपादेयता असन्दिग्ध है। हिन्दी के सूर, तुलसी, देव, बिहारी, घनानन्द, रसखान आदि प्राचीन महाकवियों के काव्य में काव्यगुणों के उदाहरण प्रचुर परिमाण में मिलते हैं। खड़ी बोली के प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं में भी काव्यगुणों के सद्भाव से स्वरूपगत रमणीयता तथा भावगत मनोज्ञता का आधान हुआ है।

हरिऔध से लेकर छायावाद के कविचतुष्टय के द्वारा काव्य में विविध गुणों के संयोजन के उदाहरण देखे जा चुके हैं। निराला के काव्य का दीप्तिजनक गाढबन्ध ओज तथा प्रसाद, पंत और महादेवी की रचना का मोहक माधुर्य सर्वविदित है। प्राचीन मान्यताओं के खण्डन का अकारण आग्रह लेकर नयी कविता के समीक्षक रसवाद, अलङ्कारवाद आदि की व्यर्थता प्रमाणित करने का प्रयास करते रहते हैं; किन्तु काव्यशास्त्रीय गुण-धारणा की अव्यर्थता का अपलाप नयी कविता की दृष्टि से भी सम्भव नहीं। जिसमें शब्दार्थ की रमणीयता नहीं होगी, भाव का उत्कर्ष नहीं होगा, वह कविता क्या होगी ? शब्द और अर्थ की चारुता तथा भाव की उत्कृष्टता के लिए काव्य में गुणों की सार्वत्रिक उपादेयता अपरिहार्य है।

११. वैशेषिक गुणों के स्वरूप पर स्वतन्त्र रूप से विचार हुआ है। भोज ने सर्वप्रथम काव्यगुण के सन्दर्भ में वैशेषिक गुणों का विवरण दिया है। काव्य-दोष ही वक्ता, आदि के औचित्य से जब गुण बन जाते हैं तो वे वैशेषिक गुण या दोष-गुण की संज्ञा से अभिहित होते हैं। दोषों की संज्ञा ही उन दोष-गुण की भी संज्ञा होती है। उनकी संख्या के निर्धारण का आधार भी दोषों की संख्या ही है। महाभारत में व्यास ने नौ दोषों का विभिन्न स्थितियों में गुणत्व स्वीकार कर काव्यशास्त्रीय वैशेषिक गुण-धारणा का मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

१२. काव्यशास्त्र में दोषों के गुणत्व का प्रथम सङ्केत देने की दृष्टि से आचार्य भामह का ऐतिहासिक महत्त्व है।

१३. सभी काव्यदोषों का स्थिति-विशेष में गुणत्व स्वीकार करना उचित नहीं। मम्मट ने अनुकरण में सभी दोषों को अदुष्ट माना है। गोविन्द ठक्कुर ने केवल अनुकरण में अदोष माने जाने वाले दोषों को नित्य दोष माना है। जो अनुकरण के अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं में भी गुण या अदोष हो जायँ, उन्हें वे अनित्य दोष कहते हैं। भोज ने अपने सभी दोषों का अवस्था-विशेष में गुणत्व प्रतिपादित करना चाहा है। अतः, उनके दोष-गुण-विवेचन में कुछ खींच-तान स्पष्ट है। वस्तुतः, दोष की तीन अवस्थाएँ होती हैं। सामान्य स्थिति में वे काव्य के दोष हैं, विशेष स्थिति में कहीं-कहीं काव्य में सौन्दर्य का आधान करने वाले गुण बन जाते हैं; पर कहीं-कहीं न वे दोष रहते हैं न गुण। मम्मट ने दोषों का तत्तद्दशाओं में गुणत्व तथा अदोषत्व प्रतिपादित किया है। यही मान्यता युक्तिसङ्गत है।

१४. कुछ आचार्यों ने काव्य के पाठ-गुणों का भी उल्लेख किया था, जिनके मत को उद्धृत कर हेमचन्द्र ने उसका खण्डन किया है। हिन्दी रीति-आचार्यों में श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने उस लुप्त-प्राय पाठ-गुण-धारणा की पुनः स्थापना का प्रयास किया है। वस्तुतः, पाठ-गुणों का काव्य के कर्ता एवं भावक की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं।

१५. काव्यगुणों का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया गया है। वामन के पूर्व गुणों के वर्गीकरण का प्रयास नहीं हुआ था, फिर भी भरत एवं दण्डी के दस गुणों में से कुछ को शब्दगत, कुछ को अर्थगत तथा शेष को उभयगत वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। वामन के दस गुण शब्दगत वर्ग में तथा समान व्यपदेश के दस गुण अर्थगत वर्ग में आते हैं। उनके गुणों के मार्ग-विभाजक असाधारण तथा साधारण—दो वर्ग भी हैं। दण्डी के गुणों का मार्गों के आधार पर वर्गीकरण किया जा सकता है। यद्यपि उन्होंने अपने दसो गुणों को वैदर्भ मार्गगत कहा है; पर उनके कुछ गुण गौड मार्ग में भी स्वीकृत हैं। अतः, उनके गुणों के दो वर्ग हैं—(क) मार्गद्वयगत गुण-वर्ग तथा (ख) एकमार्गगत गुण-वर्ग। वामन के मत को स्वीकार कर भोज ने अपने सभी गुणों को शब्दगत भी माना और अर्थगत भी। भोज ने प्रबन्धगत गुणों के एक नवीन वर्ग की कल्पना की; जिसके शब्दगत, अर्थगत तथा उभयगत, ये तीन उपवर्ग हो गये। उन्होंने वाक्य-गुणों के तीन वर्ग स्वीकार किये :—(क) बाह्य या शाब्द, (ख) आभ्यन्तर या आर्थ तथा (ग) वैशेषिक। बाह्य तथा आभ्यन्तर गुणों के पुनः दो वर्ग कल्पित हुए—(अ) अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य तथा (आ) पृथग्यत्ननिर्वर्त्य। अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य के दो उपवर्ग माने गये—रसारम्भक गुण-वर्ग तथा रस-भाव-आरब्ध गुण-वर्ग। पदगत, वाक्यगत तथा वाक्यार्थगत दोषों के आधार पर वैशेषिक गुण के तीन वर्ग बन जाते हैं। अग्निपुराण में गुण को सामान्य एवं वैशेषिक वर्गों में विभक्त कर सामान्य के शब्दगत, अर्थगत एवं शब्दार्थोभयगत उपवर्ग माने गये हैं। अच्युत राय ने दोषाभावात्मक गुण वर्ग तथा भावात्मक गुण-वर्ग मानकर प्रथम के मुख्य और गौण भेद स्वीकार किये। गौण के दो रूप हैं—(१) विहित का निषेध तथा (२) निषिद्ध का विधान। इनके पुनः तीन उपभेद किये गये हैं (क) दोष में गुण-करण, (ख) दोषत्व का निवारण तथा (ग) गुणादि का अत्याज्यत्व। कुन्तक के गुणों के मुख्य दो वर्ग हैं—(अ) मार्गद्वयगत साधारण तथा (आ) प्रत्येक-मार्गगत असाधारण। ध्वनि-प्रस्थान के आचार्यों के सभी गुण रसगत हैं; अतः उनका एक ही वर्ग है।

प्रबन्धगत गुणों की कल्पना अनावश्यक है। अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य तथा पृथग्यत्न-निर्वर्त्य गुण-वर्गों की मान्यता भी उचित नहीं। गुणों के मुख्य दो वर्ग स्वीकार्य हैं—(१) शब्दार्थगत गुण-वर्ग तथा (२) रसगत गुण-वर्ग। शब्दार्थगत गुणों के सामान्य और वैशेषिक वर्ग मान्य हैं। सामान्य के शब्दगत, अर्थगत तथा शब्दार्थोभयगत उपवर्ग माने जा सकते हैं। विभिन्न मार्गों में गुणों के अभाव-सद्भाव की दृष्टि से उन्हें सर्वमार्गगत साधारण तथा एकमार्गगत असाधारण गुण-वर्गों में भी विभाजित किया जा सकता है।

१६. काव्य में गुण और अलङ्कार के सापेक्ष महत्त्व-निर्धारण के सम्बन्ध में दो प्रकार की मान्यताएँ हैं। भट्ट उद्भट तथा उनके मतानुयायी काव्य में गुण एवं अलङ्कार का समान महत्त्व मानते हैं। वामन ने सर्वप्रथम गुण और अलङ्कार का भेद स्पष्ट करते हुए गुण को काव्य-सौन्दर्य का विधायक तथा अलङ्कार को उसका संवर्धक मानकर काव्य में अलङ्कार की अपेक्षा गुण का अधिक महत्त्व स्वीकार किया। गुण को काव्य का नित्य तथा अलङ्कार को अनित्य धर्म माना गया। गुण के अभाव में काव्य में सौन्दर्य सम्भव नहीं। अलङ्कार के अभाव में भी गुण के सद्भाव से सुन्दर काव्य की सृष्टि हो सकती है। यदि गुण नहीं रहे तो अलङ्कार काव्य का अपकार ही करते हैं। वामन के उपरान्त उद्भट के सम्प्रदाय के आचार्यों को छोड़ प्रायः सभी आचार्यों ने गुण और अलङ्कार के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण करते हुए वामन की उक्त मान्यता को ही स्वीकार किया है। यहाँ तक कि ध्वनिवादी आचार्य भी गुण को काव्य का नित्य तथा अलङ्कार को अनित्य तत्त्व मानने में वामन से सहमत हैं। भेद इतना ही है कि वामन ने जहाँ गुण को काव्य के शब्द एवं अर्थ का नित्य धर्म माना था, वहाँ ध्वनिवादी आचार्यों ने उसे रस का नित्य धर्म माना। काव्यगुणों का अलङ्कार की अपेक्षा काव्य में अधिक महत्त्व है।

१७. काव्य-सौन्दर्य के लिए अलङ्कार की अपेक्षा गुण के अधिक उपादेय होने का अर्थ यह नहीं समझा जाना चाहिए कि काव्य में अलङ्कार सर्वथा उपेक्षणीय हैं। काव्य की श्रीवृद्धि में अलङ्कारों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है। ध्वनिवादी आचार्यों ने अलङ्कार और गुण का काव्य में स्थान-

निर्धारण करने के लिए जो अलङ्कार को काव्य-शरीर के हार आदि आभूषण की तरह कह दिया, उससे उसके उचित मूल्याङ्कन में बाधा पड़ती है। गले में डाले हुए हार आदि की-सी स्थिति काव्य के अलङ्कार की नहीं होती। वह कवि-कर्म के साथ ही आविर्भूत होता है। प्रतिभा-सम्पन्न कवि की रचना में शब्द आदि का परिवर्तन कर यदि उससे किसी अलङ्कार को निकाल देने का प्रयास हो तो उसका सहज रूप ही विकृत हो जायगा। यदि काव्य के अलङ्कारों को आभूषण की तरह ही कहना हो तो उसे किसी के गले के हार के समान नहीं कहकर कर्ण के कुण्डल के समान कहा जाना चाहिए, जो उसके साथ ही उत्पन्न हुए थे और बिना उसके रूप को विकृत किये उससे पृथक् नहीं हुए। रस-सिद्ध कवि की रचना में अनायास आये हुए अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कार काव्य में सर्वथा काम्य हैं। आनन्दवर्धन ने ऐसे अलङ्कारों को ध्वनिकाव्य में ग्राह्य माना है।

१८. गुणों का काव्य की रीतियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। गुण रीतियों के विधायक हैं। गुण से पृथक् रीतियों की सत्ता नहीं। गुण रीतियों पर आश्रित नहीं हैं। रीतियाँ गुण पर अवलम्बित हैं। ध्वनिवादी आचार्यों ने विशेष प्रकार की सङ्घटना को विशेष गुण की व्यञ्जना में सहायक अवश्य माना है पर यह सार्वत्रिक नियम नहीं है। सङ्घटना से निरपेक्ष होकर भी गुणों का सद्भाव रह सकता है। अतः, सङ्घटना या रीति गुणाश्रित है; गुण सघटनाश्रित नहीं।

१९. माधुर्य आदि तीन गणों का रस के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। वे रस के धर्म हैं। धर्मी से पृथक् धर्म की सत्ता नहीं रहती। अतः, उनका धर्मीभूत रस के साथ नियत निवास रहता है।

२०. काव्यशास्त्रीय चिन्तन में शनैः-शनैः अपनी सत्ता खो-बैठने वाले लक्षणों में से कुछ का स्वरूप काव्यगुणों के स्वरूप से मिलता-जुलता है। विभूषण आदि लक्षणों के स्वरूप-विधान में गुणों को आवश्यक उपादान माना गया है। साभिप्रायत्व रूप ओज गुण का स्वरूप अक्षरसङ्घात लक्षण से मिलता-जुलता है। लक्षण कवि-व्यापार या अभिधा से अभिन्न माना गया है। वह काव्य का शरीर-भूत है। गुण उसी में रहते हैं। लक्षण आश्रय है, गुण उसपर आश्रित।

२१. औचित्य गुण का प्राण है। कुन्तक ने औचित्य को गुण का एक प्रकार माना है, यह उचित नहीं। औचित्य के अभाव में किसी भी गुण का अस्तित्व सम्भव नहीं। अनुचित विन्यास होने पर गुण अपना गुणत्व खो देते हैं। इसके विपरीत काव्य-दोष भी औचित्य के कारण विशेष दशा में गुण बनकर

वैशेषिक गुण की संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। क्षेमेन्द्र की यह मान्यता उचित ही है कि काव्य में गुणों के उचित विनिदेश होने में ही उनकी शोभा है।

२२. काव्य से दोषों का बहिष्कार-मात्र काव्य-सौन्दर्य के लिए पर्याप्त नहीं है, इसमें गुणों का आधान भी आवश्यक है। मम्मट ने अपनी काव्य-परिभाषा में शब्द-अर्थ का दोष-मुक्त होने के साथ ही गुण-युक्त होना भी आवश्यक माना है। काव्य की अदुष्टता की अपेक्षा उसकी गुणमयता का महत्त्व अधिक है। कुछ दोषों के रहने पर भी प्रतिभाशाली कवियों की रचना में सौन्दर्य आ जाता है, पर गुणों के अभाव में काव्य-सौन्दर्य सम्भव नहीं।

२३. काव्यगुणों के अध्ययन के प्रसङ्ग में काव्य-दोषों का अध्ययन भी काम्य हो जाता है। वैशेषिक गुणों के स्वरूप को समझने के लिए उनके आधारभूत दोषों के स्वरूप का परिचय अपेक्षित है।

२४. काव्यगुणों के क्षेत्र में हिन्दी-रीतिशास्त्र के आचार्यों ने कोई नवीन उद्भावना नहीं की। जहाँ कहीं कुछ नवीनता मिलती है, वह निर्भ्रान्त नहीं है। देव और भिखारी दास के गुण विवेचन में इतस्ततः भ्रान्तिमूलक नवीन धारणाएँ उपलब्ध हैं। अधिकांश आचार्यों ने मम्मट के मतानुसार गुणों का विवरण दिया है। गुण-विवेचन की दृष्टि से हिन्दी-रीति-आचार्यों के चार वर्ग पाये जाते हैं—(क) शब्दार्थगत गुणों का निरूपण करने वाले भरत, मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों के अनुयायी आचार्य का वर्ग। इसमें आचार्य देव आते हैं। (ख) आचार्य के दायित्व के निर्वाहार्थ माधुर्यादि गुणों के साथ ही शब्दार्थगत दस गुणों का भी विवेचन करने वाले पण्डितराज जगन्नाथ के अनुयायी आचार्य के वर्ग में भिखारी दास को माना जा सकता है। (ग) तीन रसगत गुणों को स्वीकार कर प्राचीन आचार्यों के गुणों की सत्ता का खण्डन करने वाले आचार्य मम्मट के मतानुयायियों के वर्ग में हिन्दी के सर्वाधिक आचार्य हैं। चिन्तामणि, कुमारमणि शास्त्री, कुलपति मिश्र आदि इस वर्ग के आचार्य हैं। (घ) आनन्दवर्धन की केवल रसगत तीन गुणों का वर्णन करने वाली पद्धति का अनुसरण करने वाले आचार्यों के वर्ग में जनराज, सोमनाथ, मुरारिदान आदि उल्लेख्य हैं।

२५. काव्यगुणों के स्वरूप के अध्ययन की उपयोगिता, कवि के पक्ष में काव्य में शब्दार्थगत एवं रसगत सौन्दर्य के आधान के लिए तथा भावक के पक्ष में उस सौन्दर्य की परख के लिए है। महाकवि तुलसी के शब्दों में—

तेहि तें कछु गुन-दोष बखाने।
संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥

*

पारिभाषिक शब्दावली

(हिन्दी-अँगरेजी)

अर्थव्यक्ति	Manifestation of meaning.
उदारत्व	Richness (of expression.)
औचित्य	Propriety.
कान्ति	Brilliance.
काव्यगुण	Poetic Excellence.
काव्यदोष	Poetic Blemish.
काव्यालङ्कार	Poetic Embellishment.
दीप्ति	Glowing.
द्रुति	Melting.
प्रसाद	Clearness (of style)
माधुर्य	Sweetness (of style)
मार्ग	Diction, style.
रस	Aesthetic Pleasure.
रीति	Diction, style.
लक्षण	Distinctive Mark.
विकास	Expanding.
श्लेष	Union of Words or Meaning.
समता	Evenness.
समाधि	Agreement.
सुकुमारता	Smoothness.

ग्रन्थ-सूची

अग्निपुराण—प्रकाशक, नटवर चक्रवर्ती, वंगवासी प्रेस, कलकत्ता, १३१४ साल।

अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग—अनुवादक तथा संपादक, रामलालवर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९५९ ई०।

अनुयोगद्वार सुत्त—प्रकाशक, आगमोदय समिति, बम्बई।

अपरा—निराला, साहित्यकार-संसद, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण सं० २०१७ वि०।

अभिनव भारती—अभिनवगुप्त (नाट्यशास्त्र की टीका), गायकवाड ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बरौदा, १९३४ ई०।

अमरुशतक—अमरुक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

अर्थशास्त्र—कौटिल्य, संस्कृत पुस्तकालय, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर; प्रथम संस्करण १९२५ वि०।

अलङ्कार शेखर—केशव मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, संवत् १९८४।

अलङ्कार सूत्र—रुय्यक, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरिज १९१५ ई०।

अष्टाध्यायी—पाणिनि (काशिका व्याख्या), चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस।

अष्टाविंशत्युपनिषद्—सं० वासुदेव शर्मा, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, तृतीयावृत्ति १९१० ई०।

ऋग्वेद संहिता—सायणभाष्य सहित, वैदिक संशोधन मण्डल, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पूना।

एकावली—विद्याधर—तरलाटीका, मल्लिनाथ, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुकडिपो, बम्बई, प्रथम संस्करण १९०३ ई०।

औचित्य विमर्श—राममूर्ति त्रिपाठी, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण सं० २०२१ वि०।

औचित्यविचारचर्चा—क्षेमेन्द्र, पूना ओरियण्टल सीरिज, १९५४ ई०।

कवि कण्ठाभरण—क्षेमेन्द्र-काव्यमाला, द्वितीय संस्करण।

कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १८७५ ई०।

कविता-रस विनोद—जनराज, हस्तलेख, याज्ञिकसंग्रह, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

कवित्त रत्नाकर—सेनापति, संपादक उमाशंकर शुक्ल, हिन्दीपरिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९४१ ई०।

कवितावली—तुलसीदास, साहित्य सेवक कार्यालय, काशी।

काव्य में अभिव्यञ्जनावाद—सुधांशु, युगान्तर साहित्य मन्दिर, भागलपुर १९९३ वि०

काव्यादर्श—दण्डी, प्रभा टीका—भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, १९३८ ई० ।

काव्यकल्पद्रुम—कन्हैयालाल पोद्दार, साहित्यरत्न भण्डार, आगरा ।

काव्यदर्पण—पं० रामदहिन मिश्र, ग्रन्थमाला-कार्यालय, पटना ४, १९४७ ई०

काव्यादर्श—दण्डी, कुसुमप्रतिमा टीका, प्रकाशक, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, सैदमिट्ठा बाजार लाहौर, द्वितीयावृत्ति, संवत १९९० ।

काव्यादर्श—दण्डी, वी० रामस्वामी शास्त्रालङ्कार, २९९ इस्प्लेनेड, मद्रास १९३० ।

काव्यादर्श—हृदयंगमा टीका, सं० प्रो० रंगाचार्य, मद्रास ।

काव्यनिर्णय—भिखारी दास, कल्याणदास एण्ड बदर्स ज्ञानवापी, वाराणसी ।

काव्यानुशासन—हेमचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९३४ ।

काव्यप्रकाश—मम्मट, नागेश्वरी टीका, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस, १, १९५१ ।

काव्यप्रकाश—मम्मट, झलकीकर की बालबोधिनी, भण्डारकर, ओरियण्टल, इन्स्टीच्यूट, पूना, षष्ठ सं० १९५० ई० ।

काव्य प्रदीप—गोविन्द ठक्कुर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, तृतीय सं० १९३३ ।

काव्यतत्त्वसमीक्षा—नरेन्द्रनाथ चौधरी, मोतीलाल बनारसीदास, बैंग्लो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-६, १९५९ ।

काव्य प्रबन्ध—जगन्नाथ प्रसाद भानुकवि, जगन्नाथ प्रेस, विलासपुर, प्रथम सं० सन् १९२० ।

काव्यालङ्कार—भामह, हिन्दी व्याख्या, प्रो०देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद, पटना ।

काव्यालङ्कार—भामह, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस १९८५ ।

काव्यमीमांसा—राजशेखर, गायकवाड ओरियन्टल सीरिज, बड़ौदा, १९१६ ।

कामायनी—जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद ।

काव्यालङ्कार—रुद्रट, नमिसाधु की टीका, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९२८ ।

काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह—उद्भट, विवृति टीका, ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बरोदा १९३१ ।

काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह—उद्भट इन्दुराज, लघुवृत्ति टीका, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना १९२५ ।

काव्यालङ्कारसूत्र—वामन, कामधेनु टीका, बनारस संस्कृत सीरिज, १९०७ ई० ।

कारिकावली मुक्तावली—चौखम्बा संस्कृत सीरिज बनारस संवत् २००८।
कालिदास ग्रन्थावली—सीताराम चतुर्वेदी, अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी।
किरातार्जुनीय—भारवि, शारदा भवन, काशी १९३१।
कीर्तिलता—विद्यापति।
कुवलयानन्द—अप्पय्य दीक्षित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९४७।
केशव ग्रन्थावली भाग १—संपादक पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, उत्तर-प्रदेश।
कृष्णकर्णामृत—लीलाशुक, ढाका विश्वविद्यालय, १९३८।
गंगालहरी—पद्माकर, संपादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रकाशक—रामरत्न पुस्तक भवन, काशी, प्रथम आवृत्ति।
घनआनन्द ग्रन्थावली—सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान, ब्रह्मनाल, बनारस-१।
चन्द्रालोक—जयदेव, रमाव्याख्या सहित, ८, ससून बिल्डिंग्स-सर्किल फोर्ट, बम्बई १९३३ ई०।
जसवंत भूषण—कविराजा मुरारिदान, माड़वाड़ स्टेट प्रेस, जोधपुर, संवत् १९५४।
दीपशिखा—महादेवी वर्मा, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद चतुर्थ संस्करण, सं० २०११ वि०।
देव ग्रन्थावली, प्रथम भाग—काशी नागरी प्रचारिणी सभा १९१२।
देवी भागवत—प्रकाशक-नटवर चक्रवर्ती, कलकत्ता।
द्रव्यगुण-विज्ञान—प्रियव्रत शर्मा, चौखम्बा विद्याभवन, चौक, बनारस १, १९५५ ई०।
दशरूपक—धनंजय, जीवानन्द विद्यासागर, सरस्वती प्रेस, कलकत्ता १८७८ ई०।
ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, दीधिति टीका, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस १, १९५३।
नाट्य शास्त्र—भरत, अभिनवगुप्त की अभिनव भारती टीका, खण्ड २, ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बरौदा १९३४।
नैषध महाकाव्य—श्रीहर्ष, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी १९५४।
न्याय सिद्धान्त मुक्तावली—विश्वनाथ न्याय पञ्चानन, नागेश्वर पाठशाला, बनारस सीटी, १९४०।
प्रतापरुद्र यशोभूषण—विद्यानाथ, रत्नापण टीका, राजकीय ग्रन्थमाला, बम्बई प्रथम सं० १९०९ ई०।

प्रियप्रवास—हरिऔध, खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, पंचम आवृत्ति ।
बालरामायण—राजशेखर, मेडिकल हॉल प्रेस, बनारस सं० १९२६ ।
बिहारी रत्नाकर—गंगा पुस्तकमाला-कार्यालय, अमीनाबाद-पार्क, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९८३ वि० ।
बुद्ध चरित—अश्वघोष, ओरियन्टल पब्लिशिंग कम्पनी, बम्बई, १९१२ ।
ब्रह्म सूत्र—(शाङ्कर भाष्य)—प्रकाशक, महादेव शर्मा ।
भट्टिकाव्य—वत्सभट्टि (जयमंगला टीका) निर्णय सागर, बम्बई १९०६ ।
महाभारत—व्यास-नीलकंठ की टीका सहित, चित्रशाला-प्रेस, पुण्य पत्तन, पुणें शहर, प्रथम सं० १९३२ ।
महाभाष्य—पतञ्जलि, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१२ ।
मालतीमाधव—भवभूति, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुकडिपो, बम्बई १९०५ ।
रश्मिबंध—पंत, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण १९५८ ।
रसखान और घनानंद—सं० बाबू अमीर सिंह, प्रकाशक-नागरी प्रचारणी सभा, काशी ।
रसगङ्गाधर—पंडितराज जगन्नाथ, नागेशभट्ट की टीका, विद्याविलास प्रेस बनारस, १९०३ ।
रस पीयूष निधि—सोमनाथ कवि, हस्तलेख, नागरी प्रचारणी सभा काशी ।
रस रहस्य—कुलपति मिश्र, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, संवत् १९५४ ।
रसिकरसाल—कुमारमणि शास्त्री, द्वारकेश कविमंडल, श्री विद्याविभाग, कांकरोली, संवत् १९९४ ।
रामचरितमानस—तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर ।
रामायण—वाल्मीकि, तिलक व्याख्यायुक्त, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण, शाके १८२४ ।
लोचन—अभिनवगुप्त (ध्वन्यालोक की टीका) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९११ ।
लोचन—अभिनवगुप्त (ध्वन्यालोक की टीका) दिव्याञ्जना टीका सहित ।
वक्रोक्ति जीवित—कुन्तक, आचार्य विश्वेश्वर, हिन्दी व्याख्या, सं० डॉ० नागेन्द्र, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली-६ ।
वाग्भटालङ्कार—वाग्भट, मोतीलाल बनारसीदास, १९८६ वि० ।
शब्द रसायण—देव, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत् २०१४ ।
शिवलीलार्णव—नीलकंठ दीक्षित, त्रावणकोर गवर्नमेन्ट प्रेस, त्रिवेन्द्रम्-१९०९ ।

शिशुपाल वध—माघ, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९१४।

सरस्वती कण्ठाभरण—भोज, जीवानन्द की टीका, प्रकाशक जीवानन्द विद्यासागर, रमानाथ स्ट्रीट, कलकत्ता, १८९४, द्वितीय संस्करण।

सरस्वतीकण्ठाभरण—भोज, काव्यमाला सारिज, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९३४।

संस्कृत इन्स्क्रिप्सन्स (शिलालेख)—भाग १ डी० वी० डिसकलकर, राजकोट १९२५।

सांख्य कारिका—ईश्वर कृष्ण, तत्त्व कौमुदी, ओरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९३४।

सांख्य सूत्र—महर्षि कपिल, प्रकाशक हरिपद भट्टाचार्य—चड़कडांगा स्ट्रीट, उत्तर पाड़ा, हुगली, तृतीय सं० वङ्गाब्द, १३३७।

साहित्य दर्पण—विश्वनाथ, कुसुमप्रतिमा टीका, हेमचन्द्र भट्टाचार्य; ४१, देवलेन कलकत्ता; चतुर्थ सं० शकाब्द १८६७।

साहित्यसार—अच्युतराय, निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९०६ ई०।

साहित्य सार—सर्वेश्वर कवि, श्री वेंकटेश्वर प्राच्य ग्रन्थमाला, १९५२ ई०।

सुश्रुत संहिता—प्रकाशक—जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८९१ ई०।

सूरसागर—सूरदास

हर्ष-चरित—बाण, वाचस्पत्य प्रेस, कलकत्ता १९३९।

हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डॉ० भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, सम्वत् २००५।

हिन्दी काव्यालङ्कार सूत्र—वामन व्याख्याकार, आचार्य विश्वेश्वर, सं० डॉ नगेन्द्र, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५४ ई०।



ENGLISH

Aristotle's Poetics—T. A. Moxon, J. M. Dent & Sons Ltd. London

Bhoja's Sringara Prakasa—Dr. V. Raghavan, Karnatak-Publishing House, Bombay.

English composition and Rhetoric—A. Bain, Langmans, Green, And Co. London 1866.

Essays in the Art of writing—R. L. Stevenson, chatto & windus, London 1925.

History of Sanskrit Poetics—Dr. S. K. De, Firma K. L. Mukhopadhyaya, Calcutta 1960.

History of Sanskrit poetics—Dr. P. V. Kane, Girgaon Bombay 4. 1951.

History of Sanskrit Poetry—Dr. A.B.Keith, Oxford University Press, London, 1953.

Principles of Literary Criticism—I. A. Richard Routledge & Kegan Paul Ltd. London 1960.

Some Concepts of Alankara sastra—Dr. R. V. Raghavan, Adyar Library, Adyar 194!.

Some Problems of Sanskrit Poetics—Dr. S. K. De. Calcutta

Style—F. L. Lucas, Cassell & Company Ltd., 35, Red Lion Square, London.

The Concept of Riti & Guna—P. C. Lahiri-The University of Dacca, 1937.

JOURNALS

Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute. Vols X, XXIII, XXIV.

Indian Historical Quarterly. Vols. III, VI, VII, VIII & X

Journal of Oriental Researches. Vols. V, VII & VIII
